इतिहास समिति प्रकाशन–४

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर

(द्वितीय संस्करण)

लेखक एवं निर्देशक :

आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक-मण्डल :

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, पं० रत्न मुनिश्री लक्ष्मीचन्दजी म०,
पं० शशिकान्त झा, डॉ० नरेन्द्र भानावत,
गजसिंह राठोड़, जैन न्यायतीर्थ

प्रकाशक :

जैन इतिहास समिति

लाल भवन, चौड़ा रास्ता,
जयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक :
जैन इतिहास समिति
आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

□

□

प्रथम संस्करण : १९७१
द्वितीय संस्करण : १९८१
मूल्य : २५ रुपये

□

मुद्रक
विजय प्रिन्टर्स

विषय-सूची

प्रकाशकीय

इतिहास वस्तुतः विश्व के धर्म, देश, संस्कृति, समाज अथवा जाति के प्राचीन से प्राचीनतम अतीत के परोक्ष स्वरूप को प्रत्यक्ष की भाँति देखने का दर्पण तुल्य एकमात्र वैज्ञानिक साधन है। किसी भी धर्म, संस्कृति, राष्ट्र, समाज एवं जाति के अभ्युदय, उत्थान, पतन, पुनरुत्थान, आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं अपकर्ष में निमित्त बनने वाले लोक-नायकों के जीवनवृत्त आदि के क्रमबद्ध-शृंखलाबद्ध संकलन-आलेखन का नाम ही इतिहास है। अभ्युदय, उत्थान, पतन की पृष्ठभूमि का एवं उत्कर्ष तथा अपकर्ष की कारणभूत घटनाओं का निधान होने के कारण इतिहास मानवता के लिये, भावी पीढ़ियों के लिये दिव्य प्रकाश-स्तम्भ के समान दिशावबोधक-मार्गदर्शक माना गया है। भूतकाल में सुदीर्घ अतीत से लेकर अद्यावधि किस धर्म, संस्कृति, राष्ट्र, समाज, जाति अथवा व्यक्ति ने किस प्रशस्त पथ पर आरूढ़ हो उस पर निरन्तर प्रगति करते हुए उत्कर्ष के, परमोत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर अपने आपको अधिष्ठित किया और किसने कब-कब किस-किस प्रकार की स्खलनाएँ कर, किस प्रकार कुपथ पर आरूढ़ हो धर्म, संस्कृति, राष्ट्र, समाज, जाति अथवा अपने आपका अधःपतन किया, रसातल की ओर प्रयाण किया—इतिहास में निहित इन तथ्यों से मार्गदर्शन प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति, प्रत्येक राष्ट्र प्रगति के प्रशस्त पथ पर आरूढ़ हो अपने आपको, अपनी संस्कृति को और अपने धर्म को उन्नति के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठापित कर समष्टि का कल्याण करने में सक्षम हो सकता है। यही कारण है कि मानव सभ्यता में इतिहास का आदि काल से अद्यावधि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। दो शब्दों में कहा जाय तो इतिहास वस्तुतः अतीत के अवलोकन का चक्षु है।

जिस व्यक्ति को, अपनी संस्कृति, अपने धर्म, राष्ट्र, समाज अथवा जाति के इतिहास का ज्ञान नहीं, उसे यदि किसी सीमा तक चक्षुविहीन की संज्ञा दे दी जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार चक्षुविहीन व्यक्ति को पथ, सुपथ, कुपथ, विपथ का ज्ञान नहीं होने के कारण पग-पग पर स्खलनाओं एवं विपत्तियों का दुःख उठाना अथवा पराश्रित होकर रहना पड़ता है, उसी प्रकार अपने धर्म, समाज, संस्कृति और जाति के इतिहास से नितान्त अनभिज्ञ व्यक्ति भी न स्वयं उत्कर्ष के पथ पर आरूढ़ हो सकता है और न ही अपनी संस्कृति,

अपने धर्म, समाज अथवा जाति को अभ्युत्थान की ओर अग्रसर करने में अपना योगदान कर सकता है।

इन सब तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी धर्म, समाज, संस्कृति अथवा जाति की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये प्रेरणा के प्रमुख स्रोत उसके सर्वांगीण शृंखलाबद्ध इतिहास का होना अनिवार्य रूप से परमावश्यक है।

जैनाचार्य प्रारम्भ से ही इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे। श्रुतशास्त्र-पारगामी उन महान् आचार्यों ने प्रथमानुयोग, गण्डिकानुयोग, नामावलि आदि ग्रन्थों में जैन धर्म के सर्वांगपूर्ण इतिहास को सुरक्षित रखा। उन ग्रन्थों में से यद्यपि आज एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ये तीनों ही काल प्रभाव से विस्मृति के गहन गर्त में विलुप्त हो गये तथापि उन विलुप्त ग्रन्थों में जैन धर्म के इतिहास से सम्बन्धित किन-किन तथ्यों का प्रतिपादन किया गया था, इसका स्पष्ट उल्लेख समवायांग सूत्र, नन्दिसूत्र और पउमचरियं में अद्यावधि उपलब्ध है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इस दिशा में समय-समय पर सजग रहते हुए निर्युक्तियों, चूर्णियों, चरित्रों, पुराणों, प्रबन्धकोषों, प्रकीर्णकों, कल्पों, स्थविरावलियों आदि की रचना कर प्राचीन जैन इतिहास की थाती को सुरक्षित रखने में अपनी ओर से किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। उन इतिहास ग्रन्थों में प्रमुख हैं—पउम चरियं, कहावली, तित्थोगाली पइन्नय, वसुदेव हिंडी, चउवन्न महापुरिस-चरियं, आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, परिशिष्ट पर्व, हरिवंश पुराण, महापुराण, आदि पुराण, महाकवि पुष्पदन्त का अपभ्रंश भाषा में महापुराण, हिमवन्त स्थविरावली, प्रभावक चरित्र, कल्पसूत्रीया स्थविरावली, नन्दीसूत्रीया स्थविरावली, दुस्समा समणसंघथयं आदि। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त खारवेल के हाथीगुम्फा के शिलालेख और विविध स्थानों से उपलब्ध सहस्रों शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि में जैन इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्य यत्र-तत्र सुरक्षित रखे अथवा बिखरे पड़े हैं। इन ग्रन्थों एवं शिलालेखों की भाषा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन कन्नड़, तमिल, तेलगु, मलयालम आदि प्राचीन प्रान्तीय भाषाएँ हैं, जो सर्वसाधारण की समझ से परे हैं। उपरिलिखित इतिहासग्रन्थों में अपने अपने ढंग से तत्कालीन शैलियों में जिन ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है, उन सबके समीचीनत व क्षीर-नीर विवेकपूर्वक अध्ययन-चिन्तन मनन के पश्चात् उन सब में ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की सामग्री को कालक्रम एवं शृंखलाबद्ध रूप से चुन-चुन कर सार रूप में लिपिबद्ध करने पर तीर्थंकरकालीन जैन धर्म का इतिहास तो सर्वांगपूर्ण एवं अतीव सुन्दर रूप में उभर कर सामने आता है, किन्तु तीर्थंकर काल से उत्तरवर्ती काल का, विशेषतः देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् का लगभग ७ शताब्दियों तक का जैन धर्म का इतिहास ऐसा प्रच्छन्न, विशृंखल, अन्धकारपूर्ण, अज्ञात अथवा अस्पष्ट है कि उसको प्रकाश में लाने का साहस कोई विद्वान् नहीं कर सका।

जिस किसी विद्वान् ने इस अवधि में तिमिराच्छन्न जैन इतिहास को प्रकाश में लाने का प्रयास किया उसी ने पर्याप्त प्रयास के पश्चात् हतोत्साह हो यही लिख कर अथवा कह कर विश्राम लिया कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् का पाँच-छह शताब्दी का जैन इतिहास नितान्त अन्धकारपूर्ण है, उसे प्रकाश में लाने के स्रोत वर्तमान काल में कहीं उपलब्ध नहीं हो रहे हैं।

इन्हीं सब कारणों के परिणामस्वरूप पिछले लम्बे समय से अनेक बार प्रयास किये जाने के उपरान्त भी वर्तमान दशक से पूर्व जैन धर्म का सर्वांगपूर्ण क्रमबद्ध इतिहास समाज को उपलब्ध नहीं कराया जा सका। जैनधर्म के सर्वांगीण क्रमबद्ध इतिहास का यह अभाव वस्तुतः बड़े लम्बे समय से चतुर्विध संघ के सभी विज्ञ सदस्यों के हृदय में खटकता आ रहा था। सन् १९३३ की ५ अप्रैल से २९ अप्रैल तक अजमेर में जब वृहद् साधु सम्मेलन हुआ तो उसमें भी बड़े-बड़े आचार्यों, सन्तों, साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं ने जैन धर्म के इतिहास के निर्माण की दिशा में प्रयास करने का निर्णय लिया। जैन कान्फ्रेन्स ने भी अपने वार्षिक अधिवेशनों में इस कमी को पूरा करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव भी अनेक बार पारित किये किन्तु समुद्र मन्थन तुल्य नितान्त दुस्साध्य इस इतिहास लेखन कार्य को हाथ में लेने का किसी ने साहस नहीं किया, क्योंकि इस महान् कार्य को अथ से इति तक सम्पन्न करने के लिये भगीरथ तुल्य वर्षों तक श्रम करने वाले, साधना करने वाले किसी भागीरथ की ही आवश्यकता थी। इस सब के परिणामस्वरूप इतिहास निर्माण की अनिवार्य आवश्यकता को एक स्वर से समाज द्वारा स्वीकार कर लिए जाने के उपरान्त भी प्रस्ताव पारित कर लेने के अतिरिक्त इस दिशा में किसी प्रकार की प्रगति नहीं हो सकी।

अन्ततोगत्वा सन् १९६५ में यशस्विनी रत्नवंश परम्परा के आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज ने समुद्र मन्थन तुल्य श्रमसाध्य, समयसाध्य, इतिहास निर्माण के इस अतीव दुष्कर कार्य को दृढ़ संकल्प के साथ अपने हाथ में लिया। संवत् १९२२ (सन् १९६५) के बालोतरा चातुर्मासावास काल में संस्कृत, प्राकृत, आगम, आगमिक साहित्य और इतिहास के महामनीषी लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा० के उद्बोधनों एवं निर्देशन में न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी, उच्चकोटि के जैन विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, डॉ० नरेन्द्र भानावत आदि से परामर्श के साथ इतिहास समिति का निर्माण किया गया। इतिहास-समिति का अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी को, मन्त्री श्री सोहनलालजी कोठारी को और कोषाध्यक्ष श्री पूनमचन्दजी बड़ेर को सर्वसम्मति से मनोनीत किया गया। इतिहास-निर्माण के इस कठिन कार्य में सक्रिय सहयोग देने के लिये इतिहास समिति द्वारा अनेक विद्वान् सन्तों की सेवा में अनेक बार विनम्र प्रार्थनाएँ की गईं।

वालोतरा चातुर्मासावास की अवधि के समाप्त होते ही आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा० ने स्वेच्छापूर्वक अपने हाथ में लिये गये इस गुरुतर कार्य को पूरा करने के दृढ़-संकल्प के साथ वालोतरा से गुजरात की ओर विहार किया। मरुस्थल एवं गुजरात प्रदेश में ग्रामानुग्राम अप्रतिहत विहार करते हुए आपने पाटन, सिद्धपुर, पालनपुर, कलोल, खेड़ा, खम्भात, लींवडी, वड़ौदा, अहमदावाद आदि नगरों के शास्त्रागारों, प्राचीन हस्तलिखित ज्ञान भण्डारों के अथाह ज्ञान समुद्र का मन्थन किया, प्राचीन जैन वाङ्मय का आलोडन किया और सहस्रों प्राचीन ग्रन्थों से सारभूत ऐतिहासिक सामग्री का अथक श्रम के साथ संकलन किया। वह सम्पूर्ण संकलन हमारी अनमोल ऐतिहासिक थाती के रूप में आज श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, शोध-संस्थान, लाल भवन, जयपुर में सुरक्षित है।

संवत् २०२३ तदनुसार सन् १९६६ के अहमदावाद चातुर्मास में विधिवत् इतिहास लेखन का कार्य प्रारम्भ किया गया। तदनन्तर एक चातुर्मासावासावधि में इतिहास समिति ने एक सुशिक्षित नवयुवक को विद्वान् मुनिश्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री की सेवा में भी इस कार्य को गति देने के लिए रखा। किन्तु सन् १९७१ के जून मास तक इस कार्य में अपेक्षित प्रगति नहीं हो पाई। इसका एक वहुत वड़ा कारण यह था कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी राजस्थानी (राजस्थानी गुजराती मिश्रित) इन सभी प्राच्य भारतीय भाषाओं में समान रूप से निर्बाध गति रखने वाला कोई ऐसा विद्वान् इतिहास-समिति को नहीं मिला जो इन भाषाओं के अगाध साहित्य का ऐतिहासिक शोध-दृष्टि से निष्ठापूर्वक अहर्निश अध्ययन कर सारभूत ऐतिहासिक सामग्री को आचार्यश्री के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इतना सव कुछ होते हुए भी आचार्यश्री ऐतिहासिक सामग्री के संकलन, आलेखन एवं चिन्तन-मनन में निरत रहे। आप श्री ने मरुस्थल से सागर तट तक के गुजरात प्रदेश के विहार काल में विभिन्न ज्ञान भण्डारों से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पट्टावलियों में से चयन संशोधन किया। उनके आधार पर एक सारभूत क्रमबद्ध एवं संक्षिप्त ऐतिहासिक काव्य की रचना की। उन पट्टावलियों में से आधी के लगभग पट्टावलियों का इतिहास-समिति ने डा० नरेन्द्र भानावत से सम्पादन करवा कर सन् १९६८ में "पट्टावली प्रबन्ध संग्रह" नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया।

१९७० के मई मास के अन्त में आचार्यश्री के जयपुर नगर में शुभागमन पर, "महापुरुषों द्वारा चिंतित समष्टि हित के कार्य अधिक समय तक अवरुद्ध नहीं रहते, अगतिमान नहीं रहते"—यह चिर सत्य चरितार्थ हुआ। जैन प्राकृत, अपभ्रंश आदि सभी प्राच्य भाषाओं में समान गति रखने वाले जिस विद्वान् की विगत पाँच-छः वर्षों से खोज थी, वह आचार्यश्री को जयपुर आने पर अनायास ही मिल गया। इतिहास-समिति की माँग पर श्री प्रेमराजजी वोगावत राजस्थान

विधान सभा से उन्हीं दिनों अवकाश प्राप्त श्री गजसिंह, राठौड़, जैन-न्याय-व्याकरण तीर्थ को आचार्यश्री की सेवा में दर्शनार्थ लाये। बातचीत के पश्चात आचार्यश्री द्वारा रचित जैन इतिहास की काव्य कृति—"आचार्य चरितावली" सम्पादनार्थ एवं टंकरणार्थ इतिहास-समिति ने श्री राठौड़ को दी। इसके सम्पादन एवं इतिहास विषयक पारस्परिक बातचीत से प्रमुदित हो आचार्यश्री ने फरमाया—"इसका सम्पादन आपने बहुत शीघ्र और समुचित रूप से सम्पन्न कर दिया, गजसा ! हमारा एक बहुत बड़ा कार्य पाँच-छः वर्षों से रुका सा पड़ा है, आप इसे गति देने में सहयोग दीजिये।"

जून, १९७० में श्री राठौड़ ने इतिहास के सम्पादन का कार्य सम्भाला। समवायांग, आचारांग, विवाह प्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों, आवश्यक, चउवन्न महा-पुरिस चरियं, वसुदेव हिण्डी, तिलोय पण्णत्ती, सत्तरिसय द्वार, पउम चरियं गच्छाचार पइण्णय, अभिधान राजेन्द्र (७ भाग) षट् खण्डागम, धवला जय धवला आदि प्राकृत ग्रन्थों, सर मोन्योर की मोन्योर-मोन्योर संस्कृत टू इंग्लिश डिक्शनेरी आदि आंग्ल भाषा के ग्रन्थों, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, हरिवंश पुराण, आदि पुराण, महापुराण, वेदव्यास के सभी पुराणों के साथ-साथ हरिवंश पुराण आदि संस्कृत ग्रन्थों और पुष्पदन्त के महापुराण आदि अपभ्रंश के ग्रन्थों का आलोडन किया गया और पर्युषण पर्व से पूर्व ही "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" पहला भाग की पाण्डुलिपि का चतुर्थांश और मेड़ता चातुर्मासा-वासावधि के समाप्त होते-होते पाण्डुलिपि का शेष अन्तिम अंश भी प्रेस में दे दिया गया। प्रथम भाग के पूर्ण होते ही मेड़ता धर्म स्थानक में इतिहास के द्वितीय भाग का आलेखन भी प्रारम्भ कर दिया गया। जैन धर्म के इतिहास के अभाव की चतुर्थांश पूर्ति से आचार्यश्री को बड़ा प्रमोद हुआ, जैन समाज में हर्ष की लहर तरंगित हो उठी और इतिहास-समिति का उत्साह शतगुणित हो अभिवृद्ध हुआ। प्रथम भाग के प्रकाशन के साथ-साथ ही इतिहास-समिति ने इसी के अन्तिम अंश को "ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर" नाम से एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित करवाया। सन् १९७१ के वर्षावास काल में ये दोनों ग्रन्थ मुद्रित हो सर्वतः सुन्दर रूप लिये समाज, इतिहासज्ञों और इतिहास प्रेमियों के करकमलों में पहुँचे। सन्तों, सतियों, श्रावकों, श्राविकाओं, श्वेताम्बर दिगम्बर जैन-अजैन सभी परम्पराओं के विद्वानों ने भावपूर्ण शब्दों में मुक्तकण्ठ से इस ऐतिहासिक कृति की और आचार्यश्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

आचार्यश्री की लेखनी में एक ऐसा अद्भुत् चमत्कार है कि आपने इति-हास जैसे शुष्क-नीरस विषय को ऐसा सरस-रोचक एवं सम्मोहक बना दिया है कि सहस्रों श्रद्धालु और सैकड़ों स्वाध्यायी प्रतिदिन इसका पारायण करते हैं।

सन् १९७४ में आचार्यश्री ने "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" दूसरा भाग भी पूर्ण कर दिया। १९७५ में इतिहास-समिति ने इसे प्रकाशित किया। इसका

भी प्रथम भाग की ही तरह भूरि-भूरि प्रशंसा और हर्ष के साथ समाज में स्वागत किया गया। आचार्यश्री के अथाह ज्ञान, अथक श्रम और इस इतिहास ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं सर्वांग पूर्णता के सम्बन्ध में एक शब्द भी कहने के स्थान पर इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में जैन समाज के सर्वमान्य उच्च कोटि के विद्वान् श्री दलसुख भाई मालवणियां के आन्तरिक उद्गार ही उद्धृत कर देना हम पर्याप्त समझते हैं। श्री मालवणियाँ ने लिखा है—

"आचार्यश्री !

सादर बहुमान पूर्वक वन्दणा। "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" के रोचक प्रकरण एवं आपकी प्रस्तावना पढ़ी।...
आपने इस ग्रन्थ में जैन इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने में जो परिश्रम किया है, जैसी तटस्थता दिखाई है, वह दुर्लभ है। बहुत काल तक आपका यह इतिहास ग्रन्थ प्रामाणिक इतिहास के रूप में कायम रहेगा। नये तथ्यों की संभावना अब कम ही है। जो तथ्य आपने एकत्र किये हैं और उनको यथास्थान सजाया है, वह एक सुज्ञ इतिहास के विद्वान् के योग्य कार्य है। इस ग्रन्थ को पढ़ कर आपके प्रति जो आदर था, वह और भी बढ़ गया है। आशा है, ऐसा ही आगे के भागों में भी आप करेंगे।

श्री राठौड़ का परिश्रम और बहुश्रुतत्व इसमें आपको सहायक हुआ है, इसको आपने स्वीकार किया है। यह आपके और उनके व्यक्तित्व को बढ़ाता है।"

ये हैं लब्ध-प्रतिष्ठ शोधकर्ता विद्वान् दलसुख भाई मालवणियाँ के इस अमर ऐतिहासिक कृति और इसके रचनाकर इतिहास-मार्तण्ड आचार्यश्री के भगीरथ प्रयास के सम्बन्ध में हार्दिक उद्गार ! एक गवेषक विद्वान् ही गवेषक विद्वान् के श्रम का सही आकलन कर सकता है। यह पराकाष्ठा है सही मूल्यांकन की ! आचार्यश्री और इनकी ऐतिहासिक अमर कृति के सम्बन्ध में इससे अधिक और क्या लिखा जा सकता है ?

सन् १६५५ के अन्तिम चरण में "जैन धर्म का मौलिक इतिहास—तृतीय भाग" के लिए सामग्री एकत्रित करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। तभी से निरंतर अथक प्रयास किये जा रहे हैं—इसे संपन्न करने की सामग्री के संकलन के लिये! देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा अपनी नई-नई मान्यताओं के साथ जैन जगत् पर छा गई। लगभग सात सौ आठ सौ वर्षों तक भारत के विभिन्न भागों में चैत्यवासी परम्परा का एकाधिपत्य रहा। भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के साधु-साध्वियों का उत्तर भारत के जनपदों में

विचरण तो दूर रहा, प्रवेश तक पर राजमान्य चैत्यवासी परम्परा ने राज्य की ओर से प्रतिबन्ध लगवा दिया। फलस्वरूप मूल परम्परा के श्रमण, श्रमणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं की संख्या देश के सुदूरस्थ प्रदेशों में अंगुलियों पर गिनने योग्य रह गई। विशुद्ध श्रमण धर्म में मुमुक्षुओं का दीक्षित होना तो दूर, अनेक प्रान्तों में विशुद्ध श्रमणाचार का नाम तक लोग प्रायः भूल गये। नवोदिता चैत्यवासी परम्परा को ही लोग भगवान् की मूल विशुद्ध परम्परा मानने लगे। वस्तुतः उस संक्रांति-काल में विशुद्ध मूल परम्परा क्षीण से क्षीणतर होती गई और वह लुप्त तो नहीं; किन्तु सुप्त अथवा गुप्त अवश्य हो गई। वीर नि. सं. १५५४ में वनवासी वर्द्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि ने दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों को शास्त्रार्थ में परास्त कर चैत्यवासी परम्परा पर गहरा घातक प्रहार किया। तदनन्तर अभय देव सूरि के शिष्य जिन वल्लभ सूरि वीर नि. सं. १६३७ तक चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन में निरत रहे। अन्ततोगत्वा जिस चैत्यवासी परम्परा ने भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा को पूर्णतः नष्ट कर देने के लगभग सात सौ-आठ सौ वर्ष तक निरन्तर प्रयास किये, उनकी पट्ट-परम्पराओं को नष्ट किया, उसके स्मृति चिह्नों तक को निरवशिष्ट करने के प्रयास किये, वह चैत्यवासी परम्परा भी अन्ततोगत्वा वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी के आते-आते इस धरातल से विलुप्त हो गई। यह आश्चर्य की बात है कि जो चैत्यवासी परम्परा देश में बहुत बड़े भाग पर ७-८ शताब्दियों तक छाई रही, उसकी मान्यता में ग्रन्थ, पट्टावलियाँ आदि के रूप में कोई साक्ष्य आज कहीं नाममात्र के लिए भी उपलब्ध नहीं है।

इन्हीं कारणों से देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् काल के इतिहास की कड़ियों को खोजने और उसे शृंखलाबद्ध व क्रमबद्ध बनाने में बड़े लम्बे समय तक कड़ा श्रम करना पड़ा, अनेक कठिनाइयों को झेलना पड़ा। एक बार तो घोर निराशा सी हुई किन्तु पन्यास श्री कल्याण विजयजी महाराज द्वारा लिखी गई अनेक नोटबुकों को सूक्ष्म शोध दृष्टि से पढ़ने पर विशुद्ध मूल परम्परा के एक दो संकेत मिले। महा निशीथ, तित्थोगाली पइन्नय, जिनवल्लभ सूरि संघ पट्टक, मद्रास यूनिवर्सिटी के प्रांगण में अवस्थित "ओरियन्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी मेकेन्जी कलेक्शन्स आदि से तथा पुराने जर्नल्स के अध्ययन से आशा बँधी है कि वीर नि० सं० १००० से २००० तक का तिमिराच्छन्न इतिहास भी अब अप्रत्याशित रूप से प्रकाश में लाया जा सकेगा। यापनीय संघ के सम्बन्ध में यथाशक्य पर्याप्त खोज की गई। उस खोज के समय भट्टारक परम्परा के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में तो ३४६ श्लोकों का एक ग्रन्थ मेकेन्जी के संग्रह में प्राप्त हो गया, किन्तु यापनीय संघ के सम्बन्ध में अभी तक अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं हुई है। कर्नाटक में यापनीय संघ के सम्बन्ध में भी थोड़े बहुत ऐतिहासिक तथ्य मिलने की सम्भावना है, किन्तु निश्चित रूप से तो वहाँ शोध कार्य करने के

पश्चात् ही कुछ कहा जा सकता है। यह निवेदन है इतिहास की प्रगति के सम्बन्ध में !

जहाँ तक प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का प्रश्न है, हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि कतिपय अपरिहार्य कारणों से इसमें विलम्ब हुआ है। द्वितीय भाग का प्रकाशन होते-होते ही प्रथम भाग की इनी गिनी प्रतियाँ रह गई थीं। पाँच-छः वर्षों से देश के कोने-कोने से प्रथम भाग की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है। द्वितीय संस्करण में कतिपय परिवर्द्धन-परिमार्जन करने परमावश्यक थे, किन्तु आचार्यश्री और इस ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक श्री राठौड़ तीसरे भाग के लिए सामग्री के संकलन एवं शोध-खोज में व्यस्त थे, अतः इतिहास-समिति द्वारा पहले यही विचार किया गया कि इतिहास के तृतीय भाग के प्रकाशन के पश्चात् ही प्रथम भाग के साथ-साथ "ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर" ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करवाया जायगा। इस प्रकार के विचार के उपरान्त भी जब इतिहास-प्रेमियों की उत्कण्ठापूर्ण माँग प्रथम भाग के लिए उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और तृतीय भाग की अन्तिम पाण्डुलिपि के तैयार होने में भी पर्याप्त विलम्ब की संभावना बढ़ी तो सन् १६७६ के जलगाँव चातुर्मास में आचार्यश्री एवं आचार्यश्री के इतिहास प्रेमी सुशिष्य पं० श्री हीरा-मुनि ने प्रधान सम्पादक श्री राठौड़ का बड़ा महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन किया। तदनुसार जलगाँव चातुर्मासावास की अवधि में ही द्वितीय संस्करण की परिवर्द्धित एवं परिमार्जित पाण्डुलिपि तैयार कर ली गई। जलगाँव चातुर्मास के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने के कुछ ही समय पश्चात् प्रथम भाग की पाण्डुलिपि प्रेस में दे दी गई। प्रेस सम्बन्धी अनेक अपरिहार्य परिस्थितियों एवं कठिनाइयों के कारण इतिहास-समिति द्वारा बारम्बार आग्रह किये जाने पर भी छपाई का कार्य प्रगति नहीं कर सका। विवश हो हमें पाण्डुलिपि वर्तमान प्रेस को देनी पड़ी। यहाँ भी पर्याप्त विलम्ब हुआ और इस ग्रन्थ के छपने में पुनः एक वर्ष से भी अधिक समय का विलम्ब हो गया। अब यह परिवर्द्धित-परिमार्जित द्वितीय संस्करण सहृदय पाठकों के करकमलों में समर्पित करते हुए हमें परम प्रमोद और हर्ष का अनुभव हो रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन-परिवर्द्धन-परिमार्जन में श्रद्धेय आचार्य श्री हस्ती-मलजी महाराज सा० ने जो कल्पनातीत श्रम किया है, इसके लिये इन महासन्त के प्रति आन्तरिक आभार प्रकट करने हेतु कोष में उपयुक्त शब्द ही नहीं हैं। आचार्यश्री के सुशिष्य सुमधुर व्याख्याता पं० श्री हीरामुनि ने इस ग्रन्थ के परिमार्जन व परिवर्द्धन में बड़े श्रम के साथ जो अपना अमूल्य समय दिया है उसके लिए हम पं० मुनिश्री के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ माला के प्रधान सम्पादक श्री गजसिंह राठौड़ ने प्रस्तुत

द्वितीय संस्करण के सम्पादन में शोध आदि के माध्यम से जो श्रम किया है, उसे कभी नहीं भुलाया जा सकता।

इस ग्रन्थ के छपने के समय में प्रधान सम्पादकजी को अधिकांशत: जयपुर से बाहर ही रहना पड़ा, अत: प्रूफ संशोधन आदि के समस्त कार्यभार को सुबोध महाविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पं० श्री हजारीलालजी ने निष्ठा और सफलतापूर्वक वहन किया, तदर्थ हम उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इन्दरचन्द हीरावत
अध्यक्ष

चन्द्रराज सिंघवी
मंत्री

जैन इतिहास-समिति, जयपुर

सम्पादकीय

जन इतिहास ग्रंथमाला के तृतीय प्रकाशन के रूप में "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" प्रथम भाग (तीर्थंकर खण्ड) प्रकाशित किया जा चुका है। उसी ग्रन्थमाला का यह चतुर्थ प्रकाशन पाठकों के सन्मुख है।

प्रस्तुत ग्रन्थ कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है, अपितु "मौलिक इतिहास" के प्रथम भाग (तीर्थंकर खण्ड) का ही एक अंग मात्र है।

"मौलिक इतिहास" में जहाँ भगवान् ऋषभदेव के काल से लेकर आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर के निर्वाणकाल तक का जैन धर्म का इतिहास सम्मिलित किया गया है; वहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में से अन्तिम तीन तीर्थंकरों के काल की घटनाओं का वर्णन है। ये अन्तिम तीन तीर्थंकर–भगवान् अरिष्टनेमि, भगवान् पार्श्वनाथ एवं भगवान् महावीर–हमारे वर्तमानकाल के इतिहास से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। संसार के अधिकांश विद्वान् इतिहासविदों ने गहन अनुसन्धान के पश्चात् इन तीनों तीर्थंकरों को जिन आधारों पर ऐतिहासिक महापुरुष माना है, उसी का प्रामाणिक विशद एवं रोचक विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में पाठकों को मिलेगा।

वैसे इनके काल की प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री जैन साहित्य में तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है ही, जैनेतर साहित्य में भी यत्र-तत्र काफी मात्रा में बिखरी पड़ी है। जैन आगम साहित्य और इतिहास ग्रन्थ तो एक स्वर से इन तीन तीर्थंकरों को ही नहीं, अपितु चौबीस ही तीर्थंकरों को ऐतिहासिक महापुरुष मानते आये हैं। इन सबकी ऐतिहासिकता में किसी भी जैन धर्मावलम्बी को तो सन्देह नहीं है, क्योंकि जैन आगम साहित्य और इतिहास ग्रन्थों की यह परम्परा मानव के कर्मयुग में प्रवेश के समय में आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा निर्मित मानव के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की शृंखला की ही एक कड़ी है। इतनी प्राचीन आगम अथवा इतिहास की परम्परा आज के विश्व में अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है।

इस ग्रन्थ के लेखक आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज ने इसके प्रणयन में जो भागीरथ प्रयास किया है उससे आज का जैन समाज अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है। साथ ही साथ आज तथाकथित प्रगतिशीलता के नाम पर जनमानस में जो अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ अंकुरित किये जाने के प्रयास कुछ

द्वितीय संस्करण के सम्पादन में शोध आदि के माध्यम से जो श्रम किया है, उसे कभी नहीं भुलाया जा सकता।

इस ग्रन्थ के छपने के समय में प्रधान सम्पादकजी को अधिकांशतः जयपुर से बाहर ही रहना पड़ा, अतः प्रूफ संशोधन आदि के समस्त कार्यभार को सुबोध महाविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पं० श्री हजारीलालजी ने निष्ठा और सफलतापूर्वक वहन किया, तदर्थ हम उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इन्दरचन्द हीरावत
अध्यक्ष

चन्द्रराज सिंघवी
मंत्री

जैन इतिहास-समिति, जयपुर

मद्रास में लार्ड मैकेन्जी के हस्तलिखित कलेक्शन्स को देखते समय भी अदृष्ट शक्ति की कृपा से एक ऐसी पुस्तक हाथ लगी, जिसमें भट्टारक परम्परा के अन्धकारपूर्ण इतिहास पर स्पष्टरूपेण प्रकाश डाला गया है। अदृष्ट शक्ति की सहायता से मुझे अनेक ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का बोध हुआ, जिन्हें आज तक इतिहास के विद्वान् अन्धकार के गहन गर्त में विलीन हुआ समझते आ रहे हैं। अतः मैं उस दिव्य अदृष्ट शक्ति के प्रति अन्तःकरण से आभार प्रकट करता हूं।

'गच्छतः स्खलनं भूमौ भवत्येव प्रमादतः'—इस उक्ति के अनुसार संपादन कार्य में मेरे द्वारा अनेक त्रुटियों का होना संभव है। सहृदय पाठकों और इतिहास के विद्वानों से करबद्ध प्रार्थना है कि यदि इस प्रकार की त्रुटियां उनके दृष्टिपथ में आयें तो मुझे वृद्ध समझ कर क्षमा करने के साथ उन त्रुटियों से अवगत करावें, जिससे कि भविष्य में उन त्रुटियों को सुधारा जा सके।

जयपुर,
२१-८-१९८१

गजसिंह राठौड़,
न्याय व्याकरणतीर्थ
सिद्धान्ततीर्थ

दिशाओं से किये जा रहे हैं, उन भ्रांतियों का निराकरण भी बड़े युक्तियुक्त ढंग से इस ग्रन्थ में किया गया है।

इतिहास नीरस विषय गिना गया है। जनसाधारण की सहज गति इसमें सम्भव नहीं होती। पर इसी इतिहास का एक अंग होते हुए भी यह ग्रन्थ ऐतिहासिक कथा-कहानियों के यत्र-तत्र उल्लेख किये जाने से काफी रोचक भी बन पड़ा है। आशा है, विज्ञ पाठकों के साथ जनसाधारण भी इससे प्रचुर लाभ उठा सकेंगे।

प्रस्तुत ग्रंथ के इस द्वितीय संस्करण में यथासंभव सर्वत्र शास्त्रीय मान्यताओं को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए अनेक स्थलों पर परिवर्तन और परिमार्जन किया गया है। इस कार्य में श्रद्धेय आचार्यश्री के सुशिष्य विद्वान् सन्त श्री हीरामुनिजी ने प्रगाढ़ रुचिपूर्ण कठोर परिश्रम के साथ तीर्थंकर चरित्र सम्बन्धी एवं आगमों एवं ऐतिहासिक ग्रंथों के स्थलों का गहन अध्ययन कर अपनी श्लाघनीय सूझबूझ का परिचय देते हुए आचार्य देव की सेवा में अनेक उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किये। पं० मुनिश्री के अथक श्रम, चिन्तन, मनन तथा सहज समाधानकारी समुचित सुझावों से मुझे इस ग्रन्थ के सम्पादन में कोई विशेष श्रम नहीं करना पड़ा। श्री हीरामुनिजी की अनूठी सूझ-बूझ और क्षीर-नीर-विवेकपूर्ण प्रतिभा से मुझे विश्वास हो गया है कि जैन धर्म के इतिहास के शेष भागों को पूर्ण करने में अब आचार्यश्री के श्रम को आप आधा बँटा लेंगे।

प्रस्तुत संस्करण की छपाई के समय में पहले तो शोधकार्य में व्यस्त होने और उसके पश्चात् मोतियाबिन्दु का आपरेशन करवाने एवं अस्वस्थ होने के कारण मैं इस संस्करण के प्रूफ नहीं देख सका हूं। मेरे इस कार्य को सुबोध महाविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पं० श्री हजारीलालजी सा० शर्मा ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया, एतदर्थ में अपने आपको पण्डितजी का ऋणी समझता हूं।

इस ग्रन्थमाला के सम्पादन का कार्य जिस दिन से मैंने अपने हाथ में लिया, उसी समय से कोई अदृष्ट दैवी शक्ति पग-पग पर इस कार्य में मुझे मार्गदर्शन करती रही है। इस बात का संकेत मैंने द्वितीय भाग के अपने सम्पादकीय में किया है। उसे बहुत से पाठक समझ नहीं सके होंगे, इसलिये मैं थोड़ा स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं। भगवान् अरिष्टनेमि के अध्याय का सम्पादन करते समय, उत्कट भावना से जब जिनशासन प्रभाविका देवी से मार्गदर्शन की प्रार्थना की गई तो रात्रि में सुषुप्त्यवस्था में एक हस्तलिखित विशाल ग्रन्थ पढ़ाया गया। जो कुछ पढ़ा, पूरा स्मृतिपटल पर अंकित नहीं रह सका तथापि जो कुछ स्मरण रहा, उसी का परिणाम है कि अरिष्टनेमि का अध्याय सबसे सुन्दर, सबसे अधिक क्रमबद्ध और हृदयस्पर्शी बन पड़ा है।

मद्रास में लार्ड मैकेन्जी के हस्तलिखित कलेक्शन्स को देखते समय भी अदृष्ट शक्ति की कृपा से एक ऐसी पुस्तक हाथ लगी, जिसमें भट्टारक परम्परा के अन्धकारपूर्ण इतिहास पर स्पष्टरूपेण प्रकाश डाला गया है। अदृष्ट शक्ति की सहायता से मुझे अनेक ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का बोध हुआ, जिन्हें आज तक इतिहास के विद्वान् अन्धकार के गहन गर्त में विलीन हुआ समझते आ रहे हैं। अतः मैं उस दिव्य अदृष्ट शक्ति के प्रति अन्तःकरण से आभार प्रकट करता हूं।

'गच्छतः स्खलनं भूमौ भवत्येव प्रमादतः'—इस उक्ति के अनुसार संपादन कार्य में मेरे द्वारा अनेक त्रुटियों का होना संभव है। सहृदय पाठकों और इतिहास के विद्वानों से करबद्ध प्रार्थना है कि यदि इस प्रकार की त्रुटियां उनके दृष्टिपथ में आयें तो मुझे वृद्ध समझ कर क्षमा करने के साथ उन त्रुटियों से अवगत करावें, जिससे कि भविष्य में उन त्रुटियों को सुधारा जा सके।

जयपुर,
२१-८-१९८१

गजसिंह राठौड़,
न्याय व्याकरणतीर्थ
सिद्धान्ततीर्थ

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२१	१३	नायक	नामक
३२४	२०	आजीवन	आजीवक
३२८	१३	आजीवन	आजीवक
३३१	११	द्रष्टा	द्रष्टा
३३१	२४	असं	अहं
३३१	२७	पारिवासी	पारियासी
३३५	१६	नान्तरयी	नान्तरीय
३८१	२२	हस्तिपाक	हस्तिपाल
३८१	नीचे से ४	निर्वाणान्तर	निर्वाणानन्तर
३९०	६	१२०	१२४
३९०	८	अनुमान	उल्लेख किया
३९२	२३	लार	दुलार
४०२	५	अचलक्य	अचेलक्य
४०२	१८	से	के
४०७	६	ला	झा
४३८	२१	कूणिक	चेटक
४६६	२०	नाम्नांजन सुतः	नाम्नाजन सुतः
४७२	५	समीस्थ	समीपस्थ

(नोट:—इनके अतिरिक्त मात्राओं, रेफ, अनुस्वार आदि की टूट एवं ह्रस्व दीर्घ मात्राओं आदि की छोटी-मोटी गलतियाँ हैं जिन्हें विद्वान् पाठक स्वयं शुद्ध कर लेंगे, इस धारणा से उन्हें इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है।)

भगवान् श्री अरिष्टनेमि

भगवान् नमिनाथ के पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि हुए।

पूर्वभव

भगवान् अरिष्टनेमि के जीव ने शंख राजा के भव में तीर्थंकर पद की योग्यता का सम्पादन किया। भारतवर्ष में हस्तिनापुर के भूपति श्रीषेण की भार्या महारानी श्रीमती ने शंख के समान उज्ज्वल वर्ण वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया, अतः उसका नाम शंख कुमार रखा गया।

किसी समय कुमार अपने मित्रों के संग क्रीडांगण में क्रीड़ा कर रहे थे कि महाराज श्रीषेण के पास लोगों ने आकर दर्दभरी पुकार की—"राजन्! सीमा पर पल्लीपति समरकेतु ने सीमावासियों को लूट कर उन पर भयंकर आतंक जमा रखा है। यदि समय रहते सैनिक कार्यवाही नहीं की गई तो राज्य शत्रु के हाथ में चला जायेगा। आप जैसे वीरों की छत्रछाया में राज्य का संरक्षण नहीं हुआ तो फिर हम अन्य से तो किसी प्रकार की आशा नहीं कर सकते।"

यह पुकार सुनकर महाराजा श्रीषेण बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने तत्काल पल्लीपति का सामना करने के लिये सेना सहित जाने की घोषणा कर दी। कुमार को जब ज्ञात हुआ कि पिताजी युद्ध में जा रहे हैं तो वे महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर बोले—"तात! हमारे रहते आप एक साधारण पल्लीपति से लड़ने के लिये जायें, यह हमारे लिये शोभास्पद नहीं है। इस तरह हम युद्धकौशल भी कैसे सीख पायेंगे तथा हमारा उपयोग भी क्या होगा? आपकी आज्ञा भर की देर है, हमें पल्लीपति को जीतने में कुछ भी देर नहीं लगेगी।"

कुमार के साहसपूर्ण वचन सुनकर महाराज ने प्रसन्न हो सैन्य सहित उन्हें युद्ध में जाने की अनुमति दे दी।

पिता की आज्ञा पाते ही कुमार सैन्य सजाकर चल पड़े और पल्लीपति के किले को अपने अधिकार में लेकर चारों ओर से पल्लीपति को घेर लिया और उसके द्वारा लूटे गये धन को उससे छीन कर उन प्रजाजनों को लौटा दिया जिनका कि धन लूटा गया था। कुमार ने कुशलता से उस लुटेरे पल्लीपति को पकड़ कर महाराज श्रीषेण के सम्मुख वन्दी के रूप में प्रस्तुत करने हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया।

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२१	१३	नायक	नामक
३२४	२०	आजीवन	आजीवक
३२८	१३	आजीवन	आजीवक
३३१	११	दृष्टा	द्रष्टा
३३१	२४	असं	अहं
३३१	२७	पारिवासी	पारियासी
३३५	१६	नान्तरयी	नान्तरीय
३८१	२२	हस्तिपाक	हस्तिपाल
३८१	नीचे से ४	निर्वाणान्तर	निर्वाणानन्तर
३९०	६	१२०	१२४
३९०	८	अनुमान	उल्लेख किया
३९२	२३	लार	दुलार
४०२	५	अचलक्य	अचेलक्य
४०२	१८	से	के
४०७	९	ला	झा
४३८	२१	कूणिक	चेटक
४६६	२०	नाम्नांजन सुत:	नाम्नाजन सुत:
४७२	५	समीस्थ	समीपस्थ

(नोट:—इनके अतिरिक्त मात्राओं, रेफ, अनुस्वार आदि की टूट एवं ह्रस्व दीर्घ मात्राओं आदि की छोटी-मोटी गलतियाँ हैं जिन्हें विद्वान् पाठक स्वयं शुद्ध कर लेंगे, इस धारणा से उन्हें इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है।)

भगवान् श्री अरिष्टनेमि

भगवान् नमिनाथ के पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि हुए।

पूर्वभव

भगवान् अरिष्टनेमि के जीव ने शंख राजा के भव में तीर्थंकर पद की योग्यता का सम्पादन किया। भारतवर्ष में हस्तिनापुर के भूपति श्रीषेण की भार्या महारानी श्रीमती ने शंख के समान उज्ज्वल वर्ण वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया, अतः उसका नाम शंख कुमार रखा गया।

किसी समय कुमार अपने मित्रों के संग क्रीडांगण में क्रीड़ा कर रहे थे कि महाराज श्रीषेण के पास लोगों ने आकर दर्दभरी पुकार की—"राजन्! सीमा पर पल्लीपति समरकेतु ने सीमावासियों को लूट कर उन पर भयंकर आतंक जमा रखा है। यदि समय रहते सैनिक कार्यवाही नहीं की गई तो राज्य शत्रु के हाथ में चला जायेगा। आप जैसे वीरों की छत्रछाया में राज्य का संरक्षण नहीं हुआ तो फिर हम अन्य से तो किसी प्रकार की आशा नहीं कर सकते।"

यह पुकार सुनकर महाराजा श्रीषेण बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने तत्काल पल्लीपति का सामना करने के लिये सेना सहित जाने की घोषणा कर दी। कुमार को जब ज्ञात हुआ कि पिताजी युद्ध में जा रहे हैं तो वे महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर बोले—"तात! हमारे रहते आप एक साधारण पल्लीपति से लड़ने के लिये जायें, यह हमारे लिये शोभास्पद नहीं है। इस तरह हम युद्धकौशल भी कैसे सीख पायेंगे तथा हमारा उपयोग भी क्या होगा? आपकी आज्ञा भर की देर है, हमें पल्लीपति को जीतने में कुछ भी देर नहीं लगेगी।"

कुमार के साहसपूर्ण वचन सुनकर महाराज ने प्रसन्न हो सैन्य सहित उन्हें युद्ध में जाने की अनुमति दे दी।

पिता की आज्ञा पाते ही कुमार सैन्य सजाकर चल पड़े और पल्लीपति के किले को अपने अधिकार में लेकर चारों ओर से पल्लीपति को घेर लिया और उसके द्वारा लूटे गये धन को उससे छीन कर उन प्रजाजनों को लौटा दिया जिनका कि धन लूटा गया था। कुमार ने कुशलता से उस लुटेरे पल्लीपति को पकड़ कर महाराज श्रीषेण के सम्मुख वन्दी के रूप में प्रस्तुत करने हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया।

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२१	१३	नायक	नामक
३२४	२०	आजीवन	आजीवक
३२८	१३	आजीवन	आजीवक
३३१	११	दृष्टा	द्रष्टा
३३१	२४	असं	अहं
३३१	२७	पारिवासी	पारियासी
३३५	१६	नान्तरयी	नान्तरीय
३८१	२२	हस्तिपाक	हस्तिपाल
३८१	नीचे से ४	निर्वाणान्तर	निर्वाणानन्तर
३९०	६	१२०	१२४
३९०	८	अनुमान	उल्लेख किया
३९२	२३	लार	दुलार
४०२	५	अचलक्य	अचेलक्य
४०२	१८	से	के
४०७	६	ला	झा
४३८	२१	कूणिक	चेटक
४६६	२०	नाम्नांजन सुतः	नाम्नाजन सुतः
४७२	५	समीस्थ	समीपस्थ

(नोटः—इनके अतिरिक्त मात्राओं, रेफ, अनुस्वार आदि की टूट एवं ह्रस्व दीर्घ मात्राओं आदि की छोटी-मोटी गलतियाँ हैं जिन्हें विद्वान् पाठक स्वयं शुद्ध कर लेंगे, इस धारणा से उन्हें इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है।)

भगवान् श्री अरिष्टनेमि

भगवान् नमिनाथ के पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि हुए।

पूर्वभव

भगवान् अरिष्टनेमि के जीव ने शंख राजा के भव में तीर्थंकर पद की योग्यता का सम्पादन किया। भारतवर्ष में हस्तिनापुर के भूपति श्रीषेण की भार्या महारानी श्रीमती ने शंख के समान उज्ज्वल वर्ण वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया, अतः उसका नाम शंख कुमार रखा गया।

किसी समय कुमार अपने मित्रों के संग क्रीडांगण में क्रीड़ा कर रहे थे कि महाराज श्रीषेण के पास लोगों ने आकर दर्दभरी पुकार की—"राजन्! सीमा पर पल्लीपति समरकेतु ने सीमावासियों को लूट कर उन पर भयंकर आतंक जमा रखा है। यदि समय रहते सैनिक कार्यवाही नहीं की गई तो राज्य शत्रु के हाथ में चला जायेगा। आप जैसे वीरों की छत्रछाया में राज्य का संरक्षण नहीं हुआ तो फिर हम अन्य से तो किसी प्रकार की आशा नहीं कर सकते।"

यह पुकार सुनकर महाराजा श्रीषेण बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने तत्काल पल्लीपति का सामना करने के लिये सेना सहित जाने की घोषणा कर दी। कुमार को जब ज्ञात हुआ कि पिताजी युद्ध में जा रहे हैं तो वे महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर बोले—"तात! हमारे रहते आप एक साधारण पल्लीपति से लड़ने के लिये जायें, यह हमारे लिये शोभास्पद नहीं है। इस तरह हम युद्धकौशल भी कैसे सीख पायेंगे तथा हमारा उपयोग भी क्या होगा? आपकी आज्ञा भर की देर है, हमें पल्लीपति को जीतने में कुछ भी देर नहीं लगेगी।"

कुमार के साहसपूर्ण वचन सुनकर महाराज ने प्रसन्न हो सैन्य सहित उन्हें युद्ध में जाने की अनुमति दे दी।

पिता की आज्ञा पाते ही कुमार सैन्य सजाकर चल पड़े और पल्लीपति के किले को अपने अधिकार में लेकर चारों ओर से पल्लीपति को घेर लिया और उसके द्वारा लूटे गये धन को उससे छीन कर उन प्रजाजनों को लौटा दिया जिनका कि धन लूटा गया था। कुमार ने कुशलता से उस लुटेरे पल्लीपति को पकड़ कर महाराज श्रीषेण के सम्मुख वन्दी के रूप में प्रस्तुत करने हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया।

मार्ग में जितारि की कन्या यशोमती का हरण कर ले जाने वाले विद्याधर मणिशेखर से कुमार ने युद्ध किया और उसे पराजित कर दिया। यशोमती ने कुमार की वीरता पर मुग्ध होकर सहर्ष उनका वरण किया।

जब राजकुमार शंख ने पल्लीपति को बन्दी के रूप में महाराज के सम्मुख प्रस्तुत किया तो वे बड़े प्रसन्न हुए और राजकुमार को सुयोग्य समझ उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त कर स्वयं दीक्षित हो गये। श्रीषेण मुनि ने निर्मल भाव से साधना करते हुए घाति-कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान की प्राप्ति की।

एक बार महाराज शंख अपने परिवार सहित मुनि श्री की सेवा में वन्दना करने गये और उनकी देशना सुनकर बोले—"भगवन् ! मेरा यशोमती पर इतना स्नेह क्यों है, जिससे कि मैं चाहकर भी संयम नहीं ले सकता ?"

केवली मुनि ने पूर्वजन्म का परिचय देते हुए कहा—"शंख ! तुम जब धनकुमार के भव में थे तब यह तुम्हारी पत्नी थी। फिर सौधर्म देवलोक में भी तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में रहे। चौथे भव में महेन्द्र देवलोक में तुम दोनों मित्र थे। फिर पांचवें अपराजित के भव में भी तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में थे। छट्ठे जन्म में आरण देवलोक में भी तुम दोनों देव हुए। यह सातवां जन्म है, जहां तुम पति-पत्नी के रूप में हो। पूर्व भवों के दीर्घकालीन सम्बन्ध के कारण तुम्हारा इसके साथ प्रगाढ़ प्रेम चल रहा है। आगे भी एक देव का भव पूर्णकर तुम बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के रूप से जन्म लोगे।"

श्रीषेण केवली के पास पूर्वभव की बात सुनकर महाराज शंख के मन में वैराग्य जागृत हुआ और उन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर बन्धु-बान्धवों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

तप-संयम के साथ अर्हत्, सिद्ध, साधु की भक्ति में उत्कृष्ट अभिरुचि और उत्कट भावना के साथ निरत रहने के कारण उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया एवं समाधिभाव से आयु पूर्णकर वे अपराजित विमान में अहमिन्द्र रूप से अनुत्तर वैमानिक देव हुए।

जन्म

महाराज शंख का जीव अपराजित विमान से अहमिन्द्र की पूर्ण स्थिति भोगकर कार्तिक कृष्णा १२ को चित्रा नक्षत्र के योग में च्युत हुआ और महाराज समुद्र विजय की धर्मशीला महारानी शिवा देवी की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ।

शिवादेवी १४ शुभ-स्वप्नों के दर्शन से परम भाग्यशाली पुत्र-लाभ की बात जानकर बहुत प्रसन्न हुई और उचित आहार-विहार से गर्भकाल को पूर्ण

कर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन चित्रा नक्षत्र के योग में उसने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

भाग्यशाली पुत्र के पुण्य-प्रभाव से देव-देवेन्द्रों ने जन्म-महोत्सव किया। महाराज समुद्रविजय ने भी प्रमोद से याचकों को मुक्तहस्त से दान देकर संतुष्ट किया। नगर में घर-घर मंगल-महोत्सव मनाया गया।

शारीरिक स्थिति और नामकरण

अरिष्टनेमि सुन्दर लक्षण और उत्तम स्वर से युक्त थे। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक, गौतम गोत्रीय और शरीर से श्याम कान्ति वाले थे। उनकी मुखाकृति मनोहर थी। उनका शारीरिक संहनन वज्र सा दृढ़, संस्थान-आकार समचतुरस्र था और उदर मछली जैसा था[1]। उनका बल देव एवं देवपतियों से भी बढ़कर था।

बारहवें दिन महाराज समुद्र विजय ने स्वजनों एवं मित्रजनों को निमन्त्रित कर प्रीतिभोज दिया और नामकरण करते हुए बोले—"बालक के गर्भकाल में हम सब प्रकार के अरिष्टों से बचे तथा माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र-नेमि-का-दर्शन किया इसलिए इस बालक का नाम अरिष्टनेमि[2] रखा जाता है।

अरिष्टनेमि के पिता महाराज समुद्र विजय हरिवंशीय प्रतापी राजा थे। अत: यहां पर उनके वंश परिचय में हरिवंश की उत्पत्ति का परिचय आवश्यक समझ कर दिया जा रहा है :—

हरिवंश की उत्पत्ति

दशवें तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ में[3] वत्स देश की कौशाम्बी नगरी में सुमुह नाम का राजा था। उसने वीरक नामक एक व्यक्ति की वन-माला नाम की परम सुन्दरी स्त्री को प्रच्छन्न रूप से अपने पास रख लिया। पत्नी के विरह में विलाप करता हुआ वीरक अर्द्ध विक्षिप्त सा रहने लगा और कालान्तर में वह बालतपस्वी हो गया। उधर वनमाला कौशाम्बीपति सुमुह की परमप्रिया होकर विविध मानवी भोगों का उपभोग करती हुई रहने लगी।

---

१ वज्जरिसह संघयणो समचउरंसो झसोयरो। [उ. सू., अ. २२]

२ अरिष्टं अप्रशस्तं तदनेन नामितं, नेमि सामान्यं,
विसेसो रिट्ठरयणामई नेमी, उप्पयमाणी सुविणे पेच्छति। [आव. चूर्णि, उत्त. पृ. ११]

३ सीयलजिणस्स तित्थे, सुमुहो नामेण आसि महिपालो।
कोसम्बीनयरीए, तत्थेव य वीरय कुविन्दो॥ [पउम. च. उ. २१ गा. २]

इस प्रकार सुख से जीवन बिताते हुए एक दिन राजा सुमुह अपनी प्रिया वनमाला के साथ वनविहार करने गया और वहां वीरक को बड़ी दयनीय दशा में देखकर अपने कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा—"ओह ! मैंने कितना बड़ा दुष्कृत्य किया है, मेरे ही अन्याय और दोष के कारण यह वीरक इस अवस्था को प्राप्त होकर तपस्वी बना है।"

वनमाला भी इसी प्रकार पश्चात्ताप करने लगी। इस तरह पश्चात्ताप करते हुई दोनों ने भद्र एवं सरल परिणामों के कारण मनुष्य आयु का बन्ध किया। सहसा बिजली गिरने से दोनों का वहीं प्राणान्त हो गया और वे हरिवास नामकी भोगभूमि में युगल रूप में उत्पन्न हुए।

कालान्तर में वीरक भी मर कर सौधर्म कल्प में किल्विषी देव हुआ और उसने अवधिज्ञान से देखा कि उसका शत्रु हरि अपनी प्रिया हरिणी के साथ भोगभूमि में अनपवर्त्य आयु से उत्पन्न होकर भोगोपभोग का सुख भोग रहा है।

वह कुपित होकर सोचने लगा—"क्या इस दुष्ट को निष्ठुरतापूर्वक कुचल कर चूर्ण कर दूं ? मेरा अपकार करके भी ये भोगभूमि में उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें यों तो नहीं मार सकता। पर इन्हें ऐसे स्थान पर पहुंचाया जाय जहां तीव्र बन्ध योग्य भोग, भोग कर ये दुःख परम्परा में फंस जायं।"

उसने ज्ञान से देखा व सोचा—"चम्पा का नरेश अभी-अभी कालधर्म को प्राप्त हुआ है अतः इन्हें वहां पहुंचा दूं क्योंकि एक दिन का भी आसक्तिपूर्वक किया गया राज्य-भोग दुर्गति का कारण होता है, तो फिर अधिक दिन की तो बात ही क्या है ?"

ऐसा विचारकर देव ने करोड़ पूर्व की आयु वाले हरि-युगल को चित्तरस कल्पवृक्ष सहित उठाकर चम्पा नगरी के उद्यान में पहुंचा दिया और नागरिकजनों को आकाशवाणी से कहने लगा—"तुम लोग राजा की खोज में चिन्तित क्यों हो, मैं तुम्हारे लिए करुणा कर यह राजा लाया हूं। तुम लोग इनका उचित आहार-विहार से पोषण करो, मांस-रस-भावित फल से इनका प्रेम-सम्पादन करते रहना।"

ऐसा कहकर देव ने हरि-युगल की करोड़ पूर्व की आयु का एक लाख वर्ष में अपवर्तन किया[1] और अवगाहना (शरीर की ऊंचाई) भी घटा कर १००

---

१ पुव्वकोडीसेसाउएसु तेसिं वेरं सुमरिऊण वाससयसहस्सं विधारेऊण चम्पाए रायहाणीए इक्खागम्मि चन्दकित्तिपत्थिवे अपुत्ते वोच्छिण्णे नागरयाणं रायकंखियाणं हरिवरिसाओ तं मिहुणं साहरइ···कुणति य से दिव्वप्पभावेण धणुसयं उच्चत्तं।

[वसुदेवहिंडी, खं. १, भाग २. पृ. ३५७]

धनुष की कर दी। देव के कथनानुसार नागरिकों ने हरि का राज्याभिषेक किया और बड़े सम्मान से उसका पोषण करते रहे। तमोगुणी आहार और भोगासक्ति के कारण हरि और हरिणी दोनों मर कर नरक गति के अधिकारी बने। यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई क्योंकि युगलिकों का नरकगमन नहीं होता।

इसी हरि और हरिणी के युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई। हरिवंश की उत्पत्ति का समय तीर्थंकर शीतलनाथ के निर्वाण पश्चात् और भगवान् श्रेयांसनाथ के पूर्व माना गया है।[1]

हरिवंश में अनेक शक्तिशाली, प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए, जिनमें से अनेकों ने कई नगर बसाये। कुछ नगर आज तक भी उन प्रतापी नराधिपतियों के नाम पर विख्यात हैं।

हरिवंश की परम्परा

हरिवंश के आदिपुरुष हरि के पश्चात् इस वंश में जो पैत्रिक अधिकार के आधार पर उत्तराधिकारी राजा हुए उनके कुछ नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

(१) पृथ्वीपति　　(हरि का पुत्र)
(२) महागिरि
(३) हिमगिरि
(४) वसुगिरि
(५) नरगिरि
(६) इन्द्रगिरि

इस तरह इस हरिवंश में असंख्य राजा हुए। बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत भी इसी प्रशस्त हरिवंश में हुए।

सामान्य रूप में युगलिक जीव अनपवर्तनीय आयु वाले माने गये हैं पर इनकी आयु का अपवर्तन हुआ क्योंकि बन्ध ऐसा ही था। वास्तव में जितना आयु बन्धा है उसमें घट बढ़ नहीं होती फिर भी जो व्यवहार में यह जानते हैं कि भोगभूमि का आयु असंख्य वर्ष का ही होता है, वे करोड़ पूर्व की आयु के पहले मरण जानकर यही समझेंगे कि इसकी आयु घट गयी है। इस दृष्टि से व्यवहार में इसे अपवर्तन कहा जाता है।

—सम्पादक

१ समइक्कंते सीयल जिणम्मि तहणागए य सेयंसे।
एत्थंतरम्मि जाओ हरिवंसो जह तहा सुणह॥　　[चउ. म. पु. च., पृष्ठ १८०]

इस प्रकार सुख से जीवन बिताते हुए एक दिन राजा सुमुह अपनी प्रिया वनमाला के साथ वनविहार करने गया और वहां वीरक को बड़ी दयनीय दशा में देखकर अपने कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा—"ओह ! मैंने कितना बड़ा दुष्कृत्य किया है, मेरे ही अन्याय और दोष के कारण यह वीरक इस अवस्था को प्राप्त होकर तपस्वी बना है।"

वनमाला भी इसी प्रकार पश्चात्ताप करने लगी। इस तरह पश्चात्ताप करते हुई दोनों ने भद्र एवं सरल परिणामों के कारण मनुष्य आयु का बन्ध किया। सहसा बिजली गिरने से दोनों का वहीं प्राणान्त हो गया और वे हरिवास नामकी भोगभूमि में युगल रूप में उत्पन्न हुए।

कालान्तर में वीरक भी मर कर सौधर्म कल्प में किल्विषी देव हुआ और उसने अवधिज्ञान से देखा कि उसका शत्रु हरि अपनी प्रिया हरिणी के साथ भोगभूमि में अनपवर्त्य आयु से उत्पन्न होकर भोगोपभोग का सुख भोग रहा है।

वह कुपित होकर सोचने लगा—"क्या इस दुष्ट को निष्ठुरतापूर्वक कुचल कर चूर्ण कर दूं ? मेरा अपकार करके भी ये भोगभूमि में उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें यों तो नहीं मार सकता। पर इन्हें ऐसे स्थान पर पहुंचाया जाय जहां तीव्र बन्ध योग्य भोग, भोग कर ये दुःख परम्परा में फंस जायं।"

उसने ज्ञान से देखा व सोचा—"चम्पा का नरेश अभी-अभी कालधर्म को प्राप्त हुआ है अतः इन्हें वहां पहुंचा दूं क्योंकि एक दिन का भी आसक्तिपूर्वक किया गया राज्य-भोग दुर्गति का कारण होता है, तो फिर अधिक दिन की तो बात ही क्या है ?"

ऐसा विचारकर देव ने करोड़ पूर्व की आयु वाले हरि-युगल को चित्तरस कल्पवृक्ष सहित उठाकर चम्पा नगरी के उद्यान में पहुंचा दिया और नागरिकजनों को आकाशवाणी से कहने लगा—"तुम लोग राजा की खोज में चिन्तित क्यों हो, मैं तुम्हारे लिए करुणा कर यह राजा लाया हूं। तुम लोग इनका उचित आहार-विहार से पोषण करो, मांस-रस-भावित फल से इनका प्रेम-सम्पादन करते रहना।"

ऐसा कहकर देव ने हरि-युगल की करोड़ पूर्व की आयु का एक लाख वर्ष में अपवर्तन किया[1] और अवगाहना (शरीर की ऊंचाई) भी घटा कर १००

---

१ पुव्वकोडीसेसाउएसु तेसिं वेरं सुमरिऊण वाससयसहस्सं विधारेऊण चम्पाए रायहाणीए इक्खागम्मि चन्दकित्तिपत्थिवे अपुत्ते वोच्छिण्णे नागरयाणं रायकंखियाणं हरिवरिसाओ तं मिहुणं साहरइ...कुणति य से दिव्वप्पभावेण धणुसयं उच्चत्तं।

[वसुदेवहिंडी, खं. १, भाग २. पृ. ३५७]

धनुष की कर दी। देव के कथनानुसार नागरिकों ने हरि का राज्याभिषेक किया और बड़े सम्मान से उसका पोषण करते रहे। तमोगुणी आहार और भोगासक्ति के कारण हरि और हरिणी दोनों मर कर नरक गति के अधिकारी बने। यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई क्योंकि युगलिकों का नरकगमन नहीं होता।

इसी हरि और हरिणी के युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई। हरिवंश की उत्पत्ति का समय तीर्थंकर शीतलनाथ के निर्वाण पश्चात् और भगवान् श्रेयांसनाथ के पूर्व माना गया है।[1]

हरिवंश में अनेक शक्तिशाली, प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए, जिनमें से अनेकों ने कई नगर बसाये। कुछ नगर आज तक भी उन प्रतापी नराधिपतियों के नाम पर विख्यात हैं।

हरिवंश की परम्परा

हरिवंश के आदिपुरुष हरि के पश्चात् इस वंश में जो पैत्रिक अधिकार के आधार पर उत्तराधिकारी राजा हुए उनके कुछ नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

(१) पृथ्वीपति (हरि का पुत्र)
(२) महागिरि
(३) हिमगिरि
(४) वसुगिरि
(५) नरगिरि
(६) इन्द्रगिरि

इस तरह इस हरिवंश में असंख्य राजा हुए। बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत भी इसी प्रशस्त हरिवंश में हुए।

सामान्य रूप में युगलिक जीव अनपवर्तनीय आयु वाले माने गये हैं पर इनकी आयु का अपवर्तन हुआ क्योंकि बन्ध ऐसा ही था। वास्तव में जितना आयु बन्धा है उसमें घट बढ़ नहीं होती फिर भी जो व्यवहार में यह जानते हैं कि भोगभूमि का आयु असंख्य वर्ष का ही होता है, वे करोड़ पूर्व की आयु के पहले मरण जानकर यही समझेंगे कि इसकी आयु घट गयी है। इस दृष्टि से व्यवहार में इसे अपवर्तन कहा जाता है।

—सम्पादक

१ समइक्कंते सीयल जिणम्मि तहणागए य सेयंसे।
एत्थंतरम्मि जाओ हरिवंसो जह तहा सुणह॥ [चउ. म. पु. च., पृष्ठ १८०]

माधव इन्द्रगिरि का पुत्र दक्ष प्रजापति हुआ। इस दक्ष प्रजापति की रानी का नाम इला और पुत्र का नाम इल था। किसी कारणवश महारानी इला अपने पति दक्ष से रूठकर अपने पुत्र इल को साथ ले दक्ष के राज्य से बाहर चली गई और उसने ताम्रलिप्ति प्रदेश में इलावर्द्धन नामक नगर बसाया और इल ने माहेश्वरी नगरी बसाई।

राजा इल के पश्चात् इसका पुत्र पुलिन राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुलिन ने एकदा वन में एक स्थान पर देखा कि एक हरिणी कुंडी बनाकर कुण्डलाकार मुद्रा में एक सिंह का सामना कर रही है। इसे उस क्षेत्र का प्रभाव समझकर पुलिन ने उस स्थान पर 'कुंडिणी' नगरी बसाई।

पुलिन के पश्चात् 'वरिम' नामक राजा हुआ, जिसने इन्द्रपुर नगर बसाया। इसी वंश के राजा 'संजती' ने वणवासी अथवा वाणवासी नाम की एक नगरी बसाई। इसी राजवंश में कोल्लयर नगर का अधिपति 'कुणिम' नाम का एक प्रसिद्ध राजा हुआ। फिर इसका पुत्र महेन्द्र दत्त राजा हुआ। महेन्द्र दत्त के अरिष्टनेमि और मत्स्य नामक दो पुत्र बड़े प्रतापी राजा हुए। अरिष्टनेमि ने गजपुर नामक नगर बसाया और मत्स्य ने भद्दिलपुर नगर। अरिष्टनेमि और मत्स्य के, प्रत्येक के सौ-सौ-पुत्र हुए।

इसी हरिवंश के 'अयधणु' नामक एक राजा ने सोज्झ नामक नगर बसाया। इसके अनन्तर 'मूल' नामक राजा हुआ। राजा मूल के पश्चात् 'विशाल' नामक नृप हुआ जिसने 'मिथिला' नगरी को बसाया।

राजा विशाल के पश्चात् क्रमशः 'हरिषेण', 'नहषेण', 'संख', 'भद्र' और 'अभिचन्द्र' नाम के बहुत से राजा हुए। 'अभिचन्द्र' का पुत्र 'वसु' एक बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ जो आगे चलकर उपरिचर वसु (आकाश में अधर सिंहासन पर बैठने वाला) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उपरिचर वसु

यह वसु हरिवंश का एक महान् प्रतापी राजा था। उसने बाल्यावस्था में क्षीरकदम्बक नामक उपाध्याय के पास अध्ययन किया। महर्षि नारद एवं आचार्यपुत्र पर्वत भी वसु के सहपाठी थे। ये तीनों शिष्य जिस समय उपाध्याय क्षीरकदम्बक के पास अध्ययन कर रहे थे, उस समय किसी एक अतिशय-ज्ञानी ने अपने साथी साधु से कहा कि इन तीनों विद्यार्थियों में से एक तो राजा बनेगा, दूसरा स्वर्ग का अधिकारी होगा और तीसरा नरक में जायगा।[1]

---

१ तत्थेगो अइसयनाणी, तेण इयरो भणिओ—एए तिण्णि जणा, एएसिं एक्को राजा भविस्सइ, एगो नरगगामि, एगो देवलोयगामि त्ति

[वसुदेव हिण्डी, प्र० खण्ड, पृ० १८९–९०]

क्षीरकदम्बक ने किसी तरह यह बात सुनली और मन में विचार किया कि वसु तो राजा बनेगा पर नारद और पर्वत, इन दोनों में से नरक में कौन जायगा, इसका निर्णय करना आवश्यक है। अपने पुत्र पर्वत और नारद की परीक्षा करने के लिये उपाध्याय ने एक कृत्रिम बकरा बनाया और उसमें लाक्षारस भर दिया। उपाध्याय द्वारा निर्मित वह बकरा वस्तुतः सजीव बकरे के समान प्रतीत होता था।

उपाध्याय ने नारद को बुलाकर कहा—"वत्स ! मैंने इस बकरे को मन्त्र-बल से स्तंभित कर दिया है। आज बहुला अष्टमी है अतः संध्या के समय, जहां कोई नहीं देखता हो, ऐसे स्थान पर इसे मार कर शीघ्र लौट आना।"

अपने गुरु के आदेशानुसार नारद संध्या के समय उस बकरे को लेकर निर्जन स्थान में गया और विचार किया कि यहाँ तो तारे और नक्षत्र देख रहे हैं। वह और भी घने जंगल के अन्दर चला गया और वहां पर भी उसने सोचा कि यहां पर भी वनस्पतियाँ देख रही हैं जो कि सचेतन हैं। उस घने जंगल के उस निर्जन स्थान से भी नारद बकरे को लिये हुए आगे बढ़ा और एक देवस्थान में पहुंचा। पर वहाँ पर भी उसने मन में विचार किया कि वहां पर भी देव देख रहे हैं।

नारद असमंजस में पड़ गया। उसके मन में विचार आया—"गुरु-आज्ञा यह है कि जहां कोई नहीं देखता हो, उस स्थान पर इसका वध करना। पर ऐसा तो कहीं कोई भी स्थान नहीं है, जहां कि कोई न कोई नहीं देखता हो। ऐसी दशा में यह बकरा निश्चित रूप से अवध्य है।"

अन्ततोगत्वा नारद उस बकरे को बिना मारे ही गुरु के पास लौट आया और उसने गुरु के समक्ष अपने सारे विचार प्रस्तुत किये।

गुरु ने साधुवाद के साथ कहा—"नारद ! तुमने बिल्कुल ठीक तरह से सोचा है। तुम जाओ, इस सम्बन्ध में किसी से कुछ न कहना।"[१]

---

१ (क) वसुदेव हिण्डी, पृष्ठ १९०

(ख) आचार्य हेमचन्द्र ने उपाध्याय द्वारा तीनों शिष्यों को पृथक्-पृथक् एक-एक कृत्रिम कुक्कुट देने का उल्लेख किया है। यथा :—

समर्प्य गुरुरस्माकमेकैकं पिष्टकुक्कुटम्।
उवाचामी तत्र वध्या, यत्र कोऽपि न पश्यति ॥

[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ७, सर्ग २, श्लो० ३९१]

नारद के चले जाने के अनन्तर उपाध्याय ने अपने पुत्र पर्वत को बुलाया और उसे भी वही कृत्रिम बकरा सम्हलाते हुए उसी प्रकार का आदेश दिया, जैसा कि नारद को दिया था।

बकरे को लेकर पर्वत एक जन-शून्य गली में पहुँचा। उसने वहां खड़े होकर चारों ओर देखा कि कहीं कोई उसे देख तो नहीं रहा है। जब वह आश्वस्त हो गया कि उसे उस स्थान पर कोई मनुष्य नहीं देख रहा है, तो उसने तत्काल उस बकरे को काट डाला। कृत्रिम बकरे की गर्दन कटते ही उसमें भरे लाक्षारस से पर्वत के वस्त्र लाल हो गये। पर्वत ने लाक्षारस को लहू समझकर वस्त्रों सहित ही स्नान किया और घर पहुँचकर यथावत् सारा विवरण अपने पिता के समक्ष कह सुनाया।

उपाध्याय क्षीरकदम्बक को अपने पुत्र की बात सुनकर अपार दुःख हुआ। उन्होंने क्रुद्ध-स्वर में कहा—"ओ पापी! तूने यह क्या कर डाला? क्या तू यह नहीं जानता कि सम्पूर्ण ज्योतिमण्डल के देव, वनस्पतियां और अदृश्य रूप से विचरण करने वाले गुह्यक सब के कार्यों को प्रतिक्षण देखते रहते हैं? इन सबके अतिरिक्त तू स्वयं भी तो देख रहा था। इस पर भी तूने बकरे को मार डाला। तू निश्चित रूप से नरक में जायगा। हट जा मेरे दृष्टिपथ से।"[1]

कालान्तर में नारद अपना अध्ययन समाप्त होने पर गुरु की पूजा कर अपने निवास-स्थान को लौट गया।

वसु ने गुरुकुल से विदाई लेते समय जब अपने गुरु से गुरुदक्षिणा के लिये आग्रह किया तो उपाध्याय क्षीरकदम्बक ने कहा—"वत्स! राजा बन जाने पर तुम अपने समवयस्क पर्वत के प्रति स्नेह रखना। बस, यही मेरी गुरुदक्षिणा है। मैं तुम्हारा महन्त हूँ।"

कुछ समय पश्चात् वसु चेदि देश का राजा बना। एक बार मृगया के लिये जंगल में घूमते हुए वसु ने एक मृग को निशाना बनाकर तीर चलाया, पर मृग एवं तीर के बीच में आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक पत्थर था अतः बाण राह में ही उससे टकरा कर गिर गया। पास में जाकर वसु ने जब स्फटिक पत्थर को देखा तो उसके मन में विचार आया कि यह स्फटिक पत्थर एक राजा के लिये बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। वसु ने पास ही के वृक्षों की टहनियां

---

१ तेण भणिओ—पावकम्म! जोइसियदेवा वणप्फतीओ य पच्छण्णचारियगुज्झया पस्संति जणचरियं, सयं च पस्समाणो 'न पस्सामि' त्ति विवाडेसि छगलगं, गतो सि नरगं, अवसर त्ति।

[वसुदेव हिण्डी, प्र. खं., पृष्ठ १९०]

काटकर उनसे उस स्फटिक पत्थर को आच्छादित कर दिया और अपने नगर में लौटने पर प्रधानामात्य को स्फटिक पत्थर के सम्बन्ध में अवगत किया।

प्रधानामात्य ने वह स्फटिक पत्थर राजप्रासाद में मंगवा लिया और उस पर वसु का राजसिंहासन रख दिया। कहीं इस रहस्य का भण्डाफोड़ नहीं हो जाय, इस आशंका से स्फटिक पत्थर लाने वाले सब लोगों को उनकी स्त्रियों सहित प्रधानामात्य ने मरवा डाला।

स्फटिकशिला पर रखे राजसिंहासन पर बैठने के कारण वसु की ख्याति दिग्दिगन्त में फैल गई कि न्याय एवं धर्मपरायण होने के कारण वसु का राज-सिंहासन आकाश में अधर रहता है और इस प्रकार वह उपरिचर वसु के नाम से लोक में प्रख्यात हो गया।

आचार्य क्षीरकदम्बक की मृत्यु के पश्चात् पर्वत उपाध्याय बना और अध्यापन का कार्य करने लगा। पर्वत अपने शिष्यों को 'अजैर्यष्टव्यं' इस वेद-वाक्य का यह अर्थ बताने लगा कि 'बकरों से यज्ञ करना चाहिए।'

नारद को जब इस अनर्थ की सूचना मिली तो वह पर्वत के पास पहुँचा। पर्वत ने इस गर्व से कि वह राजा के द्वारा पूजनीय है, जन-समुदाय के समक्ष कहा—"अजा अर्थात् बकरों से यज्ञ करना चाहिए।"[1]

नारद ने पर्वत को अच्छी तरह समझाया कि वह परम्परागत पवित्र वेद-वाक्य के अर्थ का अनर्थकारी प्रलाप न करे। अज का अर्थ ऋषि-महर्षि और श्रुतियां सदा से त्रैवार्षिक यव-व्रीही बताती आ रही, हैं न कि छाग।

नारद द्वारा बार-बारसमझाने-बुझाने पर भी पर्वत ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। ज्यों-ज्यों विवाद बढ़ता गया, त्यों-त्यों पर्वत का दुराग्रह भी बढ़ता गया। अन्त में क्रुद्ध हो पर्वत ने अपने असत्य-पक्ष पर अड़े रहकर एकत्रित विद्वानों के समक्ष यह कह दिया—"नारद ! मेरा पक्ष सत्य है। यदि मेरी बात मिथ्या साबित हो जाय तो विद्वानों के समक्ष मेरी जिह्वा काट डाली जाय अन्यथा तुम्हारी जिह्वा काट ली जाय।"[2]

---

१ कयाइं च महाजरामज्झे पव्वयओ 'रायपूजिओ अहं' त्ति गव्विओ पण्णवेति—अजा छगला तेहिं य जइयव्वं ति। [वसुदेव हिण्डी, पृथम खं.. पृ० १९०–१९१]

२ ततो तेसिं समच्छरे विवादे वट्टमाणे पव्वयओ भणति—
जइ अहं वितहवादी ततो मे जिहच्छेदो विउसाणं पुरओ, तव वा।

[वसुदेव हिण्डी प्र. खं. पृ० १९१]

नारद ने कहा—"पर्वत ! दुराग्रह का अवलम्बन लेकर इस प्रकार की प्रतिज्ञा न करो। मैं तो तुमसे बार-बार यही कहता हूं कि इस प्रकार का अनर्थ और अधर्म मत करो। हमारे पूज्यपाद उपाध्याय ने हमें अज का अर्थ नहीं उगने वाला धान्य बताया है। यह तुम भी अपने मन में भलीभांति जानते हो। केवल दुराग्रहवश तुम जो यह अधर्मपूर्ण अनर्थ करने जा रहे हो, यह तुम्हारे लिये भी अकल्याणकर है और लोकों के लिये भी।"

इस पर पर्वत ने कहा—"इस वेदवाक्य का अर्थ मैं भी अपनी बुद्धि से नहीं बता रहा हूं। आखिर मैं भी उपाध्याय का पुत्र हूं। पिताजी ने मुझे इसी प्रकार का अर्थ सिखाया है।"

नारद ने कहा—"पर्वत ! हमारे स्वर्गीय गुरु के हम दोनों के अतिरिक्त तीसरे शिष्य हरिवंशोत्पन्न महाराज उपरिचर वसु भी हैं। अतः 'अजैर्यष्टव्यं' का अर्थ उनसे पूछा जाय और वे जो इसका अर्थ बताएं, उसे प्रामाणिक और सत्य माना जाय।"

पर्वत ने नारद के प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपनी माता के समक्ष नारद के साथ हुए अपने विवाद की सारी बात रखी।

माता ने पर्वत से कहा—"पुत्र ! तूने बहुत बुरा किया। तेरे पिता द्वारा, नारद सदा ही सम्यक् प्रकार से विद्या ग्रहण करने वाला और ग्रहण की हुई विद्या को हृदयंगम करने वाला माना जाता था।"

इस पर पर्वत ने अपनी माता से कहा—"मां ! ऐसा न कहो। मैंने अच्छी तरह सूत्रों के अर्थ को समझा है। तुम देखना, मैं वसु के निर्णय से नारद को हराकर उसकी जिह्वा कटवा दूंगा।"

पर्वत की माता को अपने पुत्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह महाराज वसु के पास गई और वसु के समक्ष 'अजैर्यष्टव्यं' इस वेदवाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद खड़ा हुआ, उसके सम्बन्ध में दोनों के पक्ष को प्रस्तुत करने के पश्चात् वसु से उसने पूछा—"तुम्हारे आचार्य से तुम लोगों ने 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेदवाक्य का क्या अर्थ सीखा था ?"

उत्तर में वसु ने कहा—"मात ! इस पद का अर्थ जैसा कि नारद बताता, वही हम लोगों ने हमारे पूज्यपाद आचार्य से अवधारित किया है।"

वसु का उत्तर सुन कर पर्वत की माता शोकसागर में निमग्न हो गई। उसने वसु से कहा—"वत्स ! यदि तुमने इस प्रकार का निर्णय दिया तो मेरे पुत्र पर्वत का सर्वनाश सुनिश्चित है। पुत्र-वियोग में मैं भी अपने प्राणों को धारण

नहीं कर सकूँगी । अतः अपने पुत्र की मृत्यु से पहले ही मैं तुम्हारे सम्मुख अभी इसी समय अपने प्राणों का परित्याग किये देती हूं ।"

यह कह कर पर्वत की माता ने तत्काल अपनी जिह्वा अपने हाथ से पकड़ ली ।

मरणोद्यता उपाध्यायिनी को देखकर वसु नृपति अवाक् रह गये । उसी समय पाखण्ड-पन्थ के उपासक कुछ लोगों ने राजा वसु से कहा—"देव ! उपाध्यायिनी के वचनों को सत्य समझिये । यदि कहीं ऐसा अनर्थ हो गया तो हम इस पाप से तत्क्षण ही नष्ट हो जायेंगे ।"

अपनी उपाध्यायिनी द्वारा की जाने वाली आत्महत्या के निवारणार्थ और पर्वत के समर्थक पाखन्डपन्थानुयायी लोगों के कहने में आकर अवश हो वसु ने कहा—"मां ! ऐसा न करो । मैं पर्वत के पक्ष का समर्थन करूँगा ।"

अपना कार्य सिद्ध हुआ देख आचार्य क्षीरकदम्बक की विधवा पत्नी अपने घर को लौट गई ।

दूसरे दिन जन-समुदाय दो दलों में विभक्त हो गया । कई नारद की प्रशंसा करने लगे तो कई पर्वत की । विशाल जनसमूह के साथ नारद और पर्वत महाराज उपरिचर वसु की राजसभा में पहुंचे । उपरिचर वसु अदृश्य तुल्य स्फटिक-प्रस्तर-निर्मित विशाल स्तम्भ पर रखे अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे अतः यही प्रतीत हो रहा था कि वे बिना किसी प्रकार के सहारे के आकाश में अधर सिंहासन पर विराजमान हैं ।

नारद और पर्वत ने क्रमशः अपना-अपना पक्ष महाराज उपरिचर वसु के समक्ष रखा और उन्हें निर्णय देने का अनुरोध किया कि दोनों पक्षों में से किसका पक्ष सत्य है ?

सत्य-पक्ष को जानते हुए भी अपनी आचार्य-पत्नी, पर्वत की माता को दिये गये आश्वासन के कारण असत्य-पक्ष का समर्थन करते हुए महाराज वसु ने निर्णय दिया—"अज अर्थात् छाग—बकरे से यज्ञ करना चाहिये ।"

असत्य-पक्ष का जान-बूझ कर समर्थन करने के कारण उपरिचर वसु का सिंहासन उसी समय सत्य के समर्थक देवताओं द्वारा ठुकराया जाकर पृथ्वी पर गिरा दिया गया और इसी तरह 'उपरिचर' वसु 'स्थलचर' वसु बन गया ।

तत्काल वसु के समक्ष प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ रखे गये और उससे कहा गया कि उन्हें देखकर पुनः वह सही निर्णय दे । पर फिर भी वसु ने मूढतावश यही कहा—"जैसा पर्वत कहता है, वही इसका सही अर्थ है ।"

नारद ने कहा—"पर्वत ! दुराग्रह का अवलम्बन लेकर इस प्रकार की प्रतिज्ञा न करो। मैं तो तुमसे बार-बार यही कहता हूं कि इस प्रकार का अनर्थ और अधर्म मत करो। हमारे पूज्यपाद उपाध्याय ने हमें अज का अर्थ नहीं उगने वाला धान्य बताया है। यह तुम भी अपने मन में भलीभांति जानते हो। केवल दुराग्रहवश तुम जो यह अधर्मपूर्ण अनर्थ करने जा रहे हो, यह तुम्हारे लिये भी अकल्याणकर है और लोकों के लिये भी।"

इस पर पर्वत ने कहा–"इस वेदवाक्य का अर्थ मैं भी अपनी बुद्धि से नहीं बता रहा हूं। आखिर मैं भी उपाध्याय का पुत्र हूं। पिताजी ने मुझे इसी प्रकार का अर्थ सिखाया है।"

नारद ने कहा—"पर्वत ! हमारे स्वर्गीय गुरु के हम दोनों के अतिरिक्त तीसरे शिष्य हरिवंशोत्पन्न महाराज उपरिचर वसु भी हैं। अतः 'अजैर्यष्टव्यं' का अर्थ उनसे पूछा जाय और वे जो इसका अर्थ बताएं, उसे प्रामाणिक और सत्य माना जाय।"

पर्वत ने नारद के प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपनी माता के समक्ष नारद के साथ हुए अपने विवाद की सारी बात रखी।

माता ने पर्वत से कहा–"पुत्र ! तूने बहुत बुरा किया। तेरे पिता द्वारा, नारद सदा ही सम्यक् प्रकार से विद्या ग्रहण करने वाला और ग्रहण की हुई विद्या को हृदयंगम करने वाला माना जाता था।"

इस पर पर्वत ने अपनी माता से कहा–"मां ! ऐसा न कहो। मैंने अच्छी तरह सूत्रों के अर्थ को समझा है। तुम देखना, मैं वसु के निर्णय से नारद को हराकर उसकी जिह्वा कटवा दूंगा।"

पर्वत की माता को अपने पुत्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह महाराज वसु के पास गई और वसु के समक्ष 'अजैर्यष्टव्यं' इस वेदवाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद खड़ा हुआ, उसके सम्बन्ध में दोनों के पक्ष को प्रस्तुत करने के पश्चात् वसु से उसने पूछा–"तुम्हारे आचार्य से तुम लोगों ने 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेदवाक्य का क्या अर्थ सीखा था ?"

उत्तर में वसु ने कहा–"मात ! इस पद का अर्थ जैसा कि नारद बताता, वही हम लोगों ने हमारे पूज्यपाद आचार्य से अवधारित किया है।"

वसु का उत्तर सुन कर पर्वत की माता शोकसागर में निमग्न हो गई। उसने वसु से कहा–"वत्स ! यदि तुमने इस प्रकार का निर्णय दिया तो मेरे पुत्र पर्वत का सर्वनाश सुनिश्चित है। पुत्र-वियोग में मैं भी अपने प्राणों को धारण

नहीं कर सकूँगी। अतः अपने पुत्र की मृत्यु से पहले ही मैं तुम्हारे सम्मुख अभी इसी समय अपने प्राणों का परित्याग किये देती हूं।"

यह कह कर पर्वत की माता ने तत्काल अपनी जिह्वा अपने हाथ से पकड़ ली।

मरणोद्यता उपाध्यायिनी को देखकर वसु नृपति अवाक् रह गये। उसी समय पाखण्ड-पन्थ के उपासक कुछ लोगों ने राजा वसु से कहा—"देव! उपाध्यायिनी के वचनों को सत्य समझिये। यदि कहीं ऐसा अनर्थ हो गया तो हम इस पाप से तत्क्षण ही नष्ट हो जायेंगे।"

अपनी उपाध्यायिनी द्वारा की जाने वाली आत्महत्या के निवारणार्थ और पर्वत के समर्थक पाखन्डपन्थानुयायी लोगों के कहने में आकर अवश हो वसु ने कहा—"मां! ऐसा न करो। मैं पर्वत के पक्ष का समर्थन करूँगा।"

अपना कार्य सिद्ध हुआ देख आचार्य क्षीरकदम्बक की विधवा पत्नी अपने घर को लौट गई।

दूसरे दिन जन-समुदाय दो दलों में विभक्त हो गया। कई नारद की प्रशंसा करने लगे तो कई पर्वत की। विशाल जनसमूह के साथ नारद और पर्वत महाराज उपरिचर वसु की राजसभा में पहुंचे। उपरिचर वसु अदृश्य तुल्य स्फटिक-प्रस्तर-निर्मित विशाल स्तम्भ पर रखे अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे अतः यही प्रतीत हो रहा था कि वे विना किसी प्रकार के सहारे के आकाश में अधर सिंहासन पर विराजमान हैं।

नारद और पर्वत ने क्रमशः अपना-अपना पक्ष महाराज उपरिचर वसु के समक्ष रखा और उन्हें निर्णय देने का अनुरोध किया कि दोनों पक्षों में से किसका पक्ष सत्य है?

सत्य-पक्ष को जानते हुए भी अपनी आचार्य-पत्नी, पर्वत की माता को दिये गये आश्वासन के कारण असत्य-पक्ष का समर्थन करते हुए महाराज वसु ने निर्णय दिया—"अज अर्थात् छाग—बकरे से यज्ञ करना चाहिये।"

असत्य-पक्ष का जान-बूझ कर समर्थन करने के कारण उपरिचर वसु का सिंहासन उसी समय सत्य के समर्थक देवताओं द्वारा ठुकराया जाकर पृथ्वी पर गिरा दिया गया और इसी तरह 'उपरिचर' वसु 'स्थलचर' वसु बन गया।

तत्काल वसु के समक्ष प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ रखे गये और उससे कहा गया कि उन्हें देखकर पुनः वह सही निर्णय दे। पर फिर भी वसु ने मूढतावश यही कहा—"जैसा पर्वत कहता है, वही इसका सही अर्थ है।"

विचख्नु-उपाख्यान[1] एवं उपरिचर राजा वसु के उपाख्यानों से स्पष्टरूपेण सिद्ध होता है।

यज्ञ में पशुवलि का वचनमात्र से अनुमोदन करने के कारण उपरिचर वसु को रसातल के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त में गिरना पड़ा, इस सन्दर्भ में महाभारत में उल्लिखित वसु का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

"राजा वसु को घोर तपश्चर्या में निरत देखकर इन्द्र को शंका हुई कि यदि यह इसी तरह तपश्चर्या करते रहे तो एक न एक दिन उसका इन्द्र-पद उससे छीन लेंगे। इस आशंका से विह्वल हो इन्द्र तपस्वी वसु के पास आया और उसे तप से विरत करने के लिये उसने समृद्ध चेदि का विशाल राज्य देने के साथ-साथ स्फटिक रत्नमय गगनविहारी विमान एवं सर्वज्ञ होने का वरदान आदि दिये। वसु की राजधानी शुक्तिमती नदी के तट पर थी।"[2]

वसु का हिंसा-रहित यज्ञ

"इन्द्र द्वारा प्रदत्त आकाशगामी विमान में विचरण करने के कारण ये उपरिचर वसु के नाम से लोक में विख्यात हुए। उपरिचर वसु बड़े सत्यनिष्ठ, अहिंसक और यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करने वाले थे।"

---

१ सर्वकर्मस्वहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति, बहिर्वेद्यां पशून् नराः ॥५॥
[शा० पर्व, अ० २६४]
....अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥६॥
[वही]
यदि यज्ञांश्च, वृक्षांश्च, यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथा मांसं न खादन्ति, नैषधर्मः प्रशस्यते ॥८॥
[वही]
सुरा मत्स्याः मधुमासमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥६॥
[वही]
मानान्मोहाच्च लोभाच्च, लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥१०॥
[वही]

२ राजोपरिचरो नाम, धर्मनित्यो महीपतिः।
वभूव मृगयां गन्तुं, सदा किल धृतव्रतः ॥१॥
स चेदिविषयं रम्यं, वसुः पौरवनन्दनः।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह, रमणीयं महीपतिः ॥२॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

"अंगिरस पुत्र–बृहस्पति इनके गुरु थे । न्याय, नीति एवं धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते हुए राजा वसु ने महान् अश्वमेध यज्ञ किया । उस अश्वमेध यज्ञ के बृहस्पति, होता तथा एकत, द्वित, त्रित, धनुष, रैभ्य, मेधातिथि, शालिहोत्र, कपिल, वैशम्पायन, कण्व आदि १६ महर्षि सदस्य हुए । उस महान् यज्ञ में यज्ञ के लिये सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री एकत्रित की गई परन्तु उसमें किसी भी पशु का वध नहीं किया गया । राजा उपरिचर वसु पूर्ण अहिंसक भाव से उस यज्ञ में स्थित हुए । वे हिंसाभाव से रहित, कामनाओं से रहित, पवित्र तथा उदारभाव से अश्वमेध यज्ञ करने में प्रवृत्त हुए । वन में उत्पन्न हुए फल मूलादि पदार्थों से ही उस यज्ञ में देवताओं के भाग निश्चित किये गये थे ।"

"भगवान् नारायण ने वसु के इस प्रकार यज्ञ से प्रसन्न हो स्वयं उस यज्ञ में प्रकट हो महाराज वसु को दर्शन दिये और अपने लिये अर्पित पुरोडाश (यज्ञभाग) को ग्रहण किया ।" यथा :–

सम्भृताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ ।
न तत्र पशुघातोऽभूत्, स राजैवं स्थितोऽभवत् ।।१०।।
अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो, निराशीः कर्मसंस्तुतः ।
आरण्यकपदोद्भूता, भागास्तत्रोपकल्पिताः ।।११।।
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान्, देवदेवः पुरातनः ।
साक्षात् तं दर्शयामास, सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ।।१२।।

तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं, निवसन्तं तपोनिधिम् ।
देवाः शक्र पुरोगा वै, राजानमुपतस्थिरे ।।३।।
इन्द्रत्वमर्हो राजायं, तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात्, तपसः संन्यवर्तयन् ।।४।।
दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं, सखाभूतो मम प्रियः ।
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप ।।७।।
....न तेऽस्त्यविदितं किंचित्, त्रिषु लोकेषु यद्भवेत् ।।८।।
देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत् ।
आकाशगं त्वां मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते ।।१३।।
त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः ।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि, देवो विग्रहवानिव ।।१४।।
ददामि ते वैजयन्तीं, मालामम्लानपंकजाम् ।
धारयिष्यति संग्रामे, या त्वां शस्त्रैरविक्षतम् ।।१५।।
यष्टिं च वैष्णवीं तस्मै, ददौ वृत्रनिषूदनः ।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य, शिष्टानां प्रतिपालिनीम् ।।१७।।
[महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३]

स्वयं भागमुपाघ्राय, पुरोडाशं गृहीतवान् ।
अदृश्येन हृतो भागो, देवेन हरिमेधसा ।।१३।।
[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६]

उस महान् अश्वमेध-यज्ञ को पूर्ण करने के पश्चात् राजा वसु बहुत काल तक प्रजा का पालन करता रहा ।[1]

'अजैर्यष्टव्यम्' को लेकर विवाद

एक वार ऋषियों और देवताओं के वीच यज्ञों में दी जाने वाली आहूति के सम्वन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ । देवगण ऋषियों से कहने लगे—"अजेन यष्टव्यम्' (अजैर्यष्टव्यम्) अर्थात् 'अज के द्वारा यज्ञ करना चाहिए' यह, ऐसा जो विधान है, इसमें आये हुए 'अज' शब्द का अर्थ वकरा समझना चाहिए न कि अन्य कोई पशु । निश्चित रूप से यही वास्तविक स्थिति है ।"

इस पर ऋषियों ने कहा—"देवताओ ! यज्ञों में वीजों द्वारा यजन करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है । वीजों का ही नाम अज है; अतः वकरे का वध करना हमें उचित नहीं है । जहां कहीं भी यज्ञ में पशुओं का वध हो, वह सत्-पुरुषों का धर्म नहीं है । यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है । इसमें पशु का वध कैसे किया जा सकता है ?"

यथा :—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषीणां चैव संवादं, त्रिदशानां च भारत ।।२।।
अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः ।।३।।
ऋषयः ऊचुः
वीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि वीजानि, च्छागं नो हन्तुमर्हथ ।।४।।
नैष धर्मः सतां देवा, यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं, कथं वध्येत वै पशुः ।।५।।
[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

जिस समय देवताओं और ऋषियों के वीच इस प्रकार का संवाद चल रहा था, उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी आकाशमार्ग से विचरण करते हुए उस स्थान पर पहुंच गये । उन अन्तरिक्षचारी राजा वसु को सहसा आते देख

१ समाप्तयज्ञो राजापि प्रजां पालितवान् वसुः ।..................६२ ।।
[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

ब्रह्मर्षियों ने देवताओं से कहा—"ये नरेश हम लोगों के संदेह दूर कर देंगे। क्योंकि ये यज्ञ करने वाले, दानपति, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूतों के हितैषी एवं प्रिय हैं। ये महान् पुरुष वसु शास्त्र के विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं?"

इस प्रकार ऋषियों और देवताओं ने एकमत हो एक साथ राजा वसु के पास जाकर अपना प्रश्न उपस्थित किया—"राजन्! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिए? बकरे के द्वारा अथवा अन्न द्वारा? हमारे इस संदेह का आप निवारण करें। हम लोगों की राय में आप ही प्रामाणिक व्यक्ति हैं।"

तब राजा वसु ने हाथ जोड़कर उन सबसे पूछा—"विप्रवरो! आप लोग सच-सच बताइये, आप लोगों में से किस पक्ष को कौनसा मत अभीष्ट है? अज शब्द का अर्थ आप में से कौनसा पक्ष तो बकरा मानता है और कौनसा पक्ष अन्न?"

वसु के प्रश्न के उत्तर में ऋषियों ने कहा—"राजन्! हम लोगों का पक्ष यह है कि अन्न से यज्ञ करना चाहिए तथा देवताओं का पक्ष यह है कि छाग नामक पशु के द्वारा यज्ञ होना चाहिये। अब आप हमें अपना निर्णय बताइये।"[1]

वसु द्वारा हिंसापूर्ण यज्ञ का समर्थन व रसातल-प्रवेश

राजा वसु ने देवताओं का पक्ष लेते हुए कह दिया—"अज का अर्थ है छाग (बकरा) अतः बकरे के द्वारा ही यज्ञ करना चाहिए।"

---

१ महाभारतकार के स्वयं के शब्दों में यह आख्यान इस प्रकार दिया गया है :—

तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः ॥६॥
अन्तरिक्षचरः श्रीमान्, समग्रबलवाहनः।
तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम् ॥७॥
ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम्।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहित प्रियः ॥८॥
कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः।
एवं ते संविदं कृत्वा, विबुधा ऋषयस्तथा ॥९॥
अपृच्छन् सहिताभ्येत्य, वसुं राजानमन्तिकात्।
भो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ॥१०॥
एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् मतः।
स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा, परिपप्रच्छ वै वसु ॥११॥
कस्य वै को मतः कामो, ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः।
धान्यैर्यष्टव्यमित्येव, पक्षोऽस्माकं नराधिप ॥१२॥

यथा :–

देवानां तु मतं ज्ञात्वा, वसुना पक्षसंश्रयात् ।
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ।।१३।।

यह सुनकर वे सभी सूर्य के समान तेजस्वी ऋषि क्रुद्ध हो उठे और विमान पर बैठकर देवपक्ष का समर्थन करने वाले वसु से बोले—"राजन् ! तुमने यह जान कर भी कि 'अज' का अर्थ अन्न है, देवताओं का पक्ष लिया है अतः तुम आकाश से नीचे गिर जाओ। आज से तुम्हारी आकाश में विचरने की शक्ति नष्ट हो जाय। हमारे शाप के आघात से तुम पृथ्वी को भेद कर पाताल में प्रवेश करोगे। नरेश्वर ! तुमने यदि वेद और सूत्रों के विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप तुम पर अवश्य लागू हो और यदि हम लोग शास्त्र-विरुद्ध वचन कहते हों तो हमारा पतन हो जाय।"

ऋषियों के इतना कहते ही तत्क्षण राजा उपरिचर वसु आकाश से नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वी के विवर में प्रवेश कर गये।

इस सन्दर्भ में महाभारतकार के मूल श्लोक इस प्रकार हैं :–

कुपितास्ते ततः सर्वे, मुनयः सूर्यवर्चसः ।।१४।।
ऊचुर्वसुं विमानस्थं, देवपक्षार्थवादिनम् ।
सुरपक्षो गृहीतस्ते, यस्मात् तस्माद् दिवःपत ।।१५।।
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः ।
अस्मच्छापाभिघातेन, महीं भित्वा प्रवेक्ष्यसि ।।१६।।
(विरुद्धं वेदसूत्राणामुक्तं यदि भवेन्नृप ।
वयं विरुद्धवचना, यदि तत्र पतामहे ।।)
ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ, राजोपरिचरस्तदा ।
अधो वै संवभूवाशुः भूमेर्विवरगो नृप ।।१७।।

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

वसु के आठ पुत्रों में से छः पुत्र क्रमशः एक के बाद एक राजसिंहासन पर बैठते ही दैवी-शक्ति द्वारा मार डाले गये, शेष दो पुत्र 'सुवसु' और 'पिहद्धय' 'शुक्तिमती' नगरी से भाग खड़े हुए। 'सुवसु' मथुरा में जा बसा। और 'पिहद्धय' का उत्तराधिकारी राजा 'सुवाहु' हुआ। सुबाहु के पश्चात् क्रमशः 'दीर्घबाहु', वज्रबाहु, अर्द्धबाहु, भानु और सुभानु नामक राजा हुए। सुभानु के पश्चात् उनके पुत्र यदु इस हरिवंश में एक महान् प्रतापी राजा हुए। यदु के वंश में 'सौरी' और 'वीर' नाम के दो बड़े शक्तिशाली राजा हुए। महाराज सौरी ने सौरिपुर और वीर ने सौवीर नगर बसाया।[1]

[1] सोरिणा सोरियपुरं निवेसावियं, वीरेण सोवीरं। [वंसु० हि०, पृ० ३५७]

भगवान् नेमिनाथ का पैतृक कुल

पूर्वकथित इन्हीं हरिवंशीय महाराज सौरी से 'अन्धकवृष्णि' और भोगवृष्णि, दो पराक्रमी पुत्र हुए। 'अन्धकवृष्णि' के 'समुद्रविजय', अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द और वसुदेव ये दश पुत्र थे[1] जो दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए।

इनमें बड़े समुद्रविजय और छोटे वसुदेव ये दो विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न एवं प्रभावशाली थे। समुद्रविजय बड़े न्यायशील, उदार एवं प्रजावत्सल राजा हुए।[2] अपने छोटे भाई वसुदेव का लालन-पालन, रक्षण, शिक्षण एवं संगोपन इनकी देख-रेख में ही होता रहा।

समय पाकर वसुदेव ने अपने पराक्रम से देश-देशान्तर में ख्याति प्राप्त की। सौरिपुर के एक भाग में उनका भी राज्यशासन रहा। वसुदेव का विशेष परिचय यहां दिया जा रहा है।

वसुदेव का पूर्वभव और बाल्यकाल

कुमार वसुदेव अत्यन्त रूपवान्, पराक्रमी और लोकप्रिय थे। पूर्वजन्म में नन्दीषेण ब्राह्मण के भव में माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् कुटुम्बीजनों ने उसे घर से निकाल दिया।

एक माली ने उसका पालन-पोषण कर बड़ा किया और अपनी पुत्रियों में से किसी एक से उसका विवाह करने का उसे आश्वासन दिया किन्तु जब तीनों पुत्रियों द्वारा वह पसन्द नहीं किया जाकर ठुकरा दिया गया, तो उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई।

नन्दीषेण ने घने बीहड़ जंगल में जाकर फांसी डालकर मरना चाहा। वहां किसी मुनि ने देखकर उसे आत्महत्या करने से रोका और उपदेश दिया।

---

१ समुद्दविजयो, अक्खोहो, थिमियो, सागरो हिमवंतो।
अयलो धरणो, पूरणो, अभिचन्दो वसुदेवो त्ति॥ [वसु० हि० पृ० ३५८]

२ सोरियपुरम्मि नयरे, आसी राया समुद्दविजओत्ति।
तस्सासि अग्गमहिसी, सिवत्ति देवी अणुज्जंगी॥
तेसिं पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमि तहेव रहनेमी।
तइओ अ सच्चनेमी, चउत्थओ होइ दढनेमी॥
जो सो अरिट्ठनेमि, बावीसइमो अहेसि सो अरिहा।
रहनेमी सच्चनेमी, एए पत्तेयबुद्धाउ॥
[उत्तराध्ययन नि०, गा० ४४३-४४५]

मुनि के उपदेश से विरक्त हो उसने मुनि-दीक्षा स्वीकार की एवं ज्ञान-ध्यान और तप-संयम से साधना करने लगा। कठोर तप से अपने तिरस्कृत जीवन को उपयोगी बनाने के लिए उसने प्रतिज्ञा की कि किसी भी रोगी साधु की सूचना मिलते ही पहले उसकी सेवा करेगा, फिर अन्न ग्रहण करेगा। तपस्या से उसे अनेक लब्धियां प्राप्त थीं अतः रुग्ण साधुओं की सेवा के लिए उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती, वही मिल जाती थी। इस सेवा के कारण वह समस्त भरत-खण्ड में महातपस्वी के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

उसकी सेवा की प्रशंसा स्वर्ग के इन्द्र भी किया करते थे। दो देवों द्वारा घृणाजनक सेवा की परीक्षा करने पर भी नन्दीषेण विचलित नहीं हुए। निस्वार्थ साधुसेवा से इन्होंने महान् पुण्य का संचय किया।

अन्त में कन्याओं द्वारा किये गये अपने तिरस्कार की बात यादकर उन्होंने निदान किया[1]—"मेरी तपस्या का फल हो तो मैं अगले मानव-जन्म में स्त्री-वल्लभ होऊं।" इसी निदान के फलस्वरूप नन्दीषेण देवलोक का भव कर अन्धकवृष्णि के यहां वसुदेव रूप से उत्पन्न हुआ।

वसुदेव का बाल्यकाल बड़ा सुखपूर्वक बीता। ज्योंही वे आठ वर्ष के हुए, कलाचार्य के पास रखे गये। विशिष्ट बुद्धि के कारण अल्प समय में ही वे गुरु के कृपापात्र बन गये।[2]

वसुदेव की सेवा में कंस

जिस समय कुमार वसुदेव का विद्याध्ययन चल रहा था, उस समय एक दिन एक रसवणिक् उनके पास एक बालक को लेकर आया और कुमार से अभ्यर्थना करने लगा—"कुमार! यह बालक कंस आपकी सेवा करेगा, इसे आप अपनी सेवा में रखें।"

वसुदेव ने रसवणिक् की प्रार्थना स्वीकार करली और तब से कंस कुमार की सेवा में रहने लगा और उनके साथ विद्याभ्यास करने लगा।

---

१ श्रीमद्भागवत में जो वसुदेव और नारद का संवाद दिया हुआ है, उसमें भी पूर्वभव में निदान किये जाने की झलक मिलती है। यथा :—

अहं किल पुरानन्तं, प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय, मोहितो देवमायया॥ ८॥
यथा विचित्र व्यसनाद्, भवद्भिर्विश्वतो भयात्।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धो, तथा नः शाधि सुव्रत॥ ९॥

[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अ० २]

२ वसुदेव हिण्डी।

एक दिन जरासन्ध ने समुद्रविजय के पास दूत भेजा और कहलवाया—"सिंहपुर के उद्दण्ड राजा सिंहरथ को जो पकड़ कर मेरे पास उपस्थित करेगा, उसके साथ मैं अपनी पुत्री जीवयशा का विवाह करूंगा और उपहार में एक नगर भी दूंगा।"

वसुदेव को जब इस बात की सूचना मिली तो उन्होंने समुद्रविजय से प्रार्थना की—"देव ! आप मुझे आज्ञा दें, मैं सिंहरथ को बांध कर आपकी सेवा में उपस्थित करूंगा।"

समुद्रविजय ने कुमार वसुदेव के आग्रह और उत्साह को देखकर सबल सेना के साथ उन्हें युद्ध के लिये विदा किया।

वसुदेव का युद्ध-कौशल

वसुदेव का सेना सहित आगमन सुनकर सिंहरथ भी अपने दल-बल के साथ रणांगण में आ डटा। दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। सिंहरथ के प्रचण्ड पराक्रम और तीक्ष्ण प्रहारों से वसुदेव की सेना के पैर उखड़ने लगे। यह देख कर वसुदेव ने अपने सारथी कंस को आदेश दिया कि वह उनके रथ को सिंहरथ की ओर बढ़ावे। कंस ने सिंहरथ की ओर रथ बढ़ाया और वसुदेव ने देखते ही देखते शरवर्षा की झड़ी लगाकर सिंहरथ के सारथी और घोड़ों को बाणों से बींध दिया। उन्होंने अपने रण-कौशल और हस्तलाघव से सिंहरथ को हतप्रभ कर दिया। कंस ने भी परशु-प्रहार से सिंहरथ के रथ के पहियों को चकनाचूर कर दिया और झपट कर सिंहरथ को बन्दी बना लिया एवं वसुदेव के रथ में ला रखा। यह देख सिंहरथ की सारी सेना भाग छूटी।

वसुदेव सिंहरथ को लेकर सोरियपुर लौट आये और समुद्रविजय के समक्ष उसे बन्दी के रूप में उपस्थित किया।[1] किशोरवय के कुमार वसुदेव की इस वीरता से समुद्रविजय बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उल्लास एवं उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश करवाया।[2]

कंस का जीवयशा से विवाह

समुद्रविजय ने एकान्त पाकर वसुदेव से कहा—"वत्स ! मैंने कोष्टुकी (नैमित्तिक) से जीवयशा के लक्षणों के सम्बन्ध में पूछा तो ज्ञात हुआ कि जीवयशा उभय-कुलों का विनाश करने वाली है। जीवयशा से विवाह करना श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता।"

---

१ 'चउवन्न महापुरिस चरियं' में वसुदेव द्वारा सिंहरथ को सीधा जरासंध के पास ले जाने का उल्लेख है।

२ वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने समुद्रविजय की बात शिरोधार्य करते हुए कहा—"सिंहरथ को बन्दी बनाने में कंस ने साहसपूर्ण कार्य किया है, अतः उसके पारितोषिक रूप में जीवयशा का कंस के साथ पाणिग्रहण करा देना चाहिये।"

समुद्रविजय द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि एक उच्च कुल के राजाधिराज की कन्या एक रसवणिक् के पुत्र से कैसे ब्याही जा सकेगी;—वसुदेव ने कहा—"महाराज! क्षत्रियोचित साहस को देखते हुए कंस क्षत्रिय होना चाहिए न कि रसवणिक।" वास्तविकता का पता लगाने हेतु रसवणिक् को बुलाकर पूछा गया।

रसवणिक् ने कहा—"महाराज! यह मेरा पुत्र नहीं है, मैंने तो यमुना में बहती हुई कांस्य-पेटिका से इसे प्राप्त किया है। तामसिक स्वभाव के कारण बड़ा होने पर यह बालकों को मारता-पीटता था। इसलिये इससे ऊबकर मैंने इसे कुमार की सेवा में रख दिया। कांसी की पेटी ही इसकी माँ है और इसीलिए इसका नाम कंस रखा गया है। इसके साथ पेटी में यह नामांकित मुद्रिका भी प्राप्त हुई थी, जो सेवा में प्रस्तुत है।"

मुद्रिका पर महाराज उग्रसेन का नाम देखकर समुद्रविजय को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सिंहरथ और कंस को लेकर जरासंध के पास पहुंचे और बन्दी सिंहरथ को जरासंध के समक्ष उपस्थित करते हुए उन्होंने कंस के पराक्रम की प्रशंसा की और बताया कि यह कंस महाराज उग्रसेन का पुत्र है। यह सब सुनकर जरासंध बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपनी पुत्री जीवदया का कंस के साथ विवाह कर दिया।

अपने पिता द्वारा नदी में बहा दिये जाने की बात सुन कंस पहले ही अपने पिता से बदला लेने पर तुला हुआ था। जरासंध का जामाता बनते ही उसने जरासंध से मथुरा का राज्य मांग लिया और मथुरा में आकर द्वेषवश उग्रसेन को कारागृह में डालकर वह मथुरा का राज्य करने लगा।[1]

वसुदेव का सम्मोहक व्यक्तित्व

युवावस्था प्राप्त करते ही वसुदेव श्वेत परिधान पहने जातिमान् चंचल अश्व पर आरूढ़ हो एक उपवन से दूसरे उपवन में, इस वन से उस वन में प्रकृति की छटा का आनन्द लूटने लगे। नयनाभिराम वसुदेव को राजपथ से आते-जाते देखकर नागरिक जन उनके अलौकिक सौन्दर्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते और महिलाएं तो उनकी कमनीय कान्ति पर मुग्ध हो उन्हें एकटक निहारती हुई मन्त्र-मुग्ध हरिणियों की तरह सुध-बुध भूले उनके पीछे-पीछे [चल]ने लगतीं। इस प्रकार हँसी-खुशी के साथ उनका समय बीतने लगा।

वसुदेव ने उस अनाथ के शव को चिता पर रखकर अग्नि प्रज्वलित कर दी और श्मशान में पड़ी एक अधजली लकड़ी से माता और गुरुजनों से क्षमा मांगते हुए यह लिख दिया—"विशुद्ध स्वभाव का होते हुए भी नागरिकों ने दोष लगाया, इसलिए वसुदेव ने अपने आपको आग में जला डाला।"

पत्र को श्मशान में एक खम्भे से बाँध कर वसुदेव त्वरित गति से वहां से चल पड़े। बड़ी लम्बी दूरी तक पथ से दूर चलते हुए वे एक मार्ग पर आये और मार्ग तय करने लगे। उस मार्ग से एक युवती गाड़ी में बैठी हुई ससुराल से अपने मातृगृह को जा रही थी। वसुदेव को देखते ही उसने अपने साथ के वृद्ध से कहा—"ओह! यह परम सुकुमार ब्राह्मणकुमार पैदल चलते हुए परिश्रान्त हो गया होगा। इसे गाड़ी में बैठा लो। आज रात अपने घर पर विश्राम कर कल आगे चला जायगा।"

वृद्ध ने गाड़ी में बैठने का आग्रह किया। गाड़ी में बैठे हुए सब की निगाहों से छुपकर जा सकूंगा, यह सोचकर वसुदेव गाड़ी में बैठ गए। सुगाम नामक नगर में पहुँचकर स्नान, ध्यान भोजनादि से निवृत्त हो वसुदेव विश्राम करने लगे।

पास ही के यक्षायतन में उस गांव के कुछ लोग बैठे हुए थे। कुमार ने उन्हें नगर से आए हुए लोगों द्वारा यह कहते हुए सुना—"आज नगर में एक बड़ी दुःखद घटना हो गई, कुमार वसुदेव ने अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया। वसुदेव का वल्लभ नामक सेवक जलती हुई चिता को देखकर करुण क्रन्दन करता हुआ नगर में दौड़ आया। लोगों द्वारा कारण पूछे जाने पर उसने कहा कि जनापवाद के डर से राजकुमार वसुदेव ने चिता में जलकर प्राणत्याग कर दिया।[1] इतना सुनते ही नगर में सर्वत्र चीत्कार और हाहाकार व्याप्त हो गया।

नागरिकों के रुदन को सुनकर नौ ही भाई तत्काल श्मशान में पहुंचे और वहां कुमार के हाथ से लिखे हुए पत्र को पढ़कर शोक से रोते-रोते उन्होंने चिता को घृत और मधु से सींचा; चन्दन, अगर और देवदारु की लकड़ियों से आच्छादित कर दिया तथा उसे जलाकर प्रेतकार्य सम्पन्न कर वे सब अपने घर को लौट गये।

यह सब सुन कर वसुदेव को चिन्ता हुई। इनके मुंह से अनायास निकल गया—"यह सांसारिक बन्धन कितना गूढ़ और रहस्यपूर्ण है, चलो, मेरे आत्मीयजनों को विश्वास हो गया कि वसुदेव मर गया। अब वे मेरी कोई खोज

१ वसुदेव हिण्डी।

नहीं करेंगे, अब मुझे निःशंक हो निर्विघ्न रूप से स्वच्छन्द-विचरण करना चाहिए।"

रात भर विश्राम कर वसुदेव ने दूसरे दिन वहाँ से प्रस्थान किया और वैताढ्य गिरि की उपत्यकाओं में बसे विभिन्न नगरों और अनेक देशों में पर्यटन किया। वसुदेव ने अपने इस पर्यटन-काल में अनेक अद्भुत साहसपूर्ण कार्य किये, वेदों और अनेक विद्याओं का अध्ययन किया। वसुदेव के सम्मोहक व्यक्तित्व और अद्भुत पराक्रम पर मुग्ध हो अनेक बड़े-बड़े राजाओं ने अपनी सर्वगुण-सम्पन्न सुन्दर कन्याओं का उनके साथ विवाह कर विपुल सम्पदाओं से उन्हें सम्मानित किया।

एकदा देशाटन करते हुए वसुदेव कोशल जनपद के प्रमुख नगर अरिष्टपुर में पहुँचे। वहां उन्हें ज्ञात हुआ कि कोशलाधीश महाराज 'रुधिर' की अनुपम रूपगुणसम्पन्ना राजकुमारी 'रोहिणी' के स्वयंवर में जरासन्ध, दमघोष, दन्तवक्र, पाण्डु, समुद्रविजय, चन्द्राभ और कंस आदि अनेक बड़े-बड़े अवनिपति आये हुए हैं, तो वसुदेव भी पणव-वाद्य हाथ में लिये स्वयंवर-मण्डप में पहुँचे और एक मंच पर जा बैठे।[1]

परिचारिकाओं से घिरी हुई राजकुमारी 'रोहिणी' ने वरमाला हाथ में लेकर ज्योंही स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया, सारा राज-समाज उसके अनुपम सौन्दर्य की कान्ति से चकाचौंध हो चित्रलिखित सा रह गया। यह त्रैलोक्य सुन्दरी न मालूम किस का वरण करेगी, इस आशंका से सबके दिल धड़क रहे थे, सबकी धमनियों में रक्तप्रवाह उच्चतम गति को पहुँच चुका था।

जिन राजाओं के सामने रोहिणी अपने हाथों में ली हुई वरमाला को विना हिलाये ही आगे बढ़ गई उन राजाओं के मुख राहु-ग्रस्त सूर्य की तरह निस्तेज हो काले पड़ गये। वसुदेव ने अपने पणव पर हल्का सा मन्द-मधुर नाद किया कि रोहिणी मन्त्रमुग्धा मयूरी की तरह बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का अतिक्रमण करती हुई वसुदेव की ओर बढ़ गई और उनकी ओर देखते ही उनके गले में वरमाला डाल दी व उनके मस्तक पर अक्षतकण चढ़ाकर रनिवास में चली गई।

मण्डप में इससे हलचल मच गई। सब राजा लोग एक दूसरे से पूछने लगे—"किसको वरण किया?" उत्तर में अनेक स्वर गूंज रहे थे—"एक गायक को।"

---

१ वसुदेव हिण्डी।

राजाओं का क्षोभ उग्र रूप धारण करने लगा। महाराज दन्तवक्र ने गरजते हुए कोशलाधीश को कहा—"तुम्हारी कन्या यदि एक गायक को ही चाहती थी तो इन उच्चकुलीन बड़े-बड़े क्षत्रिय राजाओं को क्यों आमन्त्रित किया गया ? कोई क्षत्रिय इस अपमान को सहन नहीं करेगा।"

कोशलपति ने कहा—"स्वयंवर में कन्या को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता है, इसके अनुसार उसने जिसको योग्य समझा, उसे अपना पति बना लिया। अब परदारा की आकांक्षा करना क्या किसी कुलीन के लिए शोभाप्रद है ?"

दन्तवक्र ने कहा—"तुमने अपनी कन्या को स्वयंवर में दिया है, यह ठीक है, पर मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं होना चाहिये। अतः तुम्हारी कन्या इस वर को छोड़कर किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।"[1]

वसुदेव ने दन्तवक्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"दन्तवक्र ! जैसा तुम्हारा नाम टेढ़ा है वैसी ही टेढ़ी तुम बात भी कर रहे हो। क्या क्षत्रियों के लिये कला-कौशल की शिक्षा वर्जित है, जो तुम मेरे हाथ में पणव को देखने मात्र से ही समझ रहे हो कि मैं क्षत्रिय नहीं हूं ?"

इस पर दमघोष ने कहा—"अज्ञातवंश वाले को कन्या किसी भी दशा में नहीं दी जा सकती। अतः राजकुमारी इसे छोड़कर अन्य किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।'

विदुर द्वारा यह मत प्रकट करने पर कि इनसे इनके वंश के सम्बन्ध म पूछ लिया जाय; वसुदेव ने कहा—'क्योंकि सब विवाद में लगे हुए हैं, अतः कुल-परिचय के लिए यह उपयुक्त समय नहीं है, अब तो मेरा बाहुबल ही मेरे कुल का परिचय देगा।"

इतना सुनते ही जरासन्ध ने क्रुद्ध-स्वर मे कहा—"पकड़ लो राजा रुधिर को।"

कोशलपति ने भी अपनी सेना तैयार कर ली। स्वयम्वर में एकत्रित सब राजाओं ने मिलकर उन पर आक्रमण किया और भीषण संग्राम के पश्चात् कोशलपति को घेर लिया। यह देख अरिंजयपुर के विद्याधर-राजा 'दधिमुख' के रथ में आरूढ़ हो वसुदेव ने सबको ललकारा। वसुदेव के इस अदम्य साहस और तेज से राजा लोग बड़े विस्मित हुए और कहने लगे "ओह ! कितना इसका साहस है जो सब राजाओं के समक्ष एकाकी युद्ध हेतु सन्नद्ध है।"

---

१ वसुदेव हिण्डी।

सब राजाओं को एक साथ वसुदेव पर आक्रमण करने के लिए उद्यत देख महाराजा पाण्डु ने कहा—"यह क्षत्रियों का धर्म नहीं है कि अनेक मिलकर एक पर आक्रमण करें।"

महाराज पाण्डु से सहमति प्रकट करते हुए जरासंध ने भी निर्णायक स्वर में कहा—"हाँ, एक-एक राजा इसके साथ युद्ध करे, जो जीत जायगा रोहिणी उसी की पत्नी होगी।"

इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने पर वसुदेव ने क्रमशः शत्रुञ्जय, दन्तवक्र और कालमुख जैसे महापराक्रमी राजाओं को अपने अद्‌भुत रणकौशल से पराजित कर दिया।

इन शक्तिशाली राजाओं को पराजित हुआ देख कर जरासन्ध ने महाराज समुद्रविजय से कहा—"आप इस शत्रु को पराजित कर सब क्षत्रियों की अनुमति से रोहिणी को प्राप्त करें।"

अन्ततोगत्वा महाराज समुद्रविजय शरवर्षा करते हुए वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव ने समुद्रविजय के बाणों को काट गिराया, पर उन पर प्रहार नहीं किया।[1] इस पर समुद्रविजय कुपित हुए। उस समय वसुदेव ने अपना नामांकित बाण उनके चरणों में प्रेषित किया। वसुदेव के नामांकित तीर को देखकर समुद्रविजय चकित हुए, गौर से देखा और धनुष-बाण को एक ओर रख हर्षोन्मत्त हो वे वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव भी शस्त्रास्त्र रखकर अपने बड़े भाई की ओर अग्रसर हुए।

समुद्रविजय ने अपने चरणों में झुकते हुए वसुदेव को बाहु-पाश में आबद्ध कर हृदय से लगा लिया। अक्षोभादि शेष आठ भाई और महाराजा पाण्डु, दमघोष आदि भी हर्षोत्फुल्ल हो वसुदेव से मिले और कंस भी बड़े प्रेम से वसुदेव की सेवा में आ उपस्थित हुआ।

जरासन्ध आदि सब राजा कोशलेश्वर के भाग्य की सराहना करने लगे। इससे प्रसन्न हो कोशलपति रुधिर ने भी बड़े समारोह के साथ वसुदेव से रोहिणी का विवाह सम्पन्न किया। उत्सव की समाप्ति पर सब नरेश अपने-अपने नगरों को प्रस्थान कर गए, पर महाराजा रुधिर के आग्रह के कारण समुद्रविजय को एक वर्ष तक अरिष्टपुर में ही रहना पड़ा। कंस भी इस अवधि में वसुदेव के साथ ही रहा। कोशलेश के आग्रह को मान देते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव को अरिष्टपुर में कुछ दिन और रहने की अनुमति प्रदान की और अन्त में विदा

---

१ वसुदेव हिण्डी।

होते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव से कहा—"कुमार ! तुम बहुत घूम चुके हो, अब सब कुलवधुओं को साथ लेकर शीघ्र ही घर आ जाना ।"

कंस ने भी विदा होते समय वसुदेव से कहा—"देव सूरसेण राज्य आपका ही है, मैं वहां आप द्वारा रक्षित-मात्र हूँ ।"

वसुदेव और रोहिणी बड़े आनन्द के साथ अरिष्टपुर में रहे । वहां रहते हुए रोहिणी ने एक रात्रि में चार शुभ-स्वप्न देखे और समय पर चन्द्रमा के समान गौरवर्ण पुत्र को जन्म दिया । रोहिणी के इस पुत्र का नाम बलराम रखा गया ।

तदनन्तर कुछ समय अरिष्टपुर में रहने के पश्चात् वसुदेव ने अपनी सामली, नीलयशा, मदनवेगा, प्रभावती, विजयसेना, गन्धर्वदत्ता, सोमश्री, धनश्री, कपिला, पद्मा, अश्वसेना, पोंडा, रत्नवती, प्रियंगुसुंदरी, बन्धुमती, प्रियदर्शना, केतुमती, भद्रमित्रा, सत्यरक्षिता, पद्मावती, पद्मश्री, ललितश्री और रोहिणी—इन रानियों के साथ चलकर सोरियपुर आ पहुँचे ।

कुछ समय पश्चात् कंस वसुदेव के पास आया और बड़े ही अनुनय-विनय के साथ प्रार्थना कर उन्हें सपरिवार मथुरा ले गया । वसुदेव भी मथुरा के राज-प्रासादों में बड़े आनन्द के साथ रहने लगे ।[1]

वसुदेव-देवकी विवाह और कंस को वचन-दान

एक दिन कंस के आग्रह से महाराज वसुदेव देवक राजा की पुत्री देवकी को वरण करने के लिए मृत्तिकावती नगरी की ओर चले । । बीच में ही उन्हें नेम-नारद मिले । वसुदेव ने उनसे देवकी के बारे में पूछा तो नारद ने उसके रूप, गुण और शील की बड़ी प्रशंसा की । यह सुनकर वसुदेव ने नेम-नारद से कहा—"आर्य ! जैसा देवकी का वर्णन आपने मेरे सामने किया है, वैसे ही देवकी के सामने मेरा परिचय भी रखना ।"

"एवमस्तु" कह कर नारद वहां से राजा देवक के यहां गये और देवकी क सामने वसुदेव के रूप, गुण की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

वसुदेव कंस के साथ मृत्तिकावती पहुँचे और कंस द्वारा वसुदेव के गुण-वर्णन से प्रभावित होकर देवक ने शुभ दिन में वसुदेव के साथ देवकी का विवाह कर दिया ।[2]

वसुदेव के सम्मान में देवक ने बहुत सा धन, दास, दासी और कोटि गायों का गोकुल, जो कि नन्द को प्रिय था, कन्यादान-दहेज के रूप में अर्पित

१ वसुदेव हिण्डी ।
२ कंसेण तस्स दिन्ना, पित्तिय धूया य देवकी णामं । [च० म० पु० च० पृ० १८३]

किया। बड़ी ऋद्धि के साथ देवकी को लेकर वसुदेव वहाँ से चलकर मथुरा पहुँचे। कंस भी उस मंगल महोत्सव में वसुदेव के साथ मथुरा पहुँचा और विनयपूर्वक वसुदेव से बोला—"देव ! इस खुशी के अवसर पर मुझे भी मुंह-मांगा उपहार दीजिये"

वसुदेव के 'हां' कहने पर हर्षित हो कंस ने देवकी के सात गर्भ माँगे। मैत्री के वश सहज भाव से बिना किसी अनिष्ट की आशंका के वसुदेव ने कंस की बातें मानलीं।

कंस के चले जाने पर वसुदेव को मालूम हुआ कि अतिमुक्तक कुमार श्रमण ने कंस-पत्नी जीवयशा द्वारा उन्हें देवकी का आनन्दवस्त्र दिखाकर उपहास किये जाने पर[1] क्रुद्ध हो कर कहा था—"जिस पर प्रसन्न हो तू नाचती है, उस देवकी का सातवाँ पुत्र तेरे पति और पिता का घातक होगा।"

कंस ने श्रमण के इसी शाप से भयभीत हो कर उक्त वरदान की याचना की है। वसुदेव ने मन ही मन विचार किया—"क्षत्रिय कभी अपने वचन से पीछे नहीं लौटते। मैंने शुद्ध मन से जब एक बार कंस को गर्भदान का वचन दे दिया है तो फिर इस वचन का निर्वाह करना ही होगा, भले ही इसके लिए बड़ी से बड़ी विपत्ति का सामना क्यों न करना पड़े।[2]

विवाह के पश्चात् देवकी ने क्रमशः छः बार गर्भ धारण किये पर प्रसव-काल में ही देवकी के छः पुत्र सुलसा गाथापत्नी के यहां तथा सुलसा के छः मृत पुत्र देवकी के यहां हरिणैगमेषी देव ने अपनी देवमाया द्वारा अज्ञात रूप से पहुँचा दिये। वे ही छः पुत्र वसुदेव ने अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रसव के तुरन्त पश्चात् ही कंस को सौंपे और कंस ने उन्हें मृत समझकर फेंक दिया।

सातवीं बार जब देवकी ने गर्भ धारण किया तो सात महाशुभ-स्वप्न देख कर वह जागृत हुई और वसुदेव को स्वप्नों का विवरण कह सुनाया। वसुदेव ने स्वप्नफल सुनाते हुए कहा—"देवि ! तुम एक महान् भाग्यशाली पुत्र को जन्म दोगी। यही तुम्हारा सातवाँ पुत्र अइमुत्त श्रमण के वचनानुसार कंस और जरासंध का विघातक होगा।"

---

१ (क) आनन्दवस्त्रमेतत्ते, देवक्याः स्वसुरीक्ष्यताम् ॥

[हरिवंश पु० स० ३० श्लोक ३३]

(ख) जीवजसाए हसिओ, अइमुत्त मुणी य मत्ताए ॥४३॥
तेणय कोवावूरिय, हियएणं मुणिवरेण सा सत्ता ।
जो देवतीय गब्भो, सो तुइ पइणो विणासाय ॥३४॥

[च० म० पु० पृष्ठ १८३]

२ वसुदेव हिण्डी।

देवकी स्वप्नफल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई और वसुदेव से एकान्त में बोली—"देव ! कृपा कर इस सातवें गर्भ की रक्षा करना, इसमें जो वचन-भंग का पाप होगा वह मुझे हो, पर एक पुत्र तो मेरा जीवित रहना ही चाहिए।"

वसुदेव ने देवकी को आश्वस्त किया। नव मास पूर्ण होने पर देवकी ने कमलदलसम श्याम कान्ति वाले महान् तेजस्वी बालक को जन्म दिया।

प्रसवकाल में देवकी की संतान का स्थानान्तरण न हो, इस शंका से कंस ने पहरेदार नियुक्त कर रखे थे। पर पुण्य प्रभाव से देवकी ने जब पूर्ण काल में तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया, उस समय दिव्य प्रभाव से पहरेदार निद्राधीन हो गये। ज्ञात कर्म होने पर वसुदेव जब बालक को गोकुल की ओर ले जाने लगे, उस समय मन्द-मन्द वर्षा होने लगी। देवता ने अदृश्य छत्र धारण किया और दोनों ओर दो दिव्य ज्योतियाँ जगमगाती हुई साथ-साथ चलने लगीं।

वसुदेव निर्बाध गति से अँधेरी रात में कृष्ण को लिए चल पड़े और यमुना नदी को सरलता से पार कर व्रज पहुँचे। वहाँ नन्द गोप की पत्नी यशोदा ने उसी समय एक बालिका को जन्म दिया था। यशोदा को बालक अर्पित किया और बालिका को लेकर वसुदेव तत्काल अपने भवन में लौट आये तथा देवकी के पास कन्या को रख कर शीघ्र अपने शयनागार में चले गये। कंस की दासियां जागृत हुईं और सद्य:जाता उस बालिका को लेकर कंस की सेवा में उपस्थित हुईं। कंस भी अपना भय टला समझ कर प्रसन्न हुआ।[1]

कंस को देवकी की संतान के हाथों अपनी मृत्यु होने का भय था अतः वह नहीं चाहता था कि देवकी की कोई संतान जीवित बची रहे।

इसी कारण श्रीकृष्ण की सुरक्षा हेतु उनका लालन-पालन गोकुल में किया गया। बालक कृष्ण के अनेक अद्भुत शौर्य और साहसपूर्ण कार्यों की कहानी कंस ने सुनी तो उस को संदेह हो गया कि कहीं यही बालक बड़ा होने पर उसका प्राणान्त न कर दे, अतः उसने बालक कृष्ण को मरवा डालने के लिये अनेक षड्यन्त्र किये।

कंस ने अपने अनेक विश्वस्त मायावी मित्रों एवं सहायकों को छद्म वेष में गोकुल भेजा। बालक कृष्ण को मार डालने के लिए अनेक बार छल-प्रपंच पूर्ण प्रयास किये गये, पर हर बार श्रीकृष्ण को मारने का प्रयास करने वाले वे मायावी ही बलराम और कृष्ण द्वारा मार डाले गये।

अन्त में कंस ने मथुरा में अपने राजप्रासाद में मल्लयुद्ध का आयोजन किया और कृष्ण एवं बलराम को मारने के लिए मदोन्मत्त दो हाथियों व चाणूर

१ वसुदेव हिण्डी के आधार पर।

तथा मुष्टिक नामक दो दुर्दान्त मल्लों को तैनात किया। पर कृष्ण और बलराम ने उन दोनों मल्लों और मत्त हाथियों को मौत के घाट उतार दिया।

अपने षड्यन्त्र को विफल हुआ देखकर कंस बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने अपने योद्धाओं को आदेश दिया कि वे कृष्ण और बलराम को तत्काल मार डालें। तत्क्षण कंस के अनेक सैनिक कृष्ण और बलराम पर टूट पड़े। महाबली बलराम कंस के सैनिकों का संहार करने लगे और कृष्ण ने क्रुद्ध शार्दूल की तरह छलांग भर कंस को राजसिंहासन से पृथ्वी पर पटक कर पछाड़ डाला।

इस प्रकार कृष्ण ने कंस का वध कर डाला जिससे कि कंस के अत्याचारों से त्रस्त प्रजा ने सुख की सांस ली।

कंस के वध से जरासंध का प्रकोप

कंस के मारे जाने पर महाराज समुद्रविजय ने उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर अपने भाइयों तथा बलराम एवं कृष्ण के परामर्श से उन्हें मथुरा के राजसिंहासन पर बिठाया। उग्रसेन ने भी अपनी पुत्री सत्यभामा का श्रीकृष्ण के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह कर दिया।

अपने पति कंस की मृत्यु से क्रुद्ध हो जीवयशा यह कहती हुई राजगृह (कुसुमपुर)[1] की ओर प्रस्थान कर गयी कि बलराम कृष्ण और दशार्हों का संतति सहित सर्वनाश करके ही वह शान्त बैठेगी, अन्यथा अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लेगी।

जीवयशा ने राजगृह पहुंचकर रोते-रोते, अपने पिता जरासंध को मुनि अतिमुक्तक की भविष्यवाणी से लेकर कृष्ण द्वारा कंसवध तक का सारा विवरण कह सुनाया।

जरासंध सारा वृत्तान्त सुनकर अपनी पुत्री के वैधव्य से बड़ा दुःखित हुआ। उसने जीवयशा को आश्वस्त करते हुए कहा—"पुत्री! तू मत रो। अब तो सब ही यादवों की स्त्रियाँ रोवेंगी। मैं यादवों को मारकर पृथ्वी को यादव-विहीन कर दूंगा।"

कालकुमार द्वारा यादवों का पीछा और अग्नि-प्रवेश

अपनी पुत्री को आश्वस्त कर जरासंध ने अपने पुत्र एवं सेनापति कालकुमार को आदेश दिया कि वह पाँच सौ राजाओं और एक प्रबल एवं विशाल सेना के साथ जाकर समस्त यादवों को मौत के घाट उतार दे।

---

१ 'चउप्पन्न महापुरिस चरियं' में कुसुमपुर को जरासंध की राजधानी बताया गया है। यथा...
कुसुमपुरे णयरे जरासंधो महाबलपरक्कमो राया। [पृ० १८१]

नाम के अनुरूप ही सेनापति कालकुमार ने जरासंध के समक्ष प्रतिज्ञा की—"देव ! यादव लोग जहाँ भी गये होंगे उनको मारकर ही मैं लौटूंगा। अगर वे मेरे भय से अग्नि में भी प्रवेश कर गये होंगे तो मैं वहां भी उनका पीछा करूंगा।"

जब यादवों को अपने गुप्तचरों से यह पता चला कि कालकुमार टिड्डी दल के समान अपार सेना लेकर मथुरा की ओर बढ़ रहा है, तो मथुरा और शौर्यपुर से १८ कोटि यादवों को अपनी चल-सम्पत्ति सहित साथ लेकर समुद्र-विजय और उग्रसेन ने दक्षिण-पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया। कल्पान्त कालीन विक्षुब्ध समुद्र की तरह कालकुमार की सेना यादवों का पीछा करती हुई बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी और थोड़े ही समय में विन्ध्य पर्वत की उन उपत्यकाओं के पास पहुंच गयी जहां से थोड़ी ही दूरी पर समस्त यादवों ने पड़ाव डाल रक्खा था।

उस समय हरिवंश की कुलदेवी ने अपनी देव-माया से उस मार्ग पर एक ही द्वार वाला गगनचुम्बी पर्वत खड़ा कर दिया और उसमें अगणित चितायें जला दीं।

कालकुमार ने उस उत्तुंग गिरिराज की घाटी में अपनी सेना के साथ प्रवेश किया और देखा कि वहाँ अगणित चितायें धाँय-धाँय करती हुई जल रही हैं तथा एक बड़ी चिता के पास बैठी हुई एक बुढ़िया हृदयद्रावी करुण-विलाप कर रही है।

कालकुमार ने उस बुढ़िया से पूछा—"वृद्धे ! यह सब क्या है और तुम इस तरह फूट-फूटकर क्यों रो रही हो ?"

उसने सिसकियां भरते हुए उत्तर दिया—"देव ! त्रिखण्डाधिपति जरासंध के भय से समस्त यादव समुद्र की ओर भागे चले जा रहे थे। जब उन्हें यह सूचना मिली कि साक्षात् काल के समान कालकुमार एक प्रचण्ड सेना के साथ उनका संहार करने के लिए उनके पीछे—पवनवेग से बढ़ता हुआ आ रहा है, तो अपने प्राणों की रक्षा का कोई उपाय न देख कर उन्होंने यहां चिताएं जला लीं और सबने धधकती चिताओं में प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया है। दशों ही दशार्ह, बलदेव और कृष्ण भी इन चिताओं में जल मरे हैं। अतः अपने कुटुम्बियों के विनाश से दुखित होकर अब मैं भी अग्नि-प्रवेश कर रही हूं।"

यह कहकर वह महिला धधकती हुई उस भीषण चिता में कूद पड़ी और कालकुमार के देखते २ जलकर राख हो गयी।

यह देखकर कालकुमार ने अपने भाई सहदेव, यवन एवं साथ के राजाओं से कहा—"मैंने अपने पिता के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि यदि यादव आग में

प्रविष्ट हो जायेंगे तो उनका पीछा करते हुए आग में से भी मैं उन्हें बाहर खींच-खींचकर मारूंगा। सब यादव मेरे डर से आग में कूद पड़े हैं, तो अब मैं भी अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु आग में कूदूंगा और एक-एक यादव को आग में से घसीट-घसीटकर मारूंगा।"

यह कहकर कालकुमार हाथ में नंगी तलवार लिये हुए क्रोधावेश में परिणाम की चिंता किये बिना चिता की धधकती आग में प्रवेश कर गया और अपने बंधु-बांधवों एवं सैनिकों के देखते ही देखते जलकर भस्मीभूत हो गया।

जरासंध की सेना हाथ मलते हुए वापिस राजगृह की ओर लौट पड़ी।

द्वारिका नगरी का निर्माण

जब यादवों को कालकुमार के अग्निप्रवेश और जरासन्ध की सेना के लौट जाने की सूचना मिली तो वे प्रसन्नतापूर्वक समुद्रतट की ओर बढ़ने लगे। उन्होंने सौराष्ट्र प्रदेश में रैवत पर्वत के पास आकर अपना खेमा डाला।

वहाँ सत्यभामा ने भानु और भामर नामक दो युगल पुत्रों को जन्म दिया एवं कृष्ण ने दो दिन का उपवास कर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का एकाग्रचित्त से ध्यान किया।

तृतीय रात्रि में सुस्थित देव ने प्रकट हो श्रीकृष्ण को पांचजन्य शंख, बलराम को सुघोष नामक शंख एवं दिव्य-रत्न और वस्त्रादि भेंट में दिये तथा कृष्ण से पूछा कि उसे किस लिए याद किया गया है?

श्रीकृष्ण ने कहा—"पहले के अर्द्ध चक्रियों की द्वारिका नगरी को आपने अपने अंक में छिपा लिया है। अब कृपा कर वह मुझे फिर दीजिए।"

देव ने तत्काल उस स्थल से अपनी जलराशि को हटा लिया। शक्र की आज्ञा से वैश्रवण ने उस स्थल पर बारह योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी द्वारिकापुरी का एक अहोरात्र में ही निर्माण कर दिया। अपार धनराशि से भरे मणिखचित भव्य प्रासादों, सुन्दर वापी-कूप-तड़ागों, रमणीय उद्यानों एवं विस्तीर्ण राजपथों से सुशोभित दृढ़ प्राकारयुक्त तथा अनेक गोपुरों वाली द्वारिकापुरी में यादवों ने शुभ-मुहूर्त्त में प्रवेश किया और वे वहाँ महान् समृद्धियों का उपभोग करते हुए आनन्द से रहने लगे।

द्वारिका की स्थिति

द्वारिका के पूर्व में शैलराज रैवत, दक्षिण में माल्यवान पर्वत, पश्चिम में सौमनस पर्वत और उत्तर में गन्धमादन पर्वत था।[1] इस तरह चारों ओर से

---

१ तस्याः पुरो रैवतकोऽपाच्यामासीत्तु माल्यवान्।
सौमनसोऽद्रि प्रतीच्यामुदीच्यां गन्धमादनः ॥४१८॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५]

नाम के अनुरूप ही सेनापति कालकुमार ने जरासंध के समक्ष प्रतिज्ञा की—"देव ! यादव लोग जहाँ भी गये होंगे उनको मारकर ही मैं लौटूंगा। अगर वे मेरे भय से अग्नि में भी प्रवेश कर गये होंगे तो मैं वहां भी उनका पीछा करूंगा।"

जब यादवों को अपने गुप्तचरों से यह पता चला कि कालकुमार टिड्डी दल के समान अपार सेना लेकर मथुरा की ओर बढ़ रहा है, तो मथुरा और शौर्यपुर से १८ कोटि यादवों को अपनी चल-सम्पत्ति सहित साथ लेकर समुद्र-विजय और उग्रसेन ने दक्षिण-पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया। कल्पान्त कालीन विक्षुब्ध समुद्र की तरह कालकुमार की सेना यादवों का पीछा करती हुई बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी और थोड़े ही समय में विन्ध्य पर्वत की उन उपत्यकाओं के पास पहुंच गयी जहां से थोड़ी ही दूरी पर समस्त यादवों ने पड़ाव डाल रक्खा था।

उस समय हरिवंश की कुलदेवी ने अपनी देव-माया से उस मार्ग पर एक ही द्वार वाला गगनचुम्बी पर्वत खड़ा कर दिया और उसमें अगणित चितायें जला दीं।

कालकुमार ने उस उत्तुंग गिरिराज की घाटी में अपनी सेना के साथ प्रवेश किया और देखा कि वहाँ अगणित चितायें धाँय-धाँय करती हुई जल रही हैं तथा एक बड़ी चिता के पास बैठी हुई एक बुढ़िया हृदयद्रावी करुण-विलाप कर रही है।

कालकुमार ने उस बुढ़िया से पूछा—"वृद्धे ! यह सब क्या है और तुम इस तरह फूट-फूटकर क्यों रो रही हो ?"

उसने सिसकियां भरते हुए उत्तर दिया—"देव ! त्रिखण्डाधिपति जरासंध के भय से समस्त यादव समुद्र की ओर भागे चले जा रहे थे। जब उन्हें यह सूचना मिली कि साक्षात् काल के समान कालकुमार एक प्रचण्ड सेना के साथ उनका संहार करने के लिए उनके पीछे—पवनवेग से बढ़ता हुआ आ रहा है, तो अपने प्राणों की रक्षा का कोई उपाय न देख कर उन्होंने यहां चिताएं जला लीं और सबने धधकती चिताओं में प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया है। दशों ही दशार्ह, बलदेव और कृष्ण भी इन चिताओं में जल मरे हैं। अतः अपने कुटुम्बियों के विनाश से दुखित होकर अब मैं भी अग्नि-प्रवेश कर रही हूं।"

यह कहकर वह महिला धधकती हुई उस भीषण चिता में कूद पड़ी और कालकुमार के देखते २ जलकर राख हो गयी।

यह देखकर कालकुमार ने अपने भाई सहदेव, यवन एवं साथ के राजाओं से कहा—"मैंने अपने पिता के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि यदि यादव आग में

प्रविष्ट हो जायेंगे तो उनका पीछा करते हुए आग में से भी मैं उन्हें बाहर खींच-खींचकर मारूंगा। सब यादव मेरे डर से आग में कूद पड़े हैं, तो अब मैं भी अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु आग में कूदूंगा और एक-एक यादव को आग में से घसीट-घसीटकर मारूंगा।"

यह कहकर कालकुमार हाथ में नंगी तलवार लिये हुए क्रोधावेश में परिणाम की चिंता किये बिना चिता की धधकती आग में प्रवेश कर गया और अपने बंधु-बांधवों एवं सैनिकों के देखते ही देखते जलकर भस्मीभूत हो गया।

जरासंध की सेना हाथ मलते हुए वापिस राजगृह की ओर लौट पड़ी।

द्वारिका नगरी का निर्माण

जब यादवों को कालकुमार के अग्निप्रवेश और जरासन्ध की सेना के लौट जाने की सूचना मिली तो वे प्रसन्नतापूर्वक समुद्रतट की ओर बढ़ने लगे। उन्होंने सौराष्ट्र प्रदेश में रैवत पर्वत के पास आकर अपना खेमा डाला।

वहाँ सत्यभामा ने भानु और भामर नामक दो युगल पुत्रों को जन्म दिया एवं कृष्ण ने दो दिन का उपवास कर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का एकाग्रचित्त से ध्यान किया।

तृतीय रात्रि में सुस्थित देव ने प्रकट हो श्रीकृष्ण को पांचजन्य शंख, बलराम को सुघोष नामक शंख एवं दिव्य-रत्न और वस्त्रादि भेंट में दिये तथा कृष्ण से पूछा कि उसे किस लिए याद किया गया है?

श्रीकृष्ण ने कहा—"पहले के अर्द्धचक्रियों की द्वारिका नगरी को आपने अपने अंक में छिपा लिया है। अब कृपा कर वह मुझे फिर दीजिए।"

देव ने तत्काल उस स्थल से अपनी जलराशि को हटा लिया। शक्र की आज्ञा से वैश्रवण ने उस स्थल पर बारह योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी द्वारिकापुरी का एक अहोरात्र में ही निर्माण कर दिया। अपार धनराशि से भरे मणिखचित भव्य प्रासादों, सुन्दर वापी-कूप-तड़ागों, रमणीय उद्यानों एवं विस्तीर्ण राजपथों से सुशोभित दृढ़ प्राकारयुक्त तथा अनेक गोपुरों वाली द्वारिकापुरी में यादवों ने शुभ-मुहूर्त्त में प्रवेश किया और वे वहाँ महान् समृद्धियों का उपभोग करते हुए आनन्द से रहने लगे।

द्वारिका की स्थिति

द्वारिका के पूर्व में शैलराज रैवत, दक्षिण में माल्यवान पर्वत, पश्चिम में सौमनस पर्वत और उत्तर में गन्धमादन पर्वत था।[1] इस तरह चारों ओर से

---

१ तस्याः पुरो रैवतकोऽपाच्यामासीत्तु माल्यवान्।
सौमनसोऽद्रि प्रतीच्यामुदीच्यां गन्धमादनः ॥४१८॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५]

उत्तुंग एवं दुर्गम शैलाधिराजों से घिरी हुई वह द्वारिकापुरी प्रबल से प्रबल शत्रुओं के लिए भी अजेय और दुर्भेद्य थी।

बालक अरिष्टनेमि की अलौकिक बाललीलाएं

जरासन्ध के आतंक से जिस समय यादवों ने मथुरा और शौर्यपुर से निष्क्रमण कर अपने समस्त परिवार स्त्री, पुत्र, कलत्र आदि के साथ समुद्रतट की ओर प्रयाण किया, उस समय भगवान् अरिष्टनेमि की आयु लगभग चार, साढ़े चार वर्ष की थी और वे भी अपने माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों के साथ थे।[1]

यादवों के द्वारिका नगरी में बस जाने पर बालक अरिष्टनेमि दशों दशार्हों और राम-कृष्ण आदि को प्रमुदित करते हुए क्रमशः बड़े होने लगे। उनकी विविध बाल-लीलाएं बड़ी ही आकर्षक और अतिशय आनन्दप्रदायिनी होती थीं, अतः उनके साथ खेलने की अद्भुत सुखानुभूति के लिए उनसे बड़ी वय के यादवकुमार भी अरिष्टनेमि के सुकोमल छोटे शरीर के अनुरूप अपना कद छोटा बनाने की चेष्टा करते हुए खेला करते थे।[2]

बालक अरिष्टनेमि की सभी बाल-लीलाएं और समस्त चेष्टाएं माता-पिता, परिजनों एवं नागरिकों को आश्चर्यचकित कर देने वाली होती थीं। यादव कुल के सभी राजकुमारों में बालक अरिष्टनेमि अतिशय प्रतिभाशाली, ओजस्वी एवं अनुपम शक्ति-सम्पन्न माने जाते थे। आपके प्रत्येक कार्य एवं चेष्टा को देखकर, देखने वाले बड़े प्रभावित हो जाते थे। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि यह बालक आगे चलकर महान् प्रतापी महापुरुष होगा और संसार में अनेक महान् कार्य करेगा।

राजकीय समुचित लालन-पालन के पश्चात् ज्योंही अरिष्टनेमि कुछ बड़े हुए तो उन्हें योग्य आचार्य के पास विद्याभ्यास कराने की बात सोची गई। पर महाराज समुद्रविजय ने देखा कि बालक अरिष्टनेमि तो इस वय में भी स्वतः ही सर्व-विद्यासम्पन्न हैं, उन्हें क्या सिखाया जाये ? महापुरुषों में पूर्वजन्मों की संचित ऐसी अलौकिक प्रतिभा होती है कि वे संसार के उच्च से उच्च कोटि के विद्वानों को भी चमत्कृत कर देते हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण का बाल्यकाल

---

१ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५, श्लोक ३८८

२ तन्वन्मुदं दशार्हाणां, आत्मनोश्च हलिकृष्णयोः।
अरिष्टनेमिर्भगवान्, ववृधे तत्र च क्रमात् ॥२॥
ज्यायांसोऽपि लघूभूय, चिक्रीडुः स्वामिना समम्।
सर्वेऽपि भ्रातरः क्रीड़ा शैलोद्यानादि भूमिषु ॥३॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ६]

गोकुल में और शेष प्राय: सारा जीवन भीषण संघर्षों में बीतने के कारण आचार्य संदीपन के पास शिक्षा-ग्रहण का उन्हें यथेष्ट समय नहीं मिला था तथापि वे सर्वकला-विशारद थे ।

भगवान् अरिष्टनेमि तो जन्म से ही विशिष्ट मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे । उन्हें भला संसार का कोई भी कलाचार्य या शिक्षाशास्त्री क्या सिखाता ?

जरासन्ध के दूत का यादव-सभा में आगमन

यादवों के साथ द्वारिकापुरी में रहते हुए बलराम और कृष्ण ने अनेक राजाओं को वश में कर अपनी राज्यश्री का विस्तार किया । यादवों की समृद्धि और ऐश्वर्य की यशोगाथाएं देश के सुदूर प्रान्तों में भी गाई जाने लगीं ।

जब जरासंध को ज्ञात हुआ कि उसके शत्रु यादवगण तो अतुल धनसम्पत्ति के साथ द्वारिका में देवोपम सुख भोग रहे हैं और उसका पुत्र कालकुमार व्यर्थ ही पतंगे की तरह छल-प्रपंच से अग्नि-प्रवेश द्वारा मारा गया, तो उसने क्रुद्ध होकर एक दूत समुद्रविजय के पास द्वारिका भेजा ।

दूत ने द्वारिका पहुँचकर यादवों की सभा में महाराज समुद्रविजय को सम्बोधित करते हुए जरासंध का उन लोगों के लिए लाया हुआ सन्देश सुनाया—

"मेरा सेनापति मारा गया, उसकी तो मुझे चिन्ता नहीं है क्योंकि अपने स्वामी के लिए रणक्षेत्र में जूझने वाले सुभटों के लिए विजय या प्राणाहूति इन दो में से एक अवश्यंभावी है । पर अपने भुजबल और पराक्रम पर ही विश्वास करने वाले आप जैसे युद्धनीति-निपुण राजाओं के लिए इस प्रकार का छल-प्रपंच नितान्त अशोभनीय और निन्दाजनक है । आप लोगों ने युद्धनीति का उल्लंघन कर जो कपटपूर्ण व्यवहार कालकुमार के साथ किया है, उसका फल भोगने के लिए उद्यत हो जाइये । त्रिखण्ड भरताधिपति महाराज जरासंध अपने कल्पान्त-कालोपम क्रोधानल में सब यादवों को भस्मीभूत कर डालने के लिए सदलबल आ रहे हैं । अब चाहे आप लोग समुद्र के उस पार चले जाओ, दुर्गम पर्वतों के शिखरों पर चढ़ जाओ, चाहे ईश्वर की भी शरण में चले जाओ, तो भी किसी दशा में कहीं पर भी आप लोगों के प्राणों का त्राण नहीं है । अब तो आप लोग यदि डर कर पाताल में भी प्रवेश कर जाओगे तो भी क्रुद्ध शार्दूल जरासंध तुम्हारा सर्वनाश किये बिना नहीं रहेगा ।"

जरासन्ध के दूत के मुख से इस प्रकार की अत्यन्त कटु और धृष्टतापूर्ण बातें सुनकर अक्षोभ, अचल आदि दशार्हों, बलराम-कृष्ण, प्रद्युम्न, शाम्ब और सब यदुसिंहों के भुजदण्ड फड़क उठे; यहां तक कि त्रैलोक्यैकधीर, अथाह

अम्बुधि-गम्भीर, किशोर अरिष्टनेमि की शान्त मुखमुद्रा पर भी हल्की सी लाली दृष्टिगोचर होने लगी। यादव योद्धाओं के हाथ अनायास ही अपने-अपने शस्त्रों पर जा पड़े।

महाराज समुद्रविजय ने इंगित मात्र से सबको शान्त करते हुए घनवत् गम्भीर स्वर में कहा—"दूत ! यदि यादवों के विशिष्ट गुणों पर मुग्ध हो स्नेह के वशीभूत होकर किसी देवी ने तुम्हारे सेनापति को मार दिया तो इसमें यादवों ने कौनसा छल-प्रपञ्च किया ?"

"यदि पीढ़ियों से चले आ रहे अपने परस्पर के प्रगाढ़ प्रेमपूर्ण सम्बन्धों को तोड़कर तेरा स्वामी सेना लेकर आ रहा है तो उसे आने दे। यादव भी भीरु नहीं हैं।"

भोज नरेश उग्रसेन ने कहा—"सुनो दूत ! तुम दूत हो और हमारे घर आये हुए हो, अतः यादव तुम्हें अवध्य समझकर क्षमा कर रहे हैं। अब व्यर्थ प्रलाप की आवश्यकता नहीं। जाओ और अपने स्वामी से कह दो कि जो कार्य प्रारम्भ कर दिया है, उसे आप शीघ्र पूर्ण करो।"[1]

उस समय की राजनीति

दूत के चले जाने के अनन्तर दशार्ह, बलराम-कृष्ण, भोजराज उग्रसेन, मन्त्रिपरिषद् और प्रमुख यादव मन्त्रणार्थ मन्त्रणाभवन में एकत्रित हुए। गुप्त मंत्रणा आरम्भ करते हुए समुद्रविजय ने मन्त्रणा-परिषद् के समक्ष यह प्रश्न रखा—"हमें इस प्रकार की अवस्था में शत्रु के साथ किसी नीति का अवलम्बन करते हुए कैसा व्यवहार करना चाहिये ?"

भोजराज उग्रसेन ने कहा—"महाराज ! राजनीति-विशारदों ने साम, भेद, उपप्रदान (दाम) और दण्ड—ये चार नीतियां बताई हैं। जरासंध के साथ साम-नीति से व्यवहार करना अब पूर्णरूपेण व्यर्थ है क्योंकि अब वह हमारी ओर से किये गये मृदु से मृदुतर व्यवहार से भी छेड़े हुए भयानक काले नाग की तरह क्रुद्ध हो कर फूत्कार कर उठेगा।"

"दूसरी जो भेदनीति है उसका भी जरासन्ध पर प्रयोग किया जाना असम्भव है क्योंकि मगधेश द्वारा अतिशय दान-मानादि से सुसमृद्ध एवं सम्मानित उसके समस्त सामन्त मगधपति के ऋण से उऋण होने के लिए उसके एक ही इंगित पर अपने सर्वस्व और प्राणों तक को न्यौछावर करने में अपना अहोभाग्य समझते हैं।"

---

१ चउवन महापुरुषं चरियम् [पृ० १८३–८४]

"तीसरी उपप्रदान (दाम) नीति का तो जरासंध के विरुद्ध प्रयोग करना नितान्त असाध्य है। क्योंकि जरासंध ने अपनी अनुपम उदारता से अपने समस्त सामन्तों, अधिकारियों एवं सैनिकों तथा दासादिकों को कंचन-कामिनी, मणि रत्नादि से पूर्ण वैभवसम्पन्न बना रखा है।"

"अतः चौथी दण्ड-नीति का अवलम्बन ही हमारे लिए उपादेय और श्रेयस्कर है।"

"इन चार नीतियों के अतिरिक्त नीति-निपुणों ने एक और उपाय भी बताया है कि अजेय प्रबल शत्रु से संघर्ष को टालने हेतु उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर देना चाहिये अथवा अपने स्थान का परित्याग कर किसी अन्य स्थान की ओर पलायन कर जाना चाहिये।"

"पर ये दोनों प्रकार के हीन आचरण हमारे आत्म-सम्मान के घातक हैं और बलराम व कृष्ण जैसे पुरुषसिंह जब हमारे सहायक हैं, उस अवस्था में पलायन अथवा आत्म-समर्पण का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"किन्तु दण्ड-नीति का अवलम्बन करते समय रण-नीति के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करना होगा कि युद्ध में उलझा हुआ व्यक्ति अन्तिम विजय तक प्राण-पण से जूझता रहे और एक क्षणभर के लिए भी सुख और विश्राम की आकांक्षा न करे।"

उग्रसेन की साहस और नीतिपूर्ण बातों का सभी सभासदों ने 'साधु-साधु' कहकर एक स्वर से समर्थन करते हुए कहा—"धन्य है आपकी नीतिकुशलता, मार्मिक अभिव्यंजना और वीरोचित गौरव-गरिमा को। हम सब हृदय से आपका अभिनन्दन करते हैं।"

तदनन्तर सभी सभासद महाराज समुद्रविजय का अभिमत जानने के लिए उनकी ओर उत्कंठित हो देखने लगे।

महाराज समुद्रविजय ने गम्भीर स्वर में कहा—"महाराज उग्रसेन ने मानो मेरे ही मन की बात कह दी है। जिस प्रकार तीव्र ज्वर में सम अर्थात् ठंडी औषधि ज्वर के प्रकोप को भीषण रूप से बढ़ा देती है, उसी प्रकार अपने बल-दर्प से गर्वोन्मत्त शत्रु के प्रति किया गया साम–नीति का व्यवहार उसके दर्प को बढ़ाने वाला और अपनी भीरुता का द्योतक होता है।"

"भेद-नीति भी छल-प्रपञ्च, कुटिलता और वंचना से भरी होने के कारण गर्हित और निन्दनीय है, अतः अब भी महापुरुषों की दृष्टि में हेय मानी गई है।"

"इसी तरह उपप्रदान की नीति भी आत्मसम्मान का हनन करने वाली व अपमानजनक है।"

"अतः अभिमानी जरासन्ध के गर्व को चूर-चूर करने के लिए हमें दण्ड-नीति का ही प्रयोग करना चाहिये और वह भी दुर्ग का आश्रय लेकर नहीं अपितु उसके सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर उससे युद्ध के रूप में करना चाहिये। क्योंकि दुर्ग का आश्रय लेकर शत्रु से लड़ने में संसार के सामने अपनी भीरुता प्रकट होने के साथ ही साथ अपने राज्य के बहुत बड़े भाग पर शत्रु का अधिकार भी हो जाता है।[1]

शत्रु के सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर युद्ध करने की दशा में अपनी भीरुता के स्थान पर पौरुष प्रकट होता है, अपने राज्य का समस्त भू-भाग अपने अधिकार में रहता है। शत्रु भी हमारे शौर्य एवं साहस से आश्चर्यचकित हो किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। अपनी प्रजा और सैन्यबल का साहस तथा मनोबल बढ़ता है और अपनी सीमा-रक्षक सेनाएं भी युद्ध में हमारी सहायता कर सकती हैं। दण्ड-नीति के इन सब गुणों को ध्यान में रखते हुए हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि हम अपने शत्रु को उसके सम्मुख जाकर युद्ध में परास्त करें।"

दोनों ओर युद्ध की तैयारियां

मन्त्रणा-परिषद् में उपस्थित सभी सदस्यों ने जयजयकार और हर्षध्वनि के साथ महाराज समुद्रविजय की मन्त्रणा को स्वीकार किया। शंख-ध्वनि और रणभेरी के नाद से समस्त गगनमण्डल गूंज उठा। मित्र राजाओं के पास तत्काल दूत भेज दिये गये। योद्धा रण-साज सजने लगे।

शुभ मुहूर्त में यादवों की चतुरंगिणी प्रबल सेना ने रणक्षेत्र की ओर प्रलयकालीन आंधी की तरह प्रयाण कर दिया। आषाढ़ की घनघोर मेघघटा के गर्जन तुल्य 'घर-घर' रव से गगनमण्डल को गुंजाते हुए रथों के पहियों से, तरल तुरंग-सेना की टापों से और पदाति सेना के पाद-प्रहारों से उड़ी हुई धूलि के समूहों ने अस्ताचल पर अस्त होने वाले सूर्य को मध्याह्न-वेला में ही अस्तप्राय: कर दिया।

इस तरह कूच पर कूच करती हुई यादवों की सेना कुछ ही दिनों में द्वारिका से ४५ योजन अर्थात् ३६० माइल (१८० कोस) दूर सरस्वती नदी के तटवर्ती सिनीपल्ली (सिणवल्लिया) नामक ग्राम के पास पहुँची और वहां

१ चउवन महापुरुष चरियम् [पृ १८४-८५]

रणक्षेत्र के लिए उपयुक्त समतल भूमि देख, वहां पर सैन्य-शिविरों का निर्माण करा समुद्रविजय ने सेना का पड़ाव डाल दिया।[1]

यादवों की सेना के पड़ाव से आगे अर्थात् सेनपल्ली ग्राम से ४ योजन की दूरी पर जरासन्ध की सेना पड़ाव डाले हुए थी।[2]

यादव सेना ने जिस समय सेनपल्ली में पड़ाव डाला उस समय अपने भ्रमणकाल में वसुदेव द्वारा उपकृत कतिपय विद्याधर-पति अपनी सेनाओं के साथ यादवों की सहायता के लिए वहाँ आये और उन्होंने समुद्रविजय को प्रणाम कर निवेदन किया—"आपके महामहिम यादव कुल में यों तो महापुरुष अरिष्टनेमि एकाकी ही समस्त विश्व का त्राण और विनाश करने में समर्थ हैं, कृष्ण और बलदेव जैसे अनुपम बलशाली व प्रद्युम्न, शाम्ब आदि करोड़ों योद्धा हैं, वहां हमारे जैसे लोग आपकी सहायता कर ही क्या सकते हैं। तथापि हम भक्तिवश इस अवसर पर आपकी सेवा में आ गये हैं. अतः आप हमें अपने सामन्त समझ कर आज्ञा दीजिये कि हम भी आपकी यथाशक्ति सेवा करें। कृपा कर आप वसुदेव को हमारा सेनापति रखिये और शाम्ब एवं प्रद्युम्न को वसुदेव की सहायतार्थ हमारे साथ रखिये।"

उन विद्याधरों ने समुद्रविजय से यह भी निवेदन किया "वैताढ्य गिरि के अनेक शक्तिशाली विद्याधर-राजा मगधराज जरासन्ध के मित्र हैं और वे जरासन्ध की इस युद्ध में सहायता करने के लिये अपनी सेनाओं के साथ आ रहे हैं। आप हमें आज्ञा दें कि हम उन विद्याधर पतियों को वैताढ्य गिरि पर ही युद्ध करके उलझाये रखें।"

समुद्रविजय ने कृष्ण की सलाह से वसुदेव, शाम्ब और प्रद्युम्न को विद्याधरों के साथ रहकर वैताढ्य गिरि के जरासन्ध-समर्थक विद्याधर राजाओं के साथ युद्ध करने का आदेश दिया। उस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने अपनी

---

१ (क) कइवय पयाणएहिं च पत्ता सरस्सतीए तीरासण्णं सिणवल्लियाहियाणं गामं ति। तत्थ य समथल समरजोग्ग भूमिभागम्मि आवासियो समुद्दविजओ त्ति।
[चउवन म. पु. च., पृ. १८६]

(ख) पंच चत्वारिंशतं तु योजनानि स्वकात् पुरात्।
गत्वा तस्थौ सेनपल्ल्यां, ग्रामे संग्राम कोविदः॥
[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ८, स. ७, श्लो. १६६]

२ अग्रांग् जरासंध सैन्याच्चतुर्भिर्योजनैः स्थिते।
[त्रिषष्टि श. पु. च., प. ८, सं. ७, श्लो. १६७]

भुजा पर जन्माभिषेक के समय देवताओं द्वारा बाँधी गई अस्त्रों के प्रभाव का निराकरण करने वाली औषधि वसुदेव को प्रदान की ।[1]

अमात्य हंस की जरासन्ध को सलाह

गुप्तचरों द्वारा यादवों की सेना के आगमन का समाचार सुन कर जरासन्ध के हंस नामक अमात्य ने जरासन्ध को समझाने का प्रयास करते हुए कहा—"त्रिखण्डाधिपते ! अपने हित तथा अहित की मन्त्रणा के पश्चात् ही प्रारम्भ किया हुआ कार्य श्रेयस्कर होता है । बिना मन्त्रणा किये कार्य करने के फलस्वरूप कंस काल का ग्रास बन गया । याद कीजिये, आपकी उपस्थिति में ही रोहिणी के स्वयंवर के समय अकेले वसुदेव ने सब राजाओं को पराजित कर दिया था । वसुदेव से भी बलिष्ठ समुद्रविजय ने अनेक बार आपकी सेनाओं की रक्षा की है । अब तो उनकी शक्ति में पहले से भी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी है ।"

"वसुदेव के पुत्र कृष्ण और बलराम दोनों ही अतिरथी हैं । इन दोनों का प्रबल प्रताप और ऐश्वर्य देखिये कि स्वयं वैश्रवण ने इनके लिये अलका सी अनुपम द्वारिकापुरी का निर्माण किया है । महाकाल के समान प्रबल पराक्रमी भीम और अर्जुन, बलराम और कृष्ण के समान बल वाले शाम्ब एवं प्रद्युम्न आदि अगणित अजेय योद्धा यादव-सेना में हैं । यादव-सेना के अन्यान्य वीरों की नाम पूर्वक गणना की आवश्यकता नहीं, अकेले अरिष्टनेमि को ही ले लीजिये । वे एकाकी केवल अपने ही भुजबल से समस्त पृथ्वी को जीतने में समर्थ हैं ।"

"इधर आपकी सेना में सबसे उच्चकोटि के योद्धा शिशुपाल और रुक्मी हैं, जिनका बल आप रुक्मिणी-हरण के समय देख चुके हैं कि किस तरह हलधर के हाथों वे पराजित हुए ।"

"दुर्योधन और शकुनि कायरों की तरह केवल छल-बल ही जानते हैं, अतः उनकी वीरों में कहीं गणना ही नहीं की जा सकती । कर्ण अथाह समुद्र में मुट्ठी भर शक्कर के समान है क्योंकि यादव सेना में एक करोड़ महारथी हैं ।"

"हमारी सेना में केवल आप ही एक अतिरथी हैं जबकि यादव-सेना में श्री अरिष्टनेमि, कृष्ण और बलराम ये तीन अतिरथी हैं । अच्युतेन्द्र आदि सभी सुरेन्द्र जिनके चरणों में भक्तिपूर्वक सिर झुकाते हैं, भला उन अरिष्टनेमि के साथ युद्ध करने का दुस्साहस कौन कर सकता है ?"[2]

---

१ तदा च वसुदेवाय प्रददेऽरिष्टनेमिना ।
जन्मस्नात्रे सुरैर्दोष्णि, बद्धौपध्यस्त्रवारणी ।।–[त्रि. श. पु. च., पर्व ८, स. ७–श्लो. २०६]

२ नेमिः कृष्णो बलश्चातिरथाः परबले त्रयः । त्वमेक एव स्वबले बलयोर्महदन्तरम् ।।
अच्युताद्याः सुरेन्द्रा यं, नमस्कुर्वन्ति भक्तितः । तेन श्री नेमिना सार्धं, युद्धाय प्रोत्सहेत क ।।
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र प. ८ स. ७ श्लो. २२०–२१]

"जिस दिन आपका प्रिय पुत्र कालकुमार कुलदेवी द्वारा छलपूर्वक मार दिया गया, उसी दिन से आपका भाग्य आपसे विपरीत हो गया। नीति का अनुसरण करते हुए यादव शक्तिशाली होते हुए भी मथुरा से भागकर द्वारिका में जा बसे। अब भी कृष्ण स्वेच्छा से आपके साथ युद्ध करने नहीं आया है अपितु पूंछ पर पार्ष्णि-प्रहार कर जिस तरह भीषण काले विषधर को विल से आकृष्ट किया जाता है, उसी प्रकार वह आपके द्वारा आकृष्ट किया जाकर आपके सम्मुख आया है।"

"इतना सब कुछ हो जाने पर भी अभी समय है। आप यदि इसके साथ युद्ध नहीं करेंगे तो यह अपने आप ही द्वारिका की ओर लौट जायगा।"

हंस के मुख से इस कटु-सत्य को सुनकर जरासन्ध आग-बबूला हो गया और उसे तिरस्कृत करते हुए बोला—"दुष्ट ! तेरे मुख से शत्रु की प्रशंसा सुन कर ऐसा आभास होता है कि इन मायावी यादवों ने तुझे भेद-नीति से अपनी ओर मिला लिया है। मूर्ख ! तू शत्रु की सराहना करके मुझे डराने का व्यर्थ प्रयास मत कर। आज तक कहीं कभी शृगालों की 'हुकी-हुकी' से सिंह डरा है ? ये अकिंचन ग्वाले तेरे देखते ही देखते मेरी क्रोधाग्नि में जल कर भस्म हो जायेंगे।"

दोनों सेनाओं की व्यूह-रचना

तदनन्तर दोनों सेनाओं ने व्यूह रचना आरम्भ की। जरासन्ध के सेनानियों ने चक्रव्यूह की रचना की। उस चक्रव्यूह में एक हजार आरे रखे गये। प्रत्येक आरे पर एक-एक नृपति, एक सौ हाथी, २ हजार रथी, पाँच हजार अश्वारोही सैनिक और सोलह हजार प्रबल पराक्रमी, भीषण-संहारक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित पदाति-सैनिक तैनात किये गये। चक्रनाभि के चारों ओर नियत किये गये ११२५० राजाओं के बीच त्रिखण्डाधिपति जरासन्ध ने उस चक्रव्यूह की नाभि में इस भीषण युद्ध का संचालन करने के लिए मोर्चा सँभाला।

मगधेश्वर की पीठ के पीछे की ओर गान्धार और सिन्धु जनपद की सेनाएं, दक्षिण-पार्श्व में दुर्योधन आदि १०० भाइयों की कौरव-सेनाएं, आगे की ओर मध्य-प्रदेश के सभी राजा और वाम-पार्श्व में अगणित भूपतियों की सेनाएं मोर्चा सँभाले युद्ध के लिए तैयार खड़ी थीं।

चक्रव्यूह के इन एक हजार आरों की प्रत्येक संधि पर पाँच सौ शकट-व्यूहों की रचना की गई। प्रत्येक शकट-व्यूह के मध्य में एक-एक नृपति उन शकट-व्यूहों के समुचित संचालन के लिये नियत किये गये थे। उस चक्रव्यूह के चारों तरफ विविध प्रकार के अभेद्य व्यूहों की रचना की गई।

इस प्रकार महाकाल के आन्त्रजाल की तरह विशाल, दुर्गम, दुर्भेद्य, अजेय और सुदृढ़ चक्रव्यूह की रचना सम्पन्न हो जाने पर जरासन्ध ने अनेक भीषण युद्धों को जीतने वाले विकट योद्धा कौशल-नरेश हिरण्यनाभ को चक्रव्यूह के सेनापति पद पर अभिषिक्त किया।

यादवों ने भी जरासन्ध के दुर्भेद्य चक्रव्यूह से टक्कर लेने में सक्षम, गरुड़ की तरह भीषण प्रहार करने वाले गरुड़-व्यूह की रचना की।

गरुड़ के शौण्ड-तुण्ड (चोंच) के आकार के गरुड़-व्यूह के अग्रभाग पर पचास लाख उद्भट यादव-योद्धाओं के साथ कृष्ण और बलराम सन्नद्ध थे। कृष्ण-बलराम के पृष्ठभाग पर जराकुमार, अनाधृष्टि आदि सभी वसुदेव-पुत्र अपने एक लाख रथी-योद्धाओं के साथ तैनात थे। इनके पीछे उग्रसेन अपने पुत्रों सहित एक करोड़ रथारोही सैनिकों के साथ डटे थे। उग्रसेन की सहायता के लिए अपने योद्धाओं सहित धर, सारण आदि यदुवीर, उग्रसेन के दक्षिण-पार्श्व में प्रबल प्रतापी स्वयं महाराज समुद्रविजय अपने भाइयों, पुत्रों और अगणित सैनिकों के साथ शत्रु सेना के लिए काल के समान प्रतीत हो रहे थे।

अतिरथी अरिष्टनेमि तथा महारथी महानेमि, सत्यनेमि, दृढ़नेमि, सुनेमि, विजयसेन, मेघ, महीजय, तेजसेन, जयसेन, जय और महाद्युति ये समुद्रविजय के पुत्र उनके दोनों पार्श्व में एवं अनेकों नृपति पच्चीस लाख रथी-योद्धाओं के साथ परिपार्श्व में उनके सहायतार्थ सन्नद्ध थे।

समुद्रविजय के वामपक्ष की ओर बलराम के पुत्र तथा धृतराष्ट के सौ पुत्रों का संहार करने के लिये कृत-संकल्प पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपनी सेना के साथ भीषण संहारक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित खड़े थे। पाण्डवों के पीछे की ओर २५ लाख रथारूढ़ सैनिकों के साथ सात्यकि आदि अनेक महारथी तथा इनके पृष्ठ-भाग में ६० लाख रथी सैनिकों के साथ सिंहल, बर्बर, कम्बोज, केरल और द्रविड़ राज्यों के महीपाल अपनी सेनाओं के साथ नियुक्त किये गये।

पंख फैला कर विषधरों पर विद्युत् वेग से झपटते हुए गरुड़ की मुद्रा के आकार वाले इस गरुड़-व्यूह के दोनों पक्षों के रथार्थ भानु, भामर, भीरुक, असित, संजय, शत्रुंजय, महासेन, वृहद्ध्वज, कृतवर्मा आदि अनेक महारथी शक्तिशाली अश्वारोहियों, रथारोहियों, गजारोहियों एवं पदाति योद्धाओं के साथ नियुक्त किये गये थे।

इस प्रकार स्वयं श्रीकृष्ण ने शत्रु पर भीषण प्रहार करने में गरुड़ के समान अत्यन्त शक्तिशाली अभेद्य गरुड़-व्यूह की रचना की।

महाराज समुद्रविजय ने कृष्ण के बड़े भाई अनाधृष्टि को जब यादव-सेना का सेनापति नियुक्त किया, उस समय शंख आदि रणवाद्यों की ध्वनि एवं यादव-सेना के जय-घोषों से गगनमण्डल गूंज उठा। दोनों ओर के योद्धा भूखे मृगराज की तरह अपने-अपने शत्रुदल पर टूट पड़े।

भ्रातृ-स्नेह के कारण अरिष्टनेमि भी युद्ध के लिए रणांगण में जाने को तत्पर हुए। यह देखकर इन्द्र ने उनके लिए दिव्य शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित जैत्ररथ और अपने सारथि मातलि को भेजा। मातलि द्वारा प्रार्थना करने पर अरिष्ट-नेमि सूर्य के समान तेजस्वी रथ पर आरूढ़ हुए।[1]

दोनों व्यूहों के अग्रभाग पर स्थित दोनों पक्षों की रक्षक सेनाओं के योद्धा प्राणपण से अपने शत्रु का संहार करने में जुट गये। बड़ी देर तक भीषण संग्राम होता रहा पर उनमें से कोई भी अपने प्रतिपक्षी के व्यूह का भेदन नहीं कर सके।

अन्त में जरासन्ध के सैनिकों ने गरुड़-व्यूह के रक्षार्थ आगे की ओर लड़ती हुई यादव-सेना की सुदृढ़ अग्रिम रक्षापंक्ति को भंग करने में सफलता प्राप्त कर ली। उस समय कृष्ण ने गरुड़-ध्वज को फहराते हुए अपने सैनिकों को स्थिर किया। तत्काल महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि ने अपने-अपने शंखों के घोर निनाद के साथ क्रुद्ध हो जरासंध की अग्रिम सेना पर भीषण आक्रमण किया और प्रलय-पवन के वेग की तरह बढ़कर न केवल जरासंध के चक्रव्यूह की रक्षक सेनाओं का ही संहार किया अपितु चक्रव्यूह को भी तीन ओर से तोड़कर उसमें तीन बड़ी-बड़ी दरारें डाल दीं। ये तीनों महान् योद्धा प्रलयकाल की घनघोर घटाओं के समान शरवर्षा करते हुए शत्रु-सेना के अगणित उद्भट योद्धाओं को धराशायी करते हुए जरासन्ध के चक्रव्यूह में काफी गहराई तक घुस गये। इनके पीछे यादव-सेना की अन्य पंक्तियाँ भी चक्रव्यूह के अन्दर प्रवेश कर शत्रु-सैन्य का दलन करने लगीं।[2]

---

१ भ्रातृस्नेहाद्युयुत्सुं च शक्रो विज्ञाय नेमिनम्।
प्रैषीद्रथं मातलिनो, जैत्रं शस्त्रांचितं निजम् ॥२६१॥
सूर्योदयमिवातन्वन्, स रथो रत्नभासुरः।
उपानीतो मातलिनालंचक्रेऽरिष्टनेमिना ॥२६२॥

२ उद्वेलित विक्षुब्ध समुद्र की तरह बढ़ती हुई जरासन्ध की विशाल सेना को अरिष्टनेमि द्वारा पराजित करने का आचार्य शीलांक ने चउवन महापुरिस चरियं में इस प्रकार वर्णन किया है :—

अहणवर तत्थ थक्कइ कढिणगुणप्पहर किणइयपउट्ठो।
तेल्लोक्कमंदिरक्खंभविब्भमोऽरिट्ठवरणेमी ॥११४॥

तओ आयण्णायड्ढिय चंडकोयंडमुक्कसरपसरेण लीहायड्ढियं व, तुलिय तेल्लोकधीरमुप्पण्णपयावेणं थंभियं व, अचितसत्तिसामत्थयामंतेण मोहियं-न, धरियं पराणीयं। एत्थावसरम्मि य एक्कपाससंगलन्तकुमाराणुगयरामकेसवं, अण्णओ भीम अज्जुण-णउल-सहदेवाहिट्ठियजुहिट्ठिलं. अण्णओ भोयणरिंदोववेयससहोदर-समुद्दविजयं पयट्टियं पहाणसमरं ति।
[च० म० पु० च०, पृ० १८८]

महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि निरन्तर जरासंध की सेना को अर्कतूल (आक की रूई) की तरह धुनते हुए आगे बढ़ने लगे। इन तीनों महारथियों ने शत्रु-सेना में प्रलय मचा दी। अर्जुन के गाण्डीव धनुष की टंकारों से जरासंध की सेना के हृदय धड़क उठे, उसके द्वारा की गई शरवर्षा से दिशाएं ढँक गईं और अंधकार सा छागया। तीव्र वेग से शत्रु-सेना में बढ़ते हुए अर्जुन से युद्ध करने के लिए दुर्योधन अपनी सेना के साथ उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। अनाधृष्टि रौधिर और महानेमि से रुक्मी युद्ध करने लगे।

इन छहों वीरों का बड़ा भीषण युद्ध हुआ। दुर्योधन, रुक्मी और रौधिर की रक्षार्थ जरासन्ध के अनेक योद्धा मिलकर अर्जुन अनाधृष्टि और महानेमि पर शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगे। महानेमि ने रुक्मी के रथ को चूर-चूर कर दिया और उसके सब शस्त्रास्त्रों को काटकर उसे शस्त्र-विहीन कर दिया। शत्रुंजय आदि सात राजाओं ने देखा कि रुक्मी महानेमि के द्वारा काल के गाल में जाने ही वाला है, तो वे सब मिलकर महानेमि पर टूट पड़े। शत्रुंजय द्वारा महानेमि पर चलाई गई भीषण ज्वाला-मालाकुला-अमोघ शक्ति को अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त कर मातलि ने महानेमि के बाण में वज्र आरोपित कर विनष्ट कर दिया।

इस तरह युद्ध भीषणतर होता गया। इस युद्ध में अर्जुन ने जयद्रथ और कर्ण को मार डाला। भीम के दुर्योधन, दुःशासन आदि अनेक धृतराष्ट्र पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया। महाबली भीम ने जरासन्ध की सेना के हाथियों को हाथियों से, रथों को रथों से और घोड़ों को घोड़ों से भिड़ाकर शत्रु-सेना का भयंकर संहार कर डाला।

युधिष्ठिर ने शल्य को, सहदेव ने शकुनि को रणक्षेत्र में हरा कर यमधाम पहुँचा दिया। महाराज समुद्रविजय के जयसेन और महीजय नामक दो पुत्र जरासन्ध के सेनापति हिरण्यनाभ से लड़ते हुए युद्ध में काम आये। सात्यकि ने भूरिश्रवा को मौत के घाट उतार दिया। महानेमि ने प्राग्ज्योतिषपति भगदत्त को और उसके मदोन्मत्त हस्ति-श्रेष्ठ को मार डाला।

यादव-सेना के सेनापति अनाधृष्टि ने जरासन्ध की सेना के सेनापति हिरण्यनाभ के साथ युद्ध करते हुए उसके धनुप के टुकड़े करके रथ को भी नष्ट कर डाला और उसे पदाति, केवल असिपाणि देख कर वे भी अपने रथ से तलवार लिये कूद पड़े। दोनों सेनाओं के सेनापतियों का अद्भुत असियुद्ध बड़ी देर तक होता रहा। अन्त में अनाधृष्टि ने अपनी तलवार से हिरण्यनाभ के सिर को धड़ से अलग कर दिया।

अपने सेनापति हिरण्यनाभ के मारे जाते ही जरासन्ध की सेना में हाहाकार और भगदड़ मच गई एवं यादव-सेना के जयघोषों से नभमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा।

उस समय अंशुमाली अस्ताचल की ओट में अस्त हो चुके थे, अतः दोनों सेनाएँ अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं।

जरासंध ने अपने सेनानायकों और मन्त्रियों से मंत्रणा कर सेनापति के स्थान पर शिशुपाल को अभिषिक्त किया।

दूसरे दिन भी यादव-सेना ने गरुड़-व्यूह और जरासन्ध की सेना ने चक्रव्यूह की रचना की और दोनों सेनाएं रणक्षेत्र में आमने-सामने आ डटीं। रणवाद्यों और शंख-ध्वनि के साथ ही दोनों सेनाएं क्रुद्ध हो भीषण हुंकार करती हुई रणक्षेत्र में जूझने लगीं।

क्रुद्ध जरासन्ध धनुष की प्रत्यंचा से टंकार करता हुआ बलराम एवं कृष्ण की ओर बढ़ा। जरासन्ध-पुत्र युवराज यवन भी बड़े वेग से अक्रूरादि वसुदेव के पुत्रों पर शरवर्षा करता हुआ आगे बढ़ा। देखते ही देखते संग्राम बड़ा वीभत्स रूप धारण कर गया।

सारण कुमार ने तलवार के एक ही प्रहार से यवन कुमार का सिर काट गिराया। अपने पुत्र की मृत्यु से क्रुद्ध हो जरासन्ध यादव-सेना का भीषण रूप से संहार करने लगा। उसने बलराम के आनन्द आदि दश पुत्रों को बलि के बकरों की तरह निर्दयतापूर्वक काट डाला।

जरासन्ध द्वारा दश यदुकुमारों और अनेक योद्धाओं का संहार होते देखकर यादवों की सेना के पैर उखड़ गये। खिल-खिलाकर अट्टहास करते हुए शिशुपाल ने कृष्ण से कहा—"अरे कृष्ण! यह गोकुल नहीं है, रणक्षेत्र है।"

शिशुपाल से कृष्ण ने कहा—"शिशुपाल! अभी तू भी उनके पीछे-पीछे ही जाने वाला है।"

कृष्ण का यह वाक्य शिशुपाल के हृदय में तीर की तरह चुभ गया और उसने कृष्ण पर अनेक दिव्यास्त्रों की वर्षा के साथ-साथ गालियों की भी वर्षा प्रारम्भ कर दी।

कृष्ण ने शिशुपाल के धनुष, कवच और रथ की धज्जियां उड़ा दीं। जब शिशुपाल तलवार का प्रहार करने के लिए कृष्ण की ओर लपका तो कृष्ण ने उसके मुकुट, तलवार और सिर को काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया।

अपने सेनापति शिशुपाल का अपने ही समक्ष वध होते देख कर जरासंध अत्यन्त क्रुद्ध हो विक्रान्त-काल की तरह अपने पुत्रों और राजाओं के साथ कृष्ण

की ओर झपटा तथा यादवों से कहने लगा—"यादवो ! क्यों वृथा ही मेरे हाथ से मरना चाहते हो ? अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, यदि प्राणों का त्राण चाहते हो तो कृष्ण और बलराम—इन दोनों ग्वालों को पकड़ कर मेरे सम्मुख उपस्थित कर दो।"

जरासन्ध की इस बात को सुनते ही यादव योद्धा आँखों से आग और धनुषों से बाण बरसाते हुए जरासन्ध पर टूट पड़े। पर अकेले जरासन्ध ने ही तीव्र बाणों के प्रहार से उन अगणित योद्धाओं को वेध डाला। यादव-सेना इधर-उधर भागने लगी।

जरासन्ध के २८ पुत्रों ने एक साथ बलराम पर आक्रमण किया। एकाकी बलराम ने उन सब जरासन्ध-पुत्रों के साथ घोर संग्राम किया और जरासन्ध के देखते ही देखते उन अट्ठाइसों ही जरासन्ध-पुत्रों को अपने हल द्वारा अपनी ओर खींच कर मूसल के प्रहारों से पीस डाला।

अपने पुत्रों का युगपद्विनाश देखकर जरासन्ध ने क्रोधाभिभूत हो बलराम पर गदा का भीषण प्रहार किया। गदा-प्रहार से घायल हो रुधिर का वमन करते हुए बलराम मूच्छित हो गये। बलराम पर दूसरी बार गदा-प्रहार करने के लिए जरासन्ध को आगे बढ़ते देख कर अर्जुन विद्युत् वेग से जरासन्ध के सम्मुख आ खड़ा हुआ और उससे युद्ध करने लगा।

बलराम की यह दशा देखकर कृष्ण ने क्रुद्ध हो जरासन्ध के सम्मुख ही उसके अवशिष्ट १९ पुत्रों को मार डाला।

यह देख जरासन्ध क्रोध से तिलमिला उठा। "यह बलराम तो मर ही जायेगा, इसे छोड़ कर अब इस कृष्ण को मारना चाहिये" यह कहकर वह कृष्ण की ओर झपटा।

"ओहो ! अब तो कृष्ण भी मारा गया" सब ओर यह ध्वनि सुनाई देने लगी।

यह देख कर मातलि ने हाथ जोड़ कर अरिष्टनेमि से निवेदन किया—"त्रिलोकनाथ ! यह जरासन्ध आपके सामने एक तुच्छ कीट के समान है। आपकी उपेक्षा के कारण यह पृथ्वी को यादवविहीन कर रहा है। प्रभो ! यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य (पापपूर्ण) कार्यों से पराङ्मुख हैं, तथापि शत्रु द्वारा जो आपके कुल का विनाश किया जा रहा है, इस समय आपको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। नाथ ! अपनी थोड़ी सी लीला दिखाइये।"

अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन और कृष्ण द्वारा जरासंध-वध

मातलि की प्रार्थना सुन अरिष्टनेमि ने बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के सहज भाव में ही पौरंदर शंख का घोष किया। उस शंख के नाद से दसों

दिशाएं, सारा नभोमण्डल और शत्रु काँप उठे, यादव आश्वस्त हो पुनः युद्ध में जूझने लगे।

अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने रथ को भीषण वर्तुल-वात की तरह घुमाया। उसी समय अभिनव वारिदघटा की तरह अरिष्टनेमि ने जरासन्ध की सेना पर शरवर्षा आरम्भ की और शत्रु-सैन्य के रथों, ध्वजाओं, धनुषों और मुकुटों को उन्होंने शरवर्षा से चूर्ण-विचूर्ण कर डाला।

इस तरह प्रभु ने बहुत ही स्वल्प समय में एक लाख शत्रु-योद्धाओं को नष्ट कर डाला। प्रलयकाल के प्रखर सूर्य सदृश प्रचण्ड तेजस्वी प्रभु की ओर शत्रु आँखं उठा कर भी नहीं देख सके।

प्रतिवासुदेव को केवल वासुदेव ही मारता है,—इस अटल नियम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अरिष्टनेमि ने जरासन्ध को नहीं मारा किन्तु अपने रथ को मनोवेग से शत्रु-राजाओं के चारों ओर घुमाते हुए जरासन्ध की सेना को अवरुद्ध किये रखा।[1]

श्री अरिष्टनेमि के इस अत्यन्त अद्भुत, अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण ओज, तेज तथा शौर्य से यादवों की सेना में नवीन उत्साह एवं साहस भर गया और वह शत्रु-सेना पर पुनः भीषण प्रहार करने लगी।

गदा के घातक प्रहार का प्रभाव कम होते ही बलराम हल-मूसल सँभाले शत्रु-सेना का संहार करने लगे। समस्त रण-क्षेत्र टूटे हुए रथों, मारे गये हाथियों, घोड़ों एवं काटे हुए मानव-मुण्डों और रुण्डों से पटा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था।

अपनी सेना के भीषण संहार से जरासन्ध तिलमिला उठा। उसने अपने रथ को श्रीकृष्ण की ओर बढ़ाया और अत्यन्त क्रुद्ध हो कहने लगा—"ओ ग्वाले! तू अभी तक गीदड़ की तरह केवल छल-बल पर ही जीवित है। कंस और कालकुमार को तूने कपट से ही मारा है। ले, अब मैं तेरे प्राणों के साथ ही तेरी माया का अन्त कर जीवयशा की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता हूं।"

---

१ आकृष्टाखण्डलधनुर्नवांभोद इव प्रभुः। ववर्ष सरधाराभिः परितस्त्रासयन्नरीन् ॥४२८
अभांक्षीत् क्ष्माभुजां लक्षं स्वाम्येकोऽपि किरीटिनाम्।
उद्भ्रान्तस्य महाम्भोधेः सानुमंतोऽपि के पुरः ॥४३१॥
परसैन्यानि रुद्ध्वास्थाच्छ्रीनेमिर्भ्रमयन् रथम्....४३३॥

[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ८, स. ७]

की ओर झपटा तथा यादवों से कहने लगा—"यादवो ! क्यों वृथा ही मेरे हाथ से मरना चाहते हो ? अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, यदि प्राणों का त्राण चाहते हो तो कृष्ण और बलराम—इन दोनों ग्वालों को पकड़ कर मेरे सम्मुख उपस्थित कर दो।"

जरासन्ध की इस बात को सुनते ही यादव योद्धा आँखों से आग और धनुषों से बाण बरसाते हुए जरासन्ध पर टूट पड़े। पर अकेले जरासन्ध ने ही तीव्र बाणों के प्रहार से उन अगणित योद्धाओं को वेध डाला। यादव-सेना इधर-उधर भागने लगी।

जरासन्ध के २८ पुत्रों ने एक साथ बलराम पर आक्रमण किया। एकाकी बलराम ने उन सब जरासन्ध-पुत्रों के साथ घोर संग्राम किया और जरासन्ध के देखते ही देखते उन अट्ठाइसों ही जरासन्ध-पुत्रों को अपने हल द्वारा अपनी ओर खींच कर मूसल के प्रहारों से पीस डाला।

अपने पुत्रों का युगपद्विनाश देखकर जरासन्ध ने क्रोधाभिभूत हो बलराम पर गदा का भीषण प्रहार किया। गदा-प्रहार से घायल हो रुधिर का वमन करते हुए बलराम मूर्च्छित हो गये। बलराम पर दूसरी बार गदा-प्रहार करने के लिए जरासन्ध को आगे बढ़ते देख कर अर्जुन विद्युत् वेग से जरासन्ध के सम्मुख आ खड़ा हुआ और उससे युद्ध करने लगा।

बलराम की यह दशा देखकर कृष्ण ने क्रुद्ध हो जरासन्ध के सम्मुख ही उसके अवशिष्ट १९ पुत्रों को मार डाला।

यह देख जरासन्ध क्रोध से तिलमिला उठा। "यह बलराम तो मर ही जायेगा, इसे छोड़ कर अब इस कृष्ण को मारना चाहिये" यह कहकर वह कृष्ण की ओर झपटा।

"ओहो ! अब तो कृष्ण भी मारा गया" सब ओर यह ध्वनि सुनाई देने लगी।

यह देख कर मातलि ने हाथ जोड़ कर अरिष्टनेमि से निवेदन किया—"त्रिलोकनाथ ! यह जरासन्ध आपके सामने एक तुच्छ कीट के समान है। आपकी उपेक्षा के कारण यह पृथ्वी को यादवविहीन कर रहा है। प्रभो ! यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य (पापपूर्ण) कार्यों से पराङ्मुख हैं, तथापि शत्रु द्वारा जो आपके कुल का विनाश किया जा रहा है, इस समय आपको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। नाथ ! अपनी थोड़ी सी लीला दिखाइये।"

अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन और कृष्ण द्वारा जरासंध-वध

मातलि की प्रार्थना सुन अरिष्टनेमि ने विना किसी प्रकार की उत्तेजना के सहज भाव में ही पौरंदर शंख का घोष किया। उस शंख के नाद से दसों

दिशाएं, सारा नभोमण्डल ग्रौर शत्रु काँप उठे, यादव ग्राश्वस्त हो पुनः युद्ध में जूझने लगे।

ग्ररिष्टनेमि की ग्राज्ञा से मातलि ने रथ को भीषण वर्तुल-वात की तरह घुमाया। उसी समय ग्रभिनव वारिदघटा की तरह ग्ररिष्टनेमि ने जरासन्ध की सेना पर शरवर्षा ग्रारम्भ की ग्रौर शत्रु-सैन्य के रथों, ध्वजाग्रों, धनुपों ग्रौर मुकुटों को उन्होंने शरवर्षा से चूर्ण-विचूर्ण कर डाला।

इस तरह प्रभु ने बहुत ही स्वल्प समय में एक लाख शत्रु-योद्धाग्रों को नष्ट कर डाला। प्रलयकाल के प्रखर सूर्य सदृश प्रचण्ड तेजस्वी प्रभु की ग्रोर शत्रु ग्राँखं उठा कर भी नहीं देख सके।

प्रतिवासुदेव को केवल वासुदेव ही मारता है,—इस ग्रटल नियम को ग्रक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ग्ररिष्टनेमि ने जरासन्ध को नहीं मारा किन्तु ग्रपने रथ को मनोवेग से शत्रु-राजाग्रों के चारों ग्रोर घुमाते हुए जरासन्ध की सेना को ग्रवरुद्ध किये रखा।[1]

श्री ग्ररिष्टनेमि के इस ग्रत्यन्त ग्रद्भुत, ग्रलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण ग्रोज, तेज तथा शौर्य से यादवों की सेना में नवीन उत्साह एवं साहस भर गया ग्रौर वह शत्रु-सेना पर पुनः भीषण प्रहार करने लगी।

गदा के घातक प्रहार का प्रभाव कम होते ही बलराम हल-मूसल सँभाले शत्रु-सेना का संहार करने लगे। समस्त रण-क्षेत्र टूटे हुए रथों, मारे गये हाथियों, घोड़ों एवं काटे हुए मानव-मुण्डों ग्रौर रुण्डों से पटा हुग्रा दृष्टिगोचर हो रहा था।

ग्रपनी सेना के भीपण संहार से जरासन्ध तिलमिला उठा। उसने ग्रपने रथ को श्रीकृष्ण की ग्रोर बढ़ाया ग्रौर ग्रत्यन्त क्रुद्ध हो कहने लगा—"ग्रो ग्वाले! तू ग्रभी तक गीदड़ की तरह केवल छल-बल पर ही जीवित है। कंस ग्रौर कालकुमार को तूने कपट से ही मारा है। ले, ग्रब मैं तेरे प्राणों के साथ ही तेरी माया का ग्रन्त कर जीवयशा की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता हूं।"

---

१ ग्राकृष्टाखण्डलधनुर्नवांभोद इव प्रभुः। ववर्ष सरधाराभिः परितस्त्रासयन्नरीन् ॥४२८
ग्रभांक्षीत् क्ष्माभुजां लक्षं स्वाम्येकोऽपि किरीटिनाम्।
उद्भ्रान्तस्य महाम्भोधेः सानुमंतोऽपि के पुरः ॥४३१॥
परसैन्यानि रुद्ध्वास्थाच्छ्रीनेमिर्भ्रमयन् रथम्....४३३॥

[त्रिपष्टि श. पु. च., पर्व ८, स. ७]

की ओर झपटा तथा यादवों से कहने लगा—"यादवो ! क्यों वृथा ही मेरे हाथ से मरना चाहते हो ? अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, यदि प्राणों का त्राण चाहते हो तो कृष्ण और बलराम—इन दोनों ग्वालों को पकड़ कर मेरे सम्मुख उपस्थित कर दो।"

जरासन्ध की इस बात को सुनते ही यादव योद्धा आँखों से आग और धनुषों से बाण बरसाते हुए जरासन्ध पर टूट पड़े। पर अकेले जरासन्ध ने ही तीव्र बाणों के प्रहार से उन अगणित योद्धाओं को वेध डाला। यादव-सेना इधर-उधर भागने लगी।

जरासन्ध के २८ पुत्रों ने एक साथ बलराम पर आक्रमण किया। एकाकी बलराम ने उन सब जरासन्ध-पुत्रों के साथ घोर संग्राम किया और जरासन्ध के देखते ही देखते उन अट्ठाइसों ही जरासन्ध-पुत्रों को अपने हल द्वारा अपनी ओर खींच कर मूसल के प्रहारों से पीस डाला।

अपने पुत्रों का युगपद्विनाश देखकर जरासन्ध ने क्रोधाभिभूत हो बलराम पर गदा का भीषण प्रहार किया। गदा-प्रहार से घायल हो रुधिर का वमन करते हुए बलराम मूर्च्छित हो गये। बलराम पर दूसरी बार गदा-प्रहार करने के लिए जरासन्ध को आगे बढ़ते देख कर अर्जुन विद्युत् वेग से जरासन्ध के सम्मुख आ खड़ा हुआ और उससे युद्ध करने लगा।

बलराम की यह दशा देखकर कृष्ण ने क्रुद्ध हो जरासन्ध के सम्मुख ही उसके अवशिष्ट ६६ पुत्रों को मार डाला।

यह देख जरासन्ध क्रोध से तिलमिला उठा। "यह बलराम तो मर ही जायेगा, इसे छोड़ कर अब इस कृष्ण को मारना चाहिये" यह कहकर वह कृष्ण की ओर झपटा।

"ओहो ! अब तो कृष्ण भी मारा गया" सब ओर यह ध्वनि सुनाई देने लगी।

यह देख कर मातलि ने हाथ जोड़ कर अरिष्टनेमि से निवेदन किया—"त्रिलोकनाथ ! यह जरासन्ध आपके सामने एक तुच्छ कीट के समान है। आपकी उपेक्षा के कारण यह पृथ्वी को यादवविहीन कर रहा है। प्रभो ! यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य (पापपूर्ण) कार्यों से पराङ्मुख हैं, तथापि शत्रु द्वारा जो आपके कुल का विनाश किया जा रहा है, इस समय आपको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। नाथ ! अपनी थोड़ी सी लीला दिखाइये।"

अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन और कृष्ण द्वारा जरासंध-वध

मातलि की प्रार्थना सुन अरिष्टनेमि ने बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के सहज भाव में ही पौरंदर शंख का घोष किया। उस शंख के नाद से दसों

आकाश की अदृश्य शक्तियों ने इस घोषणा के साथ कि "नवें वासुदेव प्रकट हो गये हैं", कृष्ण पर गंदोधक और पुष्पों की वर्षा की।

करुणार्द्र कृष्ण ने जरासन्ध से कहा—"मगधराज! क्या यह भी मेरी कोई माया है? अब भी समय है कि तुम मेरे आज्ञानुवर्ती होकर अपने घर लौट जाओ और आनन्द के साथ अपनी सम्पदा का उपभोग करो। दुःख के मूल कारण मान को छोड़ दो।"

पर अभिमानी जरासन्ध ने बड़े गर्व के साथ कहा—"जरा मेरे चक्र को मेरी ओर चला कर तो देख।"

बस, फिर क्या था, कृष्ण ने चक्ररत्न को जरासन्ध की ओर घुमाया। उसने तत्काल जरासन्ध का सिर काट कर पृथ्वी पर लुढ़का दिया।

यादव विजयोल्लास में जयजयकार से दशों दिशाओं को गुंजाने लगे।

भगवान् अरिष्टनेमि ने भी अपने रथ की वर्तुलाकारगति से अवरुद्ध सब राजाओं को मुक्त कर दिया। उन सब राजाओं ने प्रभु-चरणों में नमस्कार करते हुए कहा—"करुणासिन्धो! जरासन्ध और हम लोगों ने अपनी मूढ़तावश स्वयं का सर्वनाश किया है। जिस दिन आप यदुकुल में अवतरित हुए, उसी दिन से हमें समझ लेना चाहिए था कि यादवों को कोई नहीं जीत सकता। अस्तु, अब हम लोग आपकी शरण में हैं।"

अरिष्टनेमि उन सब राजाओं के साथ कृष्ण के पास पहुंचे। उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण रथ से कूद पड़े और अरिष्टनेमि का प्रगाढ़ आलिंगन करने लगे। अरिष्टनेमि के कहने पर श्रीकृष्ण ने उन सब राजाओं के राज्य उन्हें दे दिये। समुद्रविजय के कहने से जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध का चतुर्थांश राज्य दिया।

तदनन्तर पाण्डवों को हस्तिनापुर का, हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशल का और समुद्रविजय के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर का तथा उग्रसेन के पुत्र धर को मथुरा का राज्य दिया।

सूर्यास्त के समय श्री अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने सौधर्म स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया और यादव-सेना अपने शिविर की ओर लौट पड़ी।

उसी समय तीन विद्याधरियों ने नभोमार्ग से आकर समुद्रविजय को सूचना दी कि जरासन्ध के सहायतार्थ इस युद्ध में सम्मिलित होने हेतु आने वाले वैताढ्यगिरि के विविध विद्याओं के बल से अजेय विद्याधर राजाओं को वसुदेव

श्रीकृष्ण ने हँसते हुए कहा—"जरासन्ध ! मैं तुम्हारी तरह आत्मश्लाघा करना तो नहीं जानता, पर इतना बताये देता हूं कि तुम्हारी पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा तो उसके अग्नि-प्रवेश से ही पूर्ण होगी।"

श्रीकृष्ण के उत्तर से जरासन्ध की क्रोधाग्नि और भभक उठी। उसने अपने धनुष की प्रत्यंचा को आकर्णान्त खींचते हुए कृष्ण पर बाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। कृष्ण उसके सब बाणों को बीच में ही काटते रहे। दोनों उत्कट योद्धा एक दूसरे पर भीषण शस्त्रों और दिव्यास्त्रों से प्रहार करते हुए युद्ध करने लगे। उन दोनों के तीव्रगामी भारी-भरकम रथों की घोर घरघराहट से नभो-मण्डल फटने सा लगा और धरती काँपने सी लगी।

कृष्ण पर अपने सब प्रकार के घातक और अमोघ शस्त्रास्त्रों का प्रयोग कर चुकने के पश्चात् जब जरासन्ध ने देखा कि उन दिव्यास्त्रों से कृष्ण का बाल भी बाँका नहीं हुआ है तो उसने क्रुद्ध हो अपने अन्तिम अमोघ-शस्त्र चक्र को कृष्ण की ओर प्रेषित किया। ज्वाला-मालाओं को उगलता हुआ कल्पान्तकालीन सूर्य के समान दुर्निरीक्ष्य वह चक्ररत्न प्रलयकाल मेघ की अमित घटाओं के समान गर्जना करता हुआ श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा।

उस समय समस्त यादव-सेना त्रस्त हो स्तब्ध सी रह गई। अर्जुन, बलराम, कृष्ण और अन्य यादव योद्धाओं ने चक्र को चकनाचूर कर डालने के लिए अमोघ दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया, पर सब निष्फल। चक्र कृष्ण की ओर बढ़ता ही गया। देखते ही देखते चक्र ने अपने मध्य भाग के धुरि-स्थल से कृष्ण के वज्र-कपाटोपम वक्षःस्थल पर हल्का सा प्रहार[1] किया, मानो चिर-काल से बिछुड़ा मित्र अपने प्रिय मित्र से, वक्ष से वक्ष लगा मिल रहा हो। तदनन्तर वह चक्र कृष्ण की तीन बार प्रदक्षिणा कर उनके दक्षिण पार्श्व में, उनके दक्षिण-स्कंध से कुछ ऊपर इस प्रकार स्थिर हो गया,[2] मानो भेद-नीति-कुशल कृष्ण ने उसे भेद-नीति से अपना बना लिया हो।

कृष्ण ने तत्काल अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली पर चक्ररत्न को धारण किया और अनादिकाल से लोक में प्रचलित इस कहावत को चरितार्थ कर दिया कि पुण्यात्माओं के प्रभाव से दूसरों के शस्त्र भी उनके अपने हो जाते हैं।

---

१ एत्य तुम्बेन तच्चक्रं कृष्णं वक्षस्यताडयत ।।४५०।।

[त्रिषष्टि श. पु. च., प. ८, स. ७]

२ तं च पयाहिणीकाऊण····पलग्गं केसनकरयलम्मि ।

[चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० १८६]

आकाश की अदृश्य शक्तियों ने इस घोषणा के साथ कि "नवें वासुदेव प्रकट हो गये हैं", कृष्ण पर गंदोधक और पुष्पों की वर्षा की।

करुणार्द्र कृष्ण ने जरासन्ध से कहा—"मगधराज! क्या यह भी मेरी कोई माया है? अब भी समय है कि तुम मेरे आज्ञानुवर्ती होकर अपने घर लौट जाओ और आनन्द के साथ अपनी सम्पदा का उपभोग करो। दुःख के मूल कारण मान को छोड़ दो।"

पर अभिमानी जरासन्ध ने बड़े गर्व के साथ कहा—"जरा मेरे चक्र को मेरी ओर चला कर तो देख।"

बस, फिर क्या था, कृष्ण ने चक्ररत्न को जरासन्ध की ओर घुमाया। उसने तत्काल जरासन्ध का सिर काट कर पृथ्वी पर लुढ़का दिया।

यादव विजयोल्लास में जयजयकार से दशों दिशाओं को गुंजाने लगे।

भगवान् अरिष्टनेमि ने भी अपने रथ की वर्तुलाकारगति से अवरुद्ध सब राजाओं को मुक्त कर दिया। उन सब राजाओं ने प्रभु-चरणों में नमस्कार करते हुए कहा—"करुणासिन्धो! जरासन्ध और हम लोगों ने अपनी मूढ़तावश स्वयं का सर्वनाश किया है। जिस दिन आप यदुकुल में अवतरित हुए, उसी दिन से हमें समझ लेना चाहिए था कि यादवों को कोई नहीं जीत सकता। अस्तु, अब हम लोग आपकी शरण में हैं।"

अरिष्टनेमि उन सब राजाओं के साथ कृष्ण के पास पहुंचे। उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण रथ से कूद पड़े और अरिष्टनेमि का प्रगाढ़ आलिंगन करने लगे। अरिष्टनेमि के कहने पर श्रीकृष्ण ने उन सब राजाओं के राज्य उन्हें दे दिये। समुद्रविजय के कहने से जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध का चतुर्थांश राज्य दिया।

तदनन्तर पाण्डवों को हस्तिनापुर का, हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशल का और समुद्रविजय के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर का तथा उग्रसेन के पुत्र धर को मथुरा का राज्य दिया।

सूर्यास्त के समय श्री अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने सौधर्म स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया और यादव-सेना अपने शिविर की ओर लौट पड़ी।

उसी समय तीन विद्याधरियों ने नभोमार्ग से आकर समुद्रविजय को सूचना दी कि जरासन्ध के सहायतार्थ इस युद्ध में सम्मिलित होने हेतु आने वाले वैताढ्यगिरि के विविध विद्याओं के बल से अजेय विद्याधर राजाओं को वसुदेव

प्रद्युम्न, शाम्ब और वसुदेव के मित्र विद्याधर राजाओं ने वहीं पर युद्ध में उलझाये रखा था। जरासन्ध की पराजय और मृत्यु के समाचार सुन कर जरासन्ध के समर्थक सभी विद्याधर राजा वसुदेव के चरण-शरण में आ गये। प्रद्युम्न एवं शाम्ब के साथ उन्होंने अपनी कन्याओं का विवाह कर दिया। अब वे सब यहाँ आ रहे हैं।

यादवों के शिविर में महाराज समुद्रविजय आदि सभी यादव-प्रमुख विद्याधरियों के मुख से वसुदेव आदि के कुशल-मंगल और शीघ्र ही आगमन के समाचार सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। थोड़ी ही देर में वसुदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब और मुकुटधारी अनेक विद्याधरपति वहां आ पहुंचे और सबने समुद्रविजय आदि पूज्यों के चरणों में सिर झुकाया।

यादव-सेना ने अपनी महान् विजय के उपलक्ष्य में बड़े ही समारोह के साथ आनन्दोत्सव मनाया। अपने इस आनन्दोत्सव की याद को चिरस्थायी बनाने के लिए यादवों ने अपने शिविर के स्थान पर सिनपल्ली ग्राम के पास सरस्वती नदी के तट पर आनन्दपुर नामक एक नगर बसाया।[1]

तदनन्तर तीन खण्ड की साधना करके श्रीकृष्ण समस्त यादवों और यादव-सेनाओं के साथ द्वारिकापुरी पहुंचे और सभी यादव वहां विविध भोगोपभोगों का आनन्दानुभव करते हुए बड़े सुख से रहने लगे।

महाराज समुद्रविजय, महारानी शिवादेवी और सभी यादव-मुख्यों ने कुमार अरिष्टनेमि से बड़े दुलार के साथ विवाह करने का अनेक बार अनुरोध किया, पर कुमार अरिष्टनेमि तो जन्म से ही संसार से विरक्त थे। उन्होंने हर बार विवाह के प्रस्ताव को गम्भीरतापूर्वक यह कहकर टाल दिया—"नारी वास्तव में भवभ्रमण के घोर दुःखसागर में गिराने वाली है। मैं संसार के भव-चक्र में परिभ्रमण करते-करते बिलकुल थक चुका हूं, अब इस विकट भवाटवी में भटकने का कोई काम करूँ, ऐसी किंचित् भी इच्छा नहीं है। अतः मैं इस विवाह के चक्र से सदा कोसों दूर ही रहूंगा।" समुद्रविजयजी को नेमकुमार को मनाने में सफलता नहीं मिली।

अरिष्टनेमि का अलौकिक बल

एक दिन कुमार अरिष्टनेमि यादव कुमारों के साथ घूमते हुए वासुदेव कृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गये। उन्होंने वहां ग्रीष्मकालीन मध्याह्न के सूर्य के समान अतीव प्रकाशमान सुदर्शन चक्र, शेषनाग की तरह भयंकर शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, नन्दक तलवार और बृहदाकार पांचजन्य शंख को देखा।

---

१ ....तत्रानन्दपुरं चक्रे सिनपल्लीपदे पुरम् ॥२६॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व, ८, सर्ग, ८]

कुमार अरिष्टनेमि को कौतुक से शंख की ओर हाथ बढ़ाते देख चारुकृष्ण नामक आयुधशाला-रक्षक ने कुमार को प्रणाम कर कहा—"यद्यपि आप श्रीकृष्ण के भ्राता हैं और निस्संदेह प्रबल पराक्रमी भी हैं, फिर भी इस शंख को पूरना तो दूर रहा, आप इसको उठाने में भी समर्थ नहीं होंगे। इसको तो केवल श्रीकृष्ण ही उठा और बजा सकते हैं, अतः आप इसे उठाने का वृथा प्रयास न कीजिये।"

रक्षक पुरुष की बात सुनकर कुमार अरिष्टनेमि ने मुस्कुराते हुए अनायास ही शंख को उठा अधर-पल्लवों के पास ले जाकर पूर (बजा) दिया।

प्रथम तो कुमार अरिष्टनेमि तीर्थंकर होने के कारण अनन्त शक्ति-सम्पन्न थे, फिर पूर्ण ब्रह्मचारी थे, अतः उनके द्वारा पूरे गये पांचजन्य की ध्वनि से लवण समुद्र में भीषण उत्ताल तरंगें उठीं और उछल-उछल कर बड़े वेग के साथ द्वारिका के प्राकार से टकराने लगीं। द्वारिका के चारों ओर के नगाधिराजों के शिखर और द्वारिका के समग्र भव्य-भवन थर्रा उठे। औरों का तो ठिकाना ही क्या, स्वयं श्रीकृष्ण और बलराम भी क्षुब्ध हो उठे। खम्भों में बंधे हाथी खम्भों को उखाड़, लौह शृंखलाओं को तोड़ चिंघाड़ते हुए इधर-उधर वेग से भागने लगे, द्वारिका के नागरिक उस शंख के अतिघोर निर्घोष से मूच्छित हो गये और शंखनिनाद के अत्यन्त सन्निकट होने के कारण शस्त्रागार के रक्षक तो मृतप्राय ही हो गये।.

श्रीकृष्ण साश्चर्य सोचने लगे—"इस प्रकार इतने अपरिमित वेग से शंख बजाने वाला कौन हो सकता है? क्या कोई चक्रवर्ती प्रकट हो गया है अथवा इन्द्र पृथ्वी पर आया है? मेरे शंख के निर्घोष से तो सामान्य भूपति ही भौंचक्के होते हैं, पर शंख के इस अद्भुत निर्घोष से तो मैं स्वयं और बलराम भी क्षुब्ध हो गये।"

थोड़ी ही देर में आयुधशाला के रक्षक ने वहाँ आकर कृष्ण से निवेदन किया—"देव! कुतूहलवश कुमार अरिष्टनेमि ने आयुधशाला में पांचजन्य शंख बजाया है। यह सुनकर कृष्ण बहुत विस्मित हुए, पर उन्हें उस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उसी समय कुमार अरिष्टनेमि वहाँ आ पहुँचे। कृष्ण ने अतिशय आश्चर्य, स्नेह एवं आदरयुक्त मनःस्थिति में अरिष्टनेमि को अपने अर्द्ध सिंहासन पर पास बैठाया और बड़े दुलार से पूछा—"प्रिय भ्रात! क्या तुमने पांचजन्य शंख बजाया था, जिसके कारण कि सारा वातावरण अभी तक विक्षुब्ध हो रहा है?"

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज स्वर में उत्तर दिया—"हाँ भैया।"

कृष्ण ने स्नेहातिरेक से कुमार अरिष्टनेमि को अंक में भरते हुए कहा—"मुझे प्रसन्नता हो रही है कि मेरे छोटे भाई ने पाञ्चजन्य शंख को बजाया है। आज तक मेरी यह धारणा थी कि इसे मेरे अतिरिक्त कोई नहीं बजा सकता। कुमार ! अपन दोनों भाई व्यायामशाला में चलकर बल-परीक्षा करलें कि किसमें कितना अधिक बल है।"

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज सरल स्वर में कहा—"जैसी आपकी इच्छा।"

यादव कुमारों से घिरे हुए दोनों नर-शार्दूल व्यायामशाला में पहुँचे।

सहज करुणार्द्र कुमार अरिष्टनेमि ने मन ही मन सोचा—"कहीं मेरी भुजाओं, वक्ष और जंघाओं के संघर्ष से मल्लयुद्ध में मेरे बल से अनभिज्ञ बड़े भाई कृष्ण को पीड़ा न हो जाय।" यह सोचकर उन्होंने कहा—"भैया ! भू-लुण्ठनादि क्रिया वाले इस ग्राम्य मल्लयुद्ध की अपेक्षा बाहु को झुकाने से भी बल का परीक्षण किया जा सकता है।"

श्रीकृष्ण ने कुमार अरिष्टनेमि से सहमति प्रकट करते हुए अपनी प्रचण्ड विशाल दाहिनी भुजा फैला दी और कहा—"कुमार ! देखें, इसे झुकाना।"

कुमार अरिष्टनेमि ने बिना प्रयास के सहज ही में कमल की कोमल डण्डी की तरह कृष्ण की भुजा को झुका दिया।

श्रीकृष्ण ने कहा—"अच्छा कुमार ! अब तुम अपनी भुजा फैलाओ।"

कुमार अरिष्टनेमि ने भी सहज-मुद्रा में अपनी भुजा फैलाई।

श्रीकृष्ण ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को झुकाने का प्रयास किया पर वह किंचित् मात्र भी नहीं झुकी। अन्त में कृष्ण ने अपने दोनों वज्र-कठोर हाथों से कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को कस कर पकड़ा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने पैरों को भूमि से ऊपर उठा शरीर का सारा भार भुजा पर पटकते हुए बड़े जोर का झटका लगाया, वे कुमार अरिष्टनेमि की भुजा पकड़े अधर झूलने लगे पर कुमार की भुजा को नहीं झुका सके।

श्रीकृष्ण को कुमार का अपरिमित बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कुमार की भुजा छोड़कर उन्हें हृदय से लगा लिया और बोले—"प्रिय अनुज ! मुझे तुम्हारे अलौकिक बल को देखकर इतनी प्रसन्नता हुई है कि जिस प्रकार मेरे भुजबल के सहारे बलराम सभी योद्धाओं को तुच्छ समझते हैं, उसी तरह मैं तुम्हारी शक्ति के भरोसे समस्त संसार के योद्धाओं को तृणवत् समझता हूँ।"

कुमार अरिष्टनेमि के चले जाने के अनन्तर कृष्ण ने बलराम से कहा—"भैया ! देखा आपने अपने छोटे भाई का बल ! मैं तो वृक्ष की डाल पर गोपबाल की तरह कुमार की भुजा पर लटक गया । इतना अपरिमित बल तो चक्रवर्ती और इन्द्र में भी नहीं होता । इतनी अमित शक्ति के होते हुए भी यह हमारा अनुज समग्र भरत के छःहों खण्डों को क्यों नहीं जीत लेता ?"

बलराम ने कहा—"चक्रवर्ती और इन्द्र से अधिक शक्तिशाली होते हुए भी कुमार स्वभाव से बिल्कुल शान्त हैं । उन्हें किंचित् मात्र भी राज्यलिप्सा नहीं है ।"

फिर भी कृष्ण के मन का सन्देह नहीं मिटा । उस समय आकाशवाणी हुई कि ये बाईसवें तीर्थंकर हैं, बिना विवाह किये ब्रह्मचर्यावस्था में ही प्रव्रजित होंगे ।

तदनन्तर कृष्ण ने अपने अन्तःपुर में जाकर कुमार अरिष्टनेमि को बुलाया और बड़े प्रेम से अपने साथ खाना खिलाया । कृष्ण ने अपने अन्तःपुर के रक्षकों को आदेश दिया कि कुमार अरिष्टनेमि को बिना रोक-टोक के समस्त अन्तःपुर में आने-जाने दिया जाय, क्योंकि ये पूर्णरूपेण निर्विकार हैं ।

कुमार अरिष्टनेमि सहज शान्त, भोगों से विमुख और निर्विकार भाव से सुखपूर्वक सर्वत्र विचरण करते । रुक्मिणी आदि सभी रानियाँ उनका बड़ा सम्मान रखतीं । कृष्ण उनके साथ ही खाते-पीते और क्रीड़ा करते हुए बड़े आनन्द से रहने लगे । कुमार नेमि पर कृष्ण का स्नेह दिन प्रति दिन बढ़ता ही गया ।

एक दिन उन्होंने सोचा—"नेमि कुमार का विवाह कर इन्हें दाम्पत्य जीवन में सुखी देख सकूँ तभी मेरा राज्य, ऐश्वर्य एवं भ्रातृ-प्रेम सही माने में सार्थक हो सकता है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि कुमार अरिष्ट-नेमि को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित कर उनके मन में भोग-लिप्सा पैदा की जाय ।"

यह सोचकर श्रीकृष्ण ने अपनी सब रानियों से कहा —"मैं कुमार अरिष्ट-नेमि को सब प्रकार से सुखी देखना चाहता हूँ । मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि किसी सुन्दर कन्या के साथ उनका विवाह कर दिया जाय और वे विवा-हित जीवन का आनन्दोपभोग करें । पर कुमार सांसारिक भोगों के प्रति पूर्ण उदासीन हैं । अतः यह आवश्यक है कि विरक्त और भोगों से पराङ्मुख अरिष्ट-नेमि को हर सम्भव प्रयास कर विवाह करने के लिये राजी किया जाय ।"

रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने श्रीकृष्ण की आज्ञा को सहर्ष शिरोधार्य करते हुए कहा—"महाराज ! बड़े-बड़े योगियों को भी योगमार्ग से विचलित कर देने वाली रमणियों के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है। हम हमारे प्रिय देवर को विवाह करने के लिए अवश्य सहमत कर लेंगी।"

रुक्मिणी आदि का नेमिकुमार के साथ वसन्तोत्सव

श्रीकृष्ण के संकेतानुसार रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ने वसंत-क्रीड़ा के निमित्त रेवताचल पर एक कार्यक्रम आयोजित किया। निर्विकार नेमिनाथ को भी अपने बड़े भाई कृष्ण द्वारा आग्रह करने पर वसन्तोत्सव में सम्मिलित होना पड़ा।

वसन्तोत्सव के प्रारम्भ में रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने विविध रंगों और सुगन्धियों से मिश्रित पानी पिचकारियों और डालियों में भर-भर कर कृष्ण और नेमिनाथ पर बरसाना प्रारम्भ किया। कृष्ण ने भी उन्हें उन्हीं के द्वारा लाये गये पानी से सराबोर कर दिया।

कृष्ण द्वारा किये गये जलधारा प्रपात से विचलित होकर भी वे बार-बार कृष्ण को चारों ओर से घेर कर पद्मपराग मिश्रित ज़ल की अनवरत धाराओं से भिगोती हुई खिलखिलाकर हँसतीं। किन्तु कृष्ण और रानियों की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं से नेमिकुमार आकृष्ट नहीं हुए। वे निर्विकार भाव से सारी लीला को देखते रहे, केवल अपनी भाभियों के विनम्र निवेदन का मान रखने कभी-कभी उनके द्वारा उँडेले गये पानी के उत्तर में उन पर कुछ पानी उंड़ेल देते।

बड़ी देर तक विविध हासोल्लास से फाग खेला जाता रहा। वारिधाराओं की तीव्र बौछारों से सब के नेत्र लाल हो चुके थे। अब सभी रानियाँ मिल कर नेमिनाथ के साथ फाग खेलने लगीं। निर्विकार रूप से नेमिकुमार भी अपने पर अनेक बार पानी उँडेलने पर उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में एक दो बार उन पर पानी उछाल देते।

अपने प्रिय छोटे भाई नेमिकुमार को फाग खेलते देख कर कृष्ण अलग हो, सरोवर में जल-क्रीड़ा करने लगे। फिर क्या था, अब तो सभी सुन्दरियों ने आपस में सलाह कर नेमिनाथ को अपना मुख्य लक्ष्य बना लिया। वे उन्हें मोह राग और भोग-मार्ग में आकर्षित कर वैवाहिक बन्धन में बाँधने का दृढ़ संकल्प लिए नारी-लीला का प्रदर्शन करने लगीं।

सभी रानियां दिव्य वस्त्राभूषणादि से षोडश अलंकार किये रूप-लावण्य में सुरवधुओं को भी तिरस्कृत करती हुई चारुहासों, तीक्ष्ण-तिरछे चितवनों

के कटाक्षों और हँसने-हँसाने, रूठने-मनाने आदि विविध मनोरम हावभावों से एवं नर-नारी के संगजन्य आनन्द को ही जीवन का सार प्रकट करने वाले अनुपम अभिनयों से कुमार के मन में मनसिज को जगाने एवं नारी के रमणीय कलेवर की ओर उत्कट आकर्षण व स्पृहा पैदा करने में ऐसी जुट गईं मानों स्वयं पुष्पायुध ही सदलबल नेमिनाथ पर विजय पाने चढ़ आया हो।

पर इन सब हावभावों और कमनीय कटाक्षों का नेमिनाथ के मन पर कोई असर नहीं हुआ। प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन के झोंकों में जैसे सुमेरु अचल-अडोल खड़ा रहता है उसी तरह उनका मन भी इस रंग भरे वातावरण में निर्विकार-निर्मल बना रहा।

अपनी असफलता से उत्तेजित हो उन रमणी-रत्नों ने अपने किन्नर-कण्ठों से वज्र-कठोर हृदय को भी गुदगुदा देने वाले मधुर प्रणय-गीत गाने आरम्भ किये। पर जिन्होंने इस सार तत्त्व को जान लिया है कि—"सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं"—उन प्रभु नेमिनाथ पर इस सब का क्या असर होने वाला था।

जब कृष्ण जल-क्रीड़ा कर सरोवर से बाहर निकले तो कृष्ण की सभी रानियां सरोवर तट के आजानु पानी में जल-क्रीड़ा करने लगीं और नेमिकुमार ने भी राजहंस की तरह सरोवर में प्रवेश किया। पर घुटनों तक के तटवर्ती पानी में स्नान करने लगे। रुक्मिणी ने रत्न-जटित चौकी बिछा उस पर नेमिकुमार को बिठाया और अपनी चुनरी से वह उनके शरीर को मलने लगीं। शेष सभी रानियाँ उनके चारों ओर एकत्रित हो गईं।

रानियों द्वारा नेमिनाथ को भोगमार्ग की ओर मोड़ने का यत्न

सत्यभामा बड़े ही मीठे शब्दों में कहने लगीं—"प्रिय देवर! आप सदा हमारी सब बातें शान्ति से सुन लिया करते हो इसलिए मैं आप से यह पूछना चाहती हूँ कि आपके बड़े भैया तो सोलह हजार रानियों के पति हैं, उनके छोटे भाई होकर आप कम से कम एक कन्या के साथ भी विवाह नहीं करते, यह कैसी अद्भुत् अटपटी बात है? सौन्दर्य और लावण्य की दृष्टि से तीनों लोको में कोई भी आपकी तुलना नहीं कर सकता। युवावस्था में भी पदार्पण कभी के कर चुके हो फिर समझ में नहीं आता कि आपकी यह क्या स्थिति है? आपके माता-पिता, भाई और हम सब आपकी भाभियाँ, सब के सब आपसे प्रार्थना करते हैं, एक बार तो सब का कहना मान कर विवाह कर ही लो।"

"आप स्वयं विचार कर देखो—बिना जीवन-संगिनी के कुँआरे कितने दिन तक रह सकोगे? आखिर बोलो तो सही, क्या तुम काम-कला से अनभिज्ञ

हो, नीरस हो अथवा पौरुष-विहीन हो ? याद रखो कुमार ! बिना स्त्री के तुम्हारा जीवन निर्जन वन में खिले सुन्दर-मनोहर सुरभिसंयुक्त पुष्प के समान निरर्थक ही रहेगा ।"

"जिस प्रकार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने पहले विवाह किया, फिर धर्म-तीर्थ की स्थापना की, उसी प्रकार आप भी पहले गृहस्थोचित सब कार्य सम्पन्न कर फिर समय पर यथारुचि ब्रह्मव्रत को साधना कर लेना। गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य अशुचि-स्थान में मन्त्रोच्चारण के समान है ।[1] फिर आप ही के वंश में मुनिसुव्रत तीर्थंकर हुए। उन्होंने भी पहले विवाहित होकर फिर मुनिव्रत ग्रहण किया था । आपके पीछे होने वाले तीर्थंकर भी ऐसा ही करेंगे । फिर आप ही क्या ऐसे नये मुमुक्षु हैं जो पूर्व-पुरुषों के पथ को छोड़कर जन्म से ही स्त्री, भोग एवं विषयादि से पराङ्मुख हो रहे हैं ?"

सत्यभामा ने तमक कर कहा—"ये मिठास से रास्ते आने वाले नहीं हैं । माता-पिता-भाई सब समझाते-समझाते हार गये, अब कड़ाई से काम लेना होगा । हम सबको मिल कर अब इन्हें पास के एक स्थान में बन्द कर देना चाहिए और जब तक ये हमारी बात मान नहीं लें तब तक छोड़ना ही नहीं चाहिए ।"

रुक्मिणी ने कहा—"बहिन ! हमें अपने प्रिय सुकुमार देवर के साथ ऐसा कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिए, हमें बड़े मीठे वचनों से नम्रतापूर्वक इन्हें विवाह के लिए राजी करना चाहिए ।"

रुक्मिणी यह कह कर श्री नेमिकुमार के चरणों में झुक गई । श्रीकृष्ण की शेष सब रानियों ने भी नेमि के चरणों में अपने सिर झुका दिये और विवाह की स्वीकृति हेतु अनुनय-विनय करने लगीं ।

यह देख कर कृष्ण आ गये और नेमिनाथ से बड़े ही मीठे वचनों से कहने लगे—"भाई ! अब तुम विवाह कर लो ।"

इतने में अन्य यादवगण भी वहाँ आ पहुँचे और नेमिनाथ से कहने लगे—"कुमार ! अपने बड़े भाई का कहना मान लो और माता-पिता एवं अपने स्वजन-परिजन को प्रमुदित करो ।"

इन सब के हठाग्रह को देख, नेमिकुमार ने मन ही मन विचार किया—"ओह ! इन लोगों का कैसा मोह है कि ये लोग केवल स्वयं ही संसार-सागर में

---

१ समये प्रतिपद्येथा, ब्रह्मापि हि यथा रुचि ।
गार्हस्थ्ये नोचितं ब्रह्म, मंत्रोद्‌गार इवाशुचौ ।। १०५

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्रं, पर्व ८, सर्ग ९]

नहीं डूब रहे हैं अपितु दूसरों को भी स्नेह-शिला से बाँध कर भवार्णव में डाल रहे हैं। इनके आग्रह को देखते हुए यही उपयुक्त है कि इस समय मुझे केवल वचन मात्र से इनका कहना मान लेना चाहिए और समय आने पर अपना कार्य कर लेना चाहिए। ऐसा करने से गृह, कुटुम्ब आदि का परित्याग करने का कारण भी मेरे सम्मुख उपस्थित होगा।" यह सोच कर नेमि ने कहा—"हाँ ठीक है, ऐसा ही करेंगे।"[1]

नेमिकुमार की बात सुन कर कृष्ण और सभी यादव बड़े प्रसन्न हुए। श्रीकृष्ण सपरिवार द्वारिका में आकर नेमिनाथ के योग्य कन्या ढूँढने का प्रयत्न करने लगे। सत्यभामा ने कृष्ण से कहा—"मेरी अनुपम रूप-गुण-सम्पन्ना छोटी बहिन राजीमती पूर्णरूपेण नेमिकुमार के अनुरूप एवं योग्य है।"

यह सुन कर कृष्ण अति प्रसन्न हुए और उन्होंने तत्काल महाराज उग्रसेन के पास पहुँच कर अपने भाई नेमिकुमार के लिए उनकी पुत्री राजीमती की उनसे याचना की। उग्रसेन ने अपना अहोभाग्य समझते हुए प्रमुदित हो कृष्ण के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। नेमिनाथ यहाँ आवें तो मैं अपनी पुत्री देने को तैयार हूँ।

उग्रसेन द्वारा स्वीकृति मिलते ही कृष्ण महाराज समुद्रविजय के पास आये और उनकी सेवा में नेमिनाथ के लिए राजीमती की याचना और उग्रसेन द्वारा सहर्ष स्वीकृति आदि के सम्बन्ध में निवेदन किया।

समुद्रविजय ने हर्ष-गद्गद् स्वर में कहा—"कृष्ण! तुम्हारी पितृ-भक्ति एवं भ्रातृ-प्रेम बहुत ही उच्चकोटि के हैं। इतने दिनों से जो हमारी मनोभिलाषा केवल मन में ही मरी पड़ी थी, उसे तुमने नेमिकुमार को विवाह करने हेतु राजी कर सजीव कर दिया है। पुत्र! बड़ी कठिनाई से नेमिकुमार ने विवाह करने की स्वीकृति दी है, अतः कालक्षेप उचित नहीं है।"

समुद्रविजय आदि ने नैमित्तिक को बुलाया और श्रावण शुक्ला ६ को विवाह का मुहूर्त्त निश्चित कर लिया।[2] श्रीकृष्ण ने भी द्वारिका नगरी के प्रत्येक पथ, वीथि, उपवीथि, अट्टालियों, गोपुर और घर-घर को रत्नमंचों, तोरणों

---

१ एवं चेव कीरंतं मज्झं पि परिच्चायकारणं भविस्सइ। त्ति कलिऊण परिहास पयारणा-पुव्वयं पि भणिऊण पडिवण्णं एवं चेव कीरइ। [चउवन्न महापुरिसचरियं, पृष्ठ १६२]

२ चउवन्न महापुरिस चरियं में उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर देने का उल्लेख है। यथा—"भयवं पुण तेणेव ववएसेण संवच्छरियं महा-दाणं दाउमाढत्तो,............ [चउवन महापुरिस, चरियं पृष्ठ १६२]

आदि से खूब सजाया। बड़ी धूमधाम के साथ नेमिकुमार के विवाह की तैयारियाँ की गईं।

विवाह से एक दिन पहले दशों दशार्हों, बलभद्र, कृष्ण आदि ने अन्तःपुर की समस्त सुहागिनियों द्वारा गाये जा रहे मंगल-गीतों की मधुर ध्वनि के बीच नेमिनाथ को एक ऊँचे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। अनेक सुगन्धित महार्घ्य, विलेपनादि के पश्चात् स्वयं बलराम और कृष्ण ने उन्हें सब प्रकार की औषधियों से स्नान कराया[1] और उनके हाथ पर कर-सूत्र (कंकरण-डोरा) बाँधा।

तदनन्तर श्रीकृष्ण उग्रसेन के राजप्रासाद में गये। वहाँ पर भी उन्होंने दुलहिन राजीमती के कर में उसी प्रकार मंगल-मृदु गीतों की स्वर-लहरियों के बीच उबटन-विलेपन-स्नानादि के पश्चात् कर-सूत्र बँधवाया और अपने भवन को लौटे।

दूसरे दिन भगवान् नेमिनाथ की बरात सजायी गई। महार्घ्य, सुन्दर श्वेत वस्त्र एवं बहुमूल्य मोतियों के आभूषण पहने, श्वेत छत्र तथा श्वेत चामरों से सुशोभित, कस्तूरी और गौशीर्ष चन्दन का विलेपन किये दूल्हा अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ मस्त गन्धहस्ती पर आरूढ़ हुआ।[2]

नेमिकुमार के हाथी के आगे अनेक देवोपम यादव कुमार घोड़ों पर सवार हो चल रहे थे। घोड़ों की हिनहिनाहट से सारा वायुमण्डल गूंज रहा था। नेमिकुमार के दोनों पार्श्वों में मदोन्मत्त हाथियों पर बैठे हजारों राजा चल रहे थे और नेमिकुमार के हाथी के पीछे-पीछे दशों भाई दशार्ह, बलराम और कृष्ण हाथियों पर आरूढ़ थे तथा उनके पीछे बहुमूल्य सुन्दर पालकियों में बैठी हुई राजरानियां, अन्तःपुर की व अन्य सुन्दर रमणियां मंगल-गीतों से वायुमण्डल में स्वरलहरियाँ पैदा करती हुई चल रही थीं। उच्च स्वर से किये जाने वाले मंगल पाठ से और विविध वाद्यों की कर्णप्रिय ध्वनि से सारा वातावरण बड़ा मृदु, मनोरम एवं मादक बन गया। इस तरह बड़े ठाठ-बाट के साथ नेमिकुमार की बरात महाराज उग्रसेन के प्रासाद की ओर बढ़ी। वर-यात्रा का दृश्य बड़ा ही सम्मोहक, मनोहारी और दर्शनीय था। सुन्दर, समृद्ध एवं सुसज्जित बरातियों के बीच दूल्हा नेमिकुमार संसार के सिरमौर, त्रैलोक्य चूड़ामणि की तरह सुशोभित हो रहे थे।

---

१ सव्वोसहीहिं एहविओ कयकोउय मंगलो। [उत्तराध्ययन, अ० २२, गा. ६]

२ (क) मत्तं च गन्धहत्थि वासुदेवस्स जेट्ठगं आरूढो सोहए अहियं, सिरे चूडामणि जहा। [उत्तराध्ययन, अ० २२ गा० १०]

(ख) त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र में श्वेत घोड़ों के रथ पर आरूढ़ होने का उल्लेख है। यथाः—आरुरोहारिष्टनेमिः स्यन्दनं श्वेतवाजिनम्॥ [पर्व ८, स० ६, श्लो० १४६]

राजमार्ग के दोनों ओर वातायन, अट्टालिकाएं, गृहद्वार आदि द्वारिका की रमणियों के समूहों से खचाखच भरे थे। त्रिभुवन-मोहक दूल्हे नेमिकुमार को देखकर आबाल वृद्ध-नरनारी-वृन्द अपनी दृष्टि को सफल और जीवन को धन्य मानते हुए दूल्हे की भूरि-भूरि सराहना करने लगे।

इस तरह पौरजनों के नयनों और मनों को आनन्द-विभोर करते हुए नेमिनाथ की बरात उग्रसेन के भवन के पास आ पहुँची। बरात के आगमन के तुमुलनाद को सुनते ही राजीमती मेघ-गर्जन रव से मस्त हुई मयूरी की तरह परम प्रमुदित हो खड़ी हुई। सखियों ने वर को देखते ही दौड़कर राजीमती को घेर लिया और उसके भाग्य की सराहना करती हुई कहने लगीं—राजदुलारी ! तुम परम भाग्यवती हो जो नेमिनाथ जैसा त्रैलोक्य-तिलक वर तुम्हारा पाणि-ग्रहण करेगा। नयनाभिराम वर आखिर तो यहाँ हमारे सामने आयेंगे ही पर हम अपनी वर-दर्शन की प्रबल उत्कण्ठा को रोक नहीं सकतीं, अतः सलोनी सखि ! लज्जा का परित्याग कर शीघ्रता से चलो। हम सब अति कमनीय वर को गवाक्षों से देखलें।"

मनोभिलाषित बात सुनकर सघन घन-घटा में चमचमाती हुई चंचल चपला सी राजीमती एक झरोखे की ओर बढ़ी और वहाँ से उसने रोम-रोम में झनझनाहट सी पैदा कर देने वाले साक्षात् कामदेव के समान ठाठ-बाट से आते हुए नेमिकुमार को देखा। राजीमती निर्निमेष नयनों से अपने प्रियतम की रूप-सुधा का पान करती हुई विचारने लगी—"अहोभाग्य ! मन से भी अचिन्त्य ऐसा त्रैलोक्य-मुकुटमणि नर-रत्न यदि मुझे मेरे प्राणनाथ के रूप में प्राप्त हो जाय तो मेरा जन्म सफल हो जाय। यद्यपि ये स्वतः मुझे अपनी जीवन-संगिनी बनाने की इच्छा लिये यहां आ रहे हैं फिर भी मेरे मन को धैर्य नहीं होता कि मैं अपने किन सुकृतों के फलस्वरूप इन्हें अपने प्राणनाथ के रूप में प्राप्त कर सकूंगी।"

इस प्रकार मन ही मन ऊहापोह में डूबी हुई राजकुमारी राजीमती की सहसा दाहिनी आँख और भुजा फड़कने लगी। अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय धड़कने लगा और विकसित कमल के फूलों के समान सुन्दर नेत्रों से अश्रु-धाराएं बहाते हुए उसने अवरुद्ध कण्ठ से अपनी सखियों को अनिष्ट-सूचक अंगस्फुरण की बात कही।

सखियों ने उसे ढाढस बँधाते हुए कहा—"राजदुलारी ! इस मंगलमय वेला में तुम अमंगल की आशंका क्यों कर रही हो ? हमारी कुलदेवियाँ प्रसन्न हो तुम जैसी पुण्यशालिनी का सब तरह से कल्याण ही करेंगी। कुमारी ! धैर्य रखो। अब तो कुछ ही क्षणों की देर है, बस अब तो तुम्हारे पाणि-ग्रहण के लिए वर आ चुका है।"

इधर राजीमती अनिष्ट की आशंका से सिसक-सिसक कर रोती हुई आंसू बहा रही थी और उसे उसकी सहेलियां धैर्य बँधा रही थी। उधर आते हुए नेमिकुमार ने पशुओं के करुण क्रन्दन को सुनकर जानते हुए भी अपने सारथि (गज-वाहक) से पूछा—"सारथे! यह किसका करुण-क्रन्दन कर्णगोचर हो रहा है?"

सारथि ने कहा—"स्वामिन्! क्या आपको पता नहीं कि आपके विवाहोत्सव के उपलक्ष में विविध भोज्य-सामग्री बनाने हेतु अनेक बकरे, मेंढे तथा वन्य पशु-पक्षी लाये गये हैं। प्राणिमात्र को अपने प्राण परम प्रिय हैं, अतः ये क्रन्दन कर रहे हैं।"

नेमिनाथ ने महावत को पशुओं के वाड़ों की ओर हाथी को बढ़ाने की आज्ञा दी। वहाँ पहुँच कर नेमिकुमार ने देखा कि अगणित पशुओं की गर्दन और पैर रस्सियों से बंधे हुए हैं एवं अगणित पक्षी पिंजरों तथा जाल-पाशों में जकड़े म्लानमुख काँपते हुए दयनीय स्थिति में बन्द हैं।

आनन्ददायक नेमिकुमार को देखते ही पशु-पक्षियों ने अपनी बोली में अपनी करुण पुकार सुनानी प्रारम्भ की—"नाथ! हम दीन, दुःखी, असहायों की रक्षा करो।"

दयामूर्ति नेमिकुमार का करुण, कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होंने अपने सारथि को आज्ञा दी कि वह उन सब पशु-पक्षियों को तत्क्षण मुक्त कर दे। देखते ही देखते सब पशु-पक्षी मुक्त कर दिये गये। स्नेहपूर्ण दृष्टि से नेमिनाथ के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए पशु यथेप्सित स्थानों की ओर दौड़ पड़े और पक्षि-समूह पंख फैला कर अपने विविध कण्ठरवों से खुशी-खुशी नेमिनाथ की यशोगाथाएं गाते हुए, अनन्त आकाश में उड़ते हुए तिरोहित हो गये।

पशु-पक्षियों को विमुक्त करने के पश्चात् नेमिनाथ ने अपने कानों के कुंडल-युगल, करधनी एवं समस्त आभूषण उतार कर सारथि को दे दिये[1] और अपना हाथी अपने प्रासाद की ओर मोड़ दिया। उनको लौटते देख यादवों पर मानो अनभ्र वज्रपात सा हो गया। माता शिवा महारानी, महाराज समुद्रविजय, श्रीकृष्ण-बलदेव आदि यादव-मुख्य अपने-अपने वाहनों से उतर पड़े और नेमिनाथ के सम्मुख राह रोककर खड़े हो गये।

---

१ सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ॥२०॥
[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, गाथा २०]

आँखों से अनवरत अश्रुधारा बहाते हुए समुद्रविजय और माता शिवा ने बड़े दुलार से अनुनयपूर्वक कहा—"वत्स ! तुम अचानक ही इस मंगल-महोत्सव से मुख मोड़ कर कहां जा रहे हो ?"

विरक्त नेमिकुमार ने कहा—"अम्ब-तात ! जिस प्रकार ये पशु-पक्षी बन्धनों से बंधे हुए थे, उसी प्रकार आप और हम सब भी कर्मों के प्रगाढ़ बन्धन में बन्धे हुए हैं। जिस प्रकार मैंने इन पशु-पक्षियों को बन्धनमुक्त कर दिया, उसी प्रकार मैं अब अपने आपको कर्म-बन्धन से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त करने हेतु कर्म-बन्धन काटने वाली शिव-सुख प्रदायिनी दीक्षा ग्रहण करूंगा।"

नेमिकुमार के मुख से दीक्षा-ग्रहण की बात सुनते ही माता शिवादेवी और महाराज समुद्रविजय मूर्च्छित हो गये एवं समस्त यादव-परिवार की आँखें रोते-रोते लाल हो गईं। श्रीकृष्ण ने सबको ढाढस बँधाते हुए नेमिकुमार से कहा—"भ्रात ! तुम तो हम सबके परम माननीय रहे हो, हर समय तुमने भी हमारा बड़ा मान रखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारा सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम है और तुम अभिनव यौवन के धनी हो, राजकुमारी राजीमती भी पूर्णरूपेण तुम्हारे ही अनुरूप है, ऐसी दशा में तुम्हारे इस असामयिक वैराग्य का क्या कारण है ? अब रही पशु-पक्षियों की हिंसा की बात, तो उनको तुमने मुक्त कर दिया है। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गई, अब माता-पिता और हम सब प्रियजनों के अभिलषित मनोरथ को पूर्ण करो।"

"साधारण मानव भी अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है, फिर आप तो महान् पुरुष हैं। आपको अपने इन शोक-सागर में डूबे हुए माता-पिता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार आपने इन दीन पशु-पक्षियों को प्राणदान देकर प्रमुदित कर दिया उसी प्रकार इन प्रियबन्धु-बान्धवों को भी अपने विवाह के सुन्दर दृश्य का दर्शन कराकर प्रसन्न कर दीजिये।"

अरिष्टनेमि ने कहा—"चक्रपाणे ! माता-पिता और आप सब सज्जनों के दुःख का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। देव-मनुष्य-नरक और तिर्यंच गति में पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर में फँसा हुआ प्राणी अनन्त, असह्य दुःख पाता है। यही मेरे वैराग्य का मुख्य कारण है। अनन्त जन्मों में अनन्त माता-पिता, पुत्र और बन्धु-बान्धवादि हो गये, पर कोई किसी के दुःख को नहीं बँटा सका। अपने-अपने कृत-कर्मों के दारुण विपाक सभी को स्वयमेव भोगने पड़ते हैं। यदि पुत्रों को देखने से माता-पिता को आनन्दानुभव होता है तो महानेमि आदि मेरे भाई हैं, अतः मेरे न रहने पर भी माता-पिता के इस आनन्द में किसी तरह की कमी नहीं आयेगी। हरे ! मैं तो संसार के इस बिना ओर-छोर के पथ

पर चलते २ अत्यन्त वृद्ध और निर्बल पथिक की तरह थककर चूर-चूर हो चुका हूँ, अतः मैं असह्य दुःख का अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने लिए, आप लोगों के लिए और संसार के समस्त प्राणियों के लिए परम शान्ति का प्रशस्त मार्ग ढूंढने को लालायित हूं। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अब इस अनन्त दुःख के मूलभूत कर्मों का समूलोच्छेद करके ही दम लूंगा। बिना संयम ग्रहण किये कर्मों को ध्वस्त कर देना संभव नहीं, अतः मुझे अब निश्चित रूप से प्रव्रजित होना है। आप लोग वृथा ही बाधा न डालें।"

नेमिकुमार की बात सुनकर समुद्रविजय ने कहा—"वत्स ! गर्भ में अवतीर्ण होने के समय से आज तक तुम ऐश्वर्यसम्पन्न रहे हो, तुम्हारा भोग भोगने योग्य यह सुकुमार शरीर ग्रीष्मकालीन घोर आतप, शिशिरकाल की ठिठुरा देने वाली ठंड और क्षुधा-पिपासा आदि असह्य दुःखों को सहने में किस तरह समर्थ होगा ?"

नेमिकुमार ने कहा—"तात ! जो लोग नर्कों के उत्तरोत्तर घोरातिघोर दुःखों को जानते हैं, उनके सम्मुख आपके द्वारा गिनाये गये ये दुःख को नगण्य और नहीं के बराबर हैं। तात ! इन तपश्चरण सम्बन्धी दुःखों को सहने से कर्मसमूह जलकर भस्मावशेष हो जाते हैं एवं अक्षय-अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, पर विषजन्य सुखों से नर्क के अनन्त दारुण दुःखों की प्राप्ति होती है। अतः आप स्वयं ही विचार कर फरमाइये कि मनुष्य को इन दोनों में से कौनसा मार्ग चुनना चाहिए ?"

नेमिकुमार के इस आध्यात्मिक चिंतन से ओतप्रोत शाश्वत-सत्य उत्तर को सुनकर सब यदुश्रेष्ठ निरुत्तर हो गये। सबको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब नेमिकुमार निश्चित रूप से प्रव्रजित होंगे। सबकी आँखें अजस्र अश्रुधाराएं प्रवाहित कर रही थीं। नेमिनाथ ने आत्मीयों की स्नेहमयी लोहश्रृंखलाओं के प्रगाढ़ बन्धनों को एक ही झटके में तोड़ डाला और सारथी को हाथी हाँकने की आज्ञा दे तत्काल अपने निवास स्थान पर चले आये।

उपयुक्त अवसर देख लोकान्तिक देव नेमिनाथ के समक्ष प्रकट हुए और उन्होंने प्राञ्जलिपूर्वक प्रभु से प्रार्थना की—"प्रभो ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।" लोकान्तिक देवों को आश्वस्त कर प्रभु ने उन्हें ससम्मान विदा किया और इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों द्वारा द्रव्यों से भरे हुए भण्डार में से वर्ष भर दान देते रहे।

उधर अपने प्राणेश्वर नेमिकुमार के लौट जाने और उनके द्वारा प्रव्रजित होने के निश्चय का संवाद सुनते ही राजीमती वृक्ष से काटी गई लता की तरह निश्चेष्ट हो धरणी पर धड़ाम से गिर पड़ी। शोकाकुल सखियों ने सुगन्धित

शीतल जल के उपचार और व्यजनादि से उसको होश में लाने का प्रयास किया तो होश में आते ही राजीमती बड़ा हृदयद्रावी करुण-विलाप करते हुए बोली– "कहाँ त्रिभुवनतिलक नेमिकुमार और कहां मैं हतभागिनी ! मुझे तो स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि नेमिकुमार जैसा नरशिरोमणि मुझे वर रूप में प्राप्त होगा। पर ओ निर्मोही ! तुमने विवाह की स्वीकृति देकर मेरे मन में आशा-लता अंकुरित क्यों की और असमय में ही उसे उखाड़ कर क्यों फेंक दिया ?"

"महापुरुष अपने वचन को जीवन भर निभाते हैं। यदि मैं आपको अपने अनुरूप नहीं जँची तो पहले मेरे साथ विवाह की स्वीकृति ही क्यों दी ? जिस दिन आपने वचन से मुझे स्वीकार किया, उसी दिन मेरा आपके साथ पाणि-ग्रहण हो चुका, उसके बाद यह विवाह-मण्डप-रचना और विवाह का समस्त आयोजन तो व्यर्थ ही किया गया। नाथ ! मुझे सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का है कि आप जैसे समर्थ महापुरुष भी वचन-भंग करेंगे तो सारी लौकिक मर्यादाएं विनष्ट हो जायेंगी। प्राणेश ! इसमें आपका कोई दोष नहीं, मुझे तो यह सब मेरे ही किसी घोर पाप का प्रतिफल प्रतीत होता है। अवश्य ही मैंने पूर्व-जन्म में किसी चिरप्रणयी मिथुन का विछोह कर उसे विरह की वीभत्स ज्वाला में जलाया है। उसी जघन्य पाप के फलस्वरूप मैं हतभागिनी अपने प्राणाधार प्रियतम के करस्पर्श का भी सुखानुभव नहीं कर सकी।"

इस प्रकार पत्थर को भी पिघला देने वाले करुण-क्रन्दन से विह्वल राजीमती ने हृदय के हार एवं कर-कंकणों को तोड़कर टुकड़े २ कर डाला और अपने वक्षःस्थल पर अपने ही हाथों से प्रहार करने लगी।

सखियों ने राजीमती की यह दशा देखकर उसे समझाने का प्रयास करते हुए कहा–"नहीं, नहीं, राजदुलारी ! ऐसा न करो, उस निर्दयी नेमिकुमार से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? उस मायावी से अब तुम्हें मतलब ही क्या है ? वह तो लोक-व्यवहार से विमुख, गृहस्थ-जीवन से सदा डरने वाला और स्नेह से अनभिज्ञ केवल मानव-वसति में आ बसे वनवासी प्राणी की तरह है। सखि ! यदि वह चातुर्य-गुणविहीन, निष्ठुर, स्वेच्छाचारी और तुम्हारा शत्रु चला गया है तो जाने दो। यह तो खुशी की बात है कि विवाह होने से पहले ही उसके लक्षण प्रकट हो गये। यदि विवाह कर लेने के पश्चात् इस तरह ममत्वहीन हो जाता तो तुम्हारी दशा अन्धकूप में ढकेल देने जैसी हो जाती। सुभ्रू ! अब तुम उस निष्ठुर को भूल जाओ। तुम अभी तक कुमारी हो, क्योंकि उस नेमि कुमार को तो तुम केवल संकल्प मात्र से वाग्दान में ही दी गई हो। प्रद्युम्न, शाम्ब आदि एक से एक बढ़कर सुन्दर, सशक्त, सर्वगुणसम्पन्न अनेक यादवकुमार हैं, उनमें से अपनी इच्छानुसार किसी एक को अपना वर चुन लो।"

इतना सुनते ही राजीमती क्रुद्धा बाघिनी की तरह अपनी सखियों पर गरज पड़ी—"हमारे निष्कलंक कुल पर काला धब्बा लगाने जैसी तुम यह कैसी बात करती हो ? मेरे प्राणनाथ नेमि तीनों लोक में सर्वोत्कृष्ट नररत्न हैं, भला बताओ तो सही, कोई है ऐसा जो उनकी तुलना कर सके ? क्षण भर के लिए मानलो अगर कोई है भी, तो मुझे उससे क्या प्रयोजन, कन्या एक बार ही दी जाती है।"[1]

"वृष्णि कुमारों में से उनका ही मैंने अपने मन और वचन से वरण किया है, और अपने गुरुजनों द्वारा भी उन्हें दी जा चुकी हूं, अतः मैं तो अपने प्रियतम नेमिकुमार की पत्नी हो चुकी। तीनों लोकवासियों में सर्वश्रेष्ठ मेरे उस वर ने आज मेरे साथ विवाह नहीं किया है तो मैं भी आज से सब प्रकार के भोगों को तिलाञ्जलि देती हूं। उन्होंने यद्यपि विवाह-विधि से मेरे कर का स्पर्श नहीं किया है पर मुझे व्रतदान देने में तो उनकी वाणी अवश्यमेव मेरे अन्तस्तल का स्पर्श करेगी।"

इस तरह काम-भोग के त्याग एवं व्रत-ग्रहण की दृढ़ प्रतिज्ञा से सहेलियों को चुप कर राजीमती अहर्निश भगवान् नेमिनाथ के ही ध्यान में निमग्न रहने लगी।

इधर भगवान् नेमिनाथ प्रतिदिन दान देते हुए अनेक रंकों को राव बना रहे थे। उन्हें अपने विशिष्ट ज्ञान और लोगों के मुख से राजीमती द्वारा की गई भोग-परित्याग की प्रतिज्ञा का पता चल गया था, फिर भी वे पूर्णरूपेण ममत्व से निर्लिप्त रहे।

निष्क्रमणोत्सव एवं दीक्षा

वार्षिक दान सम्पन्न होने के पश्चात् मानवों, मानवेन्द्रों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भगवान् का निष्क्रमणोत्सव बड़े आनन्द और अलौकिक ठाठ-बाट के साथ सम्पन्न किया गया। उत्तरकुरु नाम की रत्नमयी शिविका पर भगवान नेमिनाथ आरूढ़ हुए। निष्क्रमणोत्सव में देवों का सहयोग इस प्रकार बताया है—उस पालकी को देवताओं और राजा-महाराजाओं ने उठाया। सनत्कुमारेन्द्र प्रभु पर दिव्य छत्र किये हुए थे। शक्र और ईशानेन्द्र प्रभु के सम्मुख चंवर-व्यजन कर रहे थे। माहेन्द्र हाथ में नग्न खड्ग धारण किये और ब्रह्मेन्द्र प्रभु के सम्मुख दर्पण लिये चल रहे थे। लान्तकेन्द्र पूर्ण-कलश लिये, शुक्रेन्द्र हाथ में स्वस्तिक धारण

---

१ सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्।

२ नेमिर्जगत्त्रयोत्कृष्टः कोऽन्यस्तत्सदृशो वरः।
सदृशो वास्तु किं तेन, कन्यादानं सकृत् खलु ॥२३१॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, प० ८, सर्ग ६]

किये हुए और सहस्रार धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ाये हुए प्रभु के आगे चल रहे थे। प्राणतेन्द्र श्रीवत्स, अच्युतेन्द्र, नन्द्यावर्त और चमरादि शेष इन्द्र विविध शस्त्र लिये साथ थे। भगवान् नेमि को दशों दशार्ह, मातृवर्ग और कृष्ण-बलराम आदि चारों ओर से घेरे हुए चल रहे थे।

इस प्रकार भगवान् नेमि के निष्क्रमणोत्सव का वह विशाल जन-समूह राजपथ से होता हुआ जब राजीमती के प्रासाद के पास पहुँचा तो एक वर्ष पुराना राजीमती का शोक भगवान् नेमिनाथ को देख कर तत्काल नवीन हो गया और वह मूच्छित होकर गिर पड़ी।

देवों और मानवों के जन-सागर से घिरे हुए नेमिनाथ उज्जयंत पर्वत के परम रमणीय सहस्राम्र उद्यान में पहुंचे और वहां अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतर कर उन्होंने अपने सब आभरण उतार दिये। इन्द्र ने प्रभु द्वारा उतारे गये वे सब आभूषण श्रीकृष्ण को अर्पित किये। ३०० वर्ष गृहस्थ-पर्याय में रह कर श्रावण शुक्ला ६ के दिन पूर्वाह्न में चन्द्र के साथ चित्रा नक्षत्र के योग में तेले की तपस्या से प्रभु नेमिनाथ ने सुगन्धियों से सुवासित कोमल आकुंचित केसों का स्वयमेव पंचमुष्टि लुञ्चन किया।[1] शक्र ने प्रभु के केसों को अपने उत्तरीय में लेकर तत्काल क्षीर समुद्र में प्रवाहित किया। जब लुञ्चन कर प्रभु ने सिद्ध-साक्षी से संपूर्ण सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण किया, तब इन्द्र-आज्ञा से देवों एवं मानवों का सारा समुदाय पूर्ण शान्त-निस्तब्ध हो गया।

प्रभु ने १००० पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय क्षण भर के लिये नारकीय जीवों को भी सुख प्राप्त हुआ। दीक्षा ग्रहण करते ही प्रभु को मनःपर्यव नामक चौथा ज्ञान भी हो गया।

अरिष्टनेमि के दीक्षित होने पर वासुदेव श्रीकृष्ण ने आन्तरिक उद्गार अभिव्यक्त करते हुए कहा—"हे दमीश्वर! आप शीघ्र ही अपने ईप्सित मनोरथ को प्राप्त करें। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र, तप, शान्ति और मुक्ति के मार्ग पर निरंतर आगे बढ़ते रहें।"[2]

प्रभु द्वारा मुनि-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् समस्त देव और देवेन्द्र, दशों दशार्ह, बलराम-कृष्ण आदि प्रभु अरिष्टनेमि को वन्दन कर अपने-अपने स्थान को लौट गये।

---

१ अह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउयकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥२४　　[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

२ वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइन्दियं।
इच्छियमणोरहं तुरियं, पावसु तं दमीसरा ॥२५॥　　[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

इतना सुनते ही राजीमती क्रुद्धा वाघिनी की तरह अपनी सखियों पर गरज पड़ी—"हमारे निष्कलंक कुल पर काला धव्वा लगाने जैसी तुम यह कैसी वात करती हो ? मेरे प्राणनाथ नेमि तीनों लोक में सर्वोत्कृष्ट नररत्न हैं, भला वताओ तो सही, कोई है ऐसा जो उनकी तुलना कर सके ? क्षण भर के लिए मानलो अगर कोई है भी, तो मुझे उससे क्या प्रयोजन, कन्या एक वार ही दी जाती है ।"[१]

"वृष्णि कुमारों में से उनका ही मैंने अपने मन और वचन से वरण किया है, और अपने गुरुजनों द्वारा भी उन्हें दी जा चुकी हूं, अतः मैं तो अपने प्रियतम नेमिकुमार की पत्नी हो चुकी । तीनों लोकवासियों में सर्वश्रेष्ठ मेरे उस वर ने आज मेरे साथ विवाह नहीं किया है तो मैं भी आज से सव प्रकार के भोगों को तिलाञ्जलि देती हूं । उन्होंने यद्यपि विवाह-विधि से मेरे कर का स्पर्श नहीं किया है पर मुझे व्रतदान देने में तो उनकी वाणी अवश्यमेव मेरे अन्तस्तल का स्पर्श करेगी ।"

इस तरह काम-भोग के त्याग एवं व्रत-ग्रहण की दृढ़ प्रतिज्ञा से सहेलियों को चुप कर राजीमती अहर्निश भगवान् नेमिनाथ के ही ध्यान में निमग्न रहने लगी ।

इधर भगवान् नेमिनाथ प्रतिदिन दान देते हुए अनेक रंकों को राव बना रहे थे । उन्हें अपने विशिष्ट ज्ञान और लोगों के मुख से राजीमती द्वारा की गई भोग-परित्याग की प्रतिज्ञा का पता चल गया था, फिर भी वे पूर्णरूपेण ममत्व से निर्लिप्त रहे ।

निष्क्रमणोत्सव एवं दीक्षा

वार्षिक दान सम्पन्न होने के पश्चात् मानवों, मानवेन्द्रों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भगवान् का निष्क्रमणोत्सव बड़े आनन्द और अलौकिक ठाठ-बाट के साथ सम्पन्न किया गया । उत्तरकुरु नाम की रत्नमयी शिबिका पर भगवान नेमिनाथ आरूढ़ हुए । निष्क्रमणोत्सव में देवों का सहयोग इस प्रकार बताया है—उस पालकी को देवताओं और राजा-महाराजाओं ने उठाया । सनत्कुमारेन्द्र प्रभु पर दिव्य छत्र किये हुए थे । शक्र और ईशानेन्द्र प्रभु के सम्मुख चँवर-व्यजन कर रहे थे । माहेन्द्र हाथ में नग्न खड्ग धारण किये और ब्रह्मेन्द्र प्रभु के सम्मुख दर्पण लिये चल रहे थे । लान्तकेन्द्र पूर्ण-कलश लिये, शुक्रेन्द्र हाथ में स्वस्तिक धारण

---

१ सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ।

२ नेमिर्जगत्त्रयोत्कृष्टः कोऽन्यस्तत्सदृशो वरः ।
सदृशो वास्तु किं तेन, कन्यादानं सकृत् खलु ॥२३१॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, प० ८, सर्ग ६]

किये हुए और सहस्रार धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण चढ़ाये हुए प्रभु के आगे चल रहे थे। प्राणतेन्द्र श्रीवत्स, अच्युतेन्द्र, नन्द्यावर्त और चमरादि शेष इन्द्र विविध शस्त्र लिये साथ थे। भगवान् नेमि को दशों दशार्ह, मातृवर्ग और कृष्ण-बलराम आदि चारों ओर से घेरे हुए चल रहे थे।

इस प्रकार भगवान् नेमि के निष्क्रमणोत्सव का वह विशाल जन-समूह राजपथ से होता हुआ जब राजीमती के प्रासाद के पास पहुँचा तो एक वर्ष पुराना राजीमती का शोक भगवान् नेमिनाथ को देख कर तत्काल नवीन हो गया और वह मूच्छित होकर गिर पड़ी।

देवों और मानवों के जन-सागर से घिरे हुए नेमिनाथ उज्जयंत पर्वत के परम रमणीय सहस्राम्र उद्यान में पहुंचे और वहां अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतर कर उन्होंने अपने सब आभरण उतार दिये। इन्द्र ने प्रभु द्वारा उतारे गये वे सब आभूषण श्रीकृष्ण को अर्पित किये। ३०० वर्ष गृहस्थ-पर्याय में रह कर श्रावण शुक्ला ६ के दिन पूर्वाह्न में चन्द्र के साथ चित्रा नक्षत्र के योग में तेले की तपस्या से प्रभु नेमिनाथ ने सुगन्धियों से सुवासित कोमल आकुंचित केसों का स्वयमेव पंचमुष्टि लुञ्चन किया।[1] शक्र ने प्रभु के केसों को अपने उत्तरीय में लेकर तत्काल क्षीर समुद्र में प्रवाहित किया। जब लुञ्चन कर प्रभु ने सिद्ध-साक्षी से संपूर्ण सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण किया, तब इन्द्र-आज्ञा से देवों एवं मानवों का सारा समुदाय पूर्ण शान्त-निस्तब्ध हो गया।

प्रभु ने १००० पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय क्षण भर के लिये नारकीय जीवों को भी सुख प्राप्त हुआ। दीक्षा ग्रहण करते ही प्रभु को मनःपर्यव नामक चौथा ज्ञान भी हो गया।

अरिष्टनेमि के दीक्षित होने पर वासुदेव श्रीकृष्ण ने आन्तरिक उद्गार अभिव्यक्त करते हुए कहा—"हे दमीश्वर! आप शीघ्र ही अपने ईप्सित मनोरथ को प्राप्त करें। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र, तप, शान्ति और मुक्ति के मार्ग पर निरंतर आगे बढ़ते रहें।"[2]

प्रभु द्वारा मुनि-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् समस्त देव और देवेन्द्र, दशों दशार्ह, बलराम-कृष्ण आदि प्रभु अरिष्टनेमि को वन्दन कर अपने-अपने स्थान को लौट गये।

---

१ अह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउयकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥२४ [उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

२ वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइन्दियं।
इच्छियमणोरहं तुरियं, पावसु तं दमीसरा ॥२५॥ [उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

पारणा

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रभु नेमिनाथ ने सहस्राम्रवन-उद्यान से निकल कर 'गोष्ठ' में 'वरदत्त' नामक ब्राह्मण के यहां अष्टम-तप का परमान्न से पारण किया। "अहो दानं, अहो दानम्" की दिव्य ध्वनि के साथ देवताओं ने दुन्दुभि बजाई, सुगन्धित जल, पुष्प, दिव्य-वस्त्र और सोनैयों की वर्षा, इस तरह पाँच दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने अपने घातिक कर्मों का क्षय करने के दृढ़ संकल्प के साथ कठोर तप और संयम की साधना प्रारम्भ की और वहाँ से अन्य स्थान के लिए विहार कर दिया।

रथनेमि का राजीमती के प्रति मोह

अरिष्टनेमि के तोरण से लौट जाने पर भगवान् नेमिनाथ का छोटा भाई रथनेमि राजीमती को देखकर उस पर मोहित हो गया और वह नित्य नई, सुन्दर वस्तुओं की भेंट लेकर राजीमती के पास जाने लगा। रथनेमि के मनोगत कलुषित भावों को नहीं जानते हुए राजीमती ने यही समझ कर निषेध नहीं किया—कि "भ्रातृ-स्नेह के कारण मेरे लिए देवर आदर से भेंट लाता है, तो मुझे भी इनका मान रखने के लिए इन वस्तुओं को ग्रहण कर लेना चाहिए।"

उन सौगातों की स्वीकृति का अर्थ रथनेमि ने यह समझा कि उस पर अनुराग होने के कारण ही राजीमती उसके हर उपहार को स्वीकार करती है। इस प्रकार उसकी दुराशा बलवती होने लगी और वह क्षुद्रबुद्धि प्रतिदिन राजीमती के घर जाने लगा। भावज होने के कारण वह रथनेमि के साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार करती।

एक दिन एकान्त पा रथनेमि ने राजीमती से कहा—"मुग्धे! मैं तुम्हारे साथ विवाह करना चाहता हूं। इस अनुपम अमूल्य यौवन को व्यर्थ ही बरबाद मत करो। मेरे भैया भोगसुख से नितान्त अनभिज्ञ थे, इसी कारण उन्होंने आप जैसी परम सुकुमार सुन्दरी का परित्याग कर दिया। खैर, जाने दो उस बात को। उनके द्वारा परित्याग करने से तुम्हारा क्या बिगड़ा, वे ही घाटे में रहे कि भोगजन्य सुखों से पूर्णरूपेण वंचित हो गये। उनमें और मुझमें नभ-पाताल जितना अन्तर है। एक ओर तो वे इतने अरसिक कि तुम्हारे द्वारा प्रार्थना करने पर भी उन्होंने तुम्हारे साथ विवाह नहीं किया, दूसरी ओर मेरी गुणग्राहकता पर गम्भीरता से विचार करो कि मैं स्वयं तुम्हें अपनी प्राणेश्वरी, चिरप्रेयसी बनाने के लिए तुम्हारे सम्मुख प्रार्थना कर रहा हूं।"[1]

---

१ प्रार्थ्यमानोऽपि नाभूत्ते, स वरो वरवर्णिनि।
अहं प्रार्थयमानस्त्वामस्मि पश्यान्तरं महत् ॥२६४॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, सर्ग ९]

रथनेमि की बात सुनकर राजीमती के हृदय पर बड़ा आघात लगा। क्षण भर के लिए वह अवाक् सी रह गई। उस सरल स्वभाव वाली विशुद्धहृदया राजीमती की समझ में अब आया कि वे सारे उपहार इस हीन भावना से ही भेंट किये गये थे। धर्मनिष्ठा राजीमती ने रथनेमि को अनेक प्रकार से समझाया कि यशस्वी हरिवंशीय कुमार के मन में इस प्रकार के हीन विचारों का आना लज्जास्पद है, पर उस भ्रष्ट-बुद्धि रथनेमि पर राजीमती के समझाने का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने अपनी दुरभिलाषा को इसलिए नहीं छोड़ा कि निरन्तर के प्रेमपूर्ण व्यवहार से एक न एक दिन वह राजीमती को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो सकेगा। इस प्रकार की आशा लिए उस दिन रथनेमि राजीमती से यह कह कर चला गया कि वह कल फिर आयेगा।

रथनेमि के चले जाने पर राजीमती सोचने लगी कि यह संसार का कुटिल काम-व्यापार कितना घृणित है। कामान्ध और पथभ्रष्ट रथनेमि को सही राह पर लाने के लिए कोई न कोई प्रभावोत्पादक उपाय किया जाना चाहिए। वह बड़ी देर तक विचारमग्न रही और अन्त में उसने एक अद्भुत उपाय ढूंढ ही निकाला।

राजीमती ने दूसरे दिन रथनेमि के अपने यहां आने से पहले ही भरपेट दूध पिया और उसके आने के पश्चात् वमनकारक मदनफल को नासा-रन्ध्रों से छूकर सूंघा और रथनेमि ने कहा कि शीघ्र ही एक स्वर्ण-थाल ले आओ। रथनेमि ने तत्काल राजीमती के सामने सुन्दर स्वर्ण पात्र रख दिया। राजीमती ने पहले पिये हुए दूध का उस स्वर्ण-पात्र में वमन कर दिया और रथनेमि से गम्भीर दृढ़ स्वर में कहा—"देवर! इस दूध को पी जाओ।"

रथनेमि ने हकलाते हुए कहा—"क्या मुझे कुत्ता समझ रखा है, जो इस वमन किये हुए दूध को पीने के लिए कह रही हो?"

राजीमती ने जिज्ञासा के स्वर में कहा—"रथनेमि! क्या तुम भी जानते हो कि यह वमन किया हुआ दूध पीने योग्य नहीं है?"

रथनेमि ने उत्तर दिया—"वाह खूब! केवल मैं ही क्या, मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी वमन की हुई हर वस्तु को अग्राह्य, अपेय एवं अभक्ष्य जानता और मानता है।"

राजीमती ने कठोर स्वर में कहा—"अरे रथनेमि! यदि तुम यह जानते हो कि वमन की हुई वस्तु अपेय और अभोग्य है—खाने-पीने और उपभोग करने योग्य नहीं है, तो फिर मेरा उपभोग करना क्यों चाहते हो? मैं भी तो वमन की हुई हूँ। उन महान् अलौकिक पुरुष के भाई होकर भी तुम्हें अपनी इस

घृणित इच्छा के लिए लज्जा नहीं आती? सावधान! भविष्य में कभी ऐसी गर्हित-घृणित और नारकीय आयु का बन्ध करने वाली बात मुंह से न निकालना।[१]"

राजीमती की इस युक्तिपूर्ण फटकार से रथनेमि बड़ा लज्जित हुआ। उसके मुंह से एक भी शब्द नहीं निकल सका। उसके सारे कलुषित मनोरथ मिट्टी में मिल गये और वह उन्मना हो अपना-सा मुंह लिए अपने घर लौट गया। उसने फिर कभी राजीमती के प्रासाद की ओर मुंह करने का भी साहस नहीं किया।

कुछ समय पश्चात् रथनेमि विरक्त हुए और दीक्षित होकर भगवान् नेमिनाथ की सेवा में रेवताचल की ओर निकल पड़े।

केवलज्ञान

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् चौवन (५४) दिन तक विविध प्रकार के तप करते हुए प्रभु उज्जयंतगिरि-रेवतगिरि पधारे और वहीं अष्टम-तप से ध्यानस्थ हो गये। एक रात्रि की प्रतिमा से शुक्ल-ध्यान की अग्नि में मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि घाति-कर्मों का क्षय कर आश्विन कृष्णा अमावस्या को पूर्वाह्न काल में, चित्रा नक्षत्र के योग में उन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

समवसरण और प्रथम देशना

भगवान् अरिष्टनेमि को केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही देवेन्द्रों के आसन चलायमान हुए। देवेन्द्र तत्क्षण अपने देव-देवी-समाज के साथ रैवतक पर्वत पर सहस्राम्र वन में आये और भगवान् के चरणों में भक्तिसहित वन्दन कर उन्होंने अनुपम समवसरण की रचना की। उस समय सारा रेवताचल देव-देवियों की कमनीय कान्ति से जगमगा उठा। वहां के रक्षक यह सब अदृष्टपूर्व दृश्य देखकर बड़े विस्मित हुए और तत्क्षण कृष्ण के पास जाकर उन्हें अरिष्टनेमि के समवसरण एवं देव-देवियों के आगमन का सारा हाल कह सुनाया।

श्रीकृष्ण ने परम प्रसन्न हो उन रक्षक पुरुषों को साढ़े बारह करोड़ रौप्य मुद्राओं (रुपयों) का पारितोषिक प्रदान कर भगवान् नेमिनाथ के प्रति अपनी अपूर्व श्रद्धा और निष्ठा का परिचय दिया।

---

१ तस्य भ्रातापि भूत्वा त्वं, कथमेवं चिकीर्षसि।
मातः परमिदं वारीर्नरकायुर्निबन्धनम् ॥२७२॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, स० ६]

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ़ हो दशों दशार्हों, शिवा, रोहिणी और देवकी आदि माताओं तथा बलभद्र आदि भाइयों, एक करोड़ यादव कुमारों एवं समस्त अन्तःपुर और सोलह हजार राजाओं के साथ अर्द्धचक्री की समस्त समृद्धि से सुशोभित हो भगवान् नेमिनाथ के समवसरण की ओर चल पड़े। समवसरण को देखते ही श्रीकृष्ण आदि अपने-२ वाहनों से उतर पड़े और राजचिह्नों को वहीं रखकर सबने समवसरण के उत्तर द्वार से भीतर प्रवेश किया। अष्ट महाप्रातिहार्यों से सुशोभित प्रभु एक अलौकिक स्फटिक सिंहासन पर पूर्वाभिमुख विराजमान थे। प्रभु का मुखारविन्द तीर्थंकर के विशिष्ट अतिशयों के कारण चारों ही दिशाओं में यथावत् समान रूप से दिख रहा था।

प्रभु की प्रदक्षिणा और भक्तिसहित विधिवत् वन्दना के पश्चात् श्रीकृष्ण और अन्य सब यथास्थान बैठ गये।

इन्द्र और श्रीकृष्ण ने बड़े भक्तिभाव से प्रभु की स्तुति की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने सबकी समझ में आने वाली भाषा में भव्यों के अज्ञान-तिमिर का विनाश कर ज्ञान का परम प्रकाश प्रकट करने वाली देशना दी।

तीर्थ-स्थापना

प्रभु की ज्ञान-विरागपूर्ण देशना सुन कर सर्वप्रथम 'वरदत्त' नामक नृपति ने संसार से विरक्त हो तत्क्षण प्रभु-चरणों में दीक्षित होने की प्रार्थना की। भगवान् नेमिनाथ ने भी योग्य समझ कर वरदत्त को दीक्षा दी।

उसी समय श्रीकृष्ण ने नमस्कार कर प्रभु से पूछा—"प्रभो! यों तो प्रत्येक प्राणी का आपके प्रति अनुराग है, पर राजीमती का आपके प्रति सबसे अधिक अनुराग क्यों है?"

उत्तर में प्रभु ने राजीमती के साथ अपने पूर्व के आठ भवों के सम्बन्धों का विवरण सुनाया। पूर्वभव के इस वृत्तान्त को सुन कर तीन राजाओं को जो समवसरण में आये हुए थे और पूर्वभवों में प्रभु के साथ रहे थे, तत्क्षण जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और उन्होंने उसी समय प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। और भी अनेक मुमुक्षुओं ने प्रभु-चरणों में दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार प्रभु के उपदेश को सुन कर विरक्त हुए दो हजार क्षत्रियों ने वरदत्त के पश्चात् उसी समय प्रभु की सेवा में दीक्षा ग्रहण की। उन २००१ सद्यःदीक्षित साधुओं में से वरदत्त आदि ग्यारह (११) मुनियों को प्रभु ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान देकर गणधर-पदों पर नियुक्त किया। त्रिपदी के आधार पर उन मुनियों ने बारह अंगों की रचना की और गणधर कहलाये।

उसी समय यक्षिणी आदि अनेक राजपुत्रियों ने भी प्रभु-चरणों में दीक्षा ग्रहण की। प्रभु ने यक्षिणी आर्या को श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया।

दशों दशार्हों, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलभद्र व प्रद्युम्न आदि ने प्रभु से श्रावक-धर्म स्वीकार किया।[1]

महारानी शिवादेवी, रोहिणी, देवकी और रुक्मिणी आदि अनेक महिलाओं ने प्रभु के पास श्राविका-धर्म स्वीकार किया।[2]

इस प्रकार प्रभु ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और तीर्थ-स्थापना के कारण प्रभु अरिष्टनेमि भाव-तीर्थंकर कहलाये।

राजीमती की प्रव्रज्या

उधर राजीमती अपने तन-मन की सुधि भूले रात-दिन नेमिनाथ के चिंतन में ही डूबी रहने लगी। अपने प्रियतम के विरह में उसे एक-एक दिन एक-एक वर्ष के समान लम्बा लगता था।

बारह मास तक अपलक प्रतीक्षा के बाद जब राजीमती ने भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या की बात सुनी तो हर्ष और आनन्द से रहित होकर स्तब्ध हो गई।[3] वह सोचने लगी—"धिक्कार है मेरे जीवन को, जो मैं प्राणनाथ नेमिनाथ के द्वारा ठुकराई गई हूँ। अब तो उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करना मेरे लिए श्रेयस्कर है। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की है तो अब मेरे लिए भी प्रव्रज्या ही हितकारी है।"

किसी तरह माता-पिता की अनुमति लेकर उसने प्रव्रज्या का निश्चय किया एवं अपने सुन्दर-श्यामल बालों का स्वयमेव लुंचन कर धैर्य एवं दृढ़ निश्चय के साथ वह संयम-मार्ग पर बढ़ चली। लुंचित केश वाली जितेन्द्रिया सुकुमारी राजीमती से वासुदेव श्रीकृष्ण आशीर्वचन के रूप में बोले—"हे कन्ये! जिस लक्ष्य से दीक्षित हो रही हो, उसकी सफलता के लिए घोर संसार-सागर

---

१ दशार्हा उग्रसेनश्च, वासुदेवश्च लांगली।
प्रद्युम्नाद्याः कुमाराश्च, श्रावकत्वं प्रपेदिरे ॥३७८॥

२ शिवा रोहिणीदेवक्यो, रुक्मिण्याद्याश्च योषितः।
जगृहुः श्राविका-धर्ममन्याश्च स्वामिसन्निधौ ॥३७९॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ९]

३ सोऊण रायवरकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
णीहासा य णिराणन्दा, सोगेण उ समुत्थिया ॥ [उत्तराध्ययन अ० २२, श्लो० २८]

को शीघ्रातिशीघ्र पार करना ।[1] राजीमती ने दीक्षित होकर बहुत सी राजकुमारियों एवं अन्य सखियों को भी दीक्षा प्रदान की । शीलवती होने के साथ-साथ नेमिनाथ के प्रति धर्मानुराग से अभ्यास करते हुए राजीमती बहुश्रुता भी हो गई थीं ।

भगवान् नेमिनाथ को चौवन दिन के छद्मस्थकाल के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे रेवताचल पर विराजमान थे, अतः साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए रेवतगिरि की ओर चल पड़ीं । अकस्मात् आकाश में उमड़-घुमड़ कर घटाएँ घिर आईं और वर्षा होने लगी, जिससे मार्गस्थ साध्वियां भीग गईं । वर्षा से बचने के लिए सब साध्वियाँ इधर-उधर गुफाओं में चल गईं । राजीमती भी पास की एक गुफा में पहुँची, जिसे आज भी लोग राजीमती-गुफा कहते हैं । उसको यह ज्ञात नहीं था कि इस गुफा में पहले से ही रथनेमि बैठे हुए हैं । उसने अपने भीगे कपड़े उतार कर सुखाने के लिए फैलाये ।

रथनेमि का आकर्षण

नग्नावस्था में राजीमती को देख कर रथनेमि का मन विचलित हो उठा । उधर राजीमती ने रथनेमि को सामने ही खड़े देखा तो वह सहसा भयभीत हो गई । उसको भयभीत और काँपती हुई देख कर रथनेमि बोले—"हे भद्रे ! मैं वही तेरा अनन्योपासक रथनेमि हूँ । हे सुरूपे ! मुझे अब भी स्वीकार करो । हे चारुलोचने ! तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा । संयोग से ऐसा सुअवसर हाथ आया है । आओ, जरा इन्द्रिय-सुखों का भोग करलें । मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है । अतः भुक्तभोगी होकर फिर जिनराज के मार्ग का अनुसरण करेंगे ।

रथनेमि को इस प्रकार भग्नचित्त और मोह से पथभ्रष्ट होते देख कर राजीमती ने निर्भय होकर अपने आपका संवरण किया और नियमों में सुस्थिर होकर कुल-जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए वह बोली—"रथनेमि ! तुम तो साधारण पुरुष हो, यदि रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता में नलकूवर तथा साक्षात् इन्द्र भी आ जायँ तो भी मैं उन्हें नहीं चाहूँगी, क्योंकि हम कुलवती हैं । नाग जाति में अगंधन कुल के सर्प होते हैं, जो जलती हुई आग में गिरना स्वीकार करते हैं, किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापिस नहीं लेते । फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयों को फिर से ग्रहण करोगे ? तुम्हें इस विपरीत मार्ग पर चलते लज्जा नहीं आती ? रथनेमि तुम्हें धिक्कार है । इस प्रकार अंगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है ।"[2]

---

१ संसार सायरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं । [उ० सू०, अ० २२]

२ धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेडं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

[दशवैकालिक सूत्र, अ० २] उत्त० २२

राजीमती की इस प्रकार हितभरी ललकार और फटकार सुन कर अंकुश से उन्मत्त हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म में स्थिर हो गया। उन्होंने भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में पहुँच कर, आलोचन-प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मशुद्धि की और कठोर तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि में कर्मसमूह को काष्ठ के ढेर की तरह भस्मसात् कर वे शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गये। राजीमती ने भी भगवच्चरणों में पहुँच कर वंदन किया और तप-संयम का साधन करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन

धर्मतीर्थ की स्थापना के पश्चात् भगवान् अरिष्टनेमि भव्यजनों के अन्तर्मन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कुमार्ग पर लगे हुए असंख्य लोगों को धर्म के सत्पथ पर आरूढ़ एवं कनक-कामिनी और प्रभुता के मद में अन्धे बने राजाओं, श्रेष्ठियों और गृहस्थों को परमार्थ-साधना के अमृतमय उपदेश से मद-विहीन करते हुए कुसट्ट, आनर्त, कलिंग आदि अनेक जनपदों में विचरण कर भद्दिलपुर नगर में पधारे।

भद्दिलपुर में भगवान् की भवभयहारिणी अमोघ देशना को सुनकर देवकी के ६ पुत्र अनीक सेन, अजित सेन, अनिहत रिपु, देवसेन, शत्रुसेन और सारण ने, जो सुलसा गाथापत्नी के द्वारा पुत्र रूप में बड़े लाड़-प्यार से पाले गये थे, विरक्त हो भगवान् के चरणों में श्रमणदीक्षा ग्रहण की। इनका प्रत्येक का बत्तीस २ इभ्य कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया गया था। वैभव का इनके पास कोई पार नहीं था[1] पर भगवान् नेमिनाथ की देशना सुन कर ये विरक्त हो गये।

भद्दिलपुर से विहार कर भगवान् अरिष्टनेमि अनेक श्रमणों के साथ द्वारिकापुरी पधारे। भगवान् के समवसरण के समाचार सुनकर श्रीकृष्ण भी अपने समस्त यादव-परिवार और अन्तःपुर आदि के साथ भगवान् के समवसरण में आये। जिस प्रकार गंगा और यमुना नदियाँ बड़े वेग से बढ़ती हुई समुद्र में समा जाती हैं, उसी तरह नर-नारियों की दो धाराओं के रूप में द्वारिकापुरी की सारी प्रजा भगवान् के समवसरण-रूप सागर में कुछ ही क्षणों में समा गई। भगवान् की भवोदधितारिणी वाणी सुन कर अगणित लोगों ने अपने कर्मों के गुरुतर भार को हल्का किया।

अनेक भव्य-भाग्यवान् नर-नारियों ने दीक्षित हो प्रभु के चरणों की शरण ली। अनेक व्यक्ति श्रावक-धर्म स्वीकार कर मुक्ति-पथ के पथिक बने

---

१ अन्तगढ़ दसा वर्ग ३ अ० १ से ६

और भवभ्रमण से विश्रान्त अगणित व्यक्तियों के अन्तर में मिथ्यात्व के निविड़-तम तिमिर को ध्वस्त करने वाले सम्यक्त्व सूर्य का उदय हुआ।

धर्म-परिषद् में आये हुए श्रोताओं के देशनानन्तर यथास्थान चले जाने के पश्चात् छट्ठ २ भक्त की निरन्तर तपस्या के कारण कृशकाय वे अनीकसेन आदि छहों मुनि अर्हन्त अरिष्टनेमि की अनुमति लेकर दो दिन के—छट्ठ तप के पारण हेतु दो-दो के संघाटक से, भिक्षार्थ द्वारिकापुरी की ओर अग्रसर हुए।

इन मुनियों का प्रथम युगल विभिन्न कुलों में मधुकरी करता हुआ देवकी के प्रासाद में पहुँचा। राजहंसों के समान उन मुनियों को देखते ही देवकी ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और प्रेमपूर्वक विशुद्ध एषणीय आहार की भिक्षा दी। भिक्षा ग्रहण कर मुनि वहाँ से लौट पड़े।

मुनि-युगल की सौम्य आकृति, सदृश-वय, कान्ति और चाल-ढाल को परीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि से देखकर देवकी ने रोहिणी से कहा—"दीदी! देखो, देखो, इस वय में दुष्कर कठोर तपस्या से शुष्क एवं कृशकाय इन युवा-मुनियों को! इनका रूप, सौन्दर्य, लावण्य और सहज प्रफुल्लित मुखड़ा कितना अद्भुत है? दीदी! वह देखो, इनके सुकुमार तन पर कृष्ण के समान ही श्रीवत्स का चिह्न दिखाई दे रहा है।"

देवकी ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए शोकातिरेक से अवरुद्ध करुण स्वर में कहा—"दीदी! दैव दुर्विपाक से यदि विना कारण शत्रु कंस ने मेरे छह पुत्रों को नहीं मारा होता तो वे भी आज इन मुनियों के समान वय और वपु वाले होते। धन्य है वह माता, जिसके ये लाल हैं।"

देवकी के नयनों से अनवरत अश्रुधाराएँ बह रहीं थीं।

देवकी का अन्तिम वाक्य पूरा ही नहीं हो पाया था कि उसने मुनि-युगल के दूसरे संघाटक को आते देखा। यह मुनि-युगल भी दिखने में पूर्णरूपेण प्रथम मुनि-युगल के समान था। इस संघाटक ने भी कृतप्रणामा देवकी से भिक्षा की याचना की। वही पहले के मुनियों का सा कण्ठ-स्वर देवकी के कर्णरन्ध्रों में गूँज उठा। वही नपे-तुले शब्द और वही कण्ठ-स्वर।

देवकी ने मन ही मन यह सोचते हुए कि पहले जो भिक्षा में इन्हें दिया गया, वह इनके लिए पर्याप्त नहीं होगा, इसलिए पुनः लौटे हैं, उसने बड़े आदर और हर्षोल्लास से मुनियों को पुनः प्रतिलाभ दिया। दोनों साधु भिक्षा लेकर चले गये।

उन दोनों साधुओं के जाने पर संयोगवश छोटे बड़े कुलों में मधुकरी के लिए घूमता हुआ तीसरा मुनि-संघाटक भी देवकी के यहाँ जा पहुँचा। यह युगल-जोड़ी भी पूर्ण रूप से भिक्षार्थ पहले आये हुए दोनों संघाटकों के मुनि-युगल से मिलती-जुलती थी। देवकी ने पूर्ण श्रद्धा, सम्मान और भक्ति के साथ तृतीय संघाटक को भी विशुद्ध भाव से भिक्षा दी। अन्तगड़ दशा सूत्र के एतद्विषयक विशद वर्णन में बताया गया है कि उस संघाटक को देवकी ने पूर्ण सम्मान और बड़े प्रेम से भिक्षा दी। मुनियों को भिक्षा देने के कारण देवकी का अन्तर्मन असीम आनन्द का अनुभव करते हुए इतना पुलकित हो उठा था कि वह स्नेहातिरेक और परा भक्ति के उद्रेक से अपने आपको सँभाल भी नहीं पा रही थी। फिर भी अन्तर में उठे हुए एक कुतूहल और सन्देह का निवारण करते हेतु हर्षाश्रुओं से मुनि-युगल की ओर देखते हुए उसने कहा—"भगवन्! मन्दभाग्य वाले लोगों के आँगन में आप जैसे महान् त्यागियों के चरण-कमल दुर्लभ हैं। मेरा अहोभाग्य है कि आपने अपने पावन चरण-कमलों से इस आँगन को पवित्र किया, पर मेरी शंका है कि द्वारिका में हजारों गुणानुरागी, सन्तसेवी कुलों को छोड़कर आप मेरे यहाँ तीन बार कैसे पधारे?"

देवकी देवी द्वारा इस प्रकार का प्रश्न पूछे जाने पर वे मुनि उससे इस प्रकार बोले—"हे देवानुप्रिये! ऐसी बात तो नहीं है कि कृष्ण वासुदेव की यावत् प्रत्यक्ष स्वर्ग के समान, इस द्वारिका नगरी में श्रमण निर्ग्रन्थ उच्च-नीच-मध्यम कुलों में यावत् भ्रमण करते हुए आहार-पानी प्राप्त नहीं करते और न मुनि लोग भी आहार-पानी के लिए उन एक बार स्पृष्ट कुलों में दूसरी-तीसरी बार जाते हैं।

वास्तव में बात इस प्रकार है—"हे देवानुप्रिये! भद्दिलपुर नगर में हम नाग गाथापति के पुत्र और नाग की सुलसा भार्या के आत्मज छै सहोदर भाई हैं, पूर्णतः समान आकृति वाले यावत् नलकुबेर के समान। हम छहों भाइयों ने अरिहन्त अरिष्टनेमि के पास धर्म उपदेश सुनकर और उसे धारण करके संसार के भय से उद्विग्न एवं जन्म-मरण से भयभीत हो मुण्डित होकर यावत् श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर हमने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की थी, उसी दिन अरिहन्त अरिष्टनेमि को वंदन-नमन किया और वंदन नमस्कार कर इस प्रकार का यह अभिग्रह धारण करने की आज्ञा चाही—"हे भगवन्! आपकी अनुज्ञा पाकर हम जीवन पर्यन्त वेले-वेले की तपस्या पूर्वक अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरना चाहते हैं।"

यावत् प्रभु ने कहा—"देवानुप्रियो! जिससे तुम्हें सुख हो वैसा ही करो, प्रमाद न करो।"

उसके बाद अरिहन्त अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त होने पर हम जीवन भर के लिए निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करते हुए विचरण करने लगे।

इस प्रकार आज हम छहों भाई—बेले की तपस्या के पारण के दिन प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करने के पश्चात्—प्रभु अरिष्टनेमि की आज्ञा प्राप्त कर यावत् तीन संघाटकों में भिक्षार्थ उच्च-मध्यम एवं निम्न कुलों में भ्रमण करते हुए तुम्हारे घर आ पहुँचे हैं। अतः हे देवानुप्रिये ! ऐसी बात नहीं है कि पहले दो संघाटकों में जो मुनि तुम्हारे यहाँ आये थे वे हम ही हैं। वस्तुतः हम दूसरे हैं।"

उन मुनियों ने देवकी देवी को इस प्रकार कहा और यह कहकर वे जिस दिशा से आये थे उसी दिशा की ओर चले गये। इस प्रकार की बात कह कर मुनियों के लौट जाने के पश्चात् उस देवकी देवी को इस प्रकार का विचार यावत् चिन्तापूर्ण अध्यवसाय उत्पन्न हुआ :—

"पोलासपुर नगर में अतिमुक्त कुमार नामक श्रमण ने मेरे समक्ष बचपन में इस प्रकार भविष्यवाणी की थी कि हे देवानुप्रिये देवकी ! तुम परस्पर पूर्णतः समान आठ पुत्रों को जन्म दोगी, जो नलकूबर के समान होंगे। भरतक्षेत्र में दूसरी कोई माता वैसे पुत्रों को जन्म नहीं देगी।"

पर यह भविष्यवाणी मिथ्या सिद्ध हुई। क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही दिख रहा है कि भरतक्षेत्र में अन्य माताओं ने भी सुनिश्चित रूपेण ऐसे पुत्रों को जन्म दिया है। मुनि की बात मिथ्या नहीं होनी चाहिये, फिर यह प्रत्यक्ष में उससे विपरीत क्यों ? ऐसी स्थिति में मैं अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान् की सेवा में जाऊँ, उन्हें वंदन नमस्कार करूँ और वंदन नमस्कार करके इस प्रकार के कथन के विषय में प्रभु से पूछूं, इस प्रकार सोचा। ऐसा सोचकर देवकी देवी ने आज्ञाकारी पुरुषों को बुलाया और बुलाकर ऐसा कहा—"लघु कर्ण वाले (शीघ्रगामी) श्रेष्ठ आँखों से युक्त रथ को उपस्थित करो।" आज्ञाकारी पुरुषों ने रथ उपस्थित किया। देवकी महारानी उस रथ में बैठकर यावत् प्रभु के समवसरण में उपस्थित हुई और देवानन्दा द्वारा जिस प्रकार भगवान् महावीर की पर्युपासना किये जाने का वर्णन है, उसी प्रकार महारानी देवकी भगवान् अरिष्टनेमि की यावत् पर्युपासना करने लगी।

तदनन्तर अर्हत् अरिष्टनेमि देवकी को सम्बोधित कर इस प्रकार बोले—"हे देवकी ! क्या इन छः साधुओं को देखकर वस्तुतः तुम्हारे मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ कि पोलासपुर नगर में अतिमुक्त कुमार ने तुम्हें आठ अप्रतिम पुत्रों को जन्म देने का जो भविष्य कथन किया था, वह मिथ्या सिद्ध हुआ। उस विषय में पृच्छा करने के लिये तुम यावत् वन्दन को निकली और

निकलकर शीघ्रता से मेरे पास चली आई हो, हे देवकी ! क्या यह बात ठीक है ?"

देवकी ने कहा—"हाँ भगवन् ! ऐसा ही है।" प्रभु की दिव्य ध्वनि प्रस्फुटित हुई—"हे देवानुप्रिये ! उस काल उस समय में भद्दिलपुर नगर में नाग नाम का गाथापति रहा करता था, जो आढ्य (महान् ऋद्धिशाली) था। उस नाग गाथापति की सुलसा नामक पत्नी थी। उस सुलसा गाथापत्नी को बाल्यावस्था में ही किसी निमित्तज्ञ ने कहा—यह बालिका मृतवत्सा यानी मृत बालकों को जन्म देने वाली होगी। तत्पश्चात् वह सुलसा बाल्यकाल से ही हरिणैगमेषी देव की भक्त बन गई।

उसने हरिणैगमेषी देव की मूर्ति बनाई। मूर्ति बना कर प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके यावत् दुःस्वप्न निवारणार्थ प्रायश्चित्त कर गीली साड़ी पहने हुए बहुमूल्य पुष्पों से उसकी अर्चना करती। पुष्पों द्वारा पूजा के पश्चात् घुटने टिकाकर पाँचों अंग नवा कर प्रणाम करती, तदनन्तर आहार करती, निहार करती एवं अपनी दैनन्दिनी के अन्य कार्य करती।

तत्पश्चात् उस सुलसा गाथापत्नी की उस भक्ति-बहुमान पूर्वक की गई सुश्रूषा से देव प्रसन्न हो गया। प्रसन्न होने के पश्चात् हरिणैगमेषी देव सुलसा गाथापत्नी पर अनुकम्पा करने हेतु सुलसा गाथापत्नी को तथा तुम्हें—दोनों को समकाल में ही ऋतुमती (रजस्वला) करता और तब तुम दोनों समकाल में ही गर्भ धारण करतीं, समकाल में ही गर्भ का वहन करतीं और समकाल में ही बालक को जन्म देतीं।

प्रसवकाल में वह सुलसा गाथापत्नी मरे हुए बालक को जन्म देती।

तब वह हरिणैगमेषी देव सुलसा पर अनुकम्पा करने के लिये उसके मृत बालक को दोनों हाथों में लेता और लेकर तुम्हारे पास लाता। इधर उस समय तुम भी नव मास का काल पूर्ण होने पर सुकुमार बालक को जन्म देतीं।

हे देवानुप्रिये ! जो तुम्हारे पुत्र होते उनको भी हरिणैगमेषी देव तुम्हारे पास से अपने दोनों हाथों में ग्रहण करता और उन्हें ग्रहण कर सुलसा गाथापत्नी के पास लाकर रख देता (पहुँचा देता)।

अतः वास्तव में हे देवकी ! ये तुम्हारे पुत्र हैं, सुलसा गाथापत्नी के नहीं हैं। इसके अनन्तर उस देवकी देवी ने अरिहंत अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से इस प्रकार की यह रहस्यपूर्ण बात सुनकर तथा हृदयंगम कर हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रफुल्ल हृदया होकर अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान् को वंदन-नमस्कार किया

और वंदन-नमस्कार करके जहाँ वे छहों मुनि विराजमान थे, वहाँ आई। आकर वह उन छहों मुनियों को वंदन-नमस्कार करने लगी।

उन अनगारों को देखकर पुत्र-प्रेम के कारण उसके स्तनों से दूध झरने लगा। हर्ष के कारण उसकी आँखों में आँसू भर आये एवं अत्यन्त हर्ष के कारण शरीर फूलने से उसकी कंचुकी की कसें टूट गई और भुजाओं के आभूषण तथा हाथ की चूड़ियाँ तंग हो गई। जिस प्रकार वर्षा की धारा के पड़ने से कदम्ब पुष्प एक साथ विकसित हो जाते हैं उसी प्रकार उसके शरीर के सभी रोम पुलकित हो गये। वह उन छहों मुनियों को निर्निमेष दृष्टि से चिरकाल तक निरखती ही रही।

तत्पश्चात् उसने छहों मुनियों को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके जहाँ भगवान् अरिष्टनेमि विराजमान हैं, वहाँ आई और आकर अर्हत् अरिष्टनेमि को तीन बार दक्षिण तरफ से प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया, तदनन्तर उसी धार्मिक श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ हो द्वारिका नगरी की ओर लौट गई।

'चउवन्न महापुरिस चरियं' में इन छहों मुनियों के सम्बन्ध में अन्तगड़ सूत्र के उपरिलिखित विवरण से कतिपय अंशों में भिन्न, किन्तु बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है :—

देवकी ने मुनि-युगल से कहा—"महाराज कृष्ण की देवपुरी सी द्वारिका नगरी में क्या श्रमण निर्ग्रन्थों को अटन करते भिक्षा-लाभ नहीं होता, जिससे उन्हीं कुलों में दूसरी तीसरी बार वे प्रवेश करते हैं ?"

देवकी की बात सुनकर मुनि समझ गये कि उनसे पूर्व उनके चारों भाइयों के दो संघाड़े भी यहाँ आ चुके हैं। उनमें से एक ने कहा—"देवकी ! ऐसी बात नहीं है कि द्वारिका नगरी के विभिन्न कुलों में घूमकर भी भिक्षा नहीं मिलने से हम तीसरी बार तुम्हारे यहाँ भिक्षा को आये हैं। पर सही बात यह है कि हम एक ही माँ के उदर से उत्पन्न हुए छः भाई हैं। शरीर और रूप की समानता से हम सब एक से प्रतीत होते हैं। कंस के द्वारा हम मार दिये जाते किन्तु हरिणैगमेषी देव ने भद्दिलपुर की मृतवत्सा सुलसा गाथापत्नी की भक्ति से प्रसन्न हो, हमें जन्म लेते ही सुलसा के प्रीत्यर्थ तत्काल उसके पुत्रों से बदल दिया[१]। सुलसा ने ही हमें पाल-पोषकर बड़ा किया और हम सब का पाणिग्रहण करवाया। बड़े होकर हमने भगवान् नेमिनाथ के मुखारविन्द से अपने कुल-परिवर्तन का

१ जन्मजात छः पुत्रों के परिवर्तन की बात देवकी को भगवान् अरिष्टनेमि से ज्ञात हुई, इस प्रकार का अन्तगड़ में उल्लेख है।

पूरा वृत्तान्त सुना और एक ही जन्म में दो कुलों में उत्पन्न होने की घटना से हम छहों भाइयों को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई। कर्मों का कैसा विचित्र खेल है? यह संसार असार है और विषयों का अन्तिम परिणाम घोर दुःख हैं—यह सोचकर हम छहों भाइयों ने भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षा ग्रहण करली।"

मुनि की बात समाप्त होते ही महारानी देवकी मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

दासियों द्वारा शीतलोपचार से थोड़ी देर में देवकी फिर सचेत हुई और उस का मातृहृदय सागर की तरह हिलोरें लेने लगा। मुनियों को देखकर उसके स्तनों से दूध की और आँखों से अश्रुओं की धाराएं एक साथ बहने लगीं।

देवकी रोते-रोते अत्यन्त करुण स्वर में कहने लगी—"अहो! ऐसे पुत्र रत्नों को पाकर भी मैं परम अभागिन ही रही जो दुर्दैव ने मुझसे इनको छीन लिया। मेरी पुत्र-प्राप्ति तो बिल्कुल उस अभागे के समान है जो स्वप्न में अमूल्य रत्न प्राप्त कर धन-कुबेर बन जाता है किन्तु जगने पर कंगाल का कंगाल। कितनी दयनीय है मेरी स्थिति कि पहले तो मैं सजल उपजाऊ भूमि के फल-फूलों से लदे सघन सुन्दर तरुवर की तरह खूब फली-फूली, किन्तु असमय में ही ऊसर भूमि की लता के समान ये मेरे अनुपम अमृतफल—मेरे पुत्र मुझसे विलग हो दूर गिर पड़े। परम भाग्यवती है वह नारी, जिसने बाललीला के कारण धूलि-धूसरित इन सलोने शिशुओं के मुखकमल को अगणित बार बड़े प्यार से चूमा है।"

देवकी के इस अन्तस्तलस्पर्शी करुण विलाप को सुनकर मुनियों को छोड़ वहाँ उपस्थित अन्य सब लोगों की आँखें अश्रु-प्रवाहित करने लगीं।[1]

बिजली की तरह यह समाचार सारी द्वारिका में फैल गया। नागरिकों के मुख से यह बात सुनकर वे चारों मुनि भी वहाँ लौट आये और छहों मुनि देवकी को समझाने लगे—"न कोई किसी की माता है और न कोई किसी का पिता अथवा पुत्र। इस संसार में सब प्राणी अपने-अपने कर्म-बन्धन से बँधे रहट में मृत्तिका-पात्र (घटी-घड़ली) की तरह जन्म-मरण के चक्कर में निरन्तर परिभ्रमण करते हुए भटक रहे हैं। प्राणी एक जन्म में किसी का पिता होकर दूसरे जन्म में उसका पुत्र हो जाता है और तदनन्तर फिर किसी जन्म में पिता बन जाता है। इसी तरह एक जन्म की माता दूसरे जन्म में पुत्री, एक जन्म का

१ अन्तगड़ सूत्र में देवकी द्वारा पूछे जाने पर यह बात अरिहन्त नेमिनाथ ने कही है और वहीं पर देवकी का मुनियों के दर्शन से वात्सल्य उमड़ पड़ा और उसके स्तनों से दूध छूटने लगा एवं हर्षातिरेक से रोम-रोम पुलकित हो गया।

स्वामी दूसरे जन्म में दास बन जाता है। एक जन्म की माँ दूसरे जन्म में सिंहनी बनकर अपने पूर्व के प्रिय पुत्र को मार कर उसके मांस से अपनी भूख मिटाने लग जाती है। एक जन्म में एक पिता अपने पुत्र को बड़े दुलार से पाल-पोसकर बड़ा करता है, वही पुत्र भवान्तर में उस पिता का भयंकर शत्रु बनकर अपनी तीक्ष्ण तलवार से उसका सिर काट देता है। जिस माँ ने अपनी कुक्षि से जन्म दिये हुए पुत्र को अपने स्तनों का दूध पिलाकर प्यार से पाला, कर्मवश भटकती हुई वही माँ अपने उस पुत्र से अनंग-क्रीड़ा करती हुई अपनी काम-पिपासा शान्त करती है। उसी तरह पिता अपने दुष्कर्मों से अभिभूत अपनी पुत्री से मदन-क्रीड़ा करता हुआ अपनी कामाग्नि को शान्त करता है—ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यह है इस संसार की घृणित और विचित्र नट-क्रीड़ा, जिसमें प्राणी अपने ही किये कर्मों के कारण नट की तरह विविध रूप धारण कर भव-भ्रमण करता रहता है और पग-पग पर दारुण दुःखों को भोगता हुआ भी मोह एवं अज्ञानवश लाखों जीवों का घोर संहार करता हुआ मदोन्मत्त स्वेच्छाचारी हाथी की तरह दुःखानुबन्धी विषय-भोगों में निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। निविड़ कर्म-बन्धनों से जकड़े हुए प्राणी को माता-पिता-पुत्र-कलत्र सहज ही प्राप्त हो जाते हैं और वह मकड़ी की तरह अपने ही बनाये हुए भयंकर कुटुम्ब-जाल में फँसकर जीवन भर तड़पता एवं दुःखों से बिलबिलाता रहता है तथा अन्त में मर जाता है।"

"इस तरह पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता और मरता है। संसार की इस दारुण व भयावह स्थिति को देखकर हम लोगों को विरक्ति हो गई। हमने भगवान् नेमिनाथ के पास संयम ग्रहण कर लिया और संसार के इस दुःखदायक आवागमन के मूल कारण कर्म-बन्धनों को काटने में सतत प्रयत्नशील रहने लगे हैं।"[१]

इस परमाश्चर्योत्पादक वृत्तान्त को सुनकर वसुदेव, बलराम और कृष्ण आदि भी वहाँ आ पहुंचे। वसुदेव अपने सात पुत्रों के बीच ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो अपने सात नक्षत्रों के साथ स्वयं चन्द्रमा ही वहां आ उपस्थित हो गया हो। सबकी आँखों से आँसुओं की मानो गंगा-यमुना पूर्ण प्रवाह से बह रही थी, सबके हृदयों में स्नेह-सागर हिलोरें ले रहा था, सब विस्फारित नेत्रों से टकटकी लगाये साश्चर्य उन छहों मुनियों की ओर देख रहे थे, पर छहों मुनि शान्त रागरहित निर्विकार सहज मुद्रा में खड़े थे।

कृष्ण ने भावातिरेक के कारण अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"हमारे इस अचिन्त्य, अद्भुत मिलन से किसको आश्चर्य नहीं होगा? हा दुर्दैव! कंस के मारे जाने के पश्चात् भी हम उसके द्वारा पैदा किये गये विछोह के दावानल में अब तक जल रहे हैं। कैसी है यह विधि की विडम्बना कि एक ओर मैं त्रिखण्ड

---

१ चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृ० १९६–१९७

की राज्यश्री का उपभोग कर रहा हूँ और दूसरी ओर मेरे सहोदर छः भाई भिक्षान्न पर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं।"[१]

"मेरे प्राणाधिक अग्रजो ! आज हम सबका नया जन्म हुआ है। आओ ! हम सातों सहोदर मिलकर इस अपार वैभव और राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करें।"

वसुदेव आदि सभी उपस्थित यादवों ने श्रीकृष्ण की बात का बड़े हर्ष के साथ अनुमोदन करते हुए उन मुनियों से राज्य-वैभव का उपभोग करने की प्रार्थना की।

मुनियों ने कहा—"व्याध के जाल में एक बार फँसकर उस जाल से निकला हुआ हरिण जिस प्रकार फिर कभी जाल के पास नहीं फटकता, उसी तरह विषय-भोगों के दारुण जाल से निकलकर अब हम उसमें नहीं फँसना चाहते। जन्म लेकर, एक बार फिर मिले हुए मर कर बिछुड़ जाते हैं, तत्त्ववेत्ताओं के लिये यही तो वैराग्य का मुख्य कारण होता है, पर हमने तो एक ही जन्म में दो जन्मों का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, फिर हमें क्यों नहीं विरक्ति होती ? सब प्रकार के स्नेह-बन्धनों को काटना ही तो साधुओं का चरम लक्ष्य है। फिर हम लोग स्नेहपाश को दुःखःमूल समझते हुए इन काटे हुए स्नेह-बन्धनों को पुनः जोड़ने का विचार ही क्यों करेंगे ? हम तो इस स्नेह-बन्धन से मुक्त हो चुके हैं।"

"कर्मवश भवार्णव में डूबे हुए प्राणी को पग-पग पर वियोग का दारुण दुःख भोगना पड़ता है। अज्ञानवश मोहजाल में फँसा हुआ प्राणी यह नहीं सोचता कि इन्द्रियों के विषय भयंकर काले सर्प की तरह सर्वनाश करने वाले हैं। लक्ष्मी ओस-बिन्दु के समान क्षण विध्वंसिनी है, अगाध समुद्र में गिरे हुए रत्न की तरह यह मनुष्य-जन्म पुनः दुर्लभ है। अतः मनुष्य जन्म पाकर सब दुःखों के मूलभूत कर्मबन्ध को काटने का प्रत्येक समझदार व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिये।"[२]

इस प्रकार अपने माता-पिता आदि को प्रतिबोध देकर वे छहों साधु भगवान् नेमिनाथ की सेवा में लौट गये।

शोकसंतप्त देवकी भगवान् के समवसरण में पहुँची और त्रिकालदर्शी प्रभु नेमिनाथ ने कर्मविपाक की दारुणता बताते हुए अपने अमृतमय उपदेश से

---

१ केरिसा वा मइ रिद्धिसमदये भिक्खा भोइणो तुम्हे ? किंवा ममेइए रज्जेण ?
[चउप्पन्न महापुरिस चरियं पृ० १८७]

२ चउवन महापुरिस चरियं।

उसकी शोक-ज्वाला को शान्त किया।[1]

अंतगड़ सूत्र से मिलता-जुलता हुआ वर्णन त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है :—

सर्वज्ञ प्रभु के वचन सुनकर देवकी ने हर्षविभोर हो तत्काल उन छहों मुनियों को वन्दन करते हुए कहा—"मुझे प्रसन्नता है कि आखिर मुझे अपने पुत्रों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह भी मेरे लिये हर्ष का विषय है कि मेरी कुक्षि से उत्पन्न हुए एक पुत्र ने उत्कृष्ट कोटि का विशाल साम्राज्य प्राप्त किया है और शेष छहों पुत्रों ने मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साम्राज्य प्राप्त कराने वाली मुनि-दीक्षा ग्रहण की है। पर मेरा हृदय इस संताप की भीषण ज्वाला से संतप्त हो रहा है कि तुम सातों सुन्दर पुत्रों के शैशवावस्था के लालन-पालन का अति मनोरम आनन्द मैंने स्वल्पमात्र भी अनुभव नहीं किया।"

देवकी को शान्त करते हुए करुणासागर प्रभु अरिष्टनेमि ने कहा—"देवकी! तुम व्यर्थ का शोक छोड़ दो। अपने पूर्व-भव में तुमने अपनी सपत्नी के सात रत्नों को चुरा लिया था और उसके द्वारा बार-बार माँगने पर भी उसे नहीं लौटाया। अन्त में उसके बहुत कुछ रोने-धोने पर उसका एक रत्न लौटाया और शेष छः रत्न तुमने अपने पास ही रखे। तुम्हारे उसी पाप का यह फल है[2] कि तुम्हारे छः पुत्र अन्यत्र पाले गये और श्रीकृष्ण ही एक तुम्हारे पास हैं।

क्षमामूर्ति महामुनि गज सुकुमाल

भगवान् के समवसरण से लौटकर देवकी अपने प्रासाद में आ गई। पर भगवान् के मुख से छः मुनियों के रहस्य को जान कर उसका अन्तर्मन पुत्र-स्नेह से विकल हो उठा और उसके हृदय में मातृ-स्नेह हिलोरें लेने लगा।

वह यह सोच कर चिन्तामग्न हो गई कि ७ पुत्रों की जननी होकर भी मैं कितनी हतभागिनी हूं कि एक भी स्तनंधय पुत्र को गोद में लेकर स्तनपान नहीं करा पाई, मीठी-मीठी लोरियाँ गाकर अपने एक भी शिशु पर मातृ-स्नेह नहीं उँडेल सकी और एक भी पुत्र की शैशवावस्था की तुतलाती हुई मीठी बोली का श्रवणों से पान कर आनन्दविभोर न हो सकी। इस प्रकार विचार करती हुई वह अथाह शोकसागर में गोते लगाने लगी। उसने चिन्ता ही चिन्ता में खाना-पीना छोड़ दिया।

---

१ तओ तमायण्णिऊण देवतीए वियलियो सोयप्पसरो।

[चउवन महापुरिस चरियं, पृ० १९८]

२ सपत्न्या सप्त रत्नानि, त्वमाहार्षीः पुरा भवे।
रुदत्याश्चार्पितं तस्या, रत्नमेकं पुनस्त्वया॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०, श्लोक ११५]

माता को उदास देख कर कृष्ण के मन में चिन्ता हुई। उन्होंने माता की मनोव्यथा समझी और उसे आश्वस्त किया।

देवकी के मनोरथ की पूर्ति हेतु कृष्ण ने तीन दिन का निराहार तप कर देव का स्मरण किया। एकाग्र मन द्वारा किया गया चिन्तन इन्द्र-महेन्द्र का भी हृदय हर लेता है, फलस्वरूप हरिणैगमेषी का आसन डोलायमान हुआ। वह आया।

देव के पूछने पर कृष्ण ने कहा—"मैं अपना लघु भाई चाहता हूं।"

देव ने कहा—"देवलोक से निकल कर एक जीव तुम्हारे सहोदर भाई के रूप में उत्पन्न होगा, पर बाल भाव से मुक्त होकर तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही वह अर्हन्त अरिष्टनेमि के पदारविन्द की शरण ले मुण्डित हो दीक्षित होगा।"

कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने सोचा—"माता की मनोभिलाषा पूर्ण होगी, मेरे लघु भाई होगा।"

प्रसन्न मुद्रा में कृष्ण ने आकर देवकी से सारी घटना कह सुनाई। कालान्तर में देवकी ने गर्भधारण किया और सिंह का शुभ-स्वप्न देखकर जागृत हुई। स्वप्नफल को जानकर महाराज वसुदेव और देवकी आदि सब प्रसन्न हुए। समय पर देवकी ने प्रशस्त-लक्षण सम्पन्न पुत्ररत्न को जन्म दिया। गजतालू के समान कोमल होने के कारण बालक का नाम गज सुकुमाल रखा गया। द्वितीया के चन्द्र की तरह क्रमशः सुखपूर्वक बढ़ते हुए गज सुकुमाल तरुण एवं भोग-समर्थ हुए।

द्वारिका नगरी में सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदांग का पारगामी था। उसकी भार्या सोमश्री से उत्पन्न सोमा नामकी एक कन्या थी। किसी दिन सभी अलंकारों से विभूषित हो सोमा कन्या राजमार्ग के एक पार्श्व में अवस्थित अपने भवन के क्रीड़ांगण में स्वर्णकन्दुक से खेल रही थी।

उस समय अरहा अरिष्टनेमि द्वारिका के सहस्राम्र उद्यान में पधारे हुए थे। अतः कृष्ण वासुदेव गज सुकुमाल के साथ गजारूढ़ हो प्रभु-वन्दन को निकले। मार्ग में उन्होंने उत्कृष्ट रूपलावण्य युक्त सर्वांग सुन्दरी सोमा कन्या को देखा। सोमा के रूप से विस्मित होकर कृष्ण ने राजपुरुषों को आदेश दिया—"जाओ सोमिल ब्राह्मण से माँग कर इस सोमा कन्या को उसकी अनुमति से अन्तःपुर में पहुंचा दो। यह गज सुकुमाल की भार्या बनाई जायगी।"

तदनन्तर श्रीकृष्ण नगरी के मध्य मध्यवर्ती राजमार्ग से सहस्राम्र उद्यान में पहुंचे और प्रभु को वन्दन कर भगवान् की देशना सुनने लगे।

धर्म कथा की समाप्ति पर कृष्ण अपने राज प्रासाद की ओर लौट गये किन्तु गज सुकुमाल शान्त मन से चिन्तन करते रहे। गज सुकुमाल ने खड़े होकर भगवान से कहा—"जगन्नाथ ! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा एवं प्रतीति करता हूँ, मेरी इच्छा है कि माता-पिता से पूछ कर आपके पास श्रमण-धर्म स्वीकार करूं।" अर्हत् अरिष्टनेमि ने कहा—"हे देवानुप्रिय ! जिसमें तुम्हें सुखानुभूति हो, वही करो। प्रमाद न करो।" प्रभु को वन्दन कर गज सुकुमाल द्वारका की ओर प्रस्थित हुए।

राजभवन में आकर गज सुकुमाल ने माता देवकी के समक्ष प्रव्रजित होने की अपनी अभिलाषा प्रकट की। देवकी अश्रुतपूर्व अपने लिए इस वज्रकठोर वचन को सुन कर मूच्छित हो गई।

ज्ञात होते ही श्रीकृष्ण आये और गज सुकुमाल को दुलार से गोद में लेकर बोले—"तुम मेरे प्राणप्रिय लघु सहोदर हो, मैं अपना सर्वस्व तुम पर न्यौछावर करता हूं। अतः अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण मत करो, मैं द्वारवती नगरी के महाराज पद पर तुम्हें अभिषिक्त करता हूं।

गज सुकुमाल ने कहा—"अम्म-तात ! ये मनुष्य के काम-भोग मलवत् छोड़ने योग्य हैं। आगे पीछे मनुष्य को इन्हें छोड़ना ही होगा। इसलिए मैं चाहता हूं कि आपकी अनुमति पाकर मैं अरिहन्त अरिष्टनेमि के चरणों में प्रव्रज्या लेकर स्व-पर का कल्याण करूं।"

विविध युक्ति-प्रयुक्तियों से समझाने पर भी जब गज सुकुमाल संसार के बन्धन में रहने को तैयार नहीं हुए, तब इच्छा न होते हुए भी माता-पिता और कृष्ण ने कहा—"वत्स ! हम चाहते हैं कि अधिक नहीं तो कम से कम एक दिन के लिये ही सही, तू राज्य-लक्ष्मी का उपभोग अवश्य कर।"

श्री कृष्ण ने गज सुकुमाल का राज्याभिषेक किया, किन्तु गज सुकुमाल अपने निश्चय पर अडिग रहे।

बड़े समारोह से गज सुकुमाल का निष्क्रमण हुआ। अर्हत अरिष्टनेमि के चरणों में दीक्षित होकर गज सुकुमाल अणगार बन गये।

दीक्षित होकर उसी दिन दोपहर के समय वे अर्हत अरिष्टनेमि के पास आये और तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन कर बोले—"भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं महाकाल श्मशान में एक रात्रि की प्रतिमा ग्रहण कर रहना चाहता हूं।"

भगवान् की अनुमति पाकर गज सुकुमाल ने प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और सहस्राम्र वन उद्यान से भगवान् के पास से निकलकर महाकाल

माता को उदास देख कर कृष्ण के मन में चिन्ता हुई। उन्होंने माता की मनोव्यथा समझी और उसे आश्वस्त किया।

देवकी के मनोरथ की पूर्ति हेतु कृष्ण ने तीन दिन का निराहार तप कर देव का स्मरण किया। एकाग्र मन द्वारा किया गया चिन्तन इन्द्र-महेन्द्र का भी हृदय हर लेता है, फलस्वरूप हरिणैगमेषी का आसन डोलायमान हुआ। वह आया।

देव के पूछने पर कृष्ण ने कहा—"मैं अपना लघु भाई चाहता हूं।"

देव ने कहा—"देवलोक से निकल कर एक जीव तुम्हारे सहोदर भाई के रूप में उत्पन्न होगा, पर बाल भाव से मुक्त होकर तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही वह अर्हन्त अरिष्टनेमि के पदारविन्द की शरण ले मुण्डित हो दीक्षित होगा।"

कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने सोचा—"माता की मनोभिलाषा पूर्ण होगी, मेरे लघु भाई होगा।"

प्रसन्न मुद्रा में कृष्ण ने आकर देवकी से सारी घटना कह सुनाई। कालान्तर में देवकी ने गर्भधारण किया और सिंह का शुभ-स्वप्न देखकर जागृत हुई। स्वप्नफल को जानकर महाराज वसुदेव और देवकी आदि सब प्रसन्न हुए। समय पर देवकी ने प्रशस्त-लक्षण सम्पन्न पुत्ररत्न को जन्म दिया। गजतालू के समान कोमल होने के कारण बालक का नाम गज सुकुमाल रखा गया। द्वितीया के चन्द्र की तरह क्रमशः सुखपूर्वक बढ़ते हुए गज सुकुमाल तरुण एवं भोग-समर्थ हुए।

द्वारिका नगरी में सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदांग का पारगामी था। उसकी भार्या सोमश्री से उत्पन्न सोमा नामकी एक कन्या थी। किसी दिन सभी अलंकारों से विभूषित हो सोमा कन्या राजमार्ग के एक पार्श्व में अवस्थित अपने भवन के क्रीड़ांगण में स्वर्णकन्दुक से खेल रही थी।

उस समय अरहा अरिष्टनेमि द्वारिका के सहस्राम्र उद्यान में पधारे हुए थे। अतः कृष्ण वासुदेव गज सुकुमाल के साथ गजारूढ़ हो प्रभु-वन्दन को निकले। मार्ग में उन्होंने उत्कृष्ट रूपलावण्य युक्त सर्वांग सुन्दरी सोमा कन्या को देखा। सोमा के रूप से विस्मित होकर कृष्ण ने राजपुरुषों को आदेश दिया—"जाओ सोमिल ब्राह्मण से माँग कर इस सोमा कन्या को उसकी अनुमति से अन्तःपुर में पहुंचा दो। यह गज सुकुमाल की भार्या बनाई जायगी।"

तदनन्तर श्रीकृष्ण नगरी के मध्य मध्यवर्ती राजमार्ग से सहस्राम्र उद्यान में पहुंचे और प्रभु को वन्दन कर भगवान् की देशना सुनने लगे।

धर्म कथा की समाप्ति पर कृष्ण अपने राज प्रासाद की ओर लौट गये किन्तु गज सुकुमाल शान्त मन से चिन्तन करते रहे। गज सुकुमाल ने खड़े होकर भगवान से कहा—"जगन्नाथ! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा एवं प्रतीति करता हूँ. मेरी इच्छा है कि माता-पिता से पूछ कर आपके पास श्रमण-धर्म स्वीकार करूं।" अर्हत् अरिष्टनेमि ने कहा—"हे देवानुप्रिय! जिसमें तुम्हें सुखानुभूति हो, वही करो। प्रमाद न करो।" प्रभु को वन्दन कर गज सुकुमाल द्वारका की ओर प्रस्थित हुए।

राजभवन में आकर गज सुकुमाल ने माता देवकी के समक्ष प्रव्रजित होने की अपनी अभिलाषा प्रकट की। देवकी अश्रुतपूर्व अपने लिए इस वज्रकठोर वचन को सुन कर मूच्छित हो गई।

ज्ञात होते ही श्रीकृष्ण आये और गज सुकुमाल को दुलार से गोद में लेकर बोले—"तुम मेरे प्राणप्रिय लघु सहोदर हो, मैं अपना सर्वस्व तुम पर न्यौछावर करता हूं। अतः अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण मत करो, मैं द्वारवती नगरी के महाराज पद पर तुम्हें अभिषिक्त करता हूं।

गज सुकुमाल ने कहा—"अम्म-तात! ये मनुष्य के काम-भोग मलवत् छोड़ने योग्य हैं। आगे पीछे मनुष्य को इन्हें छोड़ना ही होगा। इसलिए मैं चाहता हूं कि आपकी अनुमति पाकर मैं अरिहन्त अरिष्टनेमि के चरणों में प्रव्रज्या लेकर स्व-पर का कल्याण करूं।"

विविध युक्ति-प्रयुक्तियों से समझाने पर भी जब गज सुकुमाल संसार के बन्धन में रहने को तैयार नहीं हुए, तब इच्छा न होते हुए भी माता-पिता और कृष्ण ने कहा—"वत्स! हम चाहते हैं कि अधिक नहीं तो कम से कम एक दिन के लिये ही सही, तू राज्य-लक्ष्मी का उपभोग अवश्य कर।"

श्री कृष्ण ने गज सुकुमाल का राज्याभिषेक किया, किन्तु गज सुकुमाल अपने निश्चय पर अडिग रहे।

बड़े समारोह से गज सुकुमाल का निष्क्रमण हुआ। अर्हत अरिष्टनेमि के चरणों में दीक्षित होकर गज सुकुमाल अणगार बन गये।

दीक्षित होकर उसी दिन दोपहर के समय वे अर्हत अरिष्टनेमि के पास आये और तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन कर बोले—"भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो मैं महाकाल श्मशान में एक रात्रि की प्रतिमा ग्रहण कर रहना चाहता हूं।"

भगवान् की अनुमति पाकर गज सुकुमाल ने प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और सहस्राम्र वन उद्यान से भगवान् के पास से निकलकर महाकाल

श्मशान में आये, स्थंडिल की प्रतिलेखना की और फिर थोड़ा शरीर को झुका कर दोनों पैर संकुचित कर एक रात्रि की महाप्रतिमा में ध्यानस्थ हो गये।

उधर सोमिल ब्राह्मण, जो यज्ञ की समिधा—लकड़ी आदि के लिए नगर के बाहर गया हुआ था, समिधा, दर्भ, कुश और पत्ते लेकर लौटते समय महाकाल श्मशान के पास से निकला। सन्ध्या के समय वहां गज सुकुमाल मुनि को ध्यानस्थ देखते ही पूर्वजन्म के वैर की स्मृति से वह क्रुद्ध हुआ और उत्तेजित हो बोला—"अरे इस गज सुकुमाल ने मेरी पुत्री सोमा को बिना दोष के काल-प्राप्त दशा में छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है, अतः मुझे गज सुकमाल से बदला लेना चाहिए।"

ऐसा सोच कर उसने चहुं ओर देखा और गीली मिट्टी लेकर गज सुकुमाल मुनि के सिर पर मिट्टी की पाज बांधकर जलती हुई चिता में से केसू के फूल के समान लाल-लाल ज्वाला से जगमगाते अंगारे मस्तक पर रख दिये।

पाप मानव को निर्भय नहीं रहने देता। सोमिल भी भयभीत होकर पीछे हटा और छुपता हुआ दबे पाँवों अपने घर चला गया।

गज सुकुमाल मुनि के शरीर में उन अंगारों से भयंकर वेदना उत्पन्न हुई जो असह्य थी, पर मुनि ने मन से भी सोमिल ब्राह्मण से द्वेष नहीं किया। शान्त मन से सहन करते रहे। ज्यों-ज्यों श्मशान की सनसनाती वायु से मुनि के मस्तक पर अग्नि की ज्वाला तेज होती गई और सिर की नाड़ियें, नसें तड़-तड़कर टूटने लगीं, त्यों-त्यों मुनि के मन की निर्मल ज्ञान-धारा तेज होने लगी। शास्त्रीय शब्दज्ञान अति अल्प होने पर भी मुनि का आत्मज्ञान और चरित्रबल उच्चतम था। दीक्षा के प्रथम दिन बिना पूर्वाभ्यास के ही भिक्षु प्रतिमा की इस कठोर साधना पर अग्रसर होना ही उनके उन्नत-मनोबल का परिचायक था। शुक्ल-ध्यान के चारित्र के सर्वोच्च शिखर पर चढ़कर उन्होंने वीतराग वाणी को पूर्णरूप से हृदयंगम कर लिया। वे तन्मय हो गये, स्व-पर के भेद को समझ लेने से उनका अन्तर्मन गूँज रहा था—"शरीर के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है, क्योंकि मैं अजर, अमर, अविनाशी हूं। मुझे न अग्नि जला सकती, न शस्त्र काट सकते और न भौतिक सुख-दुःखों के ये झोंके ही हिला सकते हैं। मैं सदा अच्छेद्य, अभेद्य और अदाह्य हूं। यह सोमिल जो अपना पुराना ऋण ले रहा है, वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ता, वह तो उल्टे मेरे ऋणमुक्त होने में सहायता कर रहा है। अतः ऋण चुकाने में दुःख, चिन्ता, क्षोभ और आनाकानी का कारण ही क्या है?"

कितना साहसपूर्ण विचार था! गज सुकुमाल चाहते तो सिर को थोड़ा-सा झुकाकर उस पर रखे अंगारों को एक हल्के झटके से ही नीचे गिरा सकते थे

पर वे महामुनि अर्हत् अरिष्टनेमि के उपदेश से जड़-चेतन के पृथक्त्व को समझ-कर सच्चे स्थितप्रज्ञ एवं अन्तर्द्रष्टा राजर्षि बन चुके थे। नमी राजर्षि ने मिथिला को जलते देखकर कहा था—

"मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचणं"

परन्तु गज सुकुमाल ने तो अपने शरीर के उत्तमांग को जलते हुए देखकर भी निर्वात प्रदेश-स्थित दीपशिखा की तरह अचल-अकम्प ध्यान से अडोल रहकर बिना बोले ही यह बता दिया—

"डज्झमाणे सरीरम्मि, न मे डज्झइ किंचणं"

धन्य है उस वीर साधक के अदम्य धैर्य और निश्चल मनोवृत्ति को ! राग-द्वेष रहित होकर उसने उत्कृष्ट अध्यवसायों की प्रबल आग में समस्त कर्मसमूह को अन्तर्मुहूर्त में ही भस्मावशेष कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के साथ शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निरंकार, सच्चिदानन्द शिवस्वरूप की अवाप्ति एवं मुक्ति की प्राप्ति करली। कोटि-कोटि जन्मों की तपस्याओं से भी दुष्प्राप्य मोक्ष को उन्होंने एक दिन से भी कम की सच्ची साधना से प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया कि मानव की भावपूर्ण उत्कट साधना और लगन के सामने सिद्धि कोई दूर एवं दुष्प्राप्य नहीं है।

गज सुकुमाल के लिए कृष्ण की जिज्ञासा

दूसरे दिन प्रातःकाल कृष्ण महाराज गज पर आरूढ़ हो भगवान् नेमि-नाथ को वन्दन करने निकले। वन्दन के पश्चात् जब उन्होंने गज सुकुमाल मुनि को नहीं देखा तो पूछा—"भगवन् ! मेरा छोटा भाई गज सुकुमाल मुनि कहां है ?"

भगवान् ने कहा—"कृष्ण ! मुनि गज सुकुमाल ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है।"

कृष्ण बोले—"भगवन्, यह कैसे ?"

इस पर अरिहंत अरिष्टनेमि ने सारी घटना कह सुनाई। कृष्ण ने रोष में आकर कहा—"प्रभो ! वह कौन है, जिसने गज सुकुमाल को अकाल में ही जीवन-रहित कर दिया ?"

भगवान् ने कृष्ण को उपशान्त करते हुए कहा—"कृष्ण ! तुम रोष मत करो, उस पुरुष ने गज सुकुमाल को सिद्धि प्राप्त करने में सहायता प्रदान की है। द्वारवती से आते समय जैसे तुमने ईंट उठा कर वृद्ध ब्राह्मण की सहायता

की वैसे ही उस पुरुष ने गज सुकुमाल के लाखों भवों के कर्मों को क्षय करने में सहायता प्रदान की है ।"

जब श्रीकृष्ण ने उस पुरुष के सम्बन्ध में जानने का विशेष आग्रह किया तब श्री नेमिनाथ ने कहा—"द्वारिका लौटते समय जो तुम्हें अपने सम्मुख देख कर भूमि पर गिर पड़े, वही गज सुकुमाल का प्राणहारी है ।"

कृष्ण त्वरा में भगवान् को वन्दन कर द्वारिका की ओर चल पड़े ।

जब सोमिल को यह मालूम हुआ कि कृष्ण भगवान् नेमिनाथ के दर्शन एवं वन्दन के लिए गये हैं, तो वह मारे भय के थर-थर काँपने लगा । उसने सोचा—"सर्वज्ञ भगवान् नेमिनाथ से कृष्ण को मेरे अपराध के सम्बन्ध में पता चल जायेगा और कृष्ण अपने प्राणप्रिय छोटे भाई की हत्या के अपराध में मुझे दारुण प्राणदण्ड देंगे ।"

यह सोच कर सोमिल अपने प्राण बचाने के लिए अपने घर से भाग निकला । संयोगवश वह उसी मार्ग से आ निकला, जिस मार्ग से श्रीकृष्ण लौट रहे थे । गजारूढ़ श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख देखते ही सोमिल आतंकित हो भूमि पर गिर पड़ा और मारे भय के वह तत्काल वहीं पर मर गया ।

अरिहंत अरिष्टनेमि ने गज सुकुमाल जैसे राजकुमार को क्षमावीर बनाकर उनका उद्धार किया । गज सुकुमाल की संयमसाधना से यादव-कुल में व्यापक प्रभाव फैल गया और उसके फलस्वरूप अनेक कर्मवीर राजकुमारों ने धर्मवीर बनकर आत्म-साधना के मार्ग में आदर्श प्रस्तुत किया ।

नेमिनाथ के मुनिसंघ में सर्वोत्कृष्ट मुनि

भगवान् नेमिनाथ के साधु-संघ में यों तो सभी साधु घोर तपस्वी और दुष्कर करणी करने वाले थे, तथापि उन सब मुनियों में ढंढण मुनि का स्थान स्वयं भगवान् नेमिनाथ द्वारा सर्वोत्कृष्ट माना गया है ।

वासुदेव श्री कृष्ण की 'ढंढणा' रानी के आत्मज 'ढंढण कुमार' भगवान् नेमिनाथ का धर्मोपदेश सुन कर विरक्त हो गये । उन्होंने पूर्ण यौवन में अपनी अनेक सद्यःपरिणीता सुन्दर पत्नियों और ऐश्वर्य का परित्याग कर भगवान् नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की । इनकी दीक्षा के समय श्री कृष्ण ने बड़ा ही भव्य निष्क्रमणोत्सव किया ।

मुनि ढंढण दीक्षित होकर सदा प्रभु नेमिनाथ की सेवा में रहे । सहज

विनीत और मृदु स्वभाव के कारण वे थोड़े ही दिनों में सबके प्रिय और सम्मान-पात्र बन गये । कठिन संयम और तप की साधना करते हुए उन्होंने शास्त्रों का भी अध्ययन किया। कुछ काल व्यतीत होने पर ढंढण मुनि के पूर्व-संचित अन्तराय-कर्म का उदय हुआ । उस समय वे कहीं भी भिक्षा के लिए जाते तो उन्हें किसी प्रकार की भिक्षा नहीं मिलती । उनका अन्तराय-कर्म इतनी उग्रता के साथ उदित हुआ कि उनके साथ भिक्षार्थ जाने वाले साधुओं को भी कहीं से भिक्षा प्राप्त नहीं होती और ढंढण मुनि एवं उनके साथ गये हुए साधुओं को खाली हाथ लौटना पड़ता । यह क्रम कई दिन तक चलता रहा ।

एक दिन साधुओं ने भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने के पश्चात् पूछा—"भगवन् ! यह ढंढण ऋषि आप जैसे त्रिलोकीनाथ के शिष्य हैं, महाप्रतापी अर्द्धचक्री कृष्ण के पुत्र हैं पर इन्हें इस नगर के बड़े-बड़े श्रेष्ठियों, धर्मनिष्ठ श्रावकों एवं परम उदार गृहस्थों के यहां से किंचित् मात्र भी भिक्षा प्राप्त नहीं होती । इसका क्या कारण है ?"

मुनियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु नेमिनाथ ने कहा—"ढंढण अपने पूर्व भव में मगध प्रान्त के 'धान्यपुर' ग्राम में 'पारासर' नाम का ब्राह्मण था । वहां राजा की ओर से वह कृषि का आयुक्त नियुक्त किया गया । स्वभावतः कठोर होने से वह ग्रामीणों के द्वारा राज्य की भूमि में खेती करवाता और उनको भोजन के समय भोजन आ जाने पर भी खाने की छुट्टी न देकर काम में लगाये रखता । भूखे, प्यासे और थके हुए बैलों एवं हालियों से पृथक्-२ एक-एक हलाई (हल द्वारा भूमि को चीरने की रेखा) निकलवाता । अपने उस दुष्कृत के फलस्वरूप इसने घोर अन्तराय-कर्म का बन्ध किया । वही पारासर मर कर अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ ढंढण के रूप में जन्मा है । पूर्वकृत अन्तराय-कर्म के उदय से ही इसको सम्पन्न कुलों में चाहने पर भी भिक्षा नहीं मिलती ।"

भगवान् के मुखारविन्द से यह सब सुनकर ढंढण मुनि को अपने पूर्वकृत दुष्कृत के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ । उसने प्रभु को नमस्कार कर यह अभिग्रह किया, "मैं अपने दुष्कर्म को स्वयं भोग कर काटूँगा और कभी दूसरे के द्वारा प्राप्त हुआ भोजन ग्रहण नहीं करूँगा ।"

अन्तराय के कारण ढंढण को कहीं से भिक्षा मिलती नहीं और दूसरों द्वारा लाया गया आहार उन्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार लेना था नहीं, इसके परिणामस्वरूप ढंढण मुनि को कई दिनों की निरन्तर निराहार तपस्या हो गई । फिर भी वे समभाव से तप और संयम की साधना अविचल भाव से करते रहे ।

एक दिन श्रीकृष्ण ने समवसरण में ही पूछा—"भगवन् ! आपके इन सभी महान् मुनियों में कठोर साधना करने वाले कौनसे मुनि हैं ?"

भगवान् ने फरमाया –"हरे ! सभी मुनि कठोर साधना करने वाले हैं पर इन सबमें ढंढरण दुष्कर करणी करने वाला है। उसने काफी लम्बा काल अलाभ-परिषह को समभाव से सहते हुए अनशन-पूर्वक बिताया है। उसके मन में किंचिन्मात्र भी ग्लानि नहीं अतः यह सर्वोत्कृष्ट तपस्वी मुनि है।"

कृष्ण यह सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और देशना के पश्चात् भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर मन ही मन ढंढरण मुनि की प्रशंसा करते हुए अपने राजप्रासाद की ओर लौटे। उन्होंने द्वारिका में प्रवेश करते ही ढंढरण मुनि को गोचरी जाते हुए देखा। कृष्ण तत्काल हाथी से उतर पड़े और बड़ी भक्ति से उन्होंने ढंढरण ऋषि को नमस्कार किया।

एक श्रेष्ठी अपने द्वार पर खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था। उसने सोचा कि धन्य है यह मुनि जिनको कृष्ण ने हाथी से उतर कर श्रद्धावनत हो बड़ी भक्ति के साथ वन्दन किया है।

संयोग से ढंढरण भी भिक्षाटन करते हुए उस श्रेष्ठी के मकान में भिक्षार्थ चले गये। सेठ ने बड़े आदर के साथ ढंढरण मुनि के पात्र में लड्डू बहराये। ढंढरण मुनि भिक्षा लेकर प्रभु की सेवा में पहुँचे और वन्दन कर उन्होंने प्रभु से पूछा—"प्रभो ! क्या मेरा अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है, जिससे कि मुझे आज भिक्षा मिली है ?"

प्रभु ने फरमाया—"ढंढरण मुने ! तुम्हारा अन्तराय कर्म अभी क्षीण नहीं हुआ है। हरि के प्रभाव से यह भिक्षा तुम्हें मिली है। हरि ने तुम्हें प्रणाम किया इससे प्रभावित हो श्रेष्ठी ने तुम्हें यह भिक्षा दी है।"

चिरकाल से उपोषित ढंढरण ने अपने मन में भिक्षा के प्रति राग का लेश भी पैदा नहीं होने दिया। "यह भिक्षा अपनी लब्धि नहीं अपितु पर-प्राप्ति है, अतः मुझे इसे एकान्त निर्जीव भूमि में परिष्ठापित कर देना चाहिये" यह सोच-कर ढंढरण ऋषि स्थंडिल भूमि में उस भिक्षा को परठने चल पड़े। उन्होंने एकान्त में पहुँच कर भूमि को रजोहरण से परिमार्जित किया और वहाँ भिक्षान्न परठने लगे। उस समय उनके अन्तस्तल में शुभ भावों का उद्रेक हुआ। वे स्थिर मन से सोचने लगे –"ओह ! उपार्जित कर्मों को क्षय करना कितना दुस्साध्य है। प्राणी मोह में फँसकर दुष्कृत करते समय यह नहीं सोचता कि इन दुष्कृतों का परिणाम मुझे एक न एक दिन भोगना ही पड़ेगा।"

इस प्रकार विचार करते २ उनका चिन्तन शुभ-ध्यान की उच्चकोटि पर पहुँच गया। शुक्ल-ध्यान की इस प्रक्रिया में उनके चारों घातिक-कर्म नष्ट हो गये और उन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। तत्क्षण गगनमण्डल देव दुन्दुभियों की ध्वनि से गूँज उठा।

समस्त लोकालोक को हस्तामलक के समान देखने वाले मुनि ढंढण स्थंडिल भूमि से प्रभु की सेवा में लौटे और भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर वे प्रभु की केवली-परिषद् में बैठ गये ।

ढंढण मुनि ने केवल अन्तराय ही नहीं, चारों घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त किया और फिर सकल कर्म क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये ।

भगवान् अरिष्टनेमि के समय का महान् आश्चर्य

श्री कृष्ण का यादवों की ही तरह पाण्डवों के प्रति भी पूर्ण वात्सल्य था । वे सबके सुख-दुःख में सहायक होकर सब की प्रतिपालना करते । श्री कृष्ण की छत्रछाया में पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में बड़े आनन्द से राज्यश्री का उपभोग कर रहे थे ।

एक समय नेमिनारद इन्द्रप्रस्थ नगर में आये और महारानी द्रौपदी के भव्य प्रासाद में जा पहुँचे । पाण्डवों ने नारद का सत्कार किया, पर द्रौपदी ने नारद को अविरति समझ कर विशेष आदर-सत्कार नहीं दिया । नारद क्रुद्ध हो मन ही मन द्रौपदी का कुछ अनिष्ट करने की सोचते हुए वहाँ से चले गये ।

वे यह भली प्रकार जानते थे कि पाण्डवों पर श्रीकृष्ण की असीम कृपा के कारण भरतखण्ड में कृष्ण के भय से कोई द्रौपदी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता, अतः द्रौपदी के लिये अनिष्टप्रद कुछ प्रपञ्च खड़ा करने की उधेड़-बुन में वे धातकी खण्ड द्वीप के भरतक्षेत्र की अमरकंका नगरी में स्त्रीलम्पट पद्मनाभ राजा के राज-प्रासाद में पहुँचे ।

राजा पद्म ने राजसिंहासन से उठकर नारद का बड़ा सत्कार किया और उन्हें अपने अन्तःपुर में ले गया । उसने वहाँ अपनी सात सौ (७००) परम सुन्दरी रानियों की ओर इंगित करते हुए नारद से गर्व सहित पूछा—"महर्षे ! आपने विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों के राज-प्रासादों और बड़े-बड़े अवनिपतियों के अन्तःपुरों को देखा है, पर क्या कहीं इस प्रकार की चारुहासिनी, सर्वांगसुन्दरी स्त्रियों में रत्नतुल्य रमणियाँ देखी हैं ?"

अपने अभीप्सित कार्य के सम्पादन का उचित अवसर समझ कर नारद बोले[1]—"राजन् ! तुम कूपमण्डूक की तरह बात कर रहे हो । जम्बूद्वीपस्थ भरतखण्ड के हस्तिनापुराधिप पाण्डवों की महारानी द्रौपदी के सामने तुम्हारी ये सब रानियाँ दासियाँ सी लगती हैं ।" यह कहकर नारद वहाँ से चल दिये ।

द्रौपदी को प्राप्त करने हेतु पद्मनाभ ने तपस्यापूर्वक अपने मित्र देव की आराधना की और देव के प्रकट होने पर उससे द्रौपदी को लाने की

१ ज्ञाता धर्म कथा, १।१६

प्रार्थना की। देव ने पद्मनाभ से कहा—"द्रौपदी पतिव्रता है। वह पाँडवों के अतिरिक्त किसी भी पुरुष को नहीं चाहती। फिर भी तुम्हारी प्रीति हेतु मैं उसे ले आता हूँ।"

यह कहकर देव हस्तिनापुर पहुँचा और अवस्वापिनी विद्या से द्रौपदी को प्रगाढ़ निद्राधीन कर पद्मनाभ के पास ले आया।

निद्रा खुलते ही सारी स्थिति देख कर द्रौपदी बड़ी चिन्तित हुई। उसे चिन्तित देख पद्मनाभ ने कहा—"सुन्दरी! किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। मैं धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी का नरेश्वर पद्मनाभ हूँ। तुम्हें अपनी पट्टमहिषी बनाने हेतु मैंने तुम्हें यहाँ मँगवाया है।"

द्रौपदी ने क्षणभर में ही अपनी जटिल स्थिति को समझ लिया और बड़ा दूरदर्शितापूर्ण उत्तर दिया—"राजन्! भरतखण्ड में कृष्ण वासुदेव मेरे रक्षक हैं, वे यदि छः मास के भीतर मेरी खोज करते हुए यहाँ नहीं आयेंगे तो मैं तुम्हारे निर्देशानुसार विचार करूँगी।"[1]

यहाँ किसी दूसरे द्वीप के किसी आदमी का पहुँचना अशक्य है, यह समझ कर कुटिल पद्मनाभ ने द्रौपदी की बात मान ली और द्रौपदी को कन्याओं के अन्तःपुर में रख दिया। वहाँ द्रौपदी आयंबिल तप करते हुए रहने लगी।[2]

प्रातःकाल होते ही पाण्डवों ने द्रौपदी को न पाकर उसे ढूँढ़ने के सब प्रयास किये, पर द्रौपदी का कहीं पता न चला। लाचार हो उन्होंने कुन्ती के माध्यम से श्रीकृष्ण को निवेदन किया।

कृष्ण भी यह सुन कर क्षणभर विचार में पड़ गये। उसी समय नारद स्वयं द्वारा उत्पन्न किये गये अनर्थ का कौतुक देखने वहाँ आ पहुँचे। कृष्ण द्वारा द्रौपदी का पता पूछने पर नारद ने कहा कि उन्होंने धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ के रनिवास में द्रौपदी जैसा रूप देखा है।

नारद की बात सुन कर कृष्ण ने पाण्डवों एवं सेना के साथ मागध तीर्थ की ओर प्रयाण किया और वहाँ अष्टम तप से लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का चिंतन किया। सुस्थित यह कहते हुए उपस्थित हुआ—"कहिये! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?"

कृष्ण ने कहा—"पद्मनाभ ने सती द्रौपदी का हरण कर लिया है, इसलिए ऐसा उपाय करो जिससे वह लाई जा सके।"

---

१ ज्ञाता धर्म कथा, १।१६

२ वही।

सुस्थित देव ने कहा—"पद्मनाभ के एक मित्र देव ने द्रौपदी का हरण कर उसे सौंपा है, उसी प्रकार मैं द्रौपदी को वहाँ से आपके पास ले आऊँ अथवा आप आज्ञा दें तो पद्मनाभ को सदलबल समुद्र में डुबो दूँ और द्रौपदी आपको सौंप दूँ।"

श्री कृष्ण ने कहा—"इतना कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। हमारे छहों के रथ लवण सागर को निर्बाध गति से पार कर सकें, ऐसा प्रबन्ध कर दो। हम खुद ही जाकर द्रौपदी को लायें, यह हमारे लिए शोभनीय कार्य होगा।"

सुस्थित देव ने श्रीकृष्ण के इच्छानुसार प्रबन्ध कर दिया और छहों रथ स्थल की तरह विस्तीर्ण लवणोदधि को पार कर अमरकंका पहुँच गये।

कृष्ण ने अपने सारथि दारुक को पद्मनाभ के पास भेज कर द्रौपदी को लौटाने को कहलवाया[1] पर पद्मनाभ यह सोचकर कि ये छह आदमी मेरी अपार सेना के सामने क्या कर पायेंगे, युद्ध के लिए सन्नद्ध हो आ डटा।

पाण्डवों के इच्छानुसार कृष्ण ने पहले पाण्डवों को पद्मनाभ से युद्ध करने की अनुमति दी, पर वे पद्मनाभ के अपार सैन्यबल से पराजित हो कृष्ण के पास लौट आये।

तदनन्तर श्री कृष्ण ने पांचजन्य शंख का महाभयंकर घोष किया और सार्ङ्ग-धनुष की टंकार लगाई तो पद्मनाभ की दो तिहाई सेना नष्टप्राय हो तितर-बितर हो गई और भय से थर-थर काँपता हुआ पद्मनाभ एक तिहाई अपनी बची-खुची भयत्रस्त सेना के साथ अपने नगर की ओर भाग खड़ा हुआ।

पद्मनाभ ने नगर के अन्दर पहुँच कर अपने नगरद्वार के लोह-कपाट बन्द कर दिये और रनिवास में जा छुपा।

इधर श्री कृष्ण ने नृसिंह रूप धारण कर एक हत्थल (हस्ततल) के प्रहार से ही नगर के लोह-कपाटों को चूर्ण कर दिया और वे सिंह-गर्जना करते हुए पद्मनाभ के राज-प्रासाद की ओर बढ़ चले। उनकी सिंह-गर्जना से सारी अमरकंका हिल उठी और शत्रुओं के दिल दहल गये।

साक्षात् महाकाल के समान अपनी ओर झपटते श्री कृष्ण को देख कर पद्मनाभ द्रौपदी के चरणों में जा गिरा और प्राण भिक्षा माँगते हुए गिड़गिड़ा कर कहने लगा—"देवि! क्षमा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ, इस कराल कालोपम केशव से मेरी रक्षा करो।"

---

१ ज्ञाता धर्म कथा १।१६

द्रौपदी ने कहा—"यदि प्राणों की कुशल चाहते हो तो स्त्री के कपड़े पहन कर मेरे पीछे-पीछे चले आओ।"

भयकंपित पद्मनाभ ने तत्काल अबला नारी का वेष बनाया और द्रौपदी को आगे कर उसके पीछे-पीछे जा उसने श्री कृष्ण के चरणों में नमस्कार किया। शरणागतवत्सल कृष्ण ने भी उसे अभयदान दिया और द्रौपदी को पाण्डवों के पास ले आये।[1]

तदनन्तर द्रौपदी सहित वे सब छह रथों पर आरूढ़ हो, जिस पथ से आये थे उसी पथ से लौट पड़े।

उस समय धातकीखण्ड की चम्पानगरी के पूर्णभद्र उद्यान में वहाँ के तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समवसरण में बैठे हुए धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल ने कृष्ण द्वारा किये गये शंखनाद को सुन कर जिनेन्द्र प्रभु से प्रश्न किया—"प्रभो! मेरे शंखनाद के समान यह किसका शंखनाद कर्णगोचर हो रहा है?"

द्रौपदी-हरण का सारा वृत्तान्त सुनाते हुए सर्वज्ञ प्रभु मुनिसुव्रत ने कहा—"कपिल! जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के त्रिखण्डाधिपति वासुदेव कृष्ण द्वारा किया हुआ यह शंख-निनाद है।"

कपिल ने कहा—"भगवन्! मुझे उस अतिथि का स्वागत करना चाहिए।"

भगवान् मुनिसुव्रत ने कहा—"कपिल जिस तरह दो तीर्थंकर और दो चक्रवर्ती एक जगह नहीं मिल पाते, उसी प्रकार दो वासुदेव भी नहीं मिल सकते। हाँ तुम कृष्ण की श्वेत-पीत ध्वजा के अग्रभाग को देख सकोगे।"[2]

भगवान् से यह सुन कर कपिल वासुदेव श्रीकृष्ण वासुदेव से मिलने की इच्छा लिये कृष्ण के रथ के पहियों का अनुसरण करता हुआ त्वरित गति से

---

१ साप्यूचे मां पुरस्कृत्य, स्त्रीवेशं विरचय्य च।
प्रयाहि शरणं कृष्णं, तथा जीवसि नान्यथा ॥६१॥
इत्युक्तः स तथा चक्रे, नमश्चक्रे च शार्ङ्गिणम्।
शरण्यो वासुदेवोऽपि, मा भैषीरित्युवाच तम् ॥६२॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ तए णं मुणि सुव्वए अरहा कविलं वासुदेवं एवं वयासी, णो खलु देवाणुप्पिया एवं भूयं वा ३ जण्णं अरिहंता वा अरहंतं पासंति, चक्कवटी वा चक्कवट्टि पासंति.............. ....वासुदेवा वा वासुदेवं पासन्ति। तह वि य णं तुमं कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीईवयमाणस्स सेया पीयाइं धयग्गाइं पासिहिसि।
[ज्ञाता धर्म कथा, सूत्र १, अध्याय १६]

समुद्रतट की ओर बढ़ा और उसने समुद्र में जाते हुए कृष्ण के रथ की श्वेत और पीत वर्णों की ध्वजाओं के उग्रभाग देखे। उसने अपने शंख में इस आशय की ध्वनि को पूरित कर शंखनाद किया—"यह मैं कपिल वासुदेव आपसे मिलने की उत्कंठा लिये आया हूँ। कृपा कर लौटिये।"

श्रीकृष्ण ने भी शंख-निनाद से ही उत्तर दिया—"हम बहुत दूर निकल आये हैं। अब आप आने को कुछ न कहिये।"[1]

शंख-ध्वनि से कृष्ण का उत्तर पा कपिल अमरकंका नगरी पहुँचा। उसने पद्मनाभ की भर्त्सना कर उसे निर्वासित कर दिया एवं उसके पुत्र को अमरकंका के राजसिंहासन पर आसीन किया।

इधर लवण समुद्र पार कर कृष्ण ने पाण्डवों से कहा—"मैं सुस्थित देव को धन्यवाद देकर आता हूँ, तब तक आप लोग गंगा के उस पार पहुँच जाइये।"

पाण्डवों ने नाव में बैठ कर गंगा के प्रबल प्रवाह को पार किया और परस्पर यह कहते हुए कि आज श्रीकृष्ण के बल को देखेंगे कि वे गंगा के इस अतितीव्र प्रवाह को कैसे पार करते हैं, नाव को वहीं रख लिया।[2]

सुस्थित देव से विदा हो कृष्ण गंगा तट पर आये और वहाँ नाव न देख कर एक हाथ से घोड़ों सहित रथ को पकड़े दूसरे हाथ से जल में तैरते हुए गंगा को पार करने लगे। पर गंगा के प्रवाह के बीचोंबीच पहुँचते २ वे थक गये और सोचने लगे कि बिना नाव के पाण्डवों ने गंगा नदी पार कर ली, वे बड़े सशक्त हैं। कृष्ण के मन में यह विचार उत्पन्न होते ही गंगा के प्रवाह की गति धीमी पड़ गई और उन्होंने सहज ही गंगा को पार कर लिया।

गंगा के तट पर पहुँचते ही कृष्ण ने पाण्डवों से प्रश्न किया—"आप लोगों ने गंगा को कैसे पार कर लिया ?"

पाण्डवों ने उत्तर दिया—"नाव से।"

कृष्ण ने पूछा—"फिर आप लोगों ने मेरे लिए नाव क्यों नहीं भेजी ?"

---

१ कपिलो विष्णुरेषोऽहमुत्कस्त्वां द्रष्टुमागतः।
तद्वलस्वेत्यक्षराढ्यं, शंखं दध्मौ स शार्ङ्गभृत् ॥७२॥
आगमाम वयं दूरं त्वया वाच्यं न किंचन।
इति व्यक्ताक्षरध्वानं, शंखं कृष्णोऽप्यपूरयत् ॥७३॥
[त्रिषष्टि शलाका पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ द्रक्ष्यामोऽद्य वलं विष्णोर्नौरत्रैव विधार्यताम्।
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ७६]

पाण्डवों ने हँसते हुए कहा—"आपके बल की परीक्षा करने के लिए।"

कृष्ण उस उत्तर से अतिक्रुद्ध हो बोले—"मेरे बल की परीक्षा क्या अभी भी अवशिष्ट रह गई थी ? अथाह-अपार लवण समुद्र को पार करने और अमरकंका की विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी आप लोगों को मेरा बल ज्ञात नहीं हुआ ?"

यह कहते हुए कृष्ण ने लौह-दण्ड से पाण्डवों के रथों को चकनाचूर कर डाला और उन्हें अपने राज्य से बाहर चले जाने का आदेश दिया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ द्वारिका की ओर चल पड़े और पाँचों पाण्डव द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आये। उन्होंने माता कुन्ती से सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

सारा वृत्तान्त सुन कर कुन्ती द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से कहने लगी—"कृष्ण ! तुम्हारे द्वारा निर्वासित मेरे पुत्र कहाँ रहेंगे ? क्योंकि इस भरतार्द्ध में तो तिल रखने जितनी भूमि भी ऐसी नहीं है, जो तुम्हारी न हो।"

कृष्ण ने कहा—"दक्षिण सागर के तट के पास पाण्डु-मथुरा[1] नामक नया नगर बसा कर आपके पुत्र वहाँ रहें।

कुन्ती के लौटने पर पाण्डवों ने दक्षिण समुद्र के तट के पास पाण्डु-मथुरा बसाई और वहाँ रहने लगे।[2]

उधर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अपनी बहिन सुभद्रा के पौत्र एवं अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को अभिषिक्त किया।[3]

---

१ (क) तं गच्छंतु णं पंच पंडवा दाहिणिल्लवेयालिं तत्थ पंडु महुरं निवेसंतु..................
[ज्ञाता धर्म कथा, १।१६]

(ख) कृष्णोऽप्यूचे दक्षिणाब्धे रोधस्यभिनवां पुरीम्।
निवेश्य पाण्डुमथुरां, वसन्तु तव सूनवः ॥६१॥
[त्रिपष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ ....पंडु महुरं नगरं निवेसंति।
[ज्ञाता० १।१६]

३ कृष्णोऽपि हस्तिनापुरेऽभिषिषेच परीक्षितम्।..................
[त्रिपष्टि श. पु. च., पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ६३]

जिस स्थान पर कृष्ण ने क्रुद्ध हो पाण्डवों के रथों को तोड़ा था, वहाँ कालान्तर में 'रथमर्दन' नामक नगर बसाया गया।[1]

द्वारिका का भविष्य

भगवान् अरिष्टनेमि भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में अपने अमोघ अमृतमय उपदेशों से भव्य प्राणियों का उद्धार करते हुए द्वारिका पधारे। भगवान् के पधारने का समाचार सुन कर कृष्ण-बलराम अपने समस्त राज परिवार के साथ समवसरण में गये और भगवान् को वन्दन कर यथास्थान बैठ गये। द्वारिका और उसके आसपास की बस्तियों का जनसमूह भी समवसरण में उमड़ पड़ा।

देशना के पश्चात् कृष्ण ने सविधिवन्दन कर प्रांजलिपूर्वक भगवान् से पूछा[2]—"भगवन्! सुरपुर के समान इस द्वारिका का इस विशाल और समृद्ध यदुवंश का तथा मेरा अन्त कालवश स्वतः ही होगा अथवा किसी निमित्त से, किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ से होगा।"

भगवान् ने कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया—"कृष्ण! घोर तपस्वी पराशर के पुत्र ब्रह्मचारी परिव्राजक द्वैपायन को शाम्ब आदि यादव-कुमार सुरापान से मदोन्मत्त हो निर्दयतापूर्वक मारेंगे। इससे क्रुद्ध हो द्वैपायन यादवों के साथ ही साथ द्वारिका को जलाने का निदान कर देव होगा और वह यादवों सहित द्वारिका नगरी को जला कर राख कर डालेगा। तुम्हारा प्राणान्त तुम्हारे बड़े भाई जराकुमार के बाण से कौशाम्बी वन में होगा।"[3]

त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु के उत्तर को सुनकर सभी श्रोता स्तब्ध रह गये। सबकी घृणादृष्टि जराकुमार पर पड़ी। जराकुमार आत्मग्लानि से बड़ा खिन्न हुआ। उसने तत्काल उठ कर प्रभु को प्रणाम किया और अपने आपको इस घोर कलंकपूर्ण पातक से बचाने के लिए केवल धनुष-बाण ले द्वारिका से प्रस्थान कर वनवासी बन गया।

---

१ ....लोहदण्ड परामुसइ पंचण्हं पंडवाणं रहे सूचूरेइ, निव्विसए आणवेइ.......तत्थ णं रहमद्दणे नामं कोड्डे निविट्ठे।

[ज्ञाता धर्म कथा, सु. १, अ. १६]

२ चउवन महापुरिस चरियं में बलदेव द्वारा प्रश्न किये जाने का उल्लेख है। यथा—"लद्धाव-सरेण य पुच्छियं बलदेवेणं जहाभगवं केच्चिराउकालाओ इमीए णयरीए अवसाणं भवि-स्सइ? कुओ वा सयासाओ वासुदेवस्स य?"

[चउवन महापुरिस चरियं, पृ. १९८]

३ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. ३ से ६

पाण्डवों ने हँसते हुए कहा—"आपके बल की परीक्षा करने के लिए।"

कृष्ण उस उत्तर से अतिक्रुद्ध हो बोले—"मेरे बल की परीक्षा क्या अभी भी अवशिष्ट रह गई थी? अथाह-अपार लवण समुद्र को पार करने और अमरकंका की विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी आप लोगों को मेरा बल ज्ञात नहीं हुआ?"

यह कहते हुए कृष्ण ने लौह-दण्ड से पाण्डवों के रथों को चकनाचूर कर डाला और उन्हें अपने राज्य से बाहर चले जाने का आदेश दिया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ द्वारिका की ओर चल पड़े और पाँचों पाण्डव द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आये। उन्होंने माता कुन्ती से सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

सारा वृत्तान्त सुन कर कुन्ती द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से कहने लगी—"कृष्ण! तुम्हारे द्वारा निर्वासित मेरे पुत्र कहाँ रहेंगे? क्योंकि इस भरतार्द्ध में तो तिल रखने जितनी भूमि भी ऐसी नहीं है, जो तुम्हारी न हो।"

कृष्ण ने कहा—"दक्षिण सागर के तट के पास पाण्डु-मथुरा[1] नामक नया नगर बसा कर आपके पुत्र वहाँ रहें।

कुन्ती के लौटने पर पाण्डवों ने दक्षिण समुद्र के तट के पास पाण्डु-मथुरा बसाई और वहाँ रहने लगे।[2]

उधर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अपनी बहिन सुभद्रा के पौत्र एवं अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को अभिषिक्त किया।[3]

---

१ (क) तं गच्छंतु णं पंच पंडवा दाहिणिल्लवेयालिं तत्थ पंडु महुरं निवेसंतु..................

[ज्ञाता धर्म कथा, १।१६]

(ख) कृष्णोऽप्यूचे दक्षिणाब्धे रोधस्यभिनवां पुरीम्।
निवेश्य पाण्डुमथुरां, वसन्तु तव सूनवः ॥६१॥

[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ ....पंडु महुरं नगरं निवेसंति।

[ज्ञाता० १।१६]

३ कृष्णोऽपि हस्तिनापुरेऽभिषिषेच परीक्षितम्।..................

[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ६३]

लगने पर इधर-उधर पानी की तलाश करता हुआ वह एक शिलाकुण्ड के पास गया और अपनी प्यास बुझाने हेतु उसमें से पानी पीने लगा। प्रथम चुल्लू के आस्वादन से ही उसे पता चल गया कि कुण्ड में पानी नहीं अपितु परम स्वादिष्ट मदिरा है।

द्वारिकावासियों ने जो सुरापात्र वहां शिलाओं पर पटके थे वह सुरा बह कर उस शिलाकुण्ड में एकत्रित हो गई थी। सुगन्धित विविध पुष्पों के कुण्ड में झड़कर गिरने से वह मदिरा बड़ी ही सुगन्धित और सुस्वादु हो गई थी।

शाम्ब के सेवक ने जी भर वह स्वादु सुरा पी और अपने पास की केतली भी उससे भर ली। द्वारिका लौटकर उस सेवक ने मदिरा की केतली शाम्ब को भेंट की। शाम्ब सायंकाल में उस सुस्वादु सुरा का रसास्वादन कर उस सुरा की सराहना करते हुए बार-बार अपने सेवक से पूछने लगे कि इतनी स्वादिष्ट सुरा वह कहां से लाया है ?

सेवक से सुराकुण्ड का पता पाकर शाम्ब दूसरे दिन कई युवा यदु-कुमारों के साथ कादम्बरी गुफा के पास उस कुण्ड पर गया। उन यादव-कुमारों ने उस कादम्बरी मदिरा को बड़े ही चाव के साथ खूब छक कर पिया और नशे में झूमने लगे।

अचानक उनकी दृष्टि उस पर्वत पर ध्यानस्थ द्वैपायन ऋषि पर पड़ी। नशे में चूर शाम्ब उसे देखते ही उस पर यह कहते हुए टूट पड़ा—"यह स्वान हमारी प्यारी द्वारिका और प्राणप्रिय यादव कुल का नाश करेगा। अरे! इसे इसी समय मार दिया जाय, फिर यह मरा हुआ किसे मारेगा ?"[1]

बस, फिर क्या था, वे सभी मदान्ध यादव-कुमार द्वैपायन पर लातों, घूंसों और पत्थरों की वर्षा करने लगे और उसे अधमरा कर भूमि पर पटक द्वारिका में आ अपने-अपने घरों में जा घुसे।

श्रीकृष्ण को अपने गुप्तचरों से इस घटना का पता चला तो वे यदु-कुमारों के इस क्रूर कृत्य पर बड़े क्रुद्ध हुए। बलराम को साथ ले कृष्ण तत्काल द्वैपायन के पास पहुंचे और कुमारों की दुष्टता के लिए क्षमा माँगते हुए बार-बार उसे शान्त करने का पूर्ण रूप से प्रयास करने लगे।

द्वैपायन का क्रोध किसी तरह शान्त नहीं हुआ। उसने कहा—"कुमार जिस समय मुझे निर्दयतापूर्वक मार रहे थे, उस समय मैं निदान कर चुका हूं कि

१ शाम्बो वभाषे स्वानित्थमयं मे नगरिं कुलम्।
हन्ता तद्धन्यतामेष, हनिष्यति हतः कथम् ॥२८॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११]

लोगों के मुख से प्रभु अरिष्टनेमि द्वारा कही गई बात सुन कर द्वैपायन परिव्राजक भी द्वारिका एवं द्वारिकावासियों के रक्षार्थ नगर से दूर वन में रहने लगा ।

बलराम के सारथि व भाई सिद्धार्थ ने भावी द्वारिकादाह की बात सुन कर संसार से विरक्त हो प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की । बलराम ने भी उसे यह कहते हुए दीक्षा-ग्रहण करने की अनुमति दी कि देव होने पर वह समय पर प्रतिबोध देने अवश्य आवे । मुनि-धर्म स्वीकार कर सिद्धार्थ ने छः मास की घोर तपस्या की और आयु पूर्ण कर देव हो गया ।

द्वारिका के रक्षार्थ मद्य-निषेध

श्री कृष्ण ने भी द्वारिका, यादवों एवं प्रजाजनों के रक्षार्थ द्वारिका में कड़ी मद्य-निषेधाज्ञा घोषित करवाई कि जो भी कोई सुरापान करेगा उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जायगा । "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी" इस कहावत को चरितार्थ करते हुए कृष्ण ने सुरा को सब अनर्थों का मूल समझ कर द्वारिका के समस्त मद्यपात्रों को द्वारिका से कुछ दूर कदम्ब वन में पर्वत की कादम्बरी गुफा के शिलाखण्डों पर फिकवा दिया । प्रत्येक नागरिक के मन में द्वारिका के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था, अतः उसे विनाश से बचाने के लिए समस्त प्रजाजन द्वारिका से सुरा का नाम तक मिटा देने का दृढ़ संकल्प लिए अगणित मद्यपात्रों को ले जाकर कादम्बरी गुफा की चट्टानों पर पटकने में जुट गये ।

श्रीकृष्ण ने प्रमुख नागरिकों को और विशेषतः समस्त क्षत्रिय-कुमारों को इस निषेधाज्ञा का पूर्णरूप से पालन करने के लिए सावधान किया कि वे जीवन भर कभी मद्यपान न करें, क्योंकि मद्य बुद्धि को विलुप्त करने वाला और सब अनर्थों का मूल है ।

इस आज्ञा के साथ ही साथ श्रीकृष्ण ने यह भी घोषणा करवा दी कि अलका सी इस सुन्दर द्वारिकापुरी का सुरा, अग्नि एवं द्वैपायन के निमित्त विनाश हो उससे पूर्व जो भी भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित होना चाहें, उन्हें वे सब प्रकार से हार्दिक सहयोग देने के लिए सहर्ष तत्पर हैं ।

श्रीकृष्ण की इस उदार घोषणा से उत्साहित हो अनेक राजाओं, रानियों राजकुमारों एवं नागरिकों ने संसार को निस्सार और दुःख का आकर समझ-कर भगवान् अरिष्टनेमि के पास मुनि-धर्म स्वीकार किया ।

कुछ ही समय पश्चात् शाम्बकुमार का एक सेवक किसी कार्यवश कादम्बरी गुफा की ओर जा पहुँचा । वैशाख की कड़ी धूप के कारण प्यास

लगने पर इधर-उधर पानी की तलाश करता हुआ वह एक शिलाकुण्ड के पास गया और अपनी प्यास बुझाने हेतु उसमें से पानी पीने लगा। प्रथम चुल्लू के आस्वादन से ही उसे पता चल गया कि कुण्ड में पानी नहीं अपितु परम स्वादिष्ट मदिरा है।

द्वारिकावासियों ने जो सुरापात्र वहां शिलाओं पर पटके थे वह सुरा वह कर उस शिलाकुण्ड में एकत्रित हो गई थी। सुगन्धित विविध पुष्पों के कुण्ड में झड़कर गिरने से वह मदिरा बड़ी ही सुगन्धित और सुस्वादु हो गई थी।

शाम्ब के सेवक ने जी भर वह स्वादु सुरा पी और अपने पास की केतली भी उससे भर ली। द्वारिका लौटकर उस सेवक ने मदिरा की केतली शाम्ब को भेंट की। शाम्ब सायंकाल में उस सुस्वादु सुरा का रसास्वादन कर उस सुरा की सराहना करते हुए बार-बार अपने सेवक से पूछने लगे कि इतनी स्वादिष्ट सुरा वह कहां से लाया है?

सेवक से सुराकुण्ड का पता पाकर शाम्ब दूसरे दिन कई युवा यदु-कुमारों के साथ कादम्बरी गुफा के पास उस कुण्ड पर गया। उन यादव-कुमारों ने उस कादम्बरी मदिरा को बड़े ही चाव के साथ खूब छक कर पिया और नशे में झूमने लगे।

अचानक उनकी दृष्टि उस पर्वत पर ध्यानस्थ द्वैपायन ऋषि पर पड़ी। नशे में चूर शाम्ब उसे देखते ही उस पर यह कहते हुए टूट पड़ा—"यह स्वान हमारी प्यारी द्वारिका और प्राणप्रिय यादव कुल का नाश करेगा। अरे! इसे इसी समय मार दिया जाय, फिर यह मरा हुआ किसे मारेगा?"[1]

बस, फिर क्या था, वे सभी मदान्ध यादव-कुमार द्वैपायन पर लातों, घूंसों और पत्थरों की वर्षा करने लगे और उसे अधमरा कर भूमि पर पटक द्वारिका में आ अपने-अपने घरों में जा घुसे।

श्रीकृष्ण को अपने गुप्तचरों से इस घटना का पता चला तो वे यदु-कुमारों के इस क्रूर कृत्य पर बड़े क्रुद्ध हुए। बलराम को साथ ले कृष्ण तत्काल द्वैपायन के पास पहुँचे और कुमारों की दुष्टता के लिए क्षमा माँगते हुए बार-बार उसे शान्त करने का पूर्ण रूप से प्रयास करने लगे।

द्वैपायन का क्रोध किसी तरह शान्त नहीं हुआ। उसने कहा—"कुमार जिस समय मुझे निर्दयतापूर्वक मार रहे थे, उस समय मैं निदान कर चुका हूं कि

१ शाम्बो बभाषे स्वानित्थमयं मे नगरिं कुलम्।
हन्ता तद्धन्यतामेष, हनिष्यति हतः कथम् ॥२८॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११]

तुम दोनों भाइयों को छोड़ कर सब यादवों और नागरिकों को द्वारिका के साथ ही जलाकर खाक कर दूँगा। तुम दोनों के सिवा द्वारिका का कोई कुत्ता तक भी नहीं बच पायेगा।"[1]

श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा के उपाय

हताश हो बलराम और कृष्ण द्वारिका लौट आये और द्वैपायन द्वारा द्वारिकावासियों सहित द्वारिकादाह का निदान करने की बात द्वारिका के घर-घर में फैल गई। श्रीकृष्ण ने दूसरे दिन द्वारिका में घोषणा करवा दी,—"आज से सब द्वारिकावासी अपना अधिकाधिक समय व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान आदि धार्मिक कृत्यों को करते हुए बितायें।

श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार सब द्वारिकावासी धार्मिक कार्यों में जुट गये।

उन्हीं दिनों भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर पधारे। श्रीकृष्ण और बलराम के पीछे-पीछे द्वारिका के प्रमुख नागरिक भगवान् के अमृतमय उपदेश को सुनने के लिए रैवतक पर्वत की ओर उमड़ पड़े। मोहान्धकार को मिटाने वाले भगवान् के प्रवचनों को सुनकर शाम्ब, प्रद्युम्न, सारण, उन्मुक निसढ़ आदि अनेक यादव-कुमारों और रुक्मिणी जाम्बवती आदि अनेक स्त्रीरत्नों ने विरक्त हो प्रभु के चरणों में श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

श्रीकृष्ण द्वारा किये गये एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् अरिष्टनेमि ने फरमाया—"आज से बारहवें वर्ष में द्वैपायन द्वारिका को भस्मसात् कर देगा।"

श्रीकृष्ण की चिन्ता और प्रभु द्वारा आश्वासन

भगवान् अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से अपने प्रश्न का उत्तर सुनते ही श्रीकृष्ण की आँखों के सामने द्वारिकादाह का भावी बीभत्स-दारुण-दुखान्त दृश्य साकार हो मँडराने लगा। वे सोचने लगे—"धनपति कुबेर की देखरेख में विश्वकर्मा द्वारा स्वर्ण-रजत एवं मणि-माणिक्य, हीरों, पन्नों आदि अमूल्य रत्नों से निर्मित इस धरा का साकार स्वर्ग-सा यह नगर आज से बारहवें वर्ष में सुरों और सुररमणियों से स्पर्धा करने वाले समस्त नागरिकों सहित जलाकर भस्मसात् कर दिया जायगा।"

---

१ तओ दीवायणेण भणियं–कण्ह ! मया पहम्ममाणेण पइण्णा पडिवण्णा जहा–तुमे मोत्तूण परं दुवे वि ण अण्णस्स सुणयमेत्तस्स वि जन्तुणो मोक्खो,..........

[चउवन महापुरिस चरियं, पृष्ठ १९९]

उनकी अन्तर्व्यथा असह्य हो उठी, उनके हृदयपटल पर संसार की नश्वरता का, जीवन, राज्यलक्ष्मी एवं ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का अमिट चित्र अंकित हो गया। वे सोचने लगे—"धन्य हैं महाराज समुद्रविजय, धन्य हैं जालि मयालि, प्रद्युम्न, शाम्ब, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि, जिन्होंने भोगों एवं भवनादि की भंगुरता के तथ्य को समझ कर त्याग-मार्ग अपना लिया। उन्हें अब द्वारिका-दाह का ज्वाला-प्रलय नहीं देखना पड़ेगा। ओफ् ! मैं अभी तक त्रिखण्ड के विशाल साम्राज्य और ऐश्वर्य में मूच्छित हूँ।"

अन्तर्यामी भगवान् अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण की अन्तर्वेदना छुपी न रही। उन्होंने कहा—"त्रिखण्डाधिप वासुदेव ! निदान की लोहार्गला के कारण त्रिकाल में भी यह संभव नहीं कि कोई भी वासुदेव प्रव्रज्या ग्रहण करे। निदान का यही अटल नियम है, अतः तुम प्रव्रज्या ग्रहण न कर सकने की व्यर्थ चिन्ता न करो। आगामी उत्सर्पिणीकाल में इसी भरत क्षेत्र में तुम भी मेरी तरह बारहवें तीर्थंकर बनोगे[1] और बलराम भी तुम्हारे उस तीर्थकाल में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।"

भगवान् के इन परम आह्लादकारी वचनों को सुन कर श्रीकृष्ण आनन्द विभोर हो पुलकित हो उठे। बड़ी ही श्रद्धा से उन्होंने प्रभु को वन्दन किया और द्वारिका लौट आये। उन्होंने पुनः द्वारिका में घोषणा करवाई—"द्वारिका का दाह अवश्यंभावी है, अतः जो भी व्यक्ति प्रभु-चरणों में प्रव्रजित हो मुनि-धर्म स्वीकार करना चाहता है, वह अपने आश्रितों के निर्वाह, सेवा-शुश्रूषा आदि की सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग कर बड़ी खुशी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है। मुनि-धर्म स्वीकार करने की इच्छा रखने वालों को मेरी ओर से पूर्णरूपेण अनुमति है। उनके आश्रितों के भरण-पोषण आदि का सारा भार मैं अपने कंधों पर लेता हूं।" उन्होंने द्वारिकावासियों को निरन्तर धर्म की आराधना करते रहने की सलाह दी।

श्रीकृष्ण की इस घोषणा से पद्मावती आदि अनेक राज्य परिवार की महिलाओं, कई राजकुमारों और अन्य अनेकों स्त्री-पुरुषों ने प्रबुद्ध एवं विरक्त हो

---

१ (क) एएसिणं चउव्वीसाए तित्थकराणं पुव्वभविया चउव्वीसं नामधेज्जा भविस्संति तं जहा सेणिए सुपास.......कण्ह........ [समवायांग सूत्र, सूत्र २१४]

(ख) च्युत्वा भाव्यत्र भरते गंगाद्वार पुरेशितुः। जितशत्रोः सुतोऽर्हंस्त्वं द्वादशो नामतोऽममः।। [त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. ५२]

(ग) अरहा अरिट्ठणेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी मा णं तुमं देवाणुप्पिया ओहय-जाव भियाहि.......तुमं.......बारसमे अममे नामं अरहा भविस्ससि..........

[अंतगड दशा]

प्रभु चरणों में दीक्षा ग्रहण की। श्रीकृष्ण ने शासन और धर्म की अत्युत्कृष्ट भावना से सेवा की और इस तरह उन्होंने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया।

इस प्रकार अनेक भव्य प्राणियों को मुक्तिपथ का पथिक बना प्रभु अरिष्टनेमि वहां से अन्य स्थान के लिए विहार कर गये।

उधर द्वैपायन निदानपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अग्निकुमार देव हुआ और अपने वैर का स्मरण कर वह क्रुद्ध हो द्वारिका को भस्मसात् कर डालने की इच्छा से द्वारिका पहुँचा। पर उस समय सारी द्वारिका तपोभूमि बनी हुई थी। समस्त द्वारिकावासी आत्म-चिन्तन, धर्माराधन और प्रसिद्ध आयम्बिल (आचाम्ल) तप की साधना में निरत थे, अनेक नागरिक चतुर्थ भक्त, षष्टम भक्त और अष्टम भक्त किये हुए थे, अतः धर्म के प्रभाव से अभिभूत हो वह द्वारिकावासियों का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सका और हताश हो लौट गया। द्वारिका को जलाने के लिए वह सदा छिद्रान्वेषण और उपयुक्त अवसर की टोह में रहने लगा।

द्वैपायन द्वारा द्वारिकादाह

इस प्रकार द्वैपायन निरन्तर ग्यारह वर्ष तक द्वारिका को दग्ध करने का अवसर देखता रहा, पर द्वारिकावासियों की निरन्तर धर्माराधना के कारण ऐसा अवसर नहीं मिला।

इधर द्वारिकावासियों के मन में यह धारणा बलवती होती गई कि उनके निरन्तर धर्माराधन और कठोर तपस्या के प्रभाव से उन्होंने द्वैपायन के प्रभाव को नष्ट कर उसे जीत लिया है, अतः अब काय-क्लेश की आवश्यकता नहीं है।

इस विचार के आते ही कुछ लोग स्वेच्छापूर्वक सुरा, मांसादिक का सेवन करने लगे। "गतानुगतिको लोकः" इस उक्ति के अनुसार अनेक द्वारिकावासी धर्माराधन एवं तप-साधना के पथ का परित्याग कर अनर्थंकर-पथ में प्रवृत्त होने लगे।

द्वैपायन के जीव अग्निकुमार ने तत्काल यह रन्ध्र देख द्वारिका पर प्रलय ढाना प्रारम्भ कर दिया। अग्नि की भीषण वर्षा से द्वारिका में सर्वत्र प्रचण्ड ज्वालाएँ भभक उठीं। अशनिपात एवं उल्कापात से धरती धूजने लगी। द्वारिका के प्राकार, द्वार और भव्य-भवन भूलुण्ठित होने लगे। कृष्ण और बलराम के चक्र व हल आदि सभी रत्न विनष्ट हो गये। समस्त द्वारिका देखते ही देखते ज्वाला का सागर बन गई। रमणियों, किशोरों, बच्चों और वृद्धों के करुण-क्रन्दन से आकाश फटने लगा। बड़े अनुराग और प्रेम से पोषित किये गये

सुगौर, सुन्दर और पुष्ट अगणित मानव-शरीर कपूर की पुतलियों की तरह जलने लगे। भागने का प्रयास करने पर भी कोई द्वारिकावासी भाग नहीं सका। अग्निकुमार द्वारा जो जहाँ था, वहीं स्तंभित कर दिया गया।

श्रीकृष्ण और बलराम ने वसुदेव, देवकी और रोहिणी को एक रथ में बिठाकर रथ चलाना चाहा, पर हजार प्रयत्न करने पर भी घोड़ों ने एक डग तक आगे नहीं बढ़ाया। हताश हो कृष्ण और बलदेव ने रथ को स्वयं खींचना प्रारम्भ किया, पर एक विशाल द्वार से कृष्ण और बलराम के निकलते ही वह द्वार भयंकर शब्द करता हुआ रथ पर गिर पड़ा।

द्वैपायन देव ने कहा—"कृष्ण-बलराम! मैंने पहले ही कह दिया था कि आप दोनों भाइयों को छोड़कर और कोई बचा नहीं रह सकेगा।"

वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने कहा—"पुत्रो! हमें बचाने का तुम पूरा प्रयास कर चुके हो, कर्मगति बलीयसी है, हम अब प्रभु-शरण लेते हैं। तुम दोनों भाई कुशलपूर्वक जाओ।"

कृष्ण और बलराम बड़ी देर तक वहां खड़े रहे। सब ओर से स्त्रियों की चीत्कारें, बच्चों एवं वृद्धों के करुण-क्रन्दन और जलते हुए नागरिकों की पुकारें उनके कानों के द्वार से हृदय में गूंज रही थी—"कृष्ण! हमारी रक्षा करो, हलधर! हमें बचाओ।" पर दोनों भाई हाथ मलते ही खड़े रह गये, कुछ भी न कर सके। संभवतः इन नरशार्दूलों ने अपने जीवन में पहली ही बार विवशता का यह दुःखद अनुभव किया था।

सारी द्वारिका जल गई और भू-स्वर्ग-द्वारिका के स्थान पर धधकती आग का दरिया हिलोरें ले रहा था।

अन्ततोगत्वा असह्य अन्तर्व्यथा से संतप्त हो कृष्ण और बलदेव वहाँ से चल दिये।

शोकातुर कृष्ण ने बलराम से पूछा—"भैया! अब हमें किस ओर जाना है? प्रायः सभी नृपवर्ग अपने मन में हमारे प्रति शत्रुतापूर्ण भावना रखते हैं।"

बलराम ने कहा—दक्षिण दिशा में पाण्डव-मथुरा की ओर।

श्रीकृष्ण ने कहा—"बलदाउ भैया! मैंने पाण्डवों को निर्वासित कर उनका अपकार किया है।"

बलराम बोले—"उन पर तुम्हारे उपकार असीम हैं? इसके अतिरिक्त पाण्डव बड़े सज्जन और हमारे सम्बन्धी हैं। इस विपन्नावस्था में हमें वे बड़े

स्नेह, सौहार्द और सम्मान के साथ रखेंगे।"

कृष्ण ने भी "अच्छा" कहते हुए अपने बड़े भाई के प्रस्ताव से सहमति प्रकट की और दोनों भाइयों ने दक्षिणापथ की ओर प्रयाण किया।

शत्रु राजाओं से संघर्षों और मार्ग की अनेक कठिनाइयों का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए कई दिनों बाद दोनों भाई अत्यन्त दुर्गम कौशाम्बी वन में जा पहुँचे। वहां पिपासाकुल हो कृष्ण ने अपने ज्येष्ठ भाई वलदेव से कहा—"आर्य! मैं प्यास से इतना व्याकुल हूँ कि इस समय एक डग भी आगे बढ़ना मेरे लिए असंभव है। कहीं से ठंडा जल लाकर पिलाओ तो अच्छा है।"

वलदेव तत्क्षण कृष्ण को एक वृक्ष की छाया में बैठाकर पानी लाने के लिए चल पड़े।

वलदेव की विरक्ति और कठोर संयम-साधना

पिपासाकुल कृष्ण पीताम्वर ओढ़े बांये घुटने पर दाहिना पैर रखे छाया में लेटे हुए थे। उसी समय शिकार की टोह में जराकुमार उधर से निकला और पीताम्बर ओढ़े लेटे हुए कृष्ण पर हरिण के भ्रम में बाण चला दिया।[1] बाण कृष्ण के दाहिने पादतल में लगा। कृष्ण ने ललकारते हुए कहा—"सोते हुए मुझ पर इस तरह तीर का प्रहार करने वाला कौन है ? मेरे सामने आये।"

कृष्ण के कण्ठ-स्वर को पहचान कर जराकुमार तत्क्षण कृष्ण के पास आया और उसने रोते हुए कहा—"मैं तुम्हारा हतभाग्य बड़ा भाई जराकुमार हूं। तुम्हारे प्राणों की रक्षा हेतु बनवासी होकर भी दुर्दैव से मैं तुम्हारे प्राणों का ग्राहक बन गया।"

कृष्ण ने संक्षेप में द्वारिकादाह, यादव-कुल-विनाश आदि का वृत्तान्त सुनाते हुए जराकुमार को अपनी कौस्तुभमणि दी और कहा—"हमारे यादव-कुल में केवल तुम्हीं बचे हो, अतः पाण्डवों को यह मणि दिखाकर तुम उनके पास ही रहना। शोक त्याग कर शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ, वलराम आने ही वाले हैं। उन्होंने यदि तुम्हें देख लिया तो तत्क्षण मार डालेंगे।"

---

१ श्रीमद्भागवत में जरा नामक व्याध द्वारा श्रीकृष्ण के पादतल में वाण का प्रहार करने का उल्लेख है :-

मुसलावशेषाय:खण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा।
मृगास्याकारं तच्चरणं, विव्याध मृगशंकया ।।३३।।

[श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, अ० ३०]

कृष्ण के समझाने पर जराकुमार ने पाण्डव-मथुरा की ओर प्रस्थान कर दिया ।

प्यास के साथ बाण की तीव्र वेदना से व्यथित श्रीकृष्ण बलदेव के आने से पूर्व ही एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर जीवनलीला समाप्त कर गये ।

थोड़ी ही देर में शीतल जल लेकर ज्योंही बलदेव पहुँचे और दूर से ही कृष्ण को लेटे देखा तो उन्हें निद्राधीन समझ कर उनके जगने की प्रतीक्षा करते रहे । बड़ी इन्तजार के बाद भी जब कृष्ण को जगते नहीं देखा तो बलदेव ने पास आकर कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाई ! जगो बहुत देर हो गई ।"

पर कृष्ण की ओर से कोई उत्तर न पा उन्होंने पीताम्बर हटाया । कृष्ण के पादतल में घाव देखते ही वे क्रुद्ध सिंह की तरह दहाड़ने लगे—"अरे कौन है वह दुष्ट, जिसने सोते हुए मेरे प्राणप्रिय भाई पर प्रहार किया है ? वह नराधम मेरे सम्मुख आये, मैं अभी उसे यमधाम पहुँचाये देता हूँ ।"

बलदेव बड़ी देर तक जंगल में इधर-उधर घातक को खोजने लगे । पर कृष्ण पर प्रहार करने वाले का कहीं पता न चलने पर वे पुनः कृष्ण के पास लौटे और शोकाकुल हो करुण विलाप करते हुए बार-बार कृष्ण को जगाने लगे और भीषण वन की काली अन्धेरी रात में कृष्ण के पास बैठे-बैठे करुण विलाप करते रहे ।

अन्त में सूर्योदय होने पर बलराम ने कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाई ! उठो, महापुरुष होकर भी आज तुम साधारण पुरुष की तरह इतने अधिक कैसे सोये हो ? उठो, सूर्योदय हो गया, अब यहाँ सोने से क्या होगा ? चलो आगे चलें ।"

यह कह कर बलराम ने अपने भाई के प्रति प्रबल अनुराग और मोह के कारण निर्जीव कृष्ण के तन को भी सजीव समझकर अपने कन्धे पर उठाया और ऊबड़-खाबड़ दुर्गम भूमि पर यत्र-तत्र स्खलित होते हुए भी आगे की ओर चल पड़े । इस तरह वे बिना विश्राम किये कृष्ण के पार्थिव शरीर को कन्धे पर उठाये, करुण-क्रन्दन करते हुए बीहड़ वनों में निरन्तर इधर-उधर घूमते रहे ।

बलराम को इस स्थिति में देखकर उनके सारथि सिद्धार्थ का जीव जो भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित हो संयमसाधना कर आयु पूर्ण होने पर देव हो गया था, बड़ा चिन्तित हुआ । उसने सोचा—"अहो ! कर्म की परिणति कैसी दुर्निवार है । त्रिखण्डाधिपति कृष्ण और बलराम की यह अवस्था ? मेरा कर्त्तव्य है कि मैं बलदेव को जाकर समझाऊँ ।"

इस प्रकार सोचकर देव ने विभिन्न प्रकार के दृष्टान्तों से बलराम को समझाने का प्रयत्न किया।

उसने बढ़ई का वेष बना कर, जिस पथ पर बलदेव जा रहे थे, उसी पथ में आगे बढ़ विकट पर्वतीय ऊँचे मार्ग को पार कर समतल भूमि में चकनाचूर हुए रथ को ठीक करने का उपक्रम प्रारम्भ किया। जब बलदेव उसके पास पहुँचे तो उन्होंने बढ़ई से कहा—"क्यों व्यर्थ प्रयास कर रहे हो ? दुर्लंघ्य पर्वतीय विकट मार्ग को पार करके जो रथ समतल भूमि में टूट गया, वह अब भला क्या काम देगा ?"

बढ़ई बने देव ने अवसर देख तत्काल उत्तर दिया—"महाराज ! जो कृष्ण तीन सौ साठ (३६०) भीषण युद्धों में नहीं मरे और अन्त में बिना किसी युद्ध के ही मारे गये, वे जीवित हो जायेंगे तो मेरा यह विकट दुर्लंघ्य गिरि-पथों को पार कर समतल भूमि में टूटा हुआ रथ क्यों नहीं ठीक होगा ?"

"कौन कहता है कि मेरा प्राणप्रिय भाई कृष्ण मर गया है ? यह तो प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ है। तुम महामूढ़ हो।" बलदेव गरजकर बोले और पथ पर आगे की ओर बढ़ गये।

देव उसी पथ पर आगे पहुँच गया और माली का रूप बनाकर मार्ग में ही निर्जल भूमि की एक शिला पर कमल उगाने का उपक्रम करने लगा।

वहाँ पहुँचने पर बलदेव ने उसे देख कर कहा—"क्या पागल हो गये हो जो निर्जल स्थल में और वह भी पाषाण-शिला पर कमल लगा रहे हो। भला शिला पर भी कभी कमल उगा है ?"

माली बने देव ने कहा—"महाराज ! मृत कृष्ण जीवित हो जायेंगे तो यह कमल भी इस शिला पर खिल जायगा।"

बलदेव क्रोधपूर्वक अपना उपर्युक्त उत्तर दोहराते हुए आगे बढ़ गये।

देव ने भी अपना प्रयास नहीं छोड़ा और वह राह पर आगे पहुँच कर जले हुए वृक्ष के अवशेष ठूंठ को पानी से सींचने लगा।

बलदेव ने जब उस जले हुए सूखे ठूंठ को पानी से सींचते हुए देखा तो कहने लगे—"अरे तुम विक्षिप्त तो नहीं हो गये हो, यह जला हुआ ठूंठ भी कहीं जल सींचने से हरा हो सकता है ?"

उस छद्म-वेषधारी देव ने कहा—"महाराज ! जब मरे हुए कृष्ण जीवित हो सकते हैं तो यह जला हुआ वृक्ष क्यों नहीं हरा होगा ?"

बलराम भृकुटि-विभंग से उसे देखते हुए आगे बढ़ गये ।

देव भी आगे पहुँच गया और एक मृत बैल के मुंह के पास घास और पानी रख कर उसे खिलाने-पिलाने की चेष्टा करने लगा ।

जब बलदेव उस स्थान पर पहुँचे तो यह सब देख कर बोले—"भले मनुष्य ! तुम में कुछ बुद्धि भी है या नहीं ? मरा जानवर भी कहीं खाता पीता है ?"

किसान बने हुए उस देव ने कहा—"पृथ्वीनाथ ! मृत कृष्ण भोजन पानी ग्रहण करेंगे तो यह बैल भी अवश्य घास चरेगा और पानी पीयेगा ।"

इस पर बलराम कुछ नहीं बोले और मार्ग पर आगे बढ़ गए ।

इस प्रकार उस देव ने विविध उपायों से बलदेव को समझाने का प्रयास किया, तब अन्त में बलदेव के मन में यह विचार आया—"क्या सचमुच कंस-केशिनिषूदन केशव अब नहीं रहे ? क्या जरासन्ध जैसे प्रबल पराक्रमी शत्रु का प्राणहरण करने वाले मेरे भैया कृष्ण परलोकगमन कर चुके हैं, जिस कारण कि ये सब लोग एक ही प्रकार की बात कह रहे हैं ?"

उसी समय उपयुक्त अवसर समझ कर देव अपने वास्तविक स्वरूप में बलदेव के समक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा—"बलदेव ! मैं वही आपका सारथि सिद्धार्थ हूं । भगवान् की कृपा से संयम-साधना कर मैं देव बना हूं । आपने मुझे मेरी दीक्षा के समय कहा था कि सिद्धार्थ ! यदि देव बन जाओ तो मुझे प्रतिबोध देने हेतु अवश्य आना । आपके उस वचन को याद करके आया हूं । महाराज ! यह ध्रुव सत्य और संसार का अपरिवर्तनीय अटल नियम है कि जो जन्म ग्रहण करता है, वह एक न एक दिन अवश्य मरता है । सच बात यह है कि श्रीकृष्ण अब नहीं रहे । आप जैसे महान् और समर्थ सत्पुरुष भी इस अपरिहार्य मृत्यु से विचलित हो मोह और शोक के शिकार हो जायेंगे तो साधारण व्यक्तियों की क्या स्थिति होगी ? स्मरण है आपको, प्रभु नेमिनाथ ने द्वारिकादाह के लिये पहले ही फरमा दिया था । वह भीषण लोमहर्षक काण्ड श्रीकृष्ण और आपके देखते-देखते हो गया ।"

"जो बीत चुका, उसका शोक व्यर्थ है । अब आप अणगार-धर्म को ग्रहण कर आत्मोद्धार कीजिए, जिससे फिर कभी प्रिय-वियोग का दारुण दुःख सहना ही नहीं पड़े ।

सिद्धार्थ की बातों से बलदेव का व्यामोह दूर हुआ । उन्होंने ससम्मान श्रीकृष्ण के पार्थिव शरीर का अन्त्येष्टि संस्कार किया ।

उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि ने बलराम की दीक्षा ग्रहण करने की अन्तर्भावना जान कर अपने एक जंघाचारण मुनि को बलराम के पास भेजा। बलराम ने आकाश-मार्ग से आये हुए मुनि को प्रणाम किया और तत्काल उनके पास दीक्षा ग्रहण कर श्रमण धर्म स्वीकार किया[1] और कठोर तपस्या की ज्वाला में अपने कर्मसमूह को इंधन की तरह जलाने लगे।

कालान्तर में उन हलायुध मुनि ने परम संवेग और वैराग्य भाव से षष्ठम अष्टम, मासक्षमणादि तप करते हुए गुरु-आज्ञा से एकल विहार स्वीकार किया। वे ग्राम नगरादि में विचरण करते हुए जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता वहीं रात भर के लिए निवास कर लेते।

किसी समय मासोपवास की तपस्या के पारण हेतु बलराम मुनि ने एक नगर में भिक्षार्थ प्रवेश किया। उनका तप से शुष्क शरीर भी अप्रतिहत सौन्दर्ययुक्त था। धूलि-धूसरित होने पर भी उनका तन बड़ा मनोहर, कान्तिपूर्ण और लुंचितकेश-सिर भी बड़ा मनोहर प्रतीत हो रहा था। बलराम के अद्भुत रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट नगर का सुन्दरी-मण्डल भिक्षार्थ जाते हुए महर्षि बलदेव को देख कुलमर्यादा को भूल कर उनके प्रति हाव-भाव बताने लगा। कूप-तट पर एक पुर-सुन्दरी ने तो मुनि की ओर एकटक देखते हुए कुए से जल निकालने के लिए कलश के बदले अपने शिशु के गले में ही रज्जु डाल दी। वह अपने शिशु को कुएं में डाल ही रही थी कि पास ही खड़ी एक अन्य स्त्री ने उसे—"अरे क्या अनर्थ कर रही है" यह कहकर सावधान किया।[2]

लोक-मुख से यह बात सुनकर महामुनि बलराम ने सोचा—"अहो कैसी मोह की छलना है, जिसके वशीभूत हो हमारे जैसे मुण्डित सिर वालों के पीछे भी ये ललनाएँ ऐसा कार्य करती हैं। पर इनका क्या दोष, मेरे ही पूर्वकृत कर्मों की परिणति से पुदगलों का ऐसा परिणमन है। ऐसी दशा में अब भिक्षा हेतु नगर या ग्राम में मुझे प्रवेश नहीं करना चाहिए। आज से मैं वन में ही निवास करूंगा।"

ऐसा विचार कर मुनि बलराम बिना भिक्षा ग्रहण किए ही वन की ओर लौट गये और तुंगियागिरी के गहन वन में जाकर घोर तपस्या करने लगे।

---

१ (क) ताव य णहंगणाओ समुद्देसं समागओ भयवओ सयासाओ एक्को विज्जाहर समणो।
दट्ठूण य तं……पडिवण्णा रामेण तस्सन्तिए दिक्खा।
[चउवन महापुरिस चरियं, पृष्ठ २०४]

(ख) दीक्षां जिघृक्षुं रामं च, ज्ञात्वा श्री नेम्यपि द्रुतम्।
विद्याधरमृषिं प्रैषीदेकमेकं कृपालुपु ॥३६॥ त्रि. श. पु. च., ८।१२

२ ……हा ! हयासि त्ति हयासे ! भणमाणेण संबोहिया [चउवन म. पु. च., पृ. २०८]

शत्रु राजाओं ने हलधर का एकाकी वनवास जान कर उन्हें मारने की तैयारी की, परन्तु सिद्धार्थ देव की रक्षा-व्यवस्था से वे वहां नहीं पहुँच सके।

मुनि बलराम वन में शान्त भाव से तप आराधन करने लगे।

उनके तपः प्रभाव से वन्य प्राणी सिंह और मृग परस्पर का वैर भूल उनके निकट बैठे रहते। एक दिन वे सूर्य की ओर मुंह किये कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ खड़े थे। उस समय कोई वन-छेदक वृक्ष काटने हेतु उधर आया और उसने मुनि को देखकर भक्ति सहित प्रणाम किया। तपस्वी मुनि को धन्य-धन्य कहते हुए पास के वृक्षों में से एक वृक्ष को काटने में जुट गया।

भोजन के समय अधकटे वृक्ष के नीचे छाया में वह भोजन करने बैठा। उसी समय अवसर देख मुनि शास्त्रोक्त विधि से चले। शुभ अध्यवसाय से एक हरिण भी यह सोच कर कि अच्छा धर्म-लाभ होगा, महामुनि का पारणा होगा, मुनि के आगे-आगे चला।

वृक्ष काटने वाले ने ज्योंही मुनि को देखा तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम के साथ मुनि को अपने भोजन में से भिक्षा देने लगा। 'काकतालीय' न्याय से उसी समय बड़े तीव्र वेग से वायु का झोंका आया और वह अधकटा विशाल वृक्ष मुनि बलराम, उस श्रद्धावनत सुथार और हरिण पर गिर पड़ा शुभ अध्यवसाय में मुनि बलराम, सुथार और हरिण तीनों एक साथ काल कर ब्रह्मलोक-पंचम कल्प में देव रूप से उत्पन्न हुए।

मुनि की तपस्या के साथ हरिण और सुथार की भावना भी बड़ी उच्च-कोटि की रही। मृग ने बिना कुछ दिये शुभ-भावना के प्रभाव से पंचम स्वर्ग की प्राप्ति कर ली।[1]

महामुनि थावच्चापुत्र

द्वारिका के समृद्धिशाली श्रेष्ठिकुलों में थावच्चापुत्र का प्रमुख स्थान था। इनकी अल्पायु में ही इनके पिता के दिवंगत हो जाने के कारण कुल का सारा कार्यभार थावच्चा गाथा-पत्नी चलाती रही। उसने अपने कुल की प्रतिष्ठा और धाक उसी प्रकार जमाये रखी जैसी कि श्रेष्ठी ने जमाई थी। थावच्चा गाथा-पत्नी की लोक में प्रसिद्धि होने के कारण उसके पुत्र की भी (थावच्चापुत्र की भी) थावच्चापुत्र के नाम से ही प्रसिद्धि हो गई।

---

१ (क) ········सुभभावणोवगयमाणसा य समुप्पण्णा बम्भलोयकप्पम्मि········

[चउवन महा. पु चरियं, पृ २०६]

(ख) ते त्रयस्तरुणा तेन, पतितेन हता मृताः।
पद्मोत्तरविमानान्तर्ब्रह्मलोकेऽभवन् सुराः ॥७०॥

[त्रिषष्टि शलाका पु च., पर्व ८, सर्ग ११]

गाथा-पत्नी ने बड़े लाड़-प्यार से अपने पुत्र थावच्चापुत्र का लालन-पालन किया और आठ वर्ष की आयु में उन्हें एक योग्य आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए रखा। कुशाग्रबुद्धि थावच्चापुत्र ने विनयपूर्वक अपने कलाचार्य के पास विद्याध्ययन किया और सर्वकलानिष्णात हो गये।

गाथा-पत्नी ने अपने इकलौते पुत्र का, युवावस्था में पदार्पण करते ही बड़ी धूमधाम से, बत्तीस इभ्यकुल की सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया। थावच्चापुत्र पहले ही विपुल सम्पत्ति के स्वामी थे फिर कन्यादान के साथ प्राप्त सम्पदा के कारण उनकी समृद्धि और अधिक प्रवृद्ध हो गई। वे बड़े आनन्द के साथ गार्हस्थ्य जीवन के भोगों का उपभोग करने लगे।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि अठारह हजार श्रमण और चालीस हजार श्रमणियों के धर्मपरिवार सहित विविध ग्राम-नगरों को अपने पावन चरणों से पवित्र करते हुए रैवतक पर्वत के नन्दन-वन उद्यान में पधारे।

प्रभु के शुभागमन के सुसंवाद को पाकर श्रीकृष्ण वासुदेव ने अपनी सुधर्म-सभा की कौमुदी घंटी बजवाई और द्वारिकावासियों को प्रभुदर्शन के लिए शीघ्र ही समुद्यत होने की सूचना दी। तत्काल दशों दशार्ह, समस्त यादव परिवार और द्वारिका के नागरिक स्थानानन्तर सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो भगवान् के समवसरण में जाने के लिए कृष्ण के पास आये।

श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ़ हो दशों दशार्हों, परिजनों, पुरजनों, चतुरंगिणी सेना और वासुदेव की सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ द्वारिका के राजमार्गों पर अग्रसर होते हुए भगवान् के समवसरण में पहुँचे। थावच्चाकुमार भी इस विशाल जनसमुदाय के साथ समवसरण में पहुँचा।

अत्यन्त प्रियदर्शी, नयनाभिराम एवं मनोहारी भगवान् के दर्शन करते ही सबके नयन-कमल और हृदय-कुमुद विकसित हो गये। सबने बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान् को वन्दन किया और यथोचित स्थान ग्रहण किया।

भगवान् की अघदलहारिणी देशना सुनने के पश्चात् श्रोतागण अपने-अपने आध्यात्मिक उत्थान के विविध संकल्पों को लिए अपने-अपने घर की ओर लौट गये।

थावच्चापुत्र भी भगवान् को वन्दन कर अपनी माता के पास पहुँचा और माता को प्रणाम कर कहने लगा—'अम्बे! मुझे भगवान् अरिष्टनेमि के अमोघ प्रवचन सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरी इच्छा संसार के विषय-भोगों से विरत हो गई है। मैं जन्म-मरण के बन्धनों से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा पाने हेतु प्रभु के चरण-शरण में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।"

अपने पुत्र की बात सुन कर गाथा-पत्नी थावच्चा अवाक् रह गई, मानो उस पर अनभ्र वज्र गिरा हो। उसने अपने पुत्र को त्याग-मार्ग से आने वाले घोर कष्टों से अवगत कराते हुए गृहस्थ-जीवन में रह कर ही यथाशक्ति धर्म-साधना करते रहने का आग्रह किया पर थावच्चा कुमार के अटल निश्चय को देख कर अन्त में उसने अपनी आन्तरिक इच्छा नहीं होते हुए भी उसे प्रव्रज्या लेने की अनुमति प्रदान की।

गाथा-पत्नी ने बड़ी धूमधाम के साथ अपने पुत्र का अभिनिष्क्रमणोत्सव करने का निश्चय किया। वह अपने कुछ आत्मीयों के साथ श्रीकृष्ण के प्रासाद में पहुँची और बहुमूल्य भेंट अर्पित कर उसने कृष्ण से निवेदन किया—"राज-राजेश्वर ! मेरा इकलौता पुत्र थावच्चा कुमार प्रभु अरिष्टनेमि के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार करना चाहता है। मेरी महती आकांक्षा है कि मैं बड़े ठाट के साथ उसका निष्क्रमण करूं। अतः आप कृपा कर छत्र चंवर और मुकुट प्रदान कीजिये।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"देवानुप्रिये ! तुम्हें इसकी किंचित्मात्र भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमणोत्सव करूंगा।"

कृष्ण की बात से गाथा-पत्नी आश्वस्त हो अपने घर लौट आई। श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ थावच्चा गाथा-पत्नी के भवन पर गये और थावच्चा पुत्र से बड़े मीठे वचनों में बोले—"देवानुप्रिय ! तुम मेरे बाहुबल की छत्रछाया में बड़े आनन्द के साथ सांसारिक भोगों का उपभोग करो। मेरी छत्रछाया में रहते हुए तुम्हारी इच्छा के विपरीत सिवा वायु के तुम्हारे शरीर का कोई स्पर्श तक भी नहीं कर सकेगा। तुम सांसारिक सुखों को ठुकरा कर व्यर्थ ही क्यों प्रव्रजित होना चाहते हो ?"

थावच्चापुत्र ने कहा—"देवानुप्रिय ! यदि आप मृत्यु और बुढ़ापे से मेरी रक्षा करने का दायित्व अपने ऊपर लेते हो तो मैं दीक्षित होने का विचार त्याग कर बेखटके सांसारिक सुखों को भोगने के लिए तत्पर हो सकता हूँ। वास्तव में मैं इस जन्म-मरण से इतना उत्पीड़ित हो चुका हूँ कि गला फाड़ कर रोने की इच्छा होती है। त्रिखण्डाधिपते ! क्या आप यह उत्तरदायित्व लेते हैं कि जरा और मरण मेरा स्पर्श नहीं कर सकेंगे ?"

श्रीकृष्ण बड़ी देर तक थावच्चापुत्र के मुख की ओर देखते ही रहे और अन्त में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—"जन्म, जरा और मरण तो दुर्निवार्य हैं। अनन्तबली तीर्थंकर और महान् शक्तिशाली देव भी इनका

निवारण करने में असमर्थ हैं। इनका निवारण तो केवल कर्म-मल का क्षय करने से ही संभव है।"

थावच्चापुत्र ने कहा—"हरे ! मैं इस जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख को मूलतः विनष्ट करना चाहता हूँ, वह बिना प्रव्रज्या-ग्रहण के संभव नहीं, अतः मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।"

परम विरक्त थावच्चापुत्र के इस ध्रुव-सत्य उत्तर से श्रीकृष्ण बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने तत्काल द्वारिका में घोषणा करवा दी कि थावच्चापुत्र अर्हत अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित होना चाहते हैं। उनके साथ जो कोई राजा, युवराज, देवी, रानी, राजकुमार, ईश्वर, तलवर, कौटुम्बिक, माण्डविक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति या सार्थवाह दीक्षित होना चाहते हों तो कृष्ण वासुदेव उन्हें सहर्ष आज्ञा प्रदान करते हैं। उनके आश्रित-जनों के योग-क्षेम का सम्पूर्ण दायित्व कृष्ण लेते हैं।"

श्रीकृष्ण की इस घोषणा को सुन कर थावच्चापुत्र के प्रति असीम अनुराग रखने वाले उग्र-भोगवंशीय व इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति आदि एक हजार पुरुष दीक्षित होने हेतु तत्काल वहाँ आ उपस्थित हुए।

स्वयं श्रीकृष्ण ने जलपूर्ण चांदी-सोने के घड़ों से थावच्चापुत्र के साथ-साथ उन एक हजार दीक्षार्थियों का अभिषेक किया और उन सब को बहुमूल्य सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर एक विशाल पालकी में बिठा उनका दीक्षा-महोत्सव किया।

निष्क्रमणोत्सव की शोभायात्रा में सबसे आगे विविध वाद्यों पर मन को मुग्ध करने वाली मधुर धुन बजाते हुए वादकों की कतारें, उनके पीछे वाद्य-ध्वनि के साथ-साथ पदक्षेप करती हुई वासुदेव की सेना, नाचते हुए तरल तुरंगों की सेना, फिर मेघगर्जना सा 'घर-घर' रव करती रथसेना, चिंघाड़ते हुए दीर्घ-दन्त, मदोन्मत्त हाथियों की गजसेना और तदनन्तर एक हजार एक दीक्षार्थियों की देवविमान सी सुन्दर विशाल पालकी, उनके पीछे श्रीकृष्ण, दशार्ह, यादव कुमार और उनके पीछे लहराते हुए सागर की तरह अपार जन-समूह।

समुद्र की लहरों की तरह द्वारिका के विस्तीर्ण स्वच्छ राजपद पर अग्रसर होता हुआ निष्क्रमणोत्सव का यह जलूस समवसरण की ओर बढ़ा। समवसरण के छत्रादि दृष्टिगोचर होते ही दीक्षार्थी पालकी से उतरे।

श्रीकृष्ण थावच्चापुत्र को आगे लिये प्रभु के पास पहुँचे और तीन प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें वन्दन किया। थावच्चापुत्र ने भगवान् को वन्दन किया और

एक हजार पुरुषों के साथ सब आभूषणों को उतार स्वयमेव पंचमुष्टि लुंचन कर प्रभु नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षित होकर थावच्चापुत्र ने भगवान् अरिष्टनेमि के स्थविरों के पास चौदह पूर्वों एवं एकादश अंगों का अध्ययन किया और चतुर्थ भक्तादि तपस्या से अपने कर्म-मल को साफ करने लगे।

अर्हत् अरिष्टनेमि ने थावच्चाकुमार की आत्मनिष्ठा, तपोनिष्ठा, तीक्ष्ण बुद्धि और हर तरह योग्यता देखकर उनके साथ दीक्षित हुए एक हजार मुनियों को उनके शिष्य रूप में प्रदान किया और उन्हें भारत के विभिन्न जनपदों में विहार कर जन-कल्याण करने की आज्ञा दी। अणगार थावच्चापुत्र ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर भारत के सुदूर प्रान्तों में अप्रतिहत विहार एवं धर्म का प्रचार करते हुए अनेक भव्यों का उद्धार किया।

अनेक जनपदों में विहार करते हुए थावच्चापुत्र अपने एक हजार शिष्यों के साथ एक समय शैलकपुर पधारे। वहाँ आपके तात्त्विक एवं विरक्तिपूर्ण उपदेश को सुनकर 'शैलक' जनपद के नरपति 'शैलक राजा' ने अपने पंथक आदि पाँच सौ मन्त्रियों के साथ श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

इस प्रकार धर्मपथ से भूले-भटके अनेक लोगों को सत्पथ पर अग्रसर करते हुए थावच्चापुत्र सौगन्धिका नगरी पधारे।

सौगन्धिका नगरी में अणगार थावच्चापुत्र के पधारने से कुछ दिनों पहले वेद-वेदांग और सांख्यदर्शन के पारगामी गैरुक वस्त्रधारी शुक नामक प्रकाण्ड विद्वान् परिव्राजकाचार्य आये थे। शुक के उपदेश से सौगन्धिका नगरी का सुदर्शन नामक प्रतिष्ठित श्रेष्ठी बड़ा प्रभावित हुआ और शुक द्वारा प्रतिपादित शौचधर्म को स्वीकार कर वह शुक का उपासक बन गया था।

अणगार थावच्चापुत्र के सौगन्धिका नगरी में पधारने की सूचना मिलते ही सुदर्शन सेठ और सौगन्धिका नगरी के निवासी उनका धर्मोपदेश सुनने गये। उपदेश-श्रवण के पश्चात् सुदर्शन ने थावच्चापुत्र से धर्म एवं आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी अनेक प्रश्न किये। थावच्चापुत्र के युक्तिपूर्ण और सारगर्भित उत्तर से सुदर्शन के सब संशय दूर हो गये और उसने थावच्चापुत्र से श्रावक-धर्म अंगीकार किया।

किसी अन्य स्थान पर विचरण करते हुए शुक परिव्राजक को जब सुदर्शन के श्रमणोपासक बनने की सूचना मिली तो वे सौगन्धिका नगरी आये और सुदर्शन के घर पहुँचे।

किन्तु सुदर्शन से पूर्व की तरह अपेक्षित वन्दन, सत्कार, सम्मान न पाकर शुक ने उससे उस उदासीनता और उपेक्षा का कारण पूछा ।

सुदर्शन ने खड़े हो हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"विद्वन् ! मैंने अणगार थावच्चापुत्र से जीवाजीवादि तत्वों का वास्तविक स्वरूप समझ कर विनयमूलक धर्म स्वीकार कर लिया है ।"

परिव्राजकाचार्य शुक ने सुदर्शन से पूछा—"तेरे वे धर्माचार्य कहाँ हैं ?"

सुदर्शन ने उत्तर दिया—"वे नगर के बाहर नीलाशोक उद्यान में विराजमान हैं ।"

शुक ने कहा—"मैं अभी तुम्हारे धर्म-गुरु के पास जाता हूँ और उनसे सैद्धान्तिक, तात्त्विक, धर्म सम्बन्धी और व्याकरण विषयक जटिल प्रश्न पूछता हूँ । अगर उन्होंने मेरे सब प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर दिया तो मैं उनको नमस्कार करूँगा अन्यथा उन्हें अकाट्य युक्तियों और नय-प्रमाण से निरुत्तर कर दूंगा ।"

यह कह कर परिव्राड्राज शुक अपने एक हजार परिव्राजकों और सुदर्शन सेठ के साथ नीलाशोक उद्यान में अनगार थावच्चापुत्र के पास पहुंचे । उसने उनके समक्ष अनेक जटिल प्रश्न रखे ।

अणगार थावच्चापुत्र ने उसके प्रत्येक प्रश्न का प्रमाण, नय एवं युक्तिपूर्ण ढंग से हृदयग्राही स्पष्ट उत्तर दिया । शुक को उन उत्तरों से पूर्ण संतोष के साथ वास्तविक बोध हुआ । उसने थावच्चापुत्र से प्रार्थना की कि वे उसे धर्मोपदेश दें ।

अणगार थावच्चापुत्र से हृदयस्पर्शी धर्मोपदेश सुन कर शुक ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और तत्काल अपने एक हजार परिव्राजकों के साथ पंचमुष्टि-लुंचन कर उनके पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की तथा अणगार थावच्चापुत्र के पास चौदह पूर्व एवं एकादश अंगों का अध्ययन कर स्वल्प समय में ही आत्मविद्या का वह पारगामी बन गया । थावच्चापुत्र ने शुक को सब तरह से योग्य समझ कर आज्ञा दी कि वह अपने एक हजार शिष्यों के साथ भारतवर्ष के सन्निकट व सुदूर प्रदेशों में विचरण कर भव्य प्राणियों को धर्म-मार्ग पर आरूढ़ करे ।

अपने गुरु थावच्चापुत्र की आज्ञा शिरोधार्य कर महामुनि शुक ने अपने एक हजार अणगारों के साथ अनेक प्रदेशों में धर्म का प्रचार किया । थावच्चापुत्र के श्रमणोपासक शैलकपुर के महाराजा शैलक ने भी शुक के उपदेश से प्रभावित हो पंथक आदि अपने पांच सौ मन्त्रियों के साथ श्रमण-दीक्षा स्वीकार की ।

थावच्चापुत्र ने अनेक वर्षों की कठोर संयम-साधना, धर्म-प्रसार और अनेक प्राणियों का कल्याण कर अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर आकर एक मास की संलेखना की और केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

थावच्चापुत्र के शिष्य शुक और प्रशिष्य शैलक राजर्षि ने भी कालान्तर में पुण्डरीक पर्वत पर एक मास की संलेखना कर निर्वाण प्राप्त किया।

शैलक राजर्षि कठोर तपस्या और अन्तप्रान्त अननुकूल आहार के कारण भयंकर व्याधियों से पीड़ित हो गये थे। यद्यपि वे रोगोपचार के समय प्रमादी और शिथिलाचारी हो गये थे। पर कुछ ही समय पश्चात् अपने शिष्य पंथक के प्रयास से सम्हल गये और अपने शिथिलाचार का प्रायश्चित्त कर तप-संयम की कठोर साधना द्वारा स्वपर-कल्याण-साधन में लग गये। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, वे अन्त में आठों कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

इस प्रकार थावच्चामुनि आदि इन पच्चीस सौ (२५००) श्रमणों ने अरिहंत अरिष्टनेमि के शासन की शोभा बढ़ाते हुए अपनी आत्मा का कल्याण किया।

अरिष्टनेमि का द्वारिका-विहार और भव्यों का उद्धार

भगवान् नेमिनाथ अप्रतिबद्ध विहारी थे। वीतरागी व केवली होकर भी वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहे। उन्होंने दूर-दूर तक विहार किया। सौराष्ट्र की भूमि उनके विहार, विचार और प्रचार से आज भी पूर्ण प्रभावित है। यद्यपि उनके वर्षावास का निश्चित पता नहीं चलता, फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विहार-क्षेत्र अधिकांशतः द्वारिका रहा है। वासुदेव कृष्ण की भक्ति और पुरवासी जनों की श्रद्धा से द्वारिका उस समय का धार्मिक केन्द्र सा प्रतीत होता है। भगवान् नेमिनाथ का बार-बार द्वारिका पधारना भी इसका प्रमाण है।

एक समय की बात है कि जब भगवान् द्वारिका के नन्दन वन में विराजे हुए थे, उस समय अन्धकवृष्णि के समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कम्पित, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु आदि दश पुत्रों ने राज्य वैभव छोड़कर प्रभु के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण की। दूसरी बार हिमवंत, अचल, धरण, पूरण आदि वृष्णि-पुत्रों के भी इसी भाँति प्रव्रजित होने का उल्लेख मिलता है। तीसरी बार प्रभु के पधारने पर वसुदेव और धारिणी के पुत्र सारण कुमार ने दीक्षा ग्रहण की। सारणकुमार की पचास पत्नियां थीं, पर प्रभु की वाणी से विरक्त होकर उन्होंने सब भोगों को ठुकरा दिया। बलदेव पुत्र सुमुख, दुर्मुख, कूपक और वसुदेव पुत्र दारुक एवं अनाधृष्टि की प्रव्रज्या भी द्वारिका में ही हुई प्रतीत होती

किन्तु सुदर्शन से पूर्व की तरह अपेक्षित वन्दन, सत्कार, सम्मान न पाकर शुक ने उससे उस उदासीनता और उपेक्षा का कारण पूछा।

सुदर्शन ने खड़े हो हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"विद्वन्! मैंने अरणगार थावच्चापुत्र से जीवाजीवादि तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप समझ कर विनयमूलक धर्म स्वीकार कर लिया है।"

परिव्राजकाचार्य शुक ने सुदर्शन से पूछा—"तेरे वे धर्माचार्य कहाँ हैं?"

सुदर्शन ने उत्तर दिया—"वे नगर के बाहर नीलाशोक उद्यान में विराजमान हैं।"

शुक ने कहा—"मैं अभी तुम्हारे धर्म-गुरु के पास जाता हूँ और उनसे सैद्धान्तिक, तात्त्विक, धर्म सम्बन्धी और व्याकरण विषयक जटिल प्रश्न पूछता हूँ। अगर उन्होंने मेरे सब प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर दिया तो मैं उनको नमस्कार करूँगा अन्यथा उन्हें अकाट्य युक्तियों और नय-प्रमारण से निरुत्तर कर दूंगा।"

यह कह कर परिव्राड्राज शुक अपने एक हजार परिव्राजकों और सुदर्शन सेठ के साथ नीलाशोक उद्यान में अनगार थावच्चापुत्र के पास पहुंचे। उसने उनके समक्ष अनेक जटिल प्रश्न रखे।

अरणगार थावच्चापुत्र ने उसके प्रत्येक प्रश्न का प्रमारण, नय एवं युक्तिपूर्ण ढंग से हृदयग्राही स्पष्ट उत्तर दिया। शुक को उन उत्तरों से पूर्ण संतोष के साथ वास्तविक बोध हुआ। उसने थावच्चापुत्र से प्रार्थना की कि वे उसे धर्मोपदेश दें।

अरणगार थावच्चापुत्र से हृदयस्पर्शी धर्मोपदेश सुन कर शुक ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और तत्काल अपने एक हजार परिव्राजकों के साथ पंचमुष्टि-लुंचन कर उनके पास श्रमरण-दीक्षा स्वीकार की तथा अरणगार थावच्चापुत्र के पास चौदह पूर्व एवं एकादश अंगों का अध्ययन कर स्वल्प समय में ही आत्मविद्या का वह पारगामी बन गया। थावच्चापुत्र ने शुक को सब तरह से योग्य समझ कर आज्ञा दी कि वह अपने एक हजार शिष्यों के साथ भारतवर्ष के सन्निकट व सुदूर प्रदेशों में विचरण कर भव्य प्राणियों को धर्म-मार्ग पर आरूढ़ करे।

अपने गुरु थावच्चापुत्र की आज्ञा शिरोधार्य कर महामुनि शुक ने अपने एक हजार अरणगारों के साथ अनेक प्रदेशों में धर्म का प्रचार किया। थावच्चापुत्र के श्रमरणोपासक शैलकपुर के महाराजा शैलक ने भी शुक के उपदेश से प्रभावित हो पंथक आदि अपने पांच सौ मन्त्रियों के साथ श्रमरण-दीक्षा स्वीकार की।

थावच्चापुत्र ने अनेक वर्षों की कठोर संयम-साधना, धर्म-प्रसार और अनेक प्राणियों का कल्याण कर अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर आकर एक मास की संलेखना की और केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

थावच्चापुत्र के शिष्य शुक और प्रशिष्य शैलक राजर्षि ने भी कालान्तर में पुण्डरीक पर्वत पर एक मास की संलेखना कर निर्वाण प्राप्त किया।

शैलक राजर्षि कठोर तपस्या और अन्तप्रान्त अननुकूल आहार के कारण भयंकर व्याधियों से पीड़ित हो गये थे। यद्यपि वे रोगोपचार के समय प्रमादी और शिथिलाचारी हो गये थे। पर कुछ ही समय पश्चात् अपने शिष्य पंथक के प्रयास से सम्हल गये और अपने शिथिलाचार का प्रायश्चित्त कर तप-संयम की कठोर साधना द्वारा स्वपर-कल्याण-साधन में लग गये। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, वे अन्त में आठों कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

इस प्रकार थावच्चामुनि आदि इन पच्चीस सौ (२५००) श्रमणों ने अरिहंत अरिष्टनेमि के शासन की शोभा बढ़ाते हुए अपनी आत्मा का कल्याण किया।

अरिष्टनेमि का द्वारिका-विहार और भव्यों का उद्धार

भगवान् नेमिनाथ अप्रतिबद्ध विहारी थे। वीतरागी व केवली होकर भी वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहे। उन्होंने दूर-दूर तक विहार किया। सौराष्ट्र की भूमि उनके विहार, विचार और प्रचार से आज भी पूर्ण प्रभावित है। यद्यपि उनके वर्षावास का निश्चित पता नहीं चलता, फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विहार-क्षेत्र अधिकांशतः द्वारिका रहा है। वासुदेव कृष्ण की भक्ति और पुरवासी जनों की श्रद्धा से द्वारिका उस समय का धार्मिक केन्द्र सा प्रतीत होता है। भगवान् नेमिनाथ का बार-बार द्वारिका पधारना भी इसका प्रमाण है।

एक समय की बात है कि जब भगवान् द्वारिका के नन्दन वन में विराजे हुए थे, उस समय अन्धकवृष्णि के समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कम्पित, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु आदि दश पुत्रों ने राज्य वैभव छोड़कर प्रभु के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण की। दूसरी बार हिमवंत, अचल, धरण, पूरण आदि वृष्णि-पुत्रों के भी इसी भाँति प्रव्रजित होने का उल्लेख मिलता है। तीसरी बार प्रभु के पधारने पर वसुदेव और धारिणी के पुत्र सारण कुमार ने दीक्षा ग्रहण की। सारणकुमार की पचास पत्नियां थीं, पर प्रभु की वाणी से विरक्त होकर उन्होंने सब भोगों को ठुकरा दिया। बलदेव पुत्र सुमुख, दुर्मुख, कूपक और वसुदेव पुत्र दारुक एवं अनाधृष्टि की प्रव्रज्या भी द्वारिका में ही हुई प्रतीत होती

है। फिर वसुदेव और धारिणी के पुत्र जालि, मयालि, उपयालि, पुरुषसेन, वारिषेण तथा कृष्ण के नन्दन प्रद्युम्न एवं जाम्बवती के पुत्र साम्बकुमार, वैदर्भीकुमार अनिरुद्ध तथा समुद्रविजय के सत्यनेमि, दृढ़नेमि ने तथा कृष्ण की अन्य रानियों ने भी द्वारिका में ही दीक्षा ग्रहण की थी। रानियों के अतिरिक्त मूलश्री और मूलदत्ता नाम की दो पुत्रवधुओं की दीक्षा भी द्वारिका में ही हुई थी। इन सबसे ज्ञात होता है कि कृष्ण वासुदेव के परिवार के सभी लोग भगवान् अरिष्टनेमि के प्रति अटूट श्रद्धा रखते थे।

पाण्डवों का वैराग्य और मुक्ति

श्रीकृष्ण के अन्तिम आदेश का पालन करते हुए जब जराकुमार पाण्डवों के पास पाण्डव-मथुरा[1] में पहुँचा तो उसने श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त कौस्तुभ मणि पाण्डवों को दिखाई और रोते-रोते द्वारिकादाह, यदुवंश के सर्वनाश और अपने द्वारा हरिण की आशंका से चलाये गये बाण के प्रहार से श्रीकृष्ण के निधन आदि की सारी दुःखद घटनाओं का विवरण उन्हें कह सुनाया।

जराकुमार के मुख से हृदयविदारक शोक-समाचार सुन कर पाँचों पाण्डव और द्रौपदी आदि शोकाकुल हो विलख-विलख कर रोने लगे। अपने परम सहायक और अनन्य उपकारक श्रीकृष्ण के निधन से तो उन्हें वज्रप्रहार से भी अधिक आघात पहुँचा। उन्हें सारा विश्व शून्य सा लगने लगा। उन्हें संसार के जंजाल भरे क्रिया-कलापों से सर्वथा विरक्ति हो गई।

घट-घट के मन की बात जानने वाले अन्तर्यामी प्रभु अरिष्टनेमि ने पाण्डवों की संयम-साधना की आन्तरिक इच्छा को जान कर तत्काल अपने चरमशरीरी चार ज्ञान के धारक स्थविर मुनि धर्मघोष को ५०० मुनियों के साथ पाण्डवमथुरा भेजा।[2] पाण्डवमथुरा में ज्योंहीं स्थविर धर्मघोष के आने का समाचार पाण्डवों ने सुना तो वे सपरिवार मुनि को वन्दन करने गये और उनके उपदेश से आत्मशुद्धि को ही सारभूत समझ कर युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयों ने अपने पुत्र पाण्डुसेन[3] को पाण्डव-मथुरा का राज्य दे धर्मघोष के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

---

१ ········केणइ कालंतरेण संपत्तो दाहिण महुरं। [च. म. पु. च., पृ. २०५]

२ तान् प्रविव्रजिषून्ज्ञात्वा, श्रीनेमिः प्राहिणोन्मुनिम्।
धर्मघोषं चतुर्ज्ञानं, मुनिपञ्चशतीयुतम् ॥६२॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १२]

१ (क) ज्ञाता धर्म कथा में पाण्डुसेन को ही राज्य देने का उल्लेख है।
(ख) जारेयं न्यस्य ते राज्ये········।
[त्रिषष्टि श. पु. च., ८।१२, श्लोक ६३]
(ग) ········सयलसामन्ताणं समत्थिऊण णिवेसियो नियय रज्जे जराकुमारो।
[च. म. पु. च., पृष्ठ २०५]

महारानी द्रौपदी भी आर्या सुव्रता के पास दीक्षित हो गई।

दीक्षित होने के पश्चात् पाँचों पाण्डवों और सती द्रौपदी ने क्रमशः चौदह पूर्व और एकादश अंगों का अध्ययन करने के साथ-साथ बड़ी घोर तपस्याएँ कीं। कठोर संयम और तप की तीव्र अग्नि में अपने कर्मसमूह को भस्मसात् करते हुए जिस समय युधिष्ठिर, भीम आदि पाँचों पाण्डव-मुनि ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे, उस समय उन्होंने सुना कि अरिहंत अरिष्टनेमि सौराष्ट्र प्रदेश में अनेक भव्य जीवों का उद्धार करते हुए विचर रहे हैं, तो पांचों मुनियों के मन में भगवान् के दर्शन एवं वन्दन की तीव्र उत्कण्ठा हुई। उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर सौराष्ट्र की ओर विहार किया। पांचों मुनि मास, अर्द्धमास की तपस्या करते हुए सौराष्ट्र की ओर बढ़ते हुए एक दिन उज्जयन्तगिरि से १२ योजन दूर हस्तकल्प[1] नगर के बाहर सहस्राम्रवन में ठहरे।

युधिष्ठिर मुनि को उसी स्थान पर छोड़ कर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव मास-तप के पारण हेतु नगर में भिक्षार्थ गये। भिक्षार्थ घूमते समय उन्होंने सुना कि भगवान् नेमिनाथ उज्जयन्तगिरि पर एक मास की तपस्यापूर्वक ५३६ साधुओं के साथ चार अघाती कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। चारों मुनि यह सुन कर बड़े खिन्न हुए और तत्काल ही सहस्राम्रवन में लौट आये।

युधिष्ठिर के परामर्शानुसार पूर्वगृहीत आहार का परिष्ठापन कर पाँचों मुनि शत्रुंजय पर्वत पहुँचे और वहां उन्होंने संलेखना की।

अनेक वर्षों की संयम-साधना कर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने २ मास की संलेखना से आराधना कर कैवल्य की उपलब्धि के पश्चात् अजरामर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

आर्या द्रौपदी भी अनेक वर्षों तक कठोर संयम-तप की साधना और एक मास की संलेखना में काल कर पंचम कल्प में महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुई।[2]

धर्म-परिवार

भगवान् अरिष्टनेमि के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण – ग्यारह (११) वरदत्त आदि गणधर एवं

---

१ अस्माद् द्वादशयोजनानि स गिरिर्नेमि प्रगे वीक्ष्य तत्......।
[त्रिषष्टि श. पु. च., ८।१२, श्लो० १२६]

२ ज्ञाता धर्म कथांग १।१६।

११ ही गण[1]

केवली	–	एक हजार पाँच सौ (१,५००)
मन:पर्यवज्ञानी	–	एक हजार (१,०००)
अवधिज्ञानी	–	एक हजार पाँच सौ (१,५००)
चौदह पूर्वधारी	–	चार सौ (४००)
वादी	–	आठ सौ (८००)
साधु	–	अठारह हजार (१८,०००)
साध्वी	–	चालीस हजार (४०,०००)
श्रावक	–	एक लाख उनहत्तर हजार (१,६९,०००)
श्राविका	–	तीन लाख छत्तीस हजार (३,३६०,००)
अनुत्तरगति वाले	–	एक हजार छः सौ (१,६००)

एक हजार पाँच सौ (१५००) श्रमण और तीन हजार (३०००) श्रमणियां, इस प्रकार प्रभु के कुल चार हजार पाँच सौ अन्तेवासी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए ।

परिनिर्वाण

कुछ कम सात सौ वर्ष की केवलीचर्या के पश्चात् प्रभु ने जब आयुकाल निकट समझा तो उज्जयंतगिरि पर पाँच सौ छत्तीस साधुओं के[2] साथ एक मास का अनशन ग्रहण कर आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को चित्रा नक्षत्र के योग में मध्य-रात्रि के समय आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघाति कर्मों का क्षय कर निषद्या आसन से वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए । अरिहन्त अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष कुमार अवस्था में रहे, चौवन दिनों तक छद्मस्थ रूप से साधनारत रहे और कुछ कम सात सौ वर्ष केवली रूप में विचरे । इस तरह प्रभु की कुल आयु एक हजार वर्ष की थी ।

ऐतिहासिक परिपार्श्व

आधुनिक इतिहासज्ञ भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्वनाथ को ही अब तक ऐतिहासिक पुरुष मान रहे थे, परन्तु कुछ वर्षों के तटस्थ एवं निष्पक्ष अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया है कि अरिहन्त अरिष्टनेमि भी ऐतिहासिक

---

१ (क) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते ।
[प्रवचन सारोद्धार, पूर्व भाग, द्वार १५, पृष्ठ ८६ (२)]

(ख) अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अट्ठारस गणा, अट्ठारस गणहरा हुत्था ।।१७५।।
[कल्प० ७ स०]

२ आव० निर्युक्ति, गाथा ३३०, पृ. २१४ प्रथम ।

पुरुष थे। प्रसिद्ध कोशकार डॉ० नरेन्द्रनाथ बसु, पुरातत्वज्ञ डॉ० फूहर्र प्रोफेसर वारनेट, कर्नल टॉड, मिस्टर करवा, डॉ० हरिसन, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार डॉ० राधाकृष्णन् आदि अनेक विज्ञों ने धारणा व्यक्त की है कि अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं।

ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है।[१] महाभारत में तार्क्ष्य शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है।[२] उन तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष सम्बन्धी उपदेश दिया है[३] उसकी तुलना जैन धर्म के मोक्ष सम्बन्धी मन्तव्यों से की जा सकती है। तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने सगर से कहा—"सगर! संसार में मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है किन्तु धन, धान्य, पुत्र, कलत्र एवं पशु आदि में आसक्त मूढ़ मनुष्य को इसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में अनुरक्त एवं मन अशान्त है, ऐसे जनों की चिकित्सा अत्यन्त कठिन है। स्नेह-बन्धन में बँधा हुआ मूढ़ मोक्ष पाने के योग्य नहीं है।"

ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट है कि सगर के समय में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे, एतदर्थ यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता। ऋग्वेद में भी तार्क्ष्य अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। इसके लिए विशेष पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता है। "लंकावतार" के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नामों में अरिष्टनेमि का नाम भी आया है। वहाँ लिखा है कि एक ही वस्तु के अनेक नाम होने की तरह बुद्ध के भी असंख्य नाम हैं। लोग इन्हें तथागत, स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, ईश्वर, विष्णु, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि आदि नामों से पुकारते हैं। यह उल्लेख इससे पूर्व अरिष्टनेमि का होना प्रमाणित करता है। 'ऋषि-भासित सुत्त' में अरिष्टनेमि और कृष्ण-निरूपित पैंतालीस अध्ययन हैं, उनमें बीस अध्ययनों के प्रत्येक बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हुए थे। उनके द्वारा निरूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थों में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख हुआ है। इतना ही नहीं, तीर्थंकर अरिष्टनेमि का प्रभाव भारत के बाहर विदेशों में पहुँचा प्रतीत होता है। कर्नल टॉड के शब्द हैं—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डोनेविया निवासियों के प्रथम "ओडिन" और चीनियों के प्रथम "फो" देवता थे।" धर्मानन्द कौशाम्बी ने घोर आंगिरस को नेमिनाथ माना है।

---

१ ऋग्वेद : १।१४।८६।६।१।२४।१८०।१०।३।४।५३।१७।१०।१२।१७८।१। मथुरा १९६०
२ महाभारत का शान्ति पर्व २८८।४।।२८८।५।६।
३ सगर चक्रवर्ती से भिन्न, यह कोई अन्य राजा सगर होना चाहिए।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० राय चौधरी ने अपने "वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास" में अरिष्टनेमि को कृष्ण का चचेरा भाई लिखा है, किन्तु उन्होंने इससे अधिक जैन ग्रन्थों में वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त का कोई उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि अपने ग्रन्थ में डॉ० राय चौधरी ने कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के सम्बन्ध में उपलब्ध प्रमाणों का संकलन किया है। अतः उनकी दृष्टि उसी ओर सीमित रही है।[1]

प्रभास पुराण में भी अरिष्टनेमि और कृष्ण से सम्बन्धित इस प्रकार का उल्लेख है।[2] यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है—"अध्यात्मवेद को प्रकट करने वाले संसार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान् होती है, उन सर्वज्ञ अरिष्टनेमि के लिए आहुति समर्पित है।"[3]

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद के मांडक्य प्रश्न और मुंडक में भी अरिष्टनेमि का नाम आया है।

महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों का उल्लेख है। उनमें "शूरः शौरिर्जनेश्वरः" पद व्यवहृत हुआ है।

इन श्लोकों का अन्तिम चरण ध्यान देने योग्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जयपुर में टोडरमल नामक एक जैन विद्वान् हुए हैं। उन्होंने "मोक्ष मार्ग प्रकाश" नामक अपने ग्रन्थ में 'जनेश्वर' के स्थान पर 'जिनेश्वर' लिखा है। दूसरी बात यह है कि इसमें श्रीकृष्ण को 'शौरिः' लिखा है। आगरा जिले में वटेश्वर के पास शोरिपुर नामक स्थान है। जैन ग्रन्थों के अनुसार आरम्भ में यहीं पर यादवों की राजधानी थी। यहीं से यादवगण भाग कर द्वारिकापुरी पहुँचे थे। यहीं पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था, अतः उन्हें 'शौरि' भी कहा है, और वे जिनेश्वर तो थे ही।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भगवान् अरिष्टनेमि निस्संदेह एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। अब तो आजकल के विद्वान् भी उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

---

१ जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. १७० से।

२ अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ।।५०।।
कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ।।८२।।

३ वाजस्यनु प्रसव बभूवे मा च विश्वा भुवनानि सर्वतः, स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्द्धमानो अस्मै स्वाहा ।। [वाजसनेयि माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता अ० ९ मंत्र २५। यजुर्वेद सातवलेकर संस्करण (वि० सं० १९८४)]

वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि और उनका वंश-वर्णन

संसार के प्रायः सभी प्राचीन और अर्वाचीन इतिहासज्ञों का अभिमत है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक महापुरुष हो गये हैं। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण के ताऊ के सुपुत्र भगवान् अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करने में कोई दो राय नहीं हो सकती और न इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद की ही गुंजायश रहती है।

फिर भी आज तक यह प्रश्न इतिहासज्ञों के समक्ष अनबूझी पहेली की तरह उपस्थित रहा है कि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में, जहां कि यादववंश का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, अरिष्टनेमि का कहीं उल्लेख है अथवा नहीं।

इस प्रहेलिका को हल करने के लिये इतिहास के विद्वानों ने समय-समय पर कई प्रयास किये पर उनकी शोध के केन्द्रविन्दु संभवतः श्रीमद्भागवत और महाभारत ही रहे, अतः इस पहेली के समाधान में उन्हें पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी। फलतः अन्यत्र सूक्ष्म अन्वेषण एवं गहन गवेषणा के अभाव में इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की वास्तविक स्थिति के ज्ञान से संसार को वंचित ही रहना पड़ा।

इस तथ्य के सम्बन्ध में यह धूमिल एवं अस्पष्ट स्थिति हमें वहुत दिनों से खलती रही है। हमने वैदिक परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इस पहेली के हल को ढूंढ़ने का अनवरत प्रयास किया और अन्ततोगत्वा वेदव्यास प्रणीत 'हरिवंश' को गहराई से देखा तो यह उलझी हुई गुत्थी स्वतः सुलझ गई और भारतीय इतिहास का एक धूमिल तथ्य स्पष्टतः प्रकट हो गया।

हरिवंश में महाभारतकार वेदव्यास ने श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का चचेरे भाई होना स्वीकार किया है। इस विषय से सम्बन्धित 'हरिवंश' के मूल श्लोक इस प्रकार हैं :—

> वभूवुस्तु यदोः पुत्राः, पंच देवसुतोपमाः।
> सहस्रदः पयोदश्च, क्रोष्टा नीलांऽजिकस्तथा ।।१।।
>
> [हरिवंश पर्व १, अध्याय ३३]

अर्थात् महाराज यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अंजिक नाम के देवकुमारों के तुल्य पाँच पुत्र हुए।

गान्धारी चैव माद्री च, क्रोष्टोर्भार्ये बभूवतुः ।
गान्धारी जनयामास, अनमित्रं महाबलम् ।।१।।

माद्री युधाजितं पुत्रं, ततोऽन्यं देवमीढुषम् ।।
तेषां वंशस्त्रिधाभूतो, वृष्णीनां कुलवर्द्धनः ।।२।।
[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

अर्थात् क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित् और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए ।

माद्र्याः पुत्रस्य जज्ञाते, सुतौ वृष्ण्यन्धकावुभौ ।
जज्ञाते तनयौ वृष्णेः, स्वफल्कश्चित्रकस्तथा ।।३।।
[वही]

क्रोष्टा के बड़े पुत्र युधाजित् के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए । वृष्णि के दो पुत्र हुए, एक का नाम स्वफल्क और दूसरे का नाम चित्रक था ।

....।
अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्वफल्काद् भूरिदक्षिणः ।।११।।

अर्थात् स्वफल्क के अक्रूर नामक महादानी पुत्र हुए ।

चित्रकस्याभवन् पुत्राः, पृथुर्विपृथुरेव च ।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च, सुपार्श्वकगवेषणौ ।।१५।।

अरिष्टनेमिरश्वश्च, सुधर्मा धर्मभृत्तथा ।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च, श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ।।१६।।
[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

चित्रक के पृथु,[1] विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक बारह पुत्र तथा श्रविष्ठा व श्रवणा नाम की दो पुत्रियाँ हुईं ।

---

१ श्रीमद्भागवत में वृष्णि के दो पुत्रों का नाम स्वफल्क और चित्ररथ (चित्रक) दिया है । चित्ररथ (चित्रक) के पुत्रों का नाम देते हुए 'पृथुर्विपृथु धन्याद्याः' दूसरे पाठ में 'पृथुर्विदूरथाद्याश्च' इतना ही उल्लेख कर केवल तीन और दो पुत्रों के नाम देने के पश्चात् आदि-आदि लिख दिया है ।
[श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २४, श्लोक १८]

श्री अरिष्टनेमि के वंशवर्णन के साथ-साथ श्रीकृष्ण के वंश का वर्णन भी 'हरिवंश' में वेदव्यास ने इस प्रकार किया है :

अश्मक्यां जनयामास, शूरं वै देवमीढुषः ।
महिष्यां जज्ञिरे शूराद्, भोज्यायां पुरुषा दश ॥१७॥
वसुदेवो महाबाहुः पूर्वमानकदुंदुभिः ।
....॥१८॥

देवभागस्ततो जज्ञे, तथा देवश्रवा पुनः ।
अनाधृष्टि कनवको, वत्सवानथ गृंजिमः ॥२१॥
श्यामः शमीको गण्डूषः, पंच चास्य वरांगनाः ।
पृथुकीर्ति पृथा चैव, श्रुतदेवा श्रुतश्रवाः ॥२२॥
राजाधिदेवी च तथा, पंचैते वीरमातरः ।
....॥२३॥

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३४]

वसुदेवाच्च देवक्यां, जज्ञे शौरि महायशाः ।
....॥७॥

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३५]

अर्थात् यदु के क्रोष्टा, क्रोष्टा के दूसरे पुत्र देवमीढुष के पुत्र शूर तथा शूर के वसुदेव आदि दश पुत्र तथा पृथुकीर्ति आदि पाँच पुत्रियां हुई। वसुदेव की देवकी नाम की रानी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ।

इस प्रकार वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थ 'हरिवंश' में दिये गये यादववंश के वर्णन से भी यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण और श्री अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे और दोनों के परदादा युधाजित् और देवमीढुष सहोदर थे।

दोनों परम्पराओं में अन्तर इतना ही है कि जैन परम्परा के साहित्य में अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा सहोदर माना गया है; जब कि 'हरिवंश पुराण' में चित्रक और वसुदेव को चचेरे भाई माना है। संभव है कि चित्रक (श्रीमद्भागवत के अनुसार चित्ररथ) समुद्रविजय का ही अपर नाम रहा हो।

पर दोनों परम्पराओं में श्री अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण को चचेरे भाई मानने में कोई दो राय नहीं है।

दोनों परम्पराओं के नामों की असमानता लम्बे अतीत में हुए ईति, भीति, दुष्काल, अनेक घोर युद्ध, गृह-कलह, विदेशी आक्रमण आदि अनेक कारणों से हो सकती है।

किन्तु जैन साहित्य ने तीर्थंकरों के सम्बन्ध में जो विवरण आगमों और इतिहास-ग्रन्थों में संजोये रखा है, उसे प्रामाणिक मानने में कोई सन्देह की गुंजायश नहीं रहती ।

इतना ही नहीं 'हरिवंश' में श्रीकृष्ण की प्रमुख महारानी सत्यभामा की मझली बहिन व्रतिनी-दृढ़व्रता का भी उल्लेख है[1], जिसके विवाह होने का वहाँ कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। दृढ़व्रता, इस गुण-निष्पन्न नाम से, सम्भव है कि वह राजीमती के लिये ही संकेत हो, कारण कि राजीमती से बढ़ कर व्रतिनी अथवा दृढ़व्रता उस समय के कन्यारत्नों में और कौन हो सकती है, जिसने केवल वाग्दत्ता होते हुए भी तोरण से अपने वर के लौट जाने पर आजीवन अविवाहिता रहने का प्रण कर दृढ़ता के साथ महाव्रतों का पालन किया ।

इतिहासप्रेमियों के विचारार्थ व पाठकों की सुविधा के लिये श्रीकृष्ण व श्री अरिष्टनेमि से सम्बन्धित यदुकुल के तुलनात्मक वंशवृक्ष यहाँ दिये जा रहे हैं ।

भगवान् अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण के जैन व वैदिक परम्परा के अनुसार वंशवृक्ष :—

जैन परम्परा
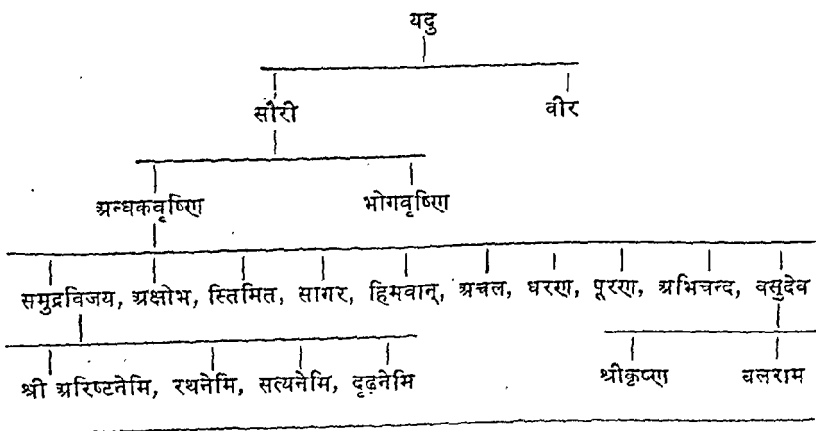
१ सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां, व्रतिनी च दृढ़व्रता ।
[हरिवंश पर्व, अ० ३८, श्लोक ४७]
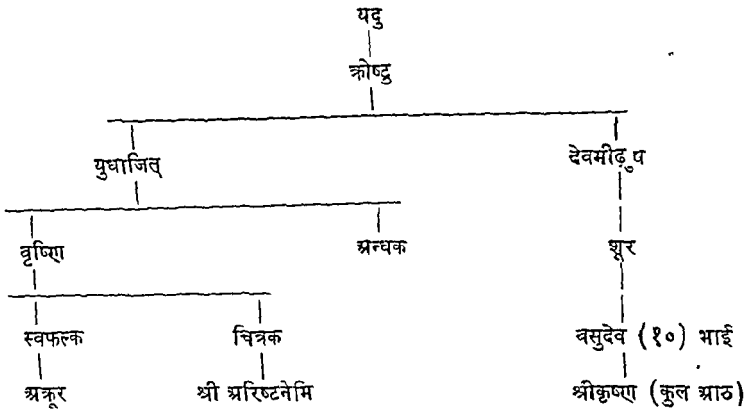
वैदिक परम्परा

वैदिक परम्परा की ही दूसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष :–

हर्यश्व

८. वसु
|
९. वसुदेव
|
१०. श्रीकृष्ण[1]

---

१ आसीद् राजा मनोर्वंशे, श्रीमानिक्ष्वाकुसंभवः ।
हर्यश्व इति विख्यातो, महेन्द्रसम विक्रमः ॥१२॥

तस्यैव च सुवृत्तस्य, पुत्रकामस्य धीमतः ।
मधुमत्यां सुतो जज्ञे, यदुर्नाम महायशाः ॥४४॥
[हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३७]

स तासु नागकन्यासु, कालेन महता नृपः ।
जनयामास विक्रान्तान्पंच पुत्रान् कुलोद्वहान् ॥ १ ॥

मुचुकुन्दं महाबाहुं, पद्मवर्णं तथैव च ।
माधवं सारसं चैव, हरितं चैव पार्थिवम् ॥ २ ॥

एवमिक्ष्वाकुवंशात्तु यदुवंशो विनिःसृ ।
चतुर्धा यदुपुत्रैस्तु, चतुर्भिर्भिद्यते पुनः ॥३५॥

स यदुर्माधवे राज्यं, विसृज्य यदुपुंगवे ।
त्रिविष्टपं गतो राजा, देहं त्यक्त्वा महीतले ॥३६॥

बभूव माधवसुतः सत्वतो नाम वीर्यवान् ।
.... ॥३७॥

सत्वतस्य सुतो राजा, भीमो नाम महानभूत् ।
.... ॥३८॥

.... ।
अन्धको नाम भीमस्य, सुतो राज्यमकारयत् ॥४३॥

अन्धकस्य सुतो जज्ञे, रैवतो नाम पार्थिवः ।
ऋक्षोऽपि रैवताज्जज्ञे, रम्ये पर्वतमूर्धनि ॥४४॥

रैवतस्यात्मजो राजा, विश्वगर्भो महायशाः ।
बभूव पृथिवीपालः पृथिव्यां प्रथितः प्रभुः ॥४६॥

तस्य तिसृषु भार्यासु, दिव्यरूपासु केशवः ।
चत्वारो जज्ञिरे पुत्रा, लोकपालोपमाः शुभाः ॥४७॥

वसुर्बभ्रुः सुषेणश्च, सभाक्षश्चैव वीर्यवान् ।
यदु प्रवीराः प्रख्याता, लोकपाला इवापरे ॥४८॥

वैदिक परम्परा की ही तीसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष[1]

१. यदु
२. क्रोष्टा
३. वृजिनिवान्
४. उषंगु
५. चित्ररथ
६. शूर ....(छोटा पुत्र)
७. वसुदेव
८. श्रीकृष्ण ....(वासुदेव)

वैदिक परम्परा की ही चौथी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष[2]

१. यदु

वसोस्तु कुन्ति विषये, वसुदेवः सुतो विभुः।
.... ॥५०॥
एष ते स्वस्य वंशस्य, प्रभवः संप्रकीर्तितः।
श्रुतो मया पुरा कृष्ण, कृष्णाद्वैपायनान्तिकात् ॥५२॥

[हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३८]

१ बुधात् पुरुरवश्चापि, तस्मादायुर्भविष्यति।
नहुषो भविता तस्माद्, ययातिस्तस्य चात्मजः ॥२७॥
यदुस्तस्मान्महासत्वाः, क्रोष्टा तस्माद् भविष्यति।
क्रोष्टुश्चैव महान् पुत्रो, वृजिनिवान् भविष्यति ॥२८॥
वृजिनिवतश्च भविता उषंगुरपराजितः।
उषंगोर्भविता पुत्रः, शूरश्चित्ररथस्तथा ॥२९॥
तस्य त्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति।
.... ॥३०॥
स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो. महावीर्यो महायशाः।
स्ववंश विस्तरकरं, जनयिष्यति मानदः ॥३१॥
वसुदेव इति ख्यातं, पुत्रमानकदुन्दुभिम्।
तस्य पुत्रश्चतुर्वाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥३२॥

[महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १४७]

२ ययातेर्देवयान्यां तु, यदुर्ज्येष्ठोऽभवत् सुतः।
यदोरभूदन्ववाये, देवमीढ़ इति स्मृतः ॥ ६ ॥
यादवस्तस्य तु सुतः, शूरस्त्रैलोक्यसम्मतः।
शूरस्य शौरिर्नृवरो, वसुदेवो महायशाः ॥ ७ ॥

[महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४]

२. ....(इनके वंश में देवमीढ़ नाम से विख्यात एक यादव हो गये हैं)[1]
३. देवमीढ़
४. शूर
५. वसुदेव
६. श्रीकृष्ण

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

भगवान् अरिष्टनेमि के निर्वाण के पश्चात् और भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म से पूर्व के मध्यकाल में अर्थात् भगवान् अरिष्टनेमि के धर्म-शासन में इस अवसर्पिणी काल का भारतवर्ष का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त हुआ। ब्रह्मदत्त का जीवन एक ओर अमावस्या की दुखद, बीभत्स अन्धेरी रात्रि की तरह भीषण दुःखों से भरपूर; और दूसरी ओर शरद पूर्णिमा की सुखद सुहावनी चटक-चाँदनी से शोभायमान रात्रि की तरह सांसारिक सुखों से ओतप्रोत था। इसके साथ ही साथ ब्रह्मदत्त के चक्रवर्ती-जीवन के बाद के एवं पहले के भव दारुण से दारुणतम दुःखों के केन्द्र रहे।

ब्रह्मदत्त के ये भव भीषण भवाटवी के और भवभ्रमण की भयावहता के वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :–

काम्पिल्य नगर के पांचालपति ब्रह्म की महारानी चुलनी ने गर्भधारण के पश्चात् चक्रवर्ती के शुभजन्मसूचक चौदह महास्वप्न देखे। समय पर महारानी चुलनी ने तपाये हुए सोने के समान कान्ति वाले परम तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया।

ब्रह्म नृपति को इस सुन्दर-तेजस्वी पुत्र का मुख देखते ही ब्रह्म में रमण (आत्मरमण) के समान परम आनन्द की अनुभूति हुई इसलिये बालक का नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। माता-पिता और स्वजनों को अपनी बाललीलाओं से आनन्दित करता हुआ बालक ब्रह्मदत्त शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्र की तरह बढ़ने लगा।

काशी-नरेश कटक, हस्तिनापुर के राजा कणेरुदत्त, कोशलेश्वर दीर्घ और चम्पापति पुष्पचूलक ये चार नरेश्वर काम्पिल्याधिपति ब्रह्म के अन्तरंग मित्र थे। इन पाँचों मित्रों में इतना घनिष्ठ प्रेम था कि वे पाँचों राज्यों की राजधानियों में क्रमशः एक-एक वर्ष साथ ही रहा करते थे। निश्चित क्रम के अनुसार वे पाँचों मित्र वर्षभर साथ-साथ रहने के लिये काम्पिल्यपुर में एकत्रित हुए। आमोद-प्रमोद के साथ पाँचों मित्रों को काम्पिल्यपुर में रहते हुए काफी समय बीत गया।

---

१ इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः यहां एक, दो या इससे अधिक भी कुछ राजाओं का नामोल्लेख नहीं किया गया है। [सम्पादक]

एक दिन अचानक ही महाराजा ब्रह्म का देहावसान हो गया। शोक-सन्तप्त परिजन, पुरजन और काशीपति आदि चारों मित्र राजाओं ने ब्रह्म का अन्त्येष्टि-संस्कार किया। उस समय ब्रह्मदत्त की आयु केवल बारह वर्ष की थी, अतः काशीपति आदि चारों नृपतियों ने मन्त्रणा कर यह निश्चय किया कि जब तक ब्रह्मदत्त युवा नहीं हो जाय तब तक एक-एक वर्ष के लिए उन चारों मित्रों में से एक नरेश काम्पिल्यपुर में ब्रह्मदत्त का और काम्पिल्य के राज्य का अभिभावक अथवा प्रहरी की तरह संरक्षक बन कर रहे।

इस सर्वसम्मत निर्णय के अनुसार प्रथम वर्ष के लिए कोशलनरेश दीर्घ को ब्रह्मदत्त और उसके राज्य का संरक्षक नियुक्त किया गया और शेष तीनों राजा अपनी २ राजधानी को लौट गये।

कथा विभाग में कहा गया है कि कोशलपति दीर्घ बड़ा विश्वासघाती निकला। शनैः-शनैः उसने न केवल काम्पिल्य के कोष और राज्य पर ही अपना अधिकार किया, अपितु अपने दिवंगत मित्र की पत्नी चुलना को भी कामवासना के जाल में फँसा कर अपना मुंह काला कर लिया और कोशल एवं काम्पिल्य के यशस्वी राजवंशों के उज्ज्वल भाल पर कलंक का काला टीका लगा दिया।

कुलशील को तिलांजलि दे कर दीर्घ और चुलना यथेप्सित कामकेलि करते हुए एक दूसरे पर पूर्ण आसक्त हो व्यभिचार के घृणित गर्त में उत्तरोत्तर गहरे डूबते गये।

चतुर प्रधानामात्य धनु उन दोनों के पापपूर्ण आचरण से बड़ा चिन्तित हुआ। उसे यह आशंका हुई कि ये दोनों कामवासना के कीट किसी भी समय बालक ब्रह्मदत्त के प्राणों के ग्राहक बन सकते हैं। अतः उसने अपने पुत्र वरधनु के माध्यम से कुमार ब्रह्मदत्त को पूर्ण सतर्क रहने की सलाह दी और अपने पुत्र को अहर्निश कुमार के साथ रहने की आज्ञा दी।

मन्त्री-पुत्र वरधनु से अपनी माता के व्यभिचारिणी होने की बात सुनकर ब्रह्मदत्त वज्राहत सा तिलमिला उठा। सिंह-शावक की तरह अत्यन्त क्रुद्ध हो वह गुर्राने लगा। एक कोकिल और काक को साथ-साथ बांध कर दीर्घ और चुलना के केलिसदन के द्वार पर जाकर बड़ी क्रोधपूर्ण मुद्रा में ब्रह्मदत्त बार-बार तीव्र स्वर में कहने लगा—"ओ नीच कौए! तेरी यह धृष्टता कि इस कोकिल के साथ केलि कर रहा है? तुम दोनों का प्राणान्त कर मैं तुम्हारी इस दुष्टता का तुम्हें दण्ड दूंगा।"

कुमार की इस आक्रोशपूर्ण व्याजोक्ति को सुनकर दीर्घ उसके अन्तर्द्वन्द्व को भाँप गया। उसने चुलना से कहा—"देखा प्रिये! यह कुमार मुझे कौआ और तुम्हें कोकिल बताकर हम दोनों को मारने की धमकी दे रहा है?"

कामासक्ता चुलना ने यह कह कर बात टाल दी—"यह अभी निरा बालक है, इसकी बालचेष्टाओं से तुम्हें नहीं डरना चाहिये।"

बालक ब्रह्मदत्त के अन्तर में दीर्घ और अपनी माता के पापाचार के प्रति विद्रोह का ज्वालामुखी फट चुका था। वह बालक बालकेलियों को भूल रात-दिन उन दोनों को उनके दुराचार के लिये येन-केन-प्रकारेण सबक सिखाने की उधेड़-बुन में लग गया।

दूसरे दिन ब्रह्मदत्त एक राजहंसिनी और बगुले को साथ-साथ बांध कर दीर्घ और चुलना को दिखाते हुए आक्रोश भरे तीव्र स्वर में बार-बार कहने लगा—"यह महा अधम बगुला इस राजहंसिनी के साथ सहवास कर रहा है। इस निकृष्ट पापाचार को कोई भी कैसे सहन कर सकता है ? मैं इन्हें अवश्य ही मौत के घाट उतारूंगा।"

कुमार ब्रह्मदत्त के इस इंगित और आक्रोशपूर्ण उद्‌गारों को सुनकर दीर्घ को पूर्ण विश्वास हो गया कि ब्रह्मदत्त की ये चेष्टाएँ केवल बालचेष्टाएँ नहीं हैं, वरन् उसके अन्तर में प्रतिशोध की भीषण ज्वालाएँ भभक उठी हैं। उसने चुलना से कहा—"देवि ! देख रही हो तुम्हारे इस पुत्र की करतूतें ? यह तुम्हें हंसिनी और मुझे बगुला समझ कर हम दोनों को मारने का दृढ़ संकल्प कर चुका है। यह थोड़ा बड़ा हुआ नहीं कि हम दोनों का बड़ा प्रबल शत्रु और घातक हो जायगा। यह निश्चित समझो कि तुम्हारी मृत्यु के लिए साक्षात् काल ही तुम्हारे पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है, अतः तुम्हारा और मेरा इसी में हित है कि राजसिंहासनारूढ़ होने से पहले ही इस जहरीले काले नाग को कुचल दिया जाय। हम दोनों का वियोग नहीं होगा तो तुम और भी पुत्रों को जन्म दे सकोगी। अतः इस प्राणहारी पुत्र-मोह का परित्याग कर इसका प्राणान्त कर दो।"

अन्त में कामान्धा चुलना पिशाचिनी की तरह अपने पुत्र के प्राणों की प्यासी हो गई। लोकापवाद से बचने के लिये उन दोनों ने कुमार ब्रह्मदत्त का विवाह कर सुहागरात्रि के समय वर-वधू को लाक्षागृह में सुलाकर भस्मसात् कर डालने का षड्यन्त्र रचा।

ब्रह्मदत्त के लिए उसके मातुल पुष्पचूल नृपति की पुत्री पुष्पवती को वाग्दान में प्राप्त किया गया और विवाह की बड़ी तेजी के साथ तैयारियां होने लगीं।

प्रधानामात्य धनु पूर्ण सतर्क था और रात दिन दीर्घ और चुलना की हर गतिविधि पर पूरा-पूरा ध्यान रखता था। उसने इस गुप्त षड्यंत्र का पता लगा लिया और वर-वधू के प्राणों की रक्षा का उपाय सोचने लगा।

उसने दीर्घ नृपति से बड़ी नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"महाराज ! मेरा पुत्र प्रधानामात्य के पदभार को सम्भालने के पूर्ण योग्य हो चुका है और मैं जराग्रस्त हो जाने के कारण राज्य-संचालन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यों में भी अब अपेक्षित तत्परता से दौड़धूप करने में असमर्थ हूँ। मैं अब दान-धर्मादि पुण्य कार्यों में अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। अतः प्रार्थना है कि मुझे प्रधानामात्य के कार्यभार से कृपा कर मुक्त कीजिये।"

कुटिल दीर्घ ने सोचा कि यदि इस प्रत्युत्पन्नमती, अनुभवी, राजनीति-निष्णात को राज-कार्यों से अवकाश दे दिया गया तो यह कोई न कोई अचिन्त्य उत्पात खड़ा कर मेरी सभी दुरभिसन्धियों को चौपट कर देगा।

उसने प्रकट में बड़े मधुर स्वर में कहा—"मन्त्रिवर ! आप जैसे विलक्षण बुद्धि वाले योग्य मंत्री के बिना तो हमारा राज्य एक दिन भी नहीं चल सकता, क्योंकि आप ही तो इस राज्य की धुरी हैं। कृपया आप मंत्रिपद पर बने रहकर दान आदि धार्मिक कृत्य करते रहिये।"

चतुर प्रधान मंत्री धनु ने दीर्घ के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करते हुए अंजलिबद्ध हो उसकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और गंगा नदी के तट पर विशाल यज्ञमण्डप का निर्माण करवाया। राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को देखते हुए उसने गंगातट पर अन्नदान का महान् यज्ञ प्रारम्भ किया। वह यज्ञमण्डप में प्रतिदिन हजारों लोगों को अन्न-पानादि से तृप्त करने लगा।

इस अन्नयाग के व्याज से उसने अपने विश्वस्त पुरुषों द्वारा बड़ी तेजी से यज्ञमण्डप से लाक्षागृह तक एक सुरंग का निर्माण करवा लिया और अपने गुप्त-चर के द्वारा पुष्पचूल को दीर्घ और चुलना के भीषण षड्यंत्र से अवगत करा बड़ी चतुराई से चाल चलने की सलाह दी।

विवाह की तिथि से पूर्व ही कन्यादान की विपुल बहुमूल्य सामग्री के साथ बड़े समारोहपूर्वक कन्या काम्पिल्य नगर के राज-प्रासाद में पहुँच गई।

अपूर्व महोत्सव और बड़ी धूमधाम के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह सम्पन्न हुआ। सुहागरात्रि के लिये देवमन्दिर की तरह सजाये गये लाक्षागृह में वर-वधू को पहुँचा दिया गया।

स्वच्छन्द विषयानन्द लूटने के लोभ में कामान्ध बनी माँ ने अपने पुत्र को और अपनी समझ में अपने सहोदर की पुत्री को मौत के मुँह में ढकेल कर—

ऋणकर्त्ता पिता शत्रुः, माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः, पुत्रः शत्रुरपण्डितः॥

इस सनातन नीति-श्लोक के द्वितीय चरण को चरितार्थ कर दिया।

मन्त्री-पुत्र वरधनु भी शरीर की छाया की तरह राजकुमार के साथ ही उस लाक्षागृह में प्रविष्ट हो गया।

धनु की दूरदर्शिता और नीति-निपुणता के कारण किसी को किंचित्मात्र भी शंका करने का अवसर नहीं मिला कि वधू वास्तव में राजा पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती नहीं, अपितु उसी के समान स्वरूप वाली सर्वतो अनुरूपिणी दासी पुत्री है।

अन्त में अर्द्ध रात्रि के समय दीर्घ और चुलना की दुरभिसन्धि को कार्य-रूप में परिणत किया गया। लाक्षागृह लपलपाती हुई लाल-लाल ज्वाला-मालाओं का गगनचुम्बी शिखर सा बन गया।

ब्रह्मदत्त वरधनु द्वारा सारी स्थिति से अवगत हो उसके साथ सुरंग-द्वार में प्रवेश कर गंगातट के यज्ञमण्डप में जा पहुँचा। तीव्र गति वाले सजे-सजाये दो घोड़ों पर ब्रह्मदत्त एवं वरधनु को बैठा अज्ञात सुदूर प्रदेश के लिए उन्हें विदा कर प्रधानामात्य धनु स्वयं भी किसी निरापद स्थान को ओर पलायन कर गया।

जो अतीत में बड़े लाड़-प्यार से राजसी ठाट-बाट में पला और जो भविष्य में सम्पूर्ण भारतवर्ष के समस्त छहों खण्डों की प्रजा का पालक प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट् बनने वाला है, वही ब्रह्मदत्त अपने प्राणों को बचाने के लिए घने, भयावने, अगम्य अरण्यों में, अर्द्ध रात्रि में, अनाथ की तरह अज्ञात स्थान की ओर अन्धाधुन्ध भागा जा रहा था।

पवन-वेग से निरन्तर सरपट भागते हुए घोड़ों ने काम्पिल्यपुर को पचास योजन पीछे छोड़ दिया, पर अनवरत तीव्र गति से इतनी लम्बी दौड़ के कारण दोनों घोड़ों के फेफड़े फट गये और वे धराशायी हो चिरनिद्रा में सो गये।

ब्रह्मदत्त और वरधनु ने अब तक पराये पैरों पर भाग कर पचास योजन पथ पार किया था। अब वे अपने प्राणों को बचाने के लिए अपने पैरों के बल बेतहाशा भागने लगे। भागते-भागते उनके श्वास फूल गये, फिर भी, क्योंकि अपने प्राण सबको अति प्रिय हैं, अतः वे भागते ही रहे। अन्ततोगत्वा वे बड़ी कठिनाई से कोष्ठक नामक ग्राम के पास पहुँचे।

वरधनु गाँव में पहुँचा और एक हज्जाम को साथ लिए लौटा। ब्रह्मदत्त ने नाई से अपना सिर मुण्डित करवा काला परिधान पहन महान् पुण्य और प्रताप के द्योतक श्रीवत्स चिह्न को ढंक लिया। वरधन ने उसके गले में अपना यज्ञो-पवीत डाल दिया।

इस तरह वेश बदलकर वे ग्राम में घुसे। एक ब्राह्मण उन्हें अपने घर ले गया और बड़े सम्मान एवं प्रेम के साथ उसने उन्हें भोजन करवाया।

भोजनोपरान्त गृहस्वामिनी ब्राह्मणी ब्रह्मदत्त के मस्तक पर अक्षतों की वर्षा करती हुई अपनी परम सुन्दरी पुत्री को साथ लिये ब्रह्मदत्त के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी हो गई। दोनों मित्र एक-दूसरे का मुँह देखते ही रह गये।

वरधनु ने कृत्रिम आश्चर्यद्योतक स्वर में कहा—"देवि ! इस अनाडी भिक्षुक को अप्सरा सी अपनी यह कन्या देकर क्यों गजब ढा रही हो ! तुम्हारा यह कृत्य तो गौ को भेड़िये के गले में बांधने के समान मूर्खतापूर्ण है।"

गृहस्वामी ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"सौम्य ! भस्मी रमा लेने से भी कहीं भाग्य छुपाया जा सकता है ? मेरी इस सर्वोत्तम गुण-सम्पन्ना पुत्री बन्धुमती का पति इन पुण्यशाली कुमार के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता क्योंकि इस कन्या के चक्रवर्ती की पत्नी होने का योग है। निमित्तज्ञों ने मुझे इस कन्या के वर की जो पहचान बताई है, उस महाभाग को मैंने आज सौभाग्य से प्राप्त कर लिया है। उन्होंने जो पहिचान बताई वह भी मैं आपको बताये देता हूँ। निष्णात निमित्तज्ञों ने मुझे कहा था कि जो व्यक्ति अपने 'श्रीवत्स चिह्न' को वस्त्र से छुपाये हुए तुम्हारे घर आकर भोजन करे, उसी के साथ इस कन्या का विवाह कर देना। यह देखिये यन्त्र से ढका होने पर भी यह श्रीवत्स का चिह्न चमक रहा है।"

दोनों मित्र आश्चर्यचकित हो गये। ब्रह्मदत्त का बन्धुमती के साथ विवाह हो गया। प्रलयानिल के दारुण दुखद अन्धड़ में उड़ने के पश्चात् मानो ब्रह्मदत्त ने मादक मन्द मलयानिल के मधुर झोंके का अनुभव किया, दम घोंट देने वाले दुखों की कालरात्रि के पश्चात् मानो पूर्णिमा की सुखद श्वेत चाँदनी उसकी आँखों के समक्ष थिरक उठी। एक रात्रि के सुख के पश्चात् पुनः दुःख का दरिया।

दिनमणि के उदय होते-होते दीर्घराज के दुःख ने उसे फिर आ धर दबाया। दोनों कोष्ठक ग्राम से भागे पर देखा कि दीर्घ के सैनिक दानवों की तरह सब रास्तों को रोके खड़े हैं। यह देख दोनों मित्र वन्य मृगों की तरह प्राण बचाने के लिए घने वनों की झाड़ियों में छुपते हुए भाग रहे थे। उस समय 'छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति' इस उक्ति के अनुसार ब्रह्मदत्त को जोर की प्यास लगी और मारे प्यास के उसके प्राण-पंखेरू उड़ने लगे।

ब्रह्मदत्त ने एक वृक्ष की ओट में बैठते हुए कहा—"वरधनु ! मारे प्यास के अब एक डग भी नहीं चला जाता। कहीं न कहीं से शीघ्र ही पानी लाओ।"

वरधनु "अभी लाया", कह कर पानी लाने दौड़ा। वह पानी लेकर लौट ही रहा था कि दीर्घराज के घुड़सवारों ने उसे आ घेरा और "कहां है ब्रह्मदत्त? बता कहां है ब्रह्मदत्त?" कहते हुए वरधनु को निर्दयतापूर्वक पीटने लगे।

ब्रह्मदत्त ने देखा, पिटा जाता हुआ वरधनु उसे भाग जाने का संकेत कर रहा है। घोर दारुण दुखों से पीड़ित प्यासे ब्रह्मदत्त ने देखा उसके प्राणों के प्यासे दुष्ट दीर्घ के सैनिक यमदूत की तरह उसके सिर पर खड़े हैं। वह घने वृक्षों और झाड़ियों की ओट में घुस कर भागने लगा। कांटों से बिंध कर उसका सारा शरीर लहूलुहान हो गया, प्यास से पीड़ित, प्राणों के भय से पीड़ित, प्रिय साथी के करालकाल के गाल में पड़ जाने के शोक से पीड़ित, अथक थकान से केवल पांव ही नहीं रोम-रोम पीड़ित, कोई पारावर ही नहीं था पीड़ाओं का, फिर भी प्राणों के जाने के भय से भयभीत भागा ही चला जा रहा था ब्रह्मदत्त— क्योंकि प्राण सबको सर्वाधिक प्रिय होते हैं।

जब निरन्तर तीन दिन तक भागते-भागते दुःख और पीड़ा चरम सीमा तक पहुँच चुके तो परिवर्तन अवश्यंभावी था।

अत्यन्त दुःखी अवस्था में पहुँचे ब्रह्मदत्त ने वन में एक तापस को देखा। वह उसे अपने आश्रम में कुलपति के पास ले गया।

कुलपति ने ब्रह्मदत्त के धूलिधूसरित तन की तेजस्विता और वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का लांछन देख साश्चर्य उससे उस दशा में वन में आने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त से सारा वृत्तान्त सुनते ही आश्रम के कुलपति ने उसे अपने हृदय से लगाते हुए कहा—"कुमार! तुम्हारे पिता महाराज ब्रह्म मेरे बड़े भाई के तुल्य थे। इस आश्रम को तुम अपना घर ही समझो और बड़े आनन्द से यहाँ रहो।"

ब्रह्मदत्त वहाँ रहता हुआ कुलपति के पास विद्याध्ययन करने लगा। कुलपति ने कुशाग्रबुद्धि ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की शस्त्रास्त्र विद्याओं का अध्ययन कराया और उसे धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र व वेद-वेदांग का पारंगत विद्वान बना दिया।

अब वह प्रलम्ब बाहु, उन्नत तेजस्वी भाल, विशाल वक्ष, वृपस्कन्ध, पुष्ट-मांसल पेशियों से शरीर की सात धनुप ऊँचाई वाला पूर्ण युवा हो चुका था। उसके रोम-रोम से तेज और ओज टपकने लगे।

एक दिन ब्रह्मदत्त कुछ तपस्वियों के साथ कन्द, मूल, फल-फूलादि लेने जंगल में निकल पड़ा। वन में प्रकृति-सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए उसने हाथी

के तुरन्त के पद-चिह्न देखे। यौवन का मद उस पर छा गया। हाथी को छकाने के लिए उसके भुजदण्ड फड़क उठे। तापसों द्वारा मना किये जाने पर भी हाथी के पद-चिह्नों का अनुसरण करता हुआ वह उन तपस्वियों से बहुत दूर निकल गया।

अन्ततोगत्वा उसने, अपनी सूंड से एक वृक्ष को उखाड़ते हुए मदोन्मत्त जंगली हाथी को देखा और उससे जा भिड़ा। हाथी क्रोध से चिंघाड़ता हुआ ब्रह्मदत्त पर झपटा। ब्रह्मदत्त ने अपने ऊपर लपकते हुए हाथी के सामने अपना उत्तरीय फेंका और ज्योंही हाथी अपनी सूँड ऊँची किये हुए उस वस्त्र की ओर दौड़ा त्योंही ब्रह्मदत्त अवसर देख उछला और हाथी के दाँतों पर पैर रख पीठ पर सवार हो गया।

इस प्रकार हाथी से वह बड़ी देर तक क्रीड़ाएँ करता रहा। उसी समय काली मेघ-घटाएँ घुमड़ पड़ीं और मूसलाधार वृष्टि होने लगी। वर्षा से भीगता हुआ हाथी चिंघाड़ कर भागा। प्रत्युत्पन्नमति ब्रह्मदत्त एक विशाल वृक्ष की शाखा को पकड़ कर वृक्ष पर चढ़ गया। वर्षा कुछ मन्द पड़ी पर घनी मेघ-घटाओं के कारण दिशाएँ धुंधली हो चुकी थीं।

ब्रह्मदत्त वृक्ष से उतर कर आश्रम की ओर बढ़ा, पर दिग्भ्रान्त हो जाने के कारण दूसरे ही वन में निकल गया। इधर-उधर भटकता हुआ वह एक नदी के पास आया। उस नदी को भुजाओं से तैर कर उसने पार किया और नदी-तट के पास ही उसने एक उजड़ा हुआ ग्राम देखा। ग्राम में आगे बढ़ते हुए उसने बांसों की एक घनी झाड़ी के पास एक तलवार और ढाल पड़ी देखी। उसकी मांसल भुजाएँ अभी और श्रम करना चाहती थीं। उसने तलवार म्यान से बाहर कर बांसों की झाड़ी को काटना प्रारम्भ किया कि बाँसों की झाड़ी को काटते-काटते उसने देखा कि उसकी तलवार के वार से कटा एक मनुष्य का मस्तक एवं धड़ उसके सम्मुख तड़फड़ा रहे हैं। उसने ध्यान से देखा तो पता चला कि कोई व्यक्ति बाँस पर उल्टा लटके किसी विद्या की साधना कर रहा था। उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई कि उसने व्यर्थ ही साधना करते हुए एक युवक को मार दिया है।

पश्चात्ताप करता हुआ ज्योंही वह आगे बढ़ा तो उसने एक रमणीय उद्यान में एक भव्य भवन देखा। कुतूहलवश वह उस भवन की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। ऊपर चढ़ते हुए उसने देखा कि ऊपर के एक सजे हुए कक्ष में कोई अपूर्व सुन्दरी कन्या पलंग पर चिंतित मुद्रा में बैठी है। आश्चर्य करते हुए वह उस बाला के पास पहुँचा और पूछने लगा—"सुन्दरी ! तुम कौन हो और इस निर्जन भवन में एकाकिनी शोकमग्न मुद्रा में क्यों बैठी हो ?"

वरधनु "अभी लाया", कह कर पानी लाने दौड़ा। वह पानी लेकर लौट ही रहा था कि दीर्घराज के घुड़सवारों ने उसे आ घेरा और "कहां है ब्रह्मदत्त ? बता कहां है ब्रह्मदत्त ?" कहते हुए वरधनु को निर्दयतापूर्वक पीटने लगे।

ब्रह्मदत्त ने देखा, पिटा जाता हुआ वरधनु उसे भाग जाने का संकेत कर रहा है। घोर दारुण दुखों से पीड़ित प्यासे ब्रह्मदत्त ने देखा उसके प्राणों के प्यासे दुष्ट दीर्घ के सैनिक यमदूत की तरह उसके सिर पर खड़े हैं। वह घने वृक्षों और झाड़ियों की ओट में घुस कर भागने लगा। कांटों से विंध कर उसका सारा शरीर लहूलुहान हो गया, प्यास से पीड़ित, प्राणों के भय से पीड़ित, प्रिय साथी के करालकाल के गाल में पड़ जाने के शोक से पीड़ित, अथक थकान से केवल पांव ही नहीं रोम-रोम पीड़ित, कोई पारावर ही नहीं था पीड़ाओं का, फिर भी प्राणों के जाने के भय से भयभीत भागा ही चला जा रहा था ब्रह्मदत्त—क्योंकि प्राण सबको सर्वाधिक प्रिय होते हैं।

जब निरन्तर तीन दिन तक भागते-भागते दुःख और पीड़ा चरम सीमा तक पहुँच चुके तो परिवर्तन अवश्यंभावी था।

अत्यन्त दुःखी अवस्था में पहुँचे ब्रह्मदत्त ने वन में एक तापस को देखा। वह उसे अपने आश्रम में कुलपति के पास ले गया।

कुलपति ने ब्रह्मदत्त के धूलिधूसरित तन की तेजस्विता और वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का लांछन देख साश्चर्य उससे उस दशा में वन में आने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त से सारा वृत्तान्त सुनते ही आश्रम के कुलपति ने उसे अपने हृदय से लगाते हुए कहा—"कुमार ! तुम्हारे पिता महाराज ब्रह्म मेरे बड़े भाई के तुल्य थे। इस आश्रम को तुम अपना घर ही समझो और बड़े आनन्द से यहाँ रहो।"

ब्रह्मदत्त वहाँ रहता हुआ कुलपति के पास विद्याध्ययन करने लगा। कुलपति ने कुशाग्रबुद्धि ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की शस्त्रास्त्र विद्याओं का अध्ययन कराया और उसे धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र व वेद-वेदांग का पारंगत विद्वान बना दिया।

अब वह प्रलम्ब बाहु, उन्नत तेजस्वी भाल, विशाल वक्ष, वृषस्कन्ध, पुष्ट-मांसल पेशियों से शरीर की सात धनुष ऊँचाई वाला पूर्ण युवा हो चुका था। उसके रोम-रोम से तेज और ओज टपकने लगे।

एक दिन ब्रह्मदत्त कुछ तपस्वियों के साथ कन्द, मूल, फल-फूलादि लेने जंगल में निकल पड़ा। वन में प्रकृति-सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए उसने हाथी

के तुरन्त के पद-चिह्न देखे। यौवन का मद उस पर छा गया। हाथी को छकाने के लिए उसके भुजदण्ड फड़क उठे। तापसों द्वारा मना किये जाने पर भी हाथी के पद-चिह्नों का अनुसरण करता हुआ वह उन तपस्वियों से बहुत दूर निकल गया।

अन्ततोगत्वा उसने, अपनी सूंड से एक वृक्ष को उखाड़ते हुए मदोन्मत्त जंगली हाथी को देखा और उससे जा भिड़ा। हाथी क्रोध से चिंघाड़ता हुआ ब्रह्मदत्त पर झपटा। ब्रह्मदत्त ने अपने ऊपर लपकते हुए हाथी के सामने अपना उत्तरीय फेंका और ज्योंही हाथी अपनी सूँड ऊँची किये हुए उस वस्त्र की ओर दौड़ा त्योंही ब्रह्मदत्त अवसर देख उछला और हाथी के दाँतों पर पैर रख पीठ पर सवार हो गया।

इस प्रकार हाथी से वह बड़ी देर तक क्रीड़ाएँ करता रहा। उसी समय काली मेघ-घटाएँ घुमड़ पड़ीं और मूसलाधार वृष्टि होने लगी। वर्षा से भीगता हुआ हाथी चिंघाड़ कर भागा। प्रत्युत्पन्नमति ब्रह्मदत्त एक विशाल वृक्ष की शाखा को पकड़ कर वृक्ष पर चढ़ गया। वर्षा कुछ मन्द पड़ी पर घनी मेघ-घटाओं के कारण दिशाएँ धुँधली हो चुकी थीं।

ब्रह्मदत्त वृक्ष से उतर कर आश्रम की ओर बढ़ा, पर दिग्भ्रान्त हो जाने के कारण दूसरे ही वन में निकल गया। इधर-उधर भटकता हुआ वह एक नदी के पास आया। उस नदी को भुजाओं से तैर कर उसने पार किया और नदी-तट के पास ही उसने एक उजड़ा हुआ ग्राम देखा। ग्राम में आगे बढ़ते हुए उसने बांसों की एक घनी झाड़ी के पास एक तलवार और ढाल पड़ी देखी। उसकी मांसल भुजाएँ अभी और श्रम करना चाहती थीं। उसने तलवार म्यान से बाहर कर बांसों की झाड़ी को काटना प्रारम्भ किया कि बाँसों की झाड़ी को काटते-काटते उसने देखा कि उसकी तलवार के वार से कटा एक मनुष्य का मस्तक एवं धड़ उसके सम्मुख तड़फड़ा रहे हैं। उसने ध्यान से देखा तो पता चला कि कोई व्यक्ति बाँस पर उल्टा लटके किसी विद्या की साधना कर रहा था। उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई कि उसने व्यर्थ ही साधना करते हुए एक युवक को मार दिया है।

पश्चात्ताप करता हुआ ज्योंही वह आगे बढ़ा तो उसने एक रमणीय उद्यान में एक भव्य भवन देखा। कुतूहलवश वह उस भवन की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। ऊपर चढ़ते हुए उसने देखा कि ऊपर के एक सजे हुए कक्ष में कोई अपूर्व सुन्दरी कन्या पलंग पर चिंतित मुद्रा में बैठी है। आश्चर्य करते हुए वह उस बाला के पास पहुँचा और पूछने लगा—"सुन्दरी ! तुम कौन हो और इस निर्जन भवन में एकाकिनी शोकमग्न मुद्रा में क्यों बैठी हो ?"

अचानक एक तेजस्वी युवक को सम्मुख देखते ही वह अबला भयविह्वल हो गई और भयाक्रान्त जिज्ञासा के स्वर में बोली—"आप कौन हैं ? आपके यहाँ आने का प्रयोजन क्या है ?"

ब्रह्मदत्त ने उसे निर्भय करते हुए कहा—"सुभ्रु ! मैं पाँचाल-नरेश ब्रह्म का पुत्र ब्रह्मदत्त हूँ..........।"

ब्रह्मदत्त अपना वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि वह कन्या उसके पैरों में गिर कर कहने लगी—"कुमार ! मैं आपके मामा पुष्पचूल की पुष्पवती नामक पुत्री हूँ, जिसे वाग्दान में आपको दिया गया था। मैं आपसे विवाह की बड़ी ही उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रही थी कि नाट्योन्मत्त नामक विद्याधर अपने विद्याबल से मेरा हरण कर मुझे यहाँ ले आया। वह दुष्ट मुझे अपने वश में करने के लिए पास ही की बाँसों की झाड़ी में किसी विद्या की साधना कर रहा है। मेरे चिर अभिलषित प्रिय ! अब मैं आपकी शरण में हूँ। आप ही मेरी मझधार में डूबती हुई जीवन-तरणी के कर्णधार हो।"

कुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—"वह विद्याधर अभी-अभी मेरे हाथों अज्ञान में ही मारा गया है। अब मेरी उपस्थिति में तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है।"

तदनन्तर ब्रह्मदत्त और पुष्पवती गान्धर्व विधि से विवाह के सूत्र में बँध गये और इस प्रकार चिर-दुःख के पश्चात् फिर सुख के झूले में झूलने लगे।

मधु-बिन्दु के समान मधुर सुख की वह एक रात्रि मधुरालाप और प्रणयकेलि में कुछ क्षणों के समान ही बीत गई। फिर प्रिय-वियोग की वेला आ पहुँची।

गगन में घनरव के समान घोष को सुन कर पुष्पवती ने कहा—"प्रियतम ! विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा और विशाखा नाम की दो बहिनें आ रही हैं। इन अबलाओं से तो कोई भय नहीं, पर अपने प्रिय सहोदर की मृत्यु का समाचार पा ये अपने विविध-विद्याओं से सशक्त विद्याधर बन्धुओं को ले आईं तो अनर्थ हो जायगा। अतः आप थोड़ी देर के लिए छिप जाइये। मैं बातों ही बातों में इन दोनों के अन्तर में आपके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास करती हूँ। यदि उनकी क्रोधाग्नि को शान्त होते न देखा तो मैं श्वेत पताका को हिलाकर आपको यहाँ से भाग जाने का संकेत करूँगी और यदि वे मेरे द्वारा वर्णित आपके अलौकिक गुण सौन्दर्यादि पर आसक्त हो गईं तो मैं लाल पताका को फहराऊँगी, उस समय आप निश्शंक हो हमारे पास चले आना।"

यह कह कर पुष्पवती उन विद्याधर कन्याओं की अगवानी के लिए चली गई। कुमार एकटक उस ओर देखता रहा। उसने देखा कि संकट की सूचक श्वेत-पताका हिल रही है। ब्रह्मदत्त वहाँ से वन की ओर चल पड़ा।

एक विस्तीर्ण सघन वन को पार करने पर उसने स्वच्छ जल से भरे एक बड़े जलाशय को देखा। मार्ग की थकान मिटाने हेतु वह उसमें कूद पड़ा और जी भर जल-क्रीड़ा करने के उपरान्त तैरता हुआ दूसरे तट पर जा पहुँचा।

वहाँ उसने पास ही के एक लता-कुञ्ज में फूल चुनती हुई एक अत्यन्त सुकुमार सर्वांग-सुन्दरी कन्या को देखा। ब्रह्मदत्त निर्निमेष दृष्टि से उसे देखता ही रह गया क्योंकि उसने इतनी रूपराशि धरातल पर कभी नहीं देखी थी। वह अनुपम सुन्दरी भी तिरछी चितवन से उस पर अमृत वर्षा सी करती हुई मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी। ब्रह्मदत्त ने देखा कि वह वनदेवी सी बाला उसी की ओर इंगित करते हुए अपनी सखी से कुछ कह रही है। उसने यह भी देखा कि उस पर विस्फारित नेत्रों से एकबारगी ही अमृत की दोहरी धारा बहा कर खुशी से मस्त मयूर सी नाचती हुई वह लता-कुञ्ज में अदृश्य हो गई। उसे पुनः देखने के लिए ब्रह्मदत्त की आँखें बड़ी बेचैनी से उसी लता-कुञ्ज पर न मालूम कितनी देर तक अटकी रहीं, इसका उसे स्वयं को ज्ञान नहीं।

एकदम उसके पास ही में हुई नूपुर की झंकार से उसकी तन्मयता जब टूटी तो ताम्बूल, वस्त्र और आभूषण लिए उस सुन्दरी की दासी को अपने संमुख खड़े पाया।

दासी ने कहा—"अभी थोड़ी ही देर पहले आपने जिन्हें देखा था उन राजकुमारीजी ने अपनी इष्ट सिद्धि हेतु ये चीजें आपके पास भेजी हैं और मुझे यह भी आदेश दिया है कि मैं आपको उनके पिताजी के मंत्री के घर पहुँचा दूँ।"

ब्रह्मदत्त वनों के वनचरों जैसे जीवन से ऊब चुका था, अतः प्रसन्न होते हुए वह दासी के पीछे-पीछे चल पड़ा।

राजकीय अतिथि के रूप में उसका खूब अतिथि-सत्कार हुआ और वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री श्रीकान्ता का उसके साथ बड़ी धूमधाम के साथ विवाह कर दिया। ब्रह्मदत्त एक बार फिर दुःखी से सुखी बन गया। वह वहाँ कुछ दिन बड़े आमोद-प्रमोद के साथ आनन्दमय जीवन बिताता रहा।

श्रीकान्ता का पिता वसन्तपुर का राजा था, पर गृह-कलह के कारण वह वहाँ से भाग कर चौर-पल्ली का राजा बन गया। वह लूट-पाट से अपने कुटुम्ब

वरधनु ने कहा—"कुमार ! मैं आपके लिए पानी ला रहा था, उस समय मुझे दीर्घ के सैनिकों ने निर्दयता से पीटना प्रारम्भ कर दिया और आपके बारे में पूछने लगे। मैंने रोते हुए कहा कि कुमार को तो सिंह खा गया है। इस पर उन्होंने जब उस स्थान को बताने को कहा तो मैंने उन्हें इधर से उधर भटकाते हुए आपको भाग जाने का संकेत किया। आपके भाग जाने पर मैं आश्वस्त हुआ और मैंने मौन ही साध ली। उन दुष्टों ने मुझे बड़ी निर्दयता से मारा और मैं अधमरा हो गया। मैं असह्य यातना से तिलमिला उठा और मौका पा मैंने उन लोगों की नजर बचा मूर्च्छित होने की गोली अपने मुंह में रख ली। उस गोली के प्रभाव से मैं निश्चेष्ट हो गया और वे मुझे मरा हुआ समझ हताश हो लौट गये। उनके जाते ही मैंने अपने मुख में से उस गोली को निकाल लिया और आपको इधर-उधर ढूंढ़ने लगा, पर आपका कहीं पता नहीं चला। पिताजी के एक मित्र से पिताजी के भाग निकलने और माता को दीर्घ द्वारा दुःख दिये जाने का वृत्तान्त सुन कर मैंने माता को काम्पिल्यपुर से किसी न किसी तरह ले आने का दृढ़ संकल्प किया। बड़े नाटकीय ढंग से मैं माता को वहां से ले आया और उसे पिताजी के एक अन्तरंग मित्र के पास छोड़ कर आपको इधर-उधर ढूंढ़ने लगा। अन्त में मैंने आज महान् सुकृत के फल की तरह आपको पा ही लिया।"

ब्रह्मदत्त ने भी दीर्घकालीन दुःख के पश्चात् थोड़ी सुख की झलक, फिर घोर दुःख भरे अपने सुख-दुःख के घटनाचक्र का वृत्तान्त वरधनु को सुनाया।

ब्रह्मदत्त अपनी बात पूरी भी नहीं कह पाया था कि उन्हें दीर्घराज के सैनिकों के बड़े दल के आने की सूचना मिली। वे दोनों अन्धेरे गिरि-गह्वरों की ओर दौड़ पड़े। अनेक विकट वनों और पहाड़ों में भटकते २ वे दोनों कौशाम्बी नगरी पहुँचे।

कोशाम्बी के उद्यान में उन्होंने देखा कि उस नगर के सागरदत्त और बुद्धिल नामक दो बड़े श्रेष्ठी एक-एक लाख रुपये दाँव पर लगा अपने कुक्कुटों को लड़ा रहे हैं। दोनों श्रेष्ठियों के कुक्कुटों की बड़ी देर तक मनोरंजक झड़पें होती रहीं पर अन्त में अच्छी जाति का होते हुए भी सागरदत्त का मुर्गा बुद्धिल के मुर्गे से हार कर मैदान छोड़ भागा।

सागरदत्त एक लाख का दाँव हार चुका था। ब्रह्मदत्त को सागरदत्त के अच्छी नस्ल के कुक्कुट की हार से आश्चर्य हुआ। उसने बुद्धिल के कुक्कुट को पकड़ कर अच्छी तरह देखा और उसके पंजों में लगी सूई की तरह तीक्ष्ण लोहे की पतली कीलों को निकाल फेंका।

दोनों कुक्कुट पुनः मैदान में उतारे गये, पर इस वार सागरदत्त के कुक्कुट ने बुद्धिल के कुक्कुट को कुछ ही क्षणों में पछाड़ डाला।

हारे हुए दाँव को जीत कर सागरदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ और कुमार के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन दोनों मित्रों को अपने घर ले गया। सागरदत्त ने अपने सहोदर की तरह उन्हें अपने यहाँ रखा।

बुद्धिल की बहिन रत्नवती उद्यान में हुए कुक्कुट-युद्ध के समय ब्रह्मदत्त को देखते ही उस पर अनुरक्त हो गई। रत्नवती बड़ी ही चतुर थी। उसने अपने प्रियतम को प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया। पहले उसने ब्रह्मदत्त के नाम से अंकित एक कीमती हार अपने सेवक के साथ ब्रह्मदत्त के पास भेजकर उसके मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न करदी और तत्पश्चात् अपनी विश्वस्त वृद्धा परिचारिका के साथ अपनी प्रीति का संदेश भेजा।

ब्रह्मदत्त भी रत्नवती के अनुपम रूप एवं गुणों की प्रशंसा सुन उनके पास जाने को व्याकुल हो उठा, पर दीर्घ के अनुरोध पर कौशाम्बी का राजा ब्रह्मदत्त और वरधनु की सारे नगर में खोज करवा रहा था। इस कारण उसे अपने साथी वरधनु के साथ सागरदत्त के तलगृह में छिपे रहना पड़ा।

अर्द्ध रात्रि के समय ब्रह्मदत्त और वरधनु सागरदत्त के रथ में बैठ कर कौशाम्बी से निकले। नगर के बाहर बड़ी दूर तक उन्हें पहुँचा कर सागरदत्त अपने घर लौट गया। ब्रह्मदत्त और वरधनु आगे की ओर बढ़े। वे थोड़ी ही दूर चले होंगे कि उन्होंने एक पूर्णयौवना सुन्दर कन्या को शस्त्रास्त्रों से सजे रथ में बैठे देखा।

उस सुन्दरी ने सहज आत्मीयता के स्नेह से सने स्वर में पूछा—"आप दोनों को इतनी देर कहाँ हो गई? मैं तो आपकी बड़ी देर से यहाँ प्रतीक्षा कर रही हूँ।"

कुमार ने आश्चर्य से पूछा—"कुमारिके! हमने तुम्हें पहले कभी नहीं देखा, हम कौन हैं, यह तुम कैसे जानती हो?"

रथारूढ़ा कुमारी ने अपना परिचय देते हुए कहा—"कुमार? मैं बुद्धिल की बहिन रत्नवती हूं। मैंने बुद्धिल और सागरदत्त के कुक्कुट-युद्ध में जिस दिन आपके प्रथम दर्शन किये तभी से मैं आपसे मिलने को लालायित थी—अब चिर-अभिलाषा को पूर्ण करने हेतु यहाँ उपस्थित हूं! इस चिर-विरहिणी अपनी दासी को अपनी सेवा में ग्रहण कर अनुगृहीत कीजिये।"

रत्नवती की बात सुनते ही दोनों मित्र उसके रथ पर बैठ गये। वरधनु ने अश्वों की रास सम्हाल ली।

ब्रह्मदत्त ने रत्नावती से पूछा—"अब किस ओर चलना होगा?"

रत्नावती ने कहा--"मगधपुर में मेरे पितृव्य धनावह श्रेष्ठी के घर।"

वरधनु ने रथ को मगधपुरी की ओर बढ़ाया। तरल तुरंगों की वायुवेग सी गति से दौड़ता हुआ रथ कौशाम्बी की सीमा पार कर भीषण वन में पहुँचा। मार्ग में डाकूदल से संघर्ष, वरधनु से वियोग आदि संकटों के बाद ब्रह्मदत्त राजगृह में पहुँचा। राजगृह के बाहर तापसाश्रम में रत्नवती को छोड़कर वह नगर में पहुँचा। राजगृह में विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा एवं विशाखा नाम की दो विद्याधर कन्याओं के साथ गान्धर्व विवाह सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन वह श्रेष्ठी धनावह के घर पहुँचा। धनावह ब्रह्मदत्त को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने रत्नवती के साथ उसका विवाह कर दिया। धनावह ने कन्यादान के साथ-साथ अतुल धन-सम्पत्ति भी ब्रह्मदत्त को दी।

ब्रह्मदत्त रत्नवती के साथ बड़े आनन्द से राजगृह में रहने लगा, पर अपने प्रिय मित्र वरधनु का वियोग उसके हृदय को शल्य की तरह पीड़ित करता रहा। उसने वरधनु को ढूंढ़ने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी, पर हर संभव प्रयास करने पर भी उसका कहीं पता नहीं चला तो ब्रह्मदत्त ने वरधनु को मृत समझ कर उसके मृतक-कर्म कर ब्राह्मणों को भोजन के लिये आमन्त्रित किया।

सहसा वरधनु भी ब्राह्मणों के बीच आ पहुँचा और बोला—"मुझे जो भोजन खिलाया जायेगा, वह साक्षात् वरधनु को ही प्राप्त होगा।

अपने अनन्य सखा को सम्मुख खड़ा देख ब्रह्मदत्त ने उसे अपने बाहुपाश में जकड़कर हृदय से लगा लिया और हर्षातिरेक से बोला—"लो! अपने पीछे किये जाने वाले भोजन को खाने के लिये स्वयं वह वरधनु का प्रेत चला आया है।"

सब खिलखिला कर हँस पड़े। शोकपूर्ण वातावरण क्षणभर में ही सुख और आनन्द के वातावरण से परिणत हो गया।

ब्रह्मदत्त द्वारा यह पूछने पर कि वह एकाएक रथ पर से कहां गायब होगया? वरधनु ने कहा—"दस्युओं के युद्धजन्य श्रमातिरेक से आप प्रगाढ़ निद्रा में सो गये। उस समय कुछ लुटेरों ने रथ पर पुनः आक्रमण किया। मैंने बाणों की बौछार कर उन्हें भगा दिया, पर वृक्ष की ओट में छुपे एक चोर ने मुझ पर निशाना साध कर तीर मारा और मैं तत्क्षण पृथ्वी पर गिर पड़ा तथा झाड़ियों में छुप गया। चोरों के चले जाने पर झाड़ियों में से रेंगता हुआ धीरे-धीरे उस गांव में आ पहुँचा जहाँ आप ठहरे हुए थे। ग्राम के ठाकुर से आपके कुशल समाचार विदित हो गये और अपने प्रेत-भोजन को ग्रहण करने में स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हो गया।"

दोनों मित्र राजगृह में आनन्दपूर्वक रहने लगे, पर अब उन पर काम्पिल्य के राजसिंहासन से दीर्घ को हटाने की धुन सवार हो चुकी थी।

दोनों मित्र एक दिन वसन्त-महोत्सव देखने निकले। सुन्दर वसन्ती परिधान और अमूल्य आभूषण पहने खुशी में झूमती हुई राजगृह की तरुणियां और विविध सुन्दर वस्त्राभूषणों एवं चम्पा-चमेली की सुगन्धित फूलमालाओं से सजे खुशी से अठखेलियां करते हुए राजगृह के तरुण रमणीय उद्यान में मादक मधु-महोत्सव का आनन्द लूट रहे थे।

उसी समय राजगृह की राजकीय हस्तिशाला से एक मदोन्मत्त हाथी लौह शृंखलाओं और हस्ती-स्तम्भ को तोड़कर मद में झूमता हुआ मधु-महोत्सव के उद्यान में आ पहुँचा। उपस्थित लोगों में भगदड़ मच गई, त्राहि-त्राहि की पुकारों और कुसुम-कली सी कमनीय सुकुमार तरुणियों की भय-त्रस्त चीत्कारों से नन्दन वन सा रम्य उद्यान यमराज का क्रीड़ास्थल बन गया।

वह मस्त गजराज एक मधुबाला सी सुन्दर सुगौर बाला की ओर झपटा और उसने उसे अपनी सूंड में पकड़ लिया। सब के कलेजे धक् होगये।

ब्रह्मदत्त विद्युत् वेग से उछल कर हाथी के सम्मुख सीना तान कर खड़ा हो गया और उसके अन्तस्तल पर तीर की तरह चुभने वाले कर्कश स्वर में उसे ललकारने लगा।

हाथी उस कन्या को छोड़ अपनी लम्बी सूंड और पूँछ से आकाश को विलोडित करता हुआ ब्रह्मदत्त की ओर झपटा। हस्ति-युद्ध का मर्मज्ञ कुमार हाथी को इधर-उधर नचाता-कुदाता उसे भुलावे में डालता रहा और फिर बड़ी तेजी से कूदकर हाथी के दांतों पर पैर रखते हुए उसकी पीठ पर जा बैठा।

हाथी थोड़ी देर तक चिंघाड़ता हुआ इधर से उधर अन्धाधुन्ध भागता रहा, पर अन्त में कुमार ने हाथी को वश में करने वाले गूढ़ सांकेतिक अद्भुत शब्दों के उच्चारण से उसे वश में कर लिया।

वसंतोत्सव में सम्मिलित हुए सभी नर-नारी, जो अब तक श्वास रोके चित्रलिखित से खड़े महामृत्यु का खेल देख रहे थे, हाथी को वश में हुआ जानकर जयघोष करने लगे। तरुणों और तरुणियों ने अपने गलों में से फूलमालाएँ उतार-उतार कर कुमार पर पुष्पवर्षा प्रारम्भ कर दी। उस समय कुमार वसन्ती फूल और फूलमालाओं से लदा इतना मनोहर प्रतीत हो रहा था मानो मधु-महोत्सव की मादकता पर मुग्ध हो मस्ती से झूमता हुआ स्वयं मधुराज ही उस मदोन्मत्त हाथी पर आ बैठा हो।

रत्नावती ने कहा--"मगधपुर में मेरे पितृव्य धनावह श्रेष्ठी के घर।"

वरधनु ने रथ को मगधपुरी की ओर बढ़ाया। तरल तुरंगों की वायुवेग सी गति से दौड़ता हुआ रथ कौशाम्बी की सीमा पार कर भीषण वन में पहुँचा। मार्ग में डाकूदल से संघर्ष, वरधनु से वियोग आदि संकटों के बाद ब्रह्मदत्त राजगृह में पहुँचा। राजगृह के बाहर तापसाश्रम में रत्नवती को छोड़कर वह नगर में पहुँचा। राजगृह में विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा एवं विशाखा नाम की दो विद्याधर कन्याओं के साथ गान्धर्व विवाह सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन वह श्रेष्ठी धनावह के घर पहुँचा। धनावह ब्रह्मदत्त को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने रत्नवती के साथ उसका विवाह कर दिया। धनावह ने कन्यादान के साथ-साथ अतुल धन-सम्पत्ति भी ब्रह्मदत्त को दी।

ब्रह्मदत्त रत्नवती के साथ बड़े आनन्द से राजगृह में रहने लगा, पर अपने प्रिय मित्र वरधनु का वियोग उसके हृदय को शल्य की तरह पीड़ित करता रहा। उसने वरधनु को ढूंढ़ने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी, पर हर संभव प्रयास करने पर भी उसका कहीं पता नहीं चला तो ब्रह्मदत्त ने वरधनु को मृत समझ कर उसके मृतक-कर्म कर ब्राह्मणों को भोजन के लिये आमन्त्रित किया।

सहसा वरधनु भी ब्राह्मणों के बीच आ पहुँचा और बोला—"मुझे जो भोजन खिलाया जायेगा, वह साक्षात् वरधनु को ही प्राप्त होगा।

अपने अनन्य सखा को सम्मुख खड़ा देख ब्रह्मदत्त ने उसे अपने बाहुपाश में जकड़कर हृदय से लगा लिया और हर्षातिरेक से बोला—"लो ! अपने पीछे किये जाने वाले भोजन को खाने के लिये स्वयं वह वरधनु का प्रेत चला आया है।"

सब खिलखिला कर हँस पड़े। शोकपूर्ण वातावरण क्षणभर में ही सुख और आनन्द के वातावरण से परिणत हो गया।

ब्रह्मदत्त द्वारा यह पूछने पर कि वह एकाएक रथ पर से कहां गायब होगया ? वरधनु ने कहा—"दस्युओं के युद्धजन्य श्रमातिरेक से आप प्रगाढ़ निद्रा में सो गये। उस समय कुछ लुटेरों ने रथ पर पुनः आक्रमण किया। मैंने बाणों की बौछार कर उन्हें भगा दिया, पर वृक्ष की ओट में छुपे एक चोर ने मुझ पर निशाना साध कर तीर मारा और मैं तत्क्षण पृथ्वी पर गिर पड़ा तथा झाड़ियों में छुप गया। चोरों के चले जाने पर झाड़ियों में से रेंगता हुआ धीरे-धीरे उस गांव में आ पहुँचा जहाँ आप ठहरे हुए थे। ग्राम के ठाकुर से आपके कुशल समाचार विदित हो गये और अपने प्रेत-भोजन को ग्रहण करने मैं स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हो गया।"

दोनों मित्र राजगृह में आनन्दपूर्वक रहने लगे, पर अब उन पर काम्पिल्य के राजसिंहासन से दीर्घ को हटाने की धुन सवार हो चुकी थी ।

दोनों मित्र एक दिन वसन्त-महोत्सव देखने निकले । सुन्दर वसन्ती परिधान और अमूल्य आभूषण पहने खुशी में झूमती हुई राजगृह की तरुणियां और विविध सुन्दर वस्त्राभूषणों एवं चम्पा-चमेली की सुगन्धित फूलमालाओं से सजे खुशी से अठखेलियां करते हुए राजगृह के तरुण रमणीय उद्यान में मादक मधु-महोत्सव का आनन्द लूट रहे थे ।

उसी समय राजगृह की राजकीय हस्तिशाला से एक मदोन्मत्त हाथी लौह शृंखलाओं और हस्ती-स्तम्भ को तोड़कर मद में झूमता हुआ मधु-महोत्सव के उद्यान में आ पहुँचा । उपस्थित लोगों में भगदड़ मच गई, त्राहि-त्राहि की पुकारों और कुसुम-कली सी कमनीय सुकुमार तरुणियों की भय-त्रस्त चीत्कारों से नन्दन वन सा रम्य उद्यान यमराज का क्रीड़ास्थल बन गया ।

वह मस्त गजराज एक मधुबाला सी सुन्दर सुगौर बाला की ओर झपटा और उसने उसे अपनी सूंड में पकड़ लिया । सब के कलेजे धक् होगये ।

ब्रह्मदत्त विद्युत् वेग से उछल कर हाथी के सम्मुख सीना तान कर खड़ा हो गया और उसके अन्तस्तल पर तीर की तरह चुभने वाले कर्कश स्वर में उसे ललकारने लगा ।

हाथी उस कन्या को छोड़ अपनी लम्बी सूंड और पूँछ से आकाश को विलोडित करता हुआ ब्रह्मदत्त की ओर झपटा । हस्ति-युद्ध का मर्मज्ञ कुमार हाथी को इधर-उधर नचाता-कुदाता उसे भुलावे में डालता रहा और फिर बड़ी तेजी से कूदकर हाथी के दांतों पर पैर रखते हुए उसकी पीठ पर जा बैठा ।

हाथी थोड़ी देर तक चिघाड़ता हुआ इधर से उधर अन्धाधुन्ध भागता रहा, पर अन्त में कुमार ने हाथी को वश में करने वाले गूढ़ सांकेतिक अद्भुत शब्दों के उच्चारण से उसे वश में कर लिया ।

वसंतोत्सव में सम्मिलित हुए सभी नर-नारी, जो अब तक श्वास रोके चित्रलिखित से खड़े महामृत्यु का खेल देख रहे थे, हाथी को वश में हुआ जान-कर जयघोष करने लगे । तरुणों और तरुणियों ने अपने गलों में से फूलमालाएँ उतार-उतार कर कुमार पर पुष्पवर्षा प्रारम्भ कर दी । उस समय कुमार वसन्ती फूल और फूलमालाओं से लदा इतना मनोहर प्रतीत हो रहा था मानो मधु-महोत्सव की मादकता पर मुग्ध हो मस्ती से झूमता हुआ स्वयं मधुराज ही उस मदोन्मत्त हाथी पर आ बैठा हो ।

कुमार स्वेच्छानुसार हाथी को हाँकता हुआ हस्तिशाला की ओर अग्रसर हुआ। हजारों हर्षविभोर युवक जयघोष करते हुए उसके पीछे-पीछे चल रहे थे।

कुमार ने उस हाथी को हस्तिशाला में ले जाकर स्तम्भ से बाँध दिया। गगनभेदी जयघोषों को सुनकर मगधेश्वर भी हस्तिशाला में आ पहुँचे। सुकुमार देव के समान सुन्दर कुमार के अलौकिक साहस को देखकर मगधेश्वर अत्यन्त विस्मित हुआ और उसने अपने मन्त्रियों और राज्य सभा के सदस्यों की ओर देखते हुए साश्चर्य जिज्ञासा के स्वर में पूछा—"सूर्य के समान तेजस्वी और शक्र के समान शक्तिशाली यह मनमोहक युवक कौन है ?"

नगरश्रेष्ठी धनावह से ब्रह्मदत्त का परिचय पाकर मगधपति बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपनी पुत्री पुण्यमानी का ब्रह्मदत्त के साथ बड़े हर्षोल्लास, धूमधाम और ठाट-बाट से विवाह कर दिया।

राजगृही नगरी कई दिनों तक महोत्सवपुरी बनी रही। राजकीय दामाद के सम्मान में मन्त्रियों, श्रेष्ठियों और गण्य-मान्य नागरिकों की ओर से भव्य-भोजों का आयोजन किया गया।

जिस कुमारी को वसन्तोत्सव के समय ब्रह्मदत्त ने हाथी से बचाया था, वह राजगृह के वैश्रवण नामक धनाढ्य श्रेष्ठी की श्रीमती नाम की पुत्री थी। श्रीमती ने उसी दिन प्रण कर लिया था कि जिसने उसे हाथी से बचाया है, उसी से विवाह करेगी अन्यथा जीवनभर अविवाहित रहेगी।

ब्रह्मदत्त को जब श्रीमती पर माँ से भी अधिक स्नेह रखने वाली एक वृद्धा से श्रीमती के प्रण का पता चला तो उसने विवाह की स्वीकृति दे दी। वैश्रवण श्रेष्ठी ने बड़े समारोहपूर्वक अपनी कन्या श्रीमती का ब्रह्मदत्त के साथ पाणिग्रहण करा दिया।

मगधेश के मन्त्री सुबुद्धि ने भी अपनी पुत्री नन्दा का वरधनु के साथ विवाह कर दिया।

थोड़े ही दिनों में ब्रह्मदत्त की यशोगाथाएं भारत के घर-घर में गाई जाने लगीं। कुछ दिन राजगृह में ठहर कर ब्रह्मदत्त और वरधनु युद्ध के लिये तैयारी करने हेतु वाराणसी पहुंचे।

वाराणसी-नरेश ने जब अपने प्रिय मित्र ब्रह्म के पुत्र ब्रह्मदत्त के आगमन का समाचार सुना तो वह प्रेम से पुलकित हो उसका स्वागत करने के लिये स्वयं ब्रह्मदत्त के सम्मुख आया और बड़े सम्मान के साथ उसे अपने राज-प्रासाद में ले गया।

वाराणसी-पति कटक ने अपनी कन्या कटकवती का ब्रह्मदत्त के साथ विवाह कर दिया और दहेज में अपनी शक्तिशालिनी चतुरंगिणी सेना दी।

ब्रह्मदत्त के वाराणसी आगमन का समाचार सुनकर हस्तिनापुर के नृपति कणेरुदत्त, चम्पानरेश पुष्पचूलक, प्रधानामात्य धनु और भगदत्त आदि अनेक राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ वाराणसी नगरी में आगये। सभी सेनाओं को सुसंगठित कर वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त किया और ब्रह्मदत्त ने दीर्घ पर आक्रमण करने के लिये सेना के साथ काम्पिल्यपुर की ओर प्रयाण किया।

दीर्घ ने सैनिक अभियान का समाचार सुनकर वाराणसी-नरेश कटक के पास दूत भेजा और कहलाया कि वे दीर्घ के साथ अपनी बाल्यावस्था से चली आई अटूट मैत्री न तोड़ें।

भूपति कटक ने उस दूत के साथ दीर्घ को कहलवाया—"हम पाँचों मित्रों में सहोदरों के समान प्रेम था। स्वर्गीय काम्पिल्येश्वर ब्रह्म का पुत्र और राज्य तुम्हें धरोहर के रूप में रक्षार्थ सौंपे गये थे। सौंपी हुई वस्तु को डाकिनी भी नहीं खाती, पर दीर्घ तुमने जैसा घृणित और क्षुद्र पापाचरण किया है, वैसा तो अधम से अधम चांडाल भी नहीं कर सकता। अतः तेरा काल बनकर ब्रह्मदत्त आ रहा है, युद्ध या पलायन में से एक कार्य चुन लो।"

दीर्घ भी बड़ी शक्तिशाली सेना ले ब्रह्मदत्त के साथ युद्ध करने के लिये रणक्षेत्र में आ डटा। दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ। दीर्घ की उस समय के रणनीति-कुशल शक्तिशाली योद्धाओं में गणना की जाती थी। उसने ब्रह्मदत्त और उसके सहायकों की सेनाओं को अपने भीषण प्रहारों से प्रारम्भ में छिन्न-भिन्न कर दिया। अपनी सेनाओं को भय-विह्वल देख ब्रह्मदत्त क्रुद्ध हो कृतान्त की तरह दीर्घ की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगा। ब्रह्मदत्त के असह्य पराक्रम के सम्मुख दीर्घ की सेना भाग खड़ी हुई। ब्रह्मदत्त ने दण्डनीति के साथ-साथ भेदनीति से भी काम लिया और दीर्घ के अनेक योद्धाओं को अपनी ओर मिला लिया।

अन्त में दीर्घ और ब्रह्मदत्त का द्वन्द्व-युद्ध हुआ। दोनों एक-दूसरे पर घातक से घातक शस्त्रास्त्रों के प्रहार करते हुए बड़ी देर तक द्वन्द्व-युद्ध करते रहे, पर जय-पराजय का कोई निर्णय नहीं हो सका। दोनों ने एक-दूसरे के अमोघास्त्रों को अपने पास पहुँचने से पहले ही काट डाला। दोनों योद्धा एक-दूसरे के लिये अजेय थे।

एक पतित पुरुषाधम में भी इतना पौरुष और पराक्रम होता है, यह दीर्घ के अद्भुत युद्ध-कौशल को देखकर दोनों ओर की सेनाओं के योद्धाओं को प्रथम

बार अनुभव हुआ। दोनों ओर के सैनिक चित्रलिखित से खड़े दोनों विकट-योद्धाओं का द्वन्द्व-युद्ध देख रहे थे।

दर्शकों को सहसा यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आषाढ़ की घनघोर मेघ-घटाओं के समान गम्भीर ध्वनि करता हुआ, प्रलयकालीन अनल की तरह जाज्वल्यमान ज्वालाओं को उगलता हुआ, भीषण उल्कापात-का-सा दृश्य प्रस्तुत करता हुआ, अपनी अदृष्टपूर्व तेज चमक से सबकी आँखों को चकाचौंध करता हुआ एक चक्ररत्न अचानक प्रकट हुआ और ब्रह्मदत्त की तीन प्रदक्षिणा कर उसके दक्षिण पार्श्व में मुण्ड हस्त मात्र की दूरी पर आकाश में अधर स्थित हो गया।

ब्रह्मदत्त ने अपने दाहिने हाथ की तर्जनी पर चक्र को धारण कर घुमाया और उसे दीर्घ की ओर प्रेषित किया। क्षण भर में ही घृणित पापाचरणों और भीषण षड्यन्त्रों का उत्पत्तिकेन्द्र दीर्घ का मस्तक उसके कालिमा-कलुषित धड़ से चक्र द्वारा अलग किया जाकर पृथ्वी पर लुढ़क गया।

पापाचार की पराजय और सत्य की विजय से प्रसन्न हो सेनाओं ने जय-घोषों से दिशाओं को कंपित कर दिया।

बड़े समारोहपूर्वक ब्रह्मदत्त ने काम्पिल्यपुर में प्रवेश किया।

चुलनी अपने पतित पापाचार के लिए पश्चात्ताप करती हुई ब्रह्मदत्त के नगर-प्रवेश से पूर्व ही प्रव्रजित हो अन्यत्र विहार कर गई।

प्रजाजनों और मित्र-राजाओं ने बड़े ही आनन्दोल्लास और समारोह के साथ ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक महोत्सव सम्पन्न किया।

इस तरह ब्रह्मदत्त निरन्तर सोलह वर्ष तक कभी विभिन्न भयानक जंगलों में भूख-प्यास आदि के दुःख भोगता हुआ और कभी भव्य-प्रासादों में सुन्दर रमणी-रत्नों के साथ आनन्दोपभोग करता हुआ अपने प्राणों की रक्षा के लिए पृथ्वी-मण्डल पर घूमता रह कर अन्त में भीषण संघर्षों के पश्चात् अपने पैतृक राज्य का अधिकारी हुआ।

काम्पिल्यपुर के राज्य सिंहासन पर बैठते ही उसने बन्धुमती, पुष्पवती, श्रीकान्ता, खण्डा, विशाखा, रत्नवली, पुण्यमानी, श्रीमती और कटकवती इन नवों ही अपनी पत्नियों को उनके पितृगृहों से बुला लिया।

ब्रह्मदत्त छप्पन्न वर्षों तक माण्डलिक राजा के पद पर रहकर राज्य-सुखों का उपभोग करता रहा और तदनन्तर बहुत बड़ी सेना लेकर भारत के छह

खण्डों की विजय के लिए निकल पड़ा। सम्पूर्ण भारत खण्ड की विजय के अभियान में उसने सोलह वर्ष तक अनेक लड़ाइयां लड़ीं और भीषण संघर्षों के बाद वह सम्पूर्ण भारत पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा कर काम्पिल्यपुर लौटा।

वह चौदह रत्नों, नवनिधियों और चक्रवर्ती की सब समृद्धियों का स्वामी बन गया।

नवनिधियों से चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की यथेप्सित भोग सामग्री इच्छा करते ही उपलब्ध हो जाती थी। देवेन्द्र में समान सांसारिक भोगों का उपभोग करते हुए बड़े आनन्द के साथ उसका समय व्यतीत हो रहा था।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी रानियों, परिजनों एवं मंत्रियों से घिरा हुआ अपने रंगभवन में बैठा मधुर संगीत और मनोहारी नाटकों से मनोरंजन कर रहा था। उस समय एक दासी ने ब्रह्मदत्त की सेवा में एक बहुत ही मनोहर पुष्प-स्तवक प्रस्तुत किया, जिस पर सुगन्धित फूलों से हंस, मृग, मयूर, सारस, कोकिल आदि की बड़ी सुन्दर और सजीव आकृतियां गुंफित की हुई थीं। उच्चकोटि की कलाकृति के प्रतीक परम मनोहारी उस पुष्प-कन्दुक को विस्मय और कौतुक से देखते-देखते ब्रह्मदत्त के हृदय में धुंधली सी स्मृति जागृत हुई कि इस तरह अलौकिक कलापूर्ण पुष्प-स्तवक पर अंकित नाटक उसने कहीं देखे हैं। ऊहापोह, एकाग्र चिन्तन, ज्ञानावरण कर्म के उपशम और स्मृति पर अधिक जोर देने से उसके स्मृति-पटल पर सौधर्मकल्प में पद्मगुल्म विमान के देव का अपना पूर्व-भव स्पष्टतः अंकित हो गया। उसे उसी समय जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और अपने पूर्व के पांच भव यथावत् दिखने लगे। ब्रह्मदत्त तत्क्षण मूच्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा।

यह देख साम्राज्ञियों, अमात्यों और आत्मीयों पर मानों वज्रपात सा हो गया। विविध शीतलोपचारों से बड़ी देर में ब्रह्मदत्त की मूर्च्छा टूटी, पर अपने पूर्व भवों को याद कर वह बार-बार मूच्छित हो जाता। आत्मीयों द्वारा मूर्च्छा का कारण बार-बार पूछने पर भी उसने अपने पूर्व भवों की स्मृति का रहस्य प्रकट नहीं किया और यही कहता रहा कि यों ही पित्तप्रकोप से मूर्च्छा आ जाती है।

ब्रह्मदत्त एकान्त में निरन्तर यही सोचता रहा कि वह अपने पूर्व भवों के सहोदर से कहाँ, कब और कैसे मिल सकता है। अन्त में एक उपाय उसके मस्तिष्क में आया। उसने अपने विशाल साम्राज्य के प्रत्येक गाँव और नगर में घोषणा करवा दी कि जो इस गाथाद्वय के चतुर्थ पद की पूर्ति कर देगा उसे वह अपना आधा राज्य दे देगा। वे गाथाएं इस प्रकार थीं :—

दासा दसण्णए आसी, मिया कालिंजरे णगे ।
हंस मयंग तीराए, सोवागा कासिभूमिए ॥
देवा य देवलोयम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया ।
....

आधे राज्य की प्राप्ति की आशा में प्रत्येक व्यक्ति ने इस समस्या-पूर्ति का पूरा प्रयास किया और यह डेढ़ गाथा जन-जन की जिह्वा पर मुखरित हो गई।

एक दिन चित्त नामक एक महान् तपस्वी श्रमण ग्राम नगरादि में विचरण करते हुए काम्पिल्यनगर के मनोरम उद्यान में आये और एकान्त में कायोत्सर्ग कर ध्यानावस्थित हो गये। अपने कार्य में व्यस्त उस उद्यान का माली उपर्युक्त तीन पंक्तियां बार-बार गुनगुनाने लगा। माली के कंठ से इस डेढ़ गाथा को सुन कर चित्त मुनि के मन में भी संकल्प-विकल्प व ऊहापोह उत्पन्न हुआ और उन्हें भी जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वे भी अपने पूर्व-जन्म के पांच भवों को अच्छी तरह से देखने लगे। उन्होंने समस्या-पूर्ति करते हुए मालाकार को निम्नलिखित आधी गाथा कण्ठस्थ करवा दी :—

इमा णो छट्ठिया जाई, अण्णमण्णेहिं जा विणा ।

माली ने इसे कंठस्थ कर खुशी-खुशी ब्रह्मदत्त के समक्ष जाकर समस्या-पूर्ति कर दोनों गाथाएं पूरी सुना दीं। सुनते ही राजा पुनः मूर्च्छित हो गया। यह देख ब्रह्मदत्त के अंगरक्षक यह समझकर कि इस माली के इन कठोर वचनों के कारण राजाधिराज मूर्च्छित हुए हैं, उस माली को पीटने लगे। राज्य पाने की आशा से आया हुआ माली ताड़ना पाकर स्तब्ध रह गया और बार-बार कहने लगा—"मैं निरपराध हूं, मैंने यह कविता नहीं बनाई है। मुझे तो उद्यान में ठहरे हुए एक मुनि ने सिखाई है।"

थोड़ी ही देर में शीतलोपचारों से ब्रह्मदत्त पुनः स्वस्थ हुआ। उसने राज-पुरुषों को शान्त करते हुए माली से पूछा—"भाई! क्या यह चौथा पद तुमने बनाया है?"

माली ने कहा—"नहीं पृथ्वीनाथ! यह रचना मेरी नहीं। उद्यान में आये हुए एक तपस्वी मुनि ने यह समस्या-पूर्ति की है।"

ब्रह्मदत्त ने प्रसन्न हो मुकुट के अतिरिक्त अपने सब आभूषण उद्यानपाल को पारितोषिक के रूप में दे दिये और अपने अन्तःपुर एवं पूर्ण ऐश्वर्य के साथ वह मनोरम उद्यान पहुंचा। चित्त मुनि को देखते ही ब्रह्मदत्त ने उनके चरणों पर मुकुट-मणियों से प्रकाशमान अपना मस्तक झुका दिया। उसके साथ ही

साम्राज्ञियों, सामन्तों आदि के लाखों मस्तक भी झुक गये। पूर्व के अपने पाँचों भवों का भ्रातृस्नेह ब्रह्मदत्त के हृदय में हिलोरें लेने लगा। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधाराएं बहने लगीं। पूर्व स्नेह को याद कर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

मुनि के अतिरिक्त सभी के विस्फारित नेत्र सजल हो गये। राजमहिषी पुष्पवती ने साश्चर्य ब्रह्मदत्त से पूछा—"प्राणनाथ ! चक्रवर्ती सम्राट् होकर आज आप सामान्य जन की तरह करुण विलाप क्यों कर रहें हैं ?"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"महादेवि ! यह महामुनि मेरे भाई हैं।"

पुष्पवती ने साश्चर्य प्रश्न किया—"यह किस तरह महाराज ?"

ब्रह्मदत्त ने गद्गद स्वर में कहा—"यह तो मुनिवर के मुखारविन्द से ही सुनो।"

साम्राज्ञियों के विनय भरे अनुरोध पर मुनि चित्त ने कहना प्रारम्भ किया—"इस संसार-चक्र में प्रत्येक प्राणी कुम्भकार के चक्र पर चढ़े हुए मृत्पिण्ड की तरह जन्म, जरा और मरण के अनवरत क्रम से अनेक प्रकार के रूप धारण करता हुआ अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। प्रत्येक प्राणी अन्य प्राणी से माता, पिता, पुत्र, सहोदर, पति, पत्नी आदि स्नेहपूर्ण सम्बन्धों से बँधकर अनन्त वार बिछुड़ चुका है।"

"संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि यह संसार वास्तव में संयोग-वियोग, सुख-दुःख और हर्ष-विषाद का संगमस्थल है। स्वयं अपने ही वनाये हुए कर्मजाल में मकड़ी की तरह फँसा हुआ प्रत्येक प्राणी छटपटा रहा है। कर्मवश नट की तरह विविध रूप बनाकर भव-भ्रमण में भटकते हुए प्राणी के अन्य प्राणियों के साथ इन विनाशशील पिता, पुत्र, भाई आदि सम्बन्धों का कोई पारावार ही नहीं है।"

"हम दोनों भी पिछले पाँच भवों में सहोदर रहे हैं। पहले भव में श्रीदह ग्राम के शाण्डिल्यायन ब्राह्मण की जसमती नामक दासी के गर्भ से हम दोनों दास के रूप में उत्पन्न हुए। वह ब्राह्मण हम दोनों भाइयों से दिन भर कसकर श्रम करवाता। एक दिन उस ब्राह्मण ने कहा कि यदि कृषि की उपज अच्छी हुई तो वह हम दोनों का विवाह कर देगा। इस प्रलोभन से हम दोनों भाई और भी अधिक कठोर परिश्रम से विना भूख-प्यास आदि की चिन्ता किये रात-दिन जी तोड़ कर काम करने लगे।"

"एक दिन शीतकाल में हम दोनों भाई खेत में कार्य कर रहे थे कि अचानक आकाश काली मेघ-घटाओं से छा गया और मूसलाधार पानी वरसने

लगा। ठंड से ठिठुरते हुए हम दोनों भाई खेत में ही एक विशाल वटवृक्ष के तने के पास बैठ गये। वर्षा थमने का नाम नहीं ले रही थी और चारों ओर जल ही जल दृष्टिगोचर हो रहा था। क्रमशः सूर्यास्त हुआ और चारों ओर घोर अन्धकार ने अपना एकछत्र साम्राज्य फैला दिया। दिन भर के कठिन श्रम से हमारा रोम-रोम दर्द कर रहा था, भूख बुरी तरह सता रही थी, उस पर शीतकालीन वर्षा की तीर-सी चुभने वाली शीत लहरों से ठिठुरे हुए हम दोनों भाइयों के दाँत बोलने लगे।"

"वटवृक्ष के कोटर में सो जाने की इच्छा से हमने अन्धेरे में इधर-उधर टटोलना प्रारम्भ किया तो भयंकर विषधर ने हम दोनों को डस लिया। हम दोनों भाई एक-दूसरे से सटे हुए कीट-पतंग की तरह कराल काल के ग्रास बन गये।"

"तदनन्तर हम दोनों कालिंजर पर्वत पर एक हरिणी के गर्भ से हरिण-युगल के रूप में उत्पन्न हुए। क्रमशः हम युवा हुए और दोनों भाई अपनी माँ के साथ वन में चौकड़ियाँ भरते हुए इधर से उधर विचरण करने लगे। एक दिन हम दोनों प्यास से व्याकुल हो वेत्रवती नदी के तट पर अपनी प्यास बुझाने गये। पानी में मुँह भी नहीं दे पाये थे कि हम दोनों को निशाना बनाकर एक शिकारी ने एक ही तीर से बींध दिया। कुछ क्षण छटपटाकर हम दोनों पञ्चत्व को प्राप्त हुए।"

"उसके पश्चात् हम दोनों मयंग नदी के तट पर स्थित सरोवर में एक हंसिनी के उदर से हंस-युगल के रूप में उत्पन्न हुए और सरोवर में क्रीड़ा करते हुए हम युवा हुए। वहाँ पर भी एक पारधी ने हम दोनों को एक साथ जाल में फँसा लिया और गर्दन तोड़-मरोड़ कर हमें मार डाला।"

"हंसों की योनि के पश्चात् हम दोनों काशी जनपद के वाराणसी नगर के बड़े समृद्धिशाली भूतदिन्न नामक चाण्डाल की पत्नी अह्निका (अणहिया) के गर्भ से युगल सहोदर के रूप में उत्पन्न हुए। मेरा नाम चित्र और इन (ब्रह्मदत्त) का नाम संभूत रखा गया। बड़े लाड़-प्यार से हम दोनों भाइयों का लालन-पालन किया गया। जिस समय हम ८ वर्ष के हुए, उस समय काशीपति अमितवाहन ने अपने नमूची[1] नामक पुरोहित को किसी अपराध के कारण मौत के घाट उतारने के लिए गुप्त रूप से हमारे पिता को सौंपा।"

---

१ चउवन्न महापुरिस चरियं में पुरोहित का नाम 'सच्च' दिया हुआ है।

[पृष्ठ २१५]

हमारे पिता ने पुरोहित नमूची से कहा—"यदि तुम मेरे इन दोनों पुत्रों को सम्पूर्ण कलाओं में निष्णात करना स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हें गृहतल में प्रच्छन्न रूप से सुरक्षित रखूंगा। अन्यथा तुम्हारे प्राण किसी भी दशा में नहीं बच सकते।"

"अपने प्राणों के रक्षार्थ पुरोहित ने हमारे पिता की शर्त स्वीकार कर ली और वह हमें पढ़ाने लगा।"

"हमारी माता पुरोहित के स्नान, पान भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करती थी। कुछ ही समय में पुरोहित और हमारी माता एक दूसरे पर आसक्त हो विषय-वासना के शिकार हो गये। हम दोनों भाइयों ने विद्या-अध्ययन के लोभ में यह सब जानते हुए भी अपने पिता को उन दोनों के अनुचित सम्बन्ध के विषय में सूचना नहीं दी। निरन्तर अध्ययन कर हम दोनों भाई सब कलाओं में निष्णात हो गये।"

"अन्त में एक दिन हमारे पिता को पुरोहित और हमारी माता के पापाचरण का पता चल गया और उन्होंने पुरोहितजी को मार डालने का निश्चय कर लिया, पर हम दोनों ने अपने उस उपाध्याय को चुपके से वहाँ से भगा दिया। वह पुरोहित भाग कर हस्तिनापुर चला गया और वहाँ सनत्कुमार चक्रवर्ती का मंत्री बन गया।"

"हम दोनों भाई वाराणसी के बाजारों, चौराहों और गलीकूंचों में लय-ताल पर मधुर संगीत गाते हुए स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। हमारी सुमधुर स्वर-लहरियों से पुर-जन विशेषतः रमणियां आकृष्ट हो मन्त्रमुग्ध सी दौड़ी चली आतीं। यह देख वाराणसी के प्रमुख नागरिकों ने काशीनरेश से कह कर हम दोनों भाइयों का नगर-प्रवेश निषिद्ध करवा दिया। हम दोनों भाइयों ने मन मसोस कर नगर में जाना बन्द कर दिया।"

"एक दिन वाराणसी नगर में कौमुदी-महोत्सव था। सारा नगर हँसी-खुशी के मादक वातावरण में झूम उठा। हम दोनों भाई भी महोत्सव का आनन्द लूटने के लोभ का संवरण नहीं कर सके और लोगों की दृष्टि से छिपते हुए शहर में घुस पड़े तथा हम दोनों ने नगर में घुस कर महोत्सव के मनोरम दृश्य देखे।"

"एक जगह संगीत-मण्डली का संगीत हो रहा था। हठात् हम दोनों भाइयों के कण्ठों से अज्ञात में ही स्वरलहरियां निकल पड़ीं। जिस-जिस के कर्णरन्ध्रों में हमारी मधुर संगीत-ध्वनि पहुँची वही मन्त्रमुग्ध सा हमारी ओर आकृष्ट हो दौड़ पड़ा। हम दोनों भाई तन्मय हो गा रहे थे। हमारे चारों ओर

लगा । ठंड से ठिठुरते हुए हम दोनों भाई खेत में ही एक विशाल वटवृक्ष के तने के पास बैठ गये । वर्षा थमने का नाम नहीं ले रही थी और चारों ओर जल ही जल दृष्टिगोचर हो रहा था । क्रमशः सूर्यास्त हुआ और चारों ओर घोर अन्धकार ने अपना एकछत्र साम्राज्य फैला दिया । दिन भर के कठिन श्रम से हमारा रोम-रोम दर्द कर रहा था, भूख बुरी तरह सता रही थी, उस पर शीतकालीन वर्षा की तीर-सी चुभने वाली शीत लहरों से ठिठुरे हुए हम दोनों भाइयों के दाँत बोलने लगे ।"

"वटवृक्ष के कोटर में सो जाने की इच्छा से हमने अन्धेरे में इधर-उधर टटोलना प्रारम्भ किया तो भयंकर विषधर ने हम दोनों को डस लिया । हम दोनों भाई एक-दूसरे से सटे हुए कीट-पतंग की तरह कराल काल के ग्रास बन गये ।"

"तदनन्तर हम दोनों कालिंजर पर्वत पर एक हरिणी के गर्भ से हरिण-युगल के रूप में उत्पन्न हुए । क्रमशः हम युवा हुए और दोनों भाई अपनी माँ के साथ वन में चौकड़ियाँ भरते हुए इधर से उधर विचरण करने लगे । एक दिन हम दोनों प्यास से व्याकुल हो वेत्रवती नदी के तट पर अपनी प्यास बुझाने गये । पानी में मुँह भी नहीं दे पाये थे कि हम दोनों को निशाना बनाकर एक शिकारी ने एक ही तीर से बींध दिया । कुछ क्षण छटपटाकर हम दोनों पञ्चत्व को प्राप्त हुए ।"

"उसके पश्चात् हम दोनों मयंग नदी के तट पर स्थित सरोवर में एक हंसिनी के उदर से हंस-युगल के रूप में उत्पन्न हुए और सरोवर में क्रीड़ा करते हुए हम युवा हुए । वहाँ पर भी एक पारधी ने हम दोनों को एक साथ जाल में फँसा लिया और गर्दन तोड़-मरोड़ कर हमें मार डाला ।"

"हंसों की योनि के पश्चात् हम दोनों काशी जनपद के वाराणसी नगर के बड़े समृद्धिशाली भूतदिन्न नामक चाण्डाल की पत्नी अह्निका (अणहिया) के गर्भ से युगल सहोदर के रूप में उत्पन्न हुए । मेरा नाम चित्र और इन (ब्रह्मदत्त) का नाम संभूत रखा गया । बड़े लाड़-प्यार से हम दोनों भाइयों का लालन-पालन किया गया । जिस समय हम ८ वर्ष के हुए, उस समय काशीपति अमितवाहन ने अपने नमूची[1] नामक पुरोहित को किसी अपराध के कारण मौत के घाट उतारने के लिए गुप्त रूप से हमारे पिता को सौंपा ।"

---

१ चउवन्न महापुरिस चरियं में पुरोहित का नाम 'सच्च' दिया हुआ है ।

[पृष्ठ २१५]

हमारे पिता ने पुरोहित नमूची से कहा—"यदि तुम मेरे इन दोनों पुत्रों को सम्पूर्ण कलाओं में निष्णात करना स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हें गृहतल में प्रच्छन्न रूप से सुरक्षित रखूंगा। अन्यथा तुम्हारे प्राण किसी भी दशा में नहीं बच सकते।"

"अपने प्राणों के रक्षार्थ पुरोहित ने हमारे पिता की शर्त स्वीकार कर ली और वह हमें पढ़ाने लगा।"

"हमारी माता पुरोहित के स्नान, पान भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करती थी। कुछ ही समय में पुरोहित और हमारी माता एक दूसरे पर आसक्त हो विषय-वासना के शिकार हो गये। हम दोनों भाइयों ने विद्या-अध्ययन के लोभ में यह सब जानते हुए भी अपने पिता को उन दोनों के अनुचित सम्बन्ध के विषय में सूचना नहीं दी। निरन्तर अध्ययन कर हम दोनों भाई सब कलाओं में निष्णात हो गये।"

"अन्त में एक दिन हमारे पिता को पुरोहित और हमारी माता के पापाचरण का पता चल गया और उन्होंने पुरोहितजी को मार डालने का निश्चय कर लिया, पर हम दोनों ने अपने उस उपाध्याय को चुपके से वहाँ से भगा दिया। वह पुरोहित भाग कर हस्तिनापुर चला गया और वहाँ सनत्कुमार चक्रवर्ती का मंत्री बन गया।"

"हम दोनों भाई वाराणसी के बाजारों, चौराहों और गलीकूंचों में लय-ताल पर मधुर संगीत गाते हुए स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। हमारी सुमधुर स्वर-लहरियों से पुर-जन विशेषतः रमणियां आकृष्ट हो मन्त्रमुग्ध सी दौड़ी चली आतीं। यह देख वाराणसी के प्रमुख नागरिकों ने काशीनरेश से कह कर हम दोनों भाइयों का नगर-प्रवेश निषिद्ध करवा दिया। हम दोनों भाइयों ने मन मसोस कर नगर में जाना बन्द कर दिया।"

"एक दिन वाराणसी नगर में कौमुदी-महोत्सव था। सारा नगर हँसी-खुशी के मादक वातावरण में झूम उठा। हम दोनों भाई भी महोत्सव का आनन्द लूटने के लोभ का संवरण नहीं कर सके और लोगों की दृष्टि से छिपते हुए शहर में घुस पड़े तथा हम दोनों ने नगर में घुस कर महोत्सव के मनोरम दृश्य देखे।"

"एक जगह संगीत-मण्डली का संगीत हो रहा था। हठात् हम दोनों भाइयों के कण्ठों से अज्ञात में ही स्वरलहरियां निकल पड़ीं। जिस-जिस के कर्णरन्ध्रों में हमारी मधुर संगीत-ध्वनि पहुँची वही मन्त्रमुग्ध सा हमारी ओर आकृष्ट हो दौड़ पड़ा। हम दोनों भाई तन्मय हो गा रहे थे। हमारे चारों ओर

हजारों नर-नारी एकत्रित हो गये और हमारा मनमोहक संगीत सुनने लगे।

"सहसा भीड़ में से किसी ने पुकार कर कहा—अरे ! ये तो वही चाण्डाल के छोकरे हैं, जिनका राजाज्ञा से नगर-प्रवेश निषिद्ध है।"

"बस, फिर क्या था, हम दोनों भाइयों पर थप्पड़ों, लातों, मुक्कों और भागने पर लाठियों व पत्थरों की वर्षा होने लगी। हम दोनों अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्राण-प्रण से भाग रहे थे और नागरिकों की भीड़ हमारे पीछे भागती हुई हम पर पत्थरों की इस तरह वर्षा कर रही थी मानों हम मानव-वेषधारी पागल कुत्ते हों।"

"हम दोनों नागरिकों द्वारा कुटते-पिटते शहर के बाहर आ गये। तब कहीं क्रुद्ध जनसमूह ने हमारा पीछा छोड़ा। फिर भी हम जंगल की ओर बेतहाशा भागे जा रहे थे। अन्त में हम एक निर्जन स्थान में रुके और यह सोच-कर कि ऐसे तिरस्कृत पशुतुल्य जीवन से तो मर जाना अच्छा है, हम दोनों भाइयों ने पर्वत से गिर कर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया।"

"आत्महत्या का दृढ़ निश्चय कर हम दोनों भाई एक विशाल पर्वत के उच्चतम शिखर की ओर चढ़ने लगे। पर्वत शिखर पर चढ़ कर हमने देखा कि एक मुनि शान्त मुद्रा में ध्यानस्थ खड़े हैं। मुनि के दर्शन करते ही हम दोनों ने शान्ति का अनुभव किया। हम मुनि के पास गये और उनके चरणों पर गिर पड़े।"

"तपस्वी ने थोड़ी ही देर में ध्यान समाप्त होने पर आँखें खोलीं और हमें पूछा—"तुम कौन हो और इस गिरिशिखर पर किस प्रयोजन से आये हो ?"

"हमने अपना सारा वृत्तान्त यथावत् सुनाते हुए कहा कि इस जीवन से ऊबे हुए हम पर्वतशिखर से कूद कर आत्महत्या करने के लिये यहाँ आये हैं।"

"इस पर करुणार्द्र मुनि ने कहा—"इस प्रकार आत्महत्या करने से तो तुम्हारे ये पार्थिव शरीर ही नष्ट होंगे। दुःखमय जीवन के मूल कारण जो तुम्हारे जन्मान्तरों के अर्जित कर्म हैं, वे तो ज्यों के त्यों विद्यमान रहेंगे। शरीर का त्याग ही करना चाहते हो तो सुरलोक और मुक्ति का सुख देने वाले तपश्चरण से अपने शरीर का पूरा लाभ उठा कर फिर शरीर-त्याग करो। तपस्या की आग में तुम्हारे पूर्व-संचित अशुभ कर्म तो जल कर भस्म होंगे ही, पर इसके साथ-साथ शुभ-कर्मों को भी तुम उपार्जित कर सकोगे।"

"मुनि का हितपूर्ण उपदेश हमें बड़ा ही युक्तिसंगत तथा रुचिकर लगा और हम दोनों भाइयों ने तत्क्षण उनके पास मुनि धर्म स्वीकार कर लिया।

दयालु मुनि ने मोक्षमार्ग के मूल सिद्धान्तों का हमें अध्ययन कराया। हमने षष्टम-अष्टम भक्त, मासक्षमण आदि तपस्याएं कर अपने शरीर को सुखा डाला।"

"विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए हम दोनों एक दिन हस्तिनापुर पहुँचे और नगर के बाहर एक उद्यान में कठोर तपश्चरण करने लगे।"

"एकदा मास-क्षमण के पारण के दिन संभूत मुनि भिक्षार्थ हस्तिनापुर नगर में गये। राजपथ पर नमूची ने संभूत मुनि को पहिचान लिया और यह सोच कर कि यह कहीं मेरे पापाचरण का भण्डाफोड़ न कर दे, मुनि को नगर से बाहर ढकेलने के लिए राजपुरुषों को आदेश दिया। नमूची का आदेश पाकर राजपुरुष घोर तपश्चरण से क्षीणकाय संभूत ऋषि पर तत्काल टूट पड़े और उन्हें निर्दयतापूर्वक पीटने लगे।[1] मुनि शान्तभाव से उद्यान की ओर लौट पड़े। इस पर भी जब नमूची के सेवकों ने पीटना बन्द नहीं किया तो मुनि क्रुद्ध हो गये। उनके मुख से भीषण आग की लपटें उगलती हुई तेजोलेश्या प्रकट हुई। बिजली की चमक के समान चकाचौंध कर देने वाली अग्निज्वालाओं से सम्पूर्ण गगनमण्डल लाल हो गया।[2] सारे नगर में 'त्राहि-त्राहि' मच गई। झुण्ड के झुण्ड भयभीत नगरनिवासी आकर मुनि के चरणों में मस्तक झुका कर उन्हें शान्त होने की प्रार्थना करने लगे। पर मुनि का कोप शान्त नहीं हुआ। तेजोलेश्या की ज्वालाएं भीषण रूप धारण करने लगीं।"

"सारे नभमण्डल को अग्निज्वालाओं से प्रदीप्त देख कर मैं भी घटना-स्थल पर पहुँचा और मैंने शीघ्र ही अपने भाई को शान्त किया।"

पश्चात्ताप के स्वर में संभूत ने कहा—"ओफ् ! मैंने बहुत बुरा किया[3] और वे मेरे पीछे-पीछे चल दिये। क्षण भर में ही अग्निज्वालाएं तिरोहित हो गईं।"

---

१ चउप्पन्न महापुरिस चरियं में स्वयं पुरोहित द्वारा मुनि को पीटने का उल्लेख है। यथा—
..........पुरोहियेण। 'अमंगलं' ति कलिऊण दढं कसप्पहारेण ताड़िओ।

[पृष्ठ २१६]

२ तेजोलेश्योल्ललासाथ, ज्वालापटलमालिनी।
तडिन्मण्डलसंकीर्णामिव द्यामभितन्वती ॥७२॥

[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ६, सर्ग १]

३ 'अहो दुक्कयं कयं' ति भणतो उट्ठिओ तप्पएसाओ।

[चउप्पन्न म. पुरिस च., पृ० २१६]

"हम दोनों भाई उद्यान में लौटे और हमने विचार किया—इस नश्वर शरीर के पोषण हेतु हमें भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हम निरीह-निर्मोही साधुओं को आहार एवं इस शरीर से क्या प्रयोजन है ? ऐसा विचार कर हम दोनों भाइयों ने संलेखना कर चारों प्रकार के आहार का जीवन भर के लिए परित्याग कर दिया।"

"उधर चक्रवर्ती सनत्कुमार ने अपराधी का पता लगाने के लिए अपने अधिकारियों को आदेश देते हुए कहा—"मेरे राज्य में मुनि को कष्ट देने का किसने दुस्साहस किया ? इसी समय उसे मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया जाय।"

"तत्क्षण नमूची अपराधी के रूप से प्रस्तुत किया गया।"

"सनत्कुमार ने क्रुद्ध हो कर्कश स्वर में कहा—"जो साधुओं की सत्कार-सम्मानादि से पूजा नहीं करता वह भी मेरे राज्य में दण्डनीय है, इस दुष्ट ने तो महात्मा को ताड़ना देकर बड़ा कष्ट पहुँचाया है। इसे चोर की तरह रस्सों से बांध कर सारे नगर में घुमाया जाय और मेरी उपस्थिति में मुनियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। मैं इसे कठोर से कठोर दण्ड दूंगा ताकि भविष्य में कोई भी इस प्रकार का अधर्मपूर्ण साहस न कर सके।"

"नमूची को रस्सों से बाँध कर सारे नगर में घुमाया गया। सनत्कुमार अपने अनुपम ऐश्वर्य के साथ हमारे पास आया और रस्सों से बँधे हुए नमूची को हमें दिखाते हुए बोला—"पूज्यवर ! आपका यह अपराधी प्रस्तुत है। आज्ञा दीजिये, इसे क्या दण्ड दिया जाय ?"

"हमने चक्रवर्ती को उसे मुक्त कर देने को कहा। तदनुसार सनत्कुमार ने भी उसे तत्काल मुक्त कर अपने नगर से बाहर निकलवा दिया।"

"उसी समय सनत्कुमार की चौंसठ हजार राजमहीषियों के साथ पट्टमहिषी सुनन्दा हमें वन्दन करने के लिए आई।[1] मुनि संभूत के चरणों में नमस्कार करते समय स्त्री-रत्न सुनन्दा के भौंरों के समान काले-घुंघराले, सुगन्धित लम्बे बालों की सुन्दर लटी का संभूत के चरणों से स्पर्श हो गया।[2] विधिवत् वन्दन के पश्चात् चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार सहित लौट गया।"

---

१ चउप्पन्न महापुरिस चरियं में किसी दूसरे मुनि को, जो उस उद्यान में ठहरे हुए थे, चक्रवर्ती की रानियों का वन्दन हेतु आने का उल्लेख है। [पृष्ठ २१६]

२ तस्याश्चालकसंस्पर्शं, संभूतमुनिरन्वभूत।
रोमांचितश्च सद्योऽभूच्छलान्वेषी हि मन्मथः ॥६६॥
[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ६, सर्ग १]

"हम दोनों साधु समाधिपूर्वक साथ-साथ ही अपनी आयु पूर्ण कर सौधर्म कल्प के नलिनी गुल्म (पद्मगुल्म) नामक विमान में देव हुए। वहाँ हम दोनों दिव्य सुखों का उपभोग करते रहे। देव आयु पूर्ण होने पर मैं पुरिमताल नगर के महान् समृद्धिशाली गणपुञ्ज नामक श्रेष्ठी की पत्नी नन्दा के गर्भ से उत्पन्न हुआ और युवा होने पर भी विषय-सुखों में नहीं उलझा तथा एक मुनि के पास धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रजित हो गया। संयम का पालन करते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करता हुआ मैं इस उद्यान में आया और उद्यान-पालक के मुख से ये गाथाएं सुनकर मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। इस छट्ठे जन्म में हम दोनों भाइयों का वियोग किस कारण से हुआ, इसका मुझे पता नहीं।"[1]

यह सुनकर सब श्रोता स्तब्ध रह गये और साश्चर्य विस्फारित नेत्रों से कभी मुनिवर की ओर एवं कभी ब्रह्मदत्त की ओर देखने लगे।

ब्रह्मदत्त ने कहा—"महामुने ! इस जन्म में हम दोनों भाइयों के विछुड़ जाने का कारण मुझे मालूम है। चक्रवर्ती सनत्कुमार के अद्भुत ऐश्वर्य और उसके सुनन्दा आदि स्त्रीरत्नों के अनुपम रूप-लावण्य को देखकर मैंने तत्क्षण निदान कर लिया था कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मुझे भी चक्रवर्ती के सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। मैंने अपने इस अध्यवसाय की अन्तिम समय तक आलोचना निन्दा नहीं की,[2] अतः सौधर्म देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर उस निदान के कारण मैं छह खण्ड का अधिपति बन गया और देवताओं के समान यह महान् ऋद्धि मुझे प्राप्त हो गई। मेरे इस विशाल राज्य एवं ऐश्वर्य को आप अपना ही समझिये। अभी आपकी इस युवावस्था में विषय-सुखों और सांसारिक भोगों के उपभोग करने का समय है। आप मेरे पाँच जन्मों के सहोदर हैं, अतः यह समस्त साम्राज्य आपके चरणों में समर्पित है। आइये ! आप स्वेच्छापूर्वक सांसारिक सुखों का यथारुचि उपभोग कीजिये और जब

---

१ (क) ता ण याणामि छट्ठीए जातीए विओओ कहमम्ह जाओ त्ति।

[चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृष्ठ २१७]

(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में संभूत द्वारा किये गये निदान का चित्त को उसी समय पता चल जाने और चित्त द्वारा संभूत को निदान न करने के सम्बन्ध में समझाने का उल्लेख है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय १३ की गाथा २८ और २९ से स्पष्ट है कि चित्त को संभूत के निदान का ज्ञान नहीं था।

२ हत्थिणपुरम्मि चित्ता, दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं
कामभोगेसु गिद्धेणं, नियाणमसुहं कडं ॥२८॥
तस्स मे अपडिकन्तस्स, इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥२९॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १३]

सुखोपभोग से सब इन्द्रियाँ तृप्त हो जायं तब वृद्धावस्था में संयम लेकर आत्म-कल्याण की साधना कर लेना। तपस्या से भी आखिर सब प्रकार की समृद्धि, ऐश्वर्य और भोगोपभोग की प्राप्ति होती है, जो आपके समक्ष सहज उपस्थित है, फिर आपको तपस्या करने की क्या आवश्यकता है? महान् पुण्यों के प्रकट होने से मुझे आपके दर्शन हुए हैं। कृपा कर इच्छानुसार इस ऐश्वर्य का आनन्द लीजिये, यह सब कुछ आपका ही है।"

मुनि चित्त ने कहा—"चक्रवर्तिन्! इस निस्सार संसार में केवल धर्म ही सारभूत है। शरीर, यौवन, लक्ष्मी, ऐश्वर्य, समृद्धि और बन्धु-बान्धव, ये सब जल-बुदबुद के समान क्षण-विध्वंसी हैं। तुमने षट्खण्ड की साधना कर बहिरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करली, अब मुनिधर्म अंगीकार कर काम-क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को भी जीत लो, जिससे कि तुम्हें मुक्ति का अनन्त शाश्वत सुख प्राप्त हो सके।"

"प्रगाढ़ स्नेह के कारण तुम मुझे अपने ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिये आग्रहपूर्वक आमन्त्रित कर रहे हो, पर मैंने तो प्राप्त संपत्ति का भी सहर्ष परित्याग कर संयम ग्रहण किया है, क्योंकि मैं समस्त विषय-सुखों को विषवत् घातक और त्याज्य समझता हूँ।"

"तुम स्वयं यथावत् यह अनुभव कर रहे हो कि हम दोनों ने दास, मृग, हंस और मातंग के भवों में कितने दारुण दुःख देखे एवं तपश्चरण के प्रभाव से सौधर्म कल्प के दिव्य सुखों का उपभोग किया। पुण्य के क्षीण हो जाने से हम देवलोक से गिरकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए हैं। यदि तुमने इस अलभ्य मानव-जन्म का मुक्तिपथ की साधना में उपयोग नहीं किया तो और भी अधोगतियों में असह्य दुःख उठाते हुए तुम्हें भव-भ्रमण करना पड़ेगा।"

"इस आर्य धरा पर तुमने श्रेष्ठ कुल में मानव-जन्म पाया है। इस अमूल्य मानव-जन्म को विषय-सुखों में व्यर्थ ही बिताना अमृत को कण्ठ में न उतार कर पैर धोने के उपयोग में लेने के समान है। राजन्! तुम यह सब जान-बूझकर भी बालक की तरह अनन्त दुःखदायी इन्द्रिय-सुख में क्यों लुब्ध हो रहे हो?"

ब्रह्मदत्त ने कहा—भगवन्! जो आपने कहा है, वह शतप्रतिशत सत्य है। मैं भी जानता हूँ कि विषयासक्ति सब दुःखों की जननी और सब अनर्थों की मूल है, किन्तु जिस प्रकार गहरे दलदल में फँसा हुआ हाथी चाहने पर भी उससे बाहर नहीं निकल सकता, उसी प्रकार मैं भी निदान से प्राप्त इन कामभोगों के कीचड़ में बुरी तरह फँसा हुआ हूँ, अतः मैं संयम ग्रहण करने में असमर्थ हूँ।"

चित्त ने कहा—"राजन्! यह दुर्लभ मनुष्य-जीवन तीव्र गति से बीतता चला जा रहा है, दिन और रात्रियां दौड़ती हुई जा रही हैं। ये काम-भोग भी

जिनमें तुम फँसे हुए हो सदा बने रहने वाले नहीं है। जिस प्रकार फलविहीन वृक्ष को पक्षी छोड़कर चले जाते हैं, उसी प्रकार ये काम-भोग एक दिन तुम्हें अवश्य छोड़ देंगे।"

अपनी बात समाप्त करते हुए मुनि ने कहा—"राजन्! निदान के कारण तुम भोगों का पूर्णतः परित्याग करने में असमर्थ हो, पर तुम प्राणिमात्र के साथ मैत्री रखते हुए परोपकार के कार्यों में तो संलग्न रहो, जिससे कि तुम्हें दिव्य सुख प्राप्त हो सके।"

यह कहकर मुनि चित्त वहां से अन्यत्र विहार कर गये। उन्होंने अनेक वर्षों तक संयम का पालन करते हुए कठोर तपस्या की आग में समस्त कर्मो को भस्मसात् कर अन्त में शुद्ध-बुद्ध हो निर्वाण प्राप्त किया।

मुनि के चले जाने के पश्चात् ब्रह्मदत्त अपनी चक्रवर्ती की ऋद्धियों और राज्यश्री का उपभोग करने लगा। भारत के छह ही खण्डों के समस्त भूपति उसकी सेवा में सेवक की तरह तत्पर रहते थे। वह दुराचार का कट्टर विरोधी था।

एक दिन ब्रह्मदत्त युवनेश्वर (यूनान के नरेश) से उपहार में प्राप्त एक अत्यन्त सुन्दर घोड़े पर आरूढ़ हो उसके वेग की परीक्षा के लिये काम्पिल्यपुर के बाहर घूमने को निकला। चाबुक की मार पड़ते ही घोड़ा बड़े वेग से दौड़ा। ब्रह्मदत्त द्वारा रोकने का प्रयास करने पर भी नहीं रुका और अनेक नदी, नालों एवं वनों को पार करता हुआ दूर के एक घने जंगल में जा रुका।

उस वन में सरोवर के तट पर उसने एक सुन्दर नागकन्या को किसी जार पुरुष के साथ संभोग करते देखा और इस दुराचार को देख कर वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने स्वैर और स्वैरिणी को अपने चाबुक से धुनते हुए उनकी चमड़ी उधेड़ दी।

थोड़ी ही देर में ब्रह्मदत्त के अंगरक्षक अश्व के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वहाँ आ पहुँचे और वे भी उनके साथ काम्पिल्यपुर लौट आये।

उधर उस स्वैरिणी नागकन्या ने चाबुक की चोटों से लहूलुहान अपना तन अपने पति नागराज को बताते हुए करुण पुकार की—"नाथ! आज तो आपकी प्राणप्रिया को कामुक ब्रह्मदत्त ने मार ही डाला होता। मैं अपनी सखियों के साथ वन-विहार एवं जल-क्रीड़ा के पश्चात् लौट रही थी कि मुझे उस स्त्री-लम्पट ने देखा और वह मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध हो मेरे पतिव्रत धर्म को नष्ट करने के लिए उद्यत हो गया। मेरे द्वारा प्रतीकार करने पर मुझे निर्दयतापूर्वक चाबुक से पीटने लगा। मैंने बार-बार आपका नाम बताते हुए

उससे कहा कि मैं महान् प्रतापी नागराज की पतिव्रता प्रेयसी हूँ, पर वह अपने चक्रवर्तित्व के घमण्ड में आपसे भी नहीं डरा और मुझ पतिपरायणा अबला को तब तक पीटता ही रहा जब तक मैं अधमरी हो मूच्छित नहीं हो गई।"

यह सुन कर नागराज प्रकुपित हो ब्रह्मदत्त का प्राणान्त कर डालने के लिए प्रच्छन्न रूप से उसके शयनागार में प्रविष्ट हुआ। उस समय रात्रि हो चुकी थी और ब्रह्मदत्त पलंग पर लेटा हुआ था।

उस समय राजमहिषी ने ब्रह्मदत्त से प्रश्न किया—"स्वामिन् ! आज आप अश्वारूढ़ हो अनेक अरण्यों में घूम आये हैं, क्या वहाँ आपने कोई आश्चर्यजनक वस्तु भी देखी ?"

उत्तर में ब्रह्मदत्त ने नागकन्या के दुश्चरित्र और अपने द्वारा उसकी पिटाई किये जाने की सारी घटना सुना दी। यह त्रिया-चरित्र सुनकर छिपे हुए नागराज की आँखें खुल गईं।

उसी समय ब्रह्मदत्त शारीरिक शंका-निवारणार्थ शयन-कक्ष से बाहर निकला तो उसने कान्तिमान नागराज को साञ्जलि मस्तक झुकाये अपने सामने खड़े देखा।

अभिवादन के पश्चात् नागराज ने कहा—"नरेश्वर ! जिस पुंश्चली नागकन्या को आपने दण्ड दिया, उसका मैं पति हूँ। उसके द्वारा आप पर लगाये गय असत्य आरोप से क्रुद्ध हो मैं आपके प्राण लेने आया था पर आपके मुँह से वास्तविक तथ्य सुनकर आप पर मेरा प्रकोप परम प्रीति में परिवर्तित हो गया है। दुराचार का दमन करने वाली आपकी दण्ड-नीति से मैं अत्यधिक प्रभावित और प्रसन्न हूँ, कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"नागराज ! मैं यह चाहता हूँ कि मेरे राज्य में पर-स्त्रीगमन, चोरी और अकाल-मृत्यु का नाम तक न रहे।"

"ऐसा ही होगा", यह कहते हुए नागराज बोला—"भारतेश ! आपकी परोपकारपरायणता प्रशंसनीय है। अब आप कोई निज हित की बात कहिये।"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"नागराज ! मेरी अभिलाषा है कि मैं प्राणिमात्र की भाषा को समझ सकूँ।"

नागराज बोला—"राजन् ! मैं वास्तव में आप पर बहुत ही अधिक प्रसन्न हूँ, इसलिये यह अदेय विद्या भी आपको देता हूँ, पर इस विद्या के अटल और कठोर नियम को आप सदा ध्यान में रखें कि किसी प्राणी की बोली को

समझ कर यदि आपने किसी और के सम्मुख उसे प्रकट कर दिया तो आपके सिर के सात टुकड़े हो जायेंगे।"

ब्रह्मदत्त ने सावधानी रखने का आश्वासन देते हुए नागराज के प्रति आभार प्रकट किया और नागराज भी ब्रह्मदत्त का अभिवादन करते हुए तिरोहित हो गया।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी अतीव प्रिया महारानी के साथ प्रसाधन-गृह में बैठा हुआ था। उस समय नर-घरोली और नारी-घरोली अपनी बोली में बात करने लगे। गर्भिणी घरोली अपने पति से कह रही थी कि वह उसके दोहद की पूर्ति के लिए ब्रह्मदत्त का अंगराग ला दे। नर-घरोली उससे कह रहा था—"क्या तुम मुझसे ऊब चुकी हो, जो जानबूझ कर मुझे मौत के मुँह में ढकेल रही हो?"

ब्रह्मदत्त घरोली दम्पति की बात समझ कर सहसा अट्टहास कर हँस पड़ा। रानी ने अकस्मात् हँसने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त जानता था कि यदि उसने उस रहस्य को प्रकट कर दिया तो तत्काल मर जायगा, अतः वह बड़ी देर तक अनेक प्रकार की बातें बना कर उसे टालता रहा। रानी को निश्चय हो गया कि उस हँसी के पीछे अवश्य ही कोई बड़ा रहस्य छिपा हुआ है और उसके स्वामी उससे वह छिपा रहे हैं। रानी ने नारीहठ का आश्रय लेते हुए दृढ़ स्वर में कहा—"महाराज! आप अपनी प्राण-प्रिया से भी कुछ छिपा रहे हैं, यह मुझे इस जीवन में पहली ही बार अनुभव हुआ है। यदि आप मुझे हँसी का सही कारण नहीं बतायेंगे तो मैं इसी समय अपने प्राण दे दूँगी।"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"महारानी! मैं तुमसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहता पर केवल यही एक ऐसा रहस्य है कि यदि इसे मैंने प्रकट कर दिया तो तत्काल मेरे प्राण निकल जायेंगे।"

रानी ने ब्रह्मदत्त की बात पर अविश्वास करते हुए निश्चयात्मक स्वर में कहा—"यदि ऐसा हुआ तो आपके साथ ही साथ मैं भी अपने प्राण दे दूँगी, पर इस हँसी का कारण तो मालूम करके ही रहूँगी।"

रानी में अत्यधिक आसक्ति होने के कारण ब्रह्मदत्त ने रानी के साथ मरघट में जा चिता चुनवाई और रहस्य को प्रकट करने के लिए उद्यत हो गया।

नारी में आसक्ति के कारण अकाल-मृत्यु के लिए तैयार हुए ब्रह्मदत्त को समझाने के लिए उसकी कुलदेवी ने देवमाया से एक गर्भवती बकरी और बकरे का रूप बनाया।

बकरी ने अपनी बोली में बकरे से कहा— 'स्वामिन् ! राजा के घोड़े को चराने के लिए जो हरी-हरी जौ की पूलियाँ पड़ी हुई हैं, उनमें से एक पूली लाओ जिसे खाकर मैं अपना दोहला पूर्ण करूँ।"

बकरे ने कहा—"ऐसा करने पर तो मैं राज-पुरुषों द्वारा मार डाला जाऊँगा।"

बकरी ने हठपूर्वक कहा—"यदि तुम जौ की पूली नहीं लाओगे तो मैं मर जाऊँगी।"

बकरे ने कहा—"तू मर जायगी तो मैं दूसरी बकरी को अपनी पत्नी बना लूँगा।"

बकरी ने कहा—"इस राजा के प्रेम को भी तो देखो कि अपनी पत्नी के स्नेह में जान-बूझ कर मृत्यु का आलिंगन कर रहा है।"

बकरे ने उत्तर दिया—"अनेक पत्नियों का स्वामी होकर भी ब्रह्मदत्त एक स्त्री के हठ के कारण पतंगे की मौत मरने की मूर्खता कर रहा है, पर मैं इसकी तरह मूर्ख नहीं हूँ।"

बकरे की बात सुन कर ब्रह्मदत्त को अपनी मूर्खता पर खेद हुआ और अपने प्राण बचाने वाले बकरे के गले में अपना अमूल्य हार डाल कर राजप्रासाद की ओर लौट गया तथा आनन्द के साथ राज्यश्री का उपभोग करने लगा।

चक्रवर्ती की राज्यश्री का उपभोग करते हुए जब ५८४ वर्ष बीत चुके उस समय उसका पूर्व-परिचित एक ब्राह्मण उसके पास आया। ब्रह्मदत्त ने परिचय पाकर ब्राह्मण को बड़ा आदर-सम्मान दिया।

भोजन के समय ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त से कहा—"राजन् ! जो भोजन आपके लिए बना है, उसी भोजन को खाने की मेरी अभिलाषा है।"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"ब्रह्मन् ! वह आपके लिए दुष्पाच्य और उन्मादकारी होगा।"

ब्रह्महठ के सामने ब्रह्मदत्त को हार माननी पड़ी और उसने उस ब्राह्मण तथा उसके परिवार के सब सदस्यों को अपने लिए बनाया हुआ भोजन खिला दिया।

रात्रि होते ही उस अत्यन्त गरिष्ठ और उत्तेजक भोजन ने अपना प्रभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया। अदम्य कामाग्नि ब्राह्मण-परिवार के रोम-रोम से

प्रस्फुटित होने लगी । कामोन्माद में अन्धा ब्राह्मण परिवार माँ, वहिन, वेटी, पुत्रवधू, पिता, पुत्र, भाई आदि अगम्य सम्वन्ध को भूल गया । उस ब्राह्मण ने और उसके पुत्र ने अपने परिवार की सव स्त्रियों के साथ पशु की तरह काम-क्रीड़ा करते हुए सारी रात्रि व्यतीत की ।

प्रातःकाल होते ही जव उस भोजन का प्रभाव कुछ कम हुआ तो ब्राह्मण-परिवार का कामोन्माद थोड़ा शान्त हुआ और परिवार के सभी सदस्य अपने घृणित दुष्कृत्य से लज्जित हो एक दूसरे से कतराते हुए अपना मुँह छुपाने लगे ।

"अरे ! इस दुष्ट राजा ने अपने दूषित अन्न से मेरे सारे परिवार को घोर पापाचार में प्रवृत्त कर पतित कर दिया ।" यह कहता हुआ ब्राह्मण अपने पाशविक कृत्य से लज्जित हो नगर के वाहर चला गया ।

वन में निरुद्देश्य इधर-उधर भटकते हुए ब्राह्मण ने देखा कि एक चरवाहा पत्थर के छोटे-छोटे ढेलों को गिलोल से फेंक कर वटवृक्ष के कोमल और कच्चे पत्ते पृथ्वी पर गिरा कर अपनी वकरियों को चरा रहा है ।

गड़रिये की अचूक और अद्भुत निशानेवाजी को देख कर ब्राह्मण ने सोचा कि इसके द्वारा ब्रह्मदत्त से अपने वैर का वदला लिया जा सकता है । ब्राह्मण ने उस गड़रिये को धन दिया और कहा—"नगर में राजमार्ग पर श्वेत छत्र-चँवरधारी जो व्यक्ति हाथी की सवारी किये निकले उसकी आँखें एक साथ दो पत्थर की गोलियों के प्रहार से फोड़ देना ।"

"अपने कृत्य के दुष्परिणाम का विचार किये विना ही गड़रिये ने नगर में जाकर, राजपथ से गजारूढ़ हो निकलते हुए ब्रह्मदत्त की दोनों आँखें एक साथ गिलोल से दो गोलियाँ फेंक कर फोड़ डालीं[1] ।"

"तत्क्षण राजपुरुषों द्वारा गड़रिया पकड़ लिया गया । उससे यह ज्ञात होने पर कि इस सारे दुष्कृत्य का सूत्रधार वही ब्राह्मण है, जिसे गत दिवस भोजन कराया गया था, ब्रह्मदत्त वड़ा क्रुद्ध हुआ । उसने उस ब्राह्मण को परिवार सहित मरवा डाला । फिर भी अन्धे ब्रह्मदत्त का क्रोध शान्त नहीं हुआ । वह वार-वार सारी ब्राह्मण जाति को ही कोसने लगा एवं नगर के सारे ब्राह्मणों और अपने पुरोहितों तक को चुन-चुन कर उसने मौत के घाट उतार दिया ।"

---

१ 'केण उण उवाएण पच्चु (पच्च) वयारो णरवइणो कीरई ?" त्ति झायमाणेण कओ वहूहि अ (उ) वयरियव्व विण्णासेहिं गुलियाधणुविक्खेवणिउणो वयंसो । कयसव्भा-वाइसयस्स य साहिओ णिययाहिप्पाओ । तेणावि पडिवण्णं सरहसं ।

[चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २४३]

अपने अन्धे कर दिये जाने की बात से प्रतिपल उसकी क्रोधाग्नि उग्ररूप धारण करती गई। उसने अपने मंत्री को आदेश दिया कि अगणित ब्राह्मणों की आँखें निकलवा कर बड़े थाल में उसके सम्मुख रख दी जायँ। मंत्री ने आँखों के समान श्लेष्मपुंज चिकने लेसवा-लसोड़ा (गूँदे) के गुठली निकले फलों से बड़ा थाल भर कर अन्धे ब्रह्मदत्त के सम्मुख रखवा दिया।[1] गूँदों को ब्राह्मणों की आँखें समझ कर ब्रह्मदत्त अतिशय आनन्दानुभव करते हुए कहता—"ब्राह्मणों की आँखों से थाल को बहुत अच्छी तरह भरा गया है।"

वह एक क्षण के लिए भी उस थाल को अपने पास से नहीं हटाता। रात दिन बार-बार उसका स्पर्श कर परम संतोष का अनुभव करता।

इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने अपनी आयु के अन्तिम सोलह वर्ष निरन्तर अति तीव्र आर्त्त और रौद्र ध्यान में बिताये एवं सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर[2] अपनी पट्टमहिषी कुरुमती के नाम का बार-बार उच्चारण करता हुआ मर कर सातवें नर्क में चला गया।

प्राचीन इतिहास की एक भग्न कड़ी

बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जैन आगमों और ग्रन्थों से कतिपय अंशों में मिलता-जुलता वर्णन वेदव्यास रचित महाभारत पुराण और हरिवंश पुराण में भी उपलब्ध होता है।

ब्रह्मदत्त के जीवन की कतिपय घटनाएँ जिनके सम्बन्ध में जैन और वैदिक परम्पराओं के साहित्य में समान मान्यता है, उन्हें तुलनात्मक विवेचन हेतु यहाँ दिया जा रहा है।

(१) ब्रह्मदत्त पांचाल जनपद के काम्पिल्यनगर में निवास करता था।
वैदिक परम्परा :—काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य, त्वन्तःपुरनिवासिनी।
(महाभारत, शा० प०, अ० १३६, श्लो० ५)

---

१ मंतिणा वि मुणिऊण तस्स कम्मवसत्तणओ तिव्वमज्झवसायविसेसं घेत्तूणं लेसुरुडयतरुणो बहवे फलट्ठिया पक्खिविऊण थालम्मि णिवेइया पुरओ।

२ (क) यातेषु जन्मदिवसोऽथ समा शतेषु, सप्तस्वसौ कुरुमतीत्यसकृद् ब्रुवाणः।
हिंसानुबन्धिपरिणामफलानुरूपां, तां सप्तमीं नरकलोकमुवं जगाम॥
[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ९, सर्ग १, श्लो, ६००]

(ख) 'चउवन्न महापुरिस चरियं' में ब्रह्मदत्त की ७१६ वर्ष की आयु बताई गई है। यथा—"अइक्कंताइं कइवयदिणाणि सत्तवाससयाइं सोलसुत्तराइं।
[चउवन्न महापुरिस चरियं, पृष्ठ २४८]

ब्रह्मदत्तश्च पांचाल्यो, राजा बुद्धिमतां वरः।
(वही, अ० २२४, श्लो० २६)

जैन परम्परा :-

'अत्थि इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे णिरंतरं.......पंचालाहिहाणो जणवओ। तत्थ य.......कंपिल्लं णाम णयरं। तम्मि.......बम्भयत्तो णाम चक्कवट्टी।' (चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २१०)

(२) ब्रह्मदत्त के जीव ने पूर्व भव में एक राजा की ऋद्धि देखकर यह निदान किया था—"यदि मैंने कोई सुकृत, नियम और तपश्चरण किया है तो उस सबके फलस्वरूप मैं भी ऐसा राजा बनूँ।"

वैदिक परम्परा :-

स्वतन्त्रश्च विहंगोऽसौ, स्पृहयामास तं नृपम्।
दृष्ट्वा यान्तं श्रियोपेतं, भवेयमहमीदृशः ॥४३॥
यद्यस्ति सुकृतं किंचित्तपो वा नियमोऽपि वा।
खिन्नोऽस्मि ह्युपवासेन, तपसा निष्फलेन च ॥४४॥
(हरिवंश, पर्व १, अ० २३)

जैन परम्परा :-

'सलाहणीओ चक्कवट्टिविहवो ममंपि एस संपज्जउ त्ति जइ इमस्स तवस्स सामत्थमत्थि' त्ति हियएण चिंतिऊण कयं णियाणं त्ति। परिणयं छक्खंडभरहाहिवत्तणं।

(चउवन्न महापुरिस चरियं पृ० २१७)

(३) ब्रह्मदत्त को जातिस्मरण-ज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) हुआ, इसका दोनों परम्पराओं में निमित्तभेद को छोड़ कर समान वर्णन है।

वैदिक परम्परा :-

तच्छ्रुत्वा मोहमगमद्, ब्रह्मदत्तो नराधिपः।
सचिवश्चास्य पांचाल्यः, कण्डरीकश्च भारत ॥२२॥
ततस्ते तत्सरः स्मृत्वा, योगं तमुपलभ्य च।
ब्राह्मणं विपुलैरर्थैर्भोगैश्च समयोजयन् ॥२५॥

जैन परम्परा :-

'समुप्पण्णो मणम्मि वियप्पो-अण्णया वि मए एवं विहसंगीओवलक्खिया णाड़यविहि दिट्ठउव्वा, एयं च सिरिदामकुसुमगंडं ति। एवं च परिचिंतयंतेण

सोहम्मसुरकप्पे पउमगुम्मे विमाणे सुरविलासिणीकलिज्जमाणणाड़यविही दिट्ठा। सुमरिओ अत्तणो पुव्वभवो। तओ मुच्छावसमउलमाणलोयणो सुकुमारत्तणणीसहवेविरसरीरो तक्खणं चेव धरायलम्मि णिवड़िओ त्ति।'

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २११)

(४) ब्रह्मदत्त के पूर्वभवों का वर्णन दोनों परम्पराओं द्वारा एक दूसरे से काफी मिलता जुलता दिया गया है।

वैदिक परम्परा :–

सप्त व्याधा: दशार्णेषु, मृगा कालिंजरे गिरौ।
चक्रवाका: शरद्वीपे, हंसा सरसि मानसे ॥२०॥
तेऽभिजाता कुरुक्षेत्रे, ब्राह्मणा वेदपारगा:।
प्रस्थिता: दीर्घमध्वानं, यूयं किमवसीदथ ॥२१॥

(हरिवंश, पर्व १, अध्याय २५)

जैन परम्परा :–

दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीराए सोवागा कासिभूमिए ॥६॥
देवा य देवलोयम्मि, आसी अम्हे महिड्ढिया।
इमा णो छट्ठिया जाई अन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥

(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १३)

(५) ब्रह्मदत्त का विवाह एक ब्राह्मण कन्या के साथ हुआ था, इस सम्बन्ध में भी दोनों परम्पराओं की समान मान्यता है।

वैदिक परम्परा :–

ब्रह्मदत्तस्य भार्या तु, देवलस्यात्मजाभवत्।
असितस्य हि दुर्धर्षा, सन्मतिर्नाम नामत: ॥२६॥

(हरिवंश, पर्व १, अ० २३)

जैन परम्परा :—

ताव य एक दियवरमंदिराओ पेसिएण णिग्गंतूण दासचेड़एण भणिया अम्हे एह भुंजह त्ति।..........भोयणावसाणम्मि..
तओ तम्मि चेव दिणे जहाविहववित्थरेण वत्तं पाणिग्गहणं।

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २२१)

(६) ब्रह्मदत्त पशु-पक्षियों की भाषा समझता था, इस बात का उल्लेख दोनों परम्पराओं में है।

वैदिक परम्परा :–

ततः पिपीलिकारुतं, स शुश्राव नराधिपः।
कामिनीं कामिनस्तस्य, याचतः क्रोशतो भृशम् ॥३॥
श्रुत्वा तु याच्यमानां तां, क्रुद्धां सूक्ष्मां पिपीलिकाम्।
ब्रह्मदत्तो महाहासमकस्मादेव चाहसत् ॥४॥
तथा श्लोक ७ से १०।

(हरिवंश, पर्व १, अ० २४)

जैन परम्परा :–

गृहगोलं गृहगोला, तत्रोवाचानय प्रिय।
राज्ञोऽङ्गरागमेतं मे, पूर्यते येन दोहदः ॥५५२॥
प्रत्यूचे गृहगोलोऽपि, कार्यं किं मम नात्मना।
भाषां ज्ञात्वा तयोरेवं, जहास वसुधाधिपः ॥५५३॥

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग १)

इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा में पूजनिका नाम की एक चिड़िया के द्वारा ब्रह्मदत्त के पुत्र की आँखें फोड़ डालने का उल्लेख है, तो जैन परम्परा के ग्रन्थों में ब्रह्मदत्त के परिचित एक ब्राह्मण के कहने से अचूक निशाना मारने वाले किसी गड़रिये द्वारा स्वयं ब्रह्मदत्त की आँखें फोड़ने का उल्लेख है।

इन कतिपय समान मान्यताओं के होते हुए भी ब्रह्मदत्त के राज्यकाल के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं के ग्रंथों में बड़ा अन्तर है।

'हरिवंश' में महाभारतकाल से बहुत पहले ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है;[1] पर इसके विपरीत जैन परम्परा के आगम व अन्य ग्रन्थों में पाण्डवों के निर्वाण के बहुत काल पश्चात् ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है।

जैन परम्परा के आगमों और प्राचीन ग्रन्थों में प्रत्येक तीर्थंकर, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के पूरे जीवनचरित्र के साथ-साथ इन सब का

---

१ प्रतीपस्य तु राजर्षेस्तुल्यकालो नराधिप।
पितामहस्य मे राजन्, बभूवेति मया श्रुतम् ॥११॥
ब्रह्मदत्तो महाभागो, योगी राजर्षिसत्तमः।
रुतज्ञः सर्वभूतानां, सर्वभूतहिते रतः ॥१२॥

काल उपलब्ध होता है। इसके साथ ही एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन तिरेसठ श्लाघ्य पुरुषों का जो समय एक आगम में दिया गया है, वही समय अन्य आगमों एवं सभी प्राचीन ग्रन्थों में दिया हुआ है। अतः ऐसी दशा में जैन परम्परा के साहित्य में दिये गये इनके जीवनकाल के सम्बन्ध में शंका के लिये अवकाश नहीं रह जाता।

भारतवर्ष की इन दो अत्यन्त प्राचीन परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में जो अधिकांशतः समानता रखने वाला ब्रह्मदत्त का वर्णन उपलब्ध है, उसके सम्बन्ध में इतिहासज्ञों द्वारा खोज की जाय तो निश्चित रूप से यह भारतीय प्राचीन इतिहास की शृंखला को जोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

भगवान् श्री पार्श्वनाथ

भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के पश्चात् तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ हुए। आपका समय ईसा से पूर्व नवीं-दशवीं शताब्दी है। आप भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए। ऐतिहासिक शोध के आधार पर आज के ऐतिहासिक विषय के विद्वान् भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

मेजर जनरल फर्लांग ने ऐतिहासिक शोध के पश्चात् लिखा है—"उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक ऐसा अतिव्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप-प्रधान धर्म, अर्थात् जैनधर्म, अवस्थित था, जिसके आधार से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्म संन्यास वाद में विकसित हुए। आर्यों के गंगा-तट एवं सरस्वती तट पर पहुँचने से पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके थे, जिनके बाद पार्श्व हुए और उन्हें अपने उन समस्त पूर्व तीर्थंकरों का अथवा पवित्र ऋषियों का ज्ञान था, जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिए हुए पहले हो चुके थे। उन्हें उन अनेक धर्मशास्त्रों का भी ज्ञान था जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घकाल से मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओं की परम्परा में मौखिक द्वार से प्रवाहित होते आ रहे थे।[१]

डॉ० हर्मन जैकोबी जैसे लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी विद्वान् भी भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। उन्होंने जैनागमों के साथ ही बौद्ध पिटकों के प्रकाश में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे।[२]

डॉ० हर्मन जैकोबी के प्रस्तुत कथन का समर्थन अन्य अनेक इतिहासविज्ञों ने भी किया है। डॉ० 'बासम' के अभिमतानुसार भगवान् महावीर बौद्ध पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी के रूप में उट्टंकित किये गये हैं, एतदर्थ उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं रह जाता।[३]

---

१ भारतीय इतिहास : एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद, पृष्ठ १४६

2 The Sacred Books of the East Vol. XLV, Introduction, page 21 "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable............"

3 The Wonder that was India (A. L. Basham B.A., Ph. D., F. R. A. S.) Reprinted 1956, P. 287–288 :-

"As he (Vardhaman Mahavira) is referred to in the Buddhist Scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt...Parswa was remembered as twenty-third of the twenty-four great teachers or *Tirthakaras* (Ford makers) of the Jaina faith."

डॉ० चार्ल शार्पेंटियर ने लिखा है—"हमें इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन धर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं; एवं परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र-रूप धारण कर चुकी होंगी।"[1]

भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व धार्मिक स्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों की विशिष्टता समझने के लिये उस समय की देश की धार्मिक स्थिति कैसी थी, यह समझना आवश्यक है। उपलब्ध वैदिक साहित्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि ई० ९वीं सदी से पूर्व ऋग्वेद के अन्तिम मंडल की रचना हो चुकी थी। मंडल के नासदीय[2] सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त[3] तथा पुरुषसूक्त[4] प्रभृति से प्रमाणित होता है कि उस समय देश में तत्त्व-जिज्ञासाएँ उद्भूत होने लगीं और उन पर गम्भीर चिंतन चलने लगे थे। उपनिषद्-काल में ये जिज्ञासाएँ इतनी प्रबल हो चुकी थीं कि उनके चिन्तन-मनन के लिए विद्वानों की सभाएँ की जाने लगीं। उनमें राजा, ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रिय समान रूप से भाग लेते थे। उनमें जगत् के मूलभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन कर सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये, जिनको 'पराविद्या' कहा गया। उनमें गार्ग्यायिण, जनक भृगु, वारुणि, उद्दालक और याज्ञवल्क्य आदि पराविद्या के प्रमुख आचार्य थे। इनके विचारों में विविधता थी। आत्मविषयक चिन्तन में गति बढ़ने पर सहज-स्वाभाविक था कि यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड में रुचि कम हो, कारण कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए यज्ञ आदि क्रियाओं का किसी प्रकार का उपयोग नहीं है। गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् विचारकों को यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को 'अपराविद्या' और मोक्षदायक आत्मज्ञान को 'पराविद्या' की संज्ञा देकर 'अपराविद्या' से 'पराविद्या' को श्रेष्ठ बतलाया।

कठोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया कि :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया वा बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
[१/२/२,३]

---

१ The Uttaradhyayana Sutra, Introduction, Page 21 :—
"We ought also to remember both the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parshva having almost certainly existed as a real person, and that consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira."

२ ऋग्वेद १०।१२९

३ वही १०।१२१

४ वही १०।९०

इस प्रकार की विचारधाराएँ आगे बढ़ीं तो वेदों के अपौरुषेयत्व और अनादित्व पर आक्षेप आने लगा। ये विचारक एकान्त, शान्त वन-प्रदेशों में ब्रह्म, जगत् और आत्मा आदि अतीन्द्रिय विषयों पर चिन्तन किया करते। ये अधिकांशत: मौन रहते, अत: मुनि कहलाये। वेदों में भी ऐसे वातरशना तत्व-चिन्तकों को ही मुनि[1] कहा गया है।

इन वनवासियों का जीवन-सिद्धान्त तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य था। छान्दोग्योपनिषद्[2] में श्री कृष्ण को घोर अंगिरस ऋषि ने यज्ञ की यही सरल विधि बतलाई थी और उनकी दक्षिणा भी यही थी। गीता[3] के अनुसार इन भावनाओं की उत्पत्ति ईश्वर (स्वयं आत्मदेव) से बताई गई है।

उस समय एक ओर इस प्रकार का ज्ञान-यज्ञ चल रहा था, तो दूसरी ओर यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि चढ़ा कर देवों को प्रसन्न करने का आयोजन भी खुल कर होता था। जब लोक-मानस कल्याणमार्ग का निर्णय करने में दिङ्मूढ़ होकर किसी विशिष्ट नेतृत्व की अपेक्षा में था ऐसे ही समय में भगवान् पार्श्वनाथ का भारत की पुण्यभूमि वाराणसी में उत्तरण हुआ। उनका करुणाकोमल मन प्राणिमात्र को सुख-शान्ति का प्रशस्त मार्ग दिखाना चाहता था। उन्होंने अनुकूल समय में यज्ञ-याग की हिंसा का प्रबल विरोध किया और आत्मध्यान, इन्द्रियदमन पर जनता का ध्यान आकर्षित किया। आधुनिक इतिहास-लेखकों की कल्पना है कि हिंसामय यज्ञ का विरोध करने से यज्ञप्रेमी उनके कट्टर विरोधी हो गये। उनके विरोध के फलस्वरूप भगवान् पार्श्वनाथ को अपना जन्मस्थान छोड़कर अनार्य देश को अपना उपदेश-क्षेत्र बनाना पड़ा।[4] वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यज्ञ का विरोध भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के समय से भी उग्र रूप से किया गया था, फिर भी वे अपने जन्मस्थान और उसके आसपास धर्म का प्रचार करते रहे। ऐसी स्थिति में पार्श्वनाथ का अनार्य प्रदेश में भ्रमण भी विरोध के भय से नहीं, किन्तु सहज धर्म-प्रचार की भावना से ही होना संगत प्रतीत होता है।

पूर्वभव की साधना

अन्य सभी तीर्थंकरों के समान भगवान् पार्श्वनाथ ने भी पूर्वभव की

---

१ भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १४-१६

२ छान्दोग्यपनिषद्, ३।१७।४-६

३ अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा: भूतानां मत्त एव पृथग्विधा:।।

[गीता १०।५]

४ हिस्टोरिकल बिगिनिंग आफ जैनिज्म, पृ० ७८।

साधना के फलस्वरूप ही तीर्थंकर-पद की योग्यता प्राप्त की थी। कोई भी आत्मा एकाएक पूर्ण विकास नहीं कर लेता। जन्मजन्मान्तर की करनी और साधना से ही विशुद्धि प्राप्त कर वह मोक्ष योग्य स्थिति प्राप्त करता है। भगवान् पार्श्व का साधनारम्भकाल दश भव पूर्व से बतलाया गया है, जिसका विस्तृत परिचय 'चउवन महापुरिस चरियम्', 'त्रिषष्टि शलाका पुरिष चरित्र' आदि में द्रष्टव्य है। यहाँ उनका नामोल्लेख कर आठवें भव से, जहाँ तीर्थंकर-गोत्र का बन्ध किया, संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

प्रभु पार्श्वनाथ के १० भव इस प्रकार हैं :—प्रथम मरुभूति और कमठ का भव, दूसरा हाथी का भव, तीसरा सहस्रार देव का, चौथा किरण देव विद्याधर का, पाँचवाँ अच्युत देव का, छठा वज्रनाभ का, सातवाँ ग्रैवेयक देव का, आठवाँ स्वर्णबाहु का, नवाँ प्राणत देव का और दशवाँ पार्श्वनाथ का।

इन्होंने स्वर्णबाहु के (अपने आठवें) भव में तीर्थंकर-गोत्र उपार्जित करने के बीस बोलों की साधना की और तीर्थंकर-गोत्र का उपार्जन किया, जिसका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है :—

वज्रनाभ का जीव देवलोक से च्युत हो पूर्व-विदेह में महाराज कुलिशबाहु की धर्मपत्नी सुदर्शना की कुक्षि से चक्रवर्ती के सब लक्षणों से युक्त सुवर्णबाहु के रूप में उत्पन्न हुआ। सुवर्णबाहु के युवा होने पर महाराज कुलिशबाहु ने योग्य कन्याओं से उनका विवाह कर दिया और उन्हें राजपद पर अभिषिक्त कर वे स्वयं दीक्षित हो गये।

राजा होने के पश्चात् सुवर्णबाहु एक दिन अश्व पर आरूढ़ हो प्रकृति-दर्शन के लिए वन की ओर निकले। घोड़ा बेकाबू हो गया और उन्हें एक गहन बीहड़ वन में ले गया। उनके सब साथी पीछे रह गये। एक सरोवर के पास घोड़े के खड़े होने पर राजा घोड़े से नीचे उतरे। उन्होंने सरोवर में जलपान किया और घोड़े को एक वृक्ष से बाँधकर वन-विहार के लिए निकल पड़े। घूमते हुए सुवर्णबाहु एक आश्रम के पास पहुँचे, जिसमें कि आश्रमवासी तापस रहते थे। राजा ने देखा कि उस आश्रम के कुसुम-उद्यान में कुछ युवा कन्यायें क्रीड़ा कर रही हैं। उनमें से एक अति कमनीय सुन्दरी को देख कर सुवर्णबाहु का मन उस कन्या के प्रति आकृष्ट हो गया और वे उस कन्या के सौन्दर्य को अपलक देखने लगे। कन्या के ललाट पर किये गये चन्दनादि के लेप और सुवासित हार से उसके मुख पर भौंरे मँडराने लगे। कन्या द्वारा बार-बार हटाये जाने पर भी भौंरे अधिकाधिक संख्या में उसके मुखमण्डल पर मँडराने लगे, इससे घबड़ा कर कन्या सहसा चिल्ला उठी। इस पर सुवर्णबाहु ने अपनी चादर के छोर से भौंरों को हटा कर कन्या को भयमुक्त कर दिया।

सुवर्णबाहु के इस अयाचित साहाय्य से क्रीड़ारत सभी कन्याएँ प्रभावित हुईं और राजकुमारी का परिचय देते हुए बोलीं—"यह राजा खेचरेन्द्र की राजकुमारी पद्मा हैं। अपने पिता के देहान्त के कारण राजमाता रत्नावली के साथ यह यहाँ गालव ऋषि के आश्रम में सुरक्षा हेतु आई हुई हैं। यहाँ कल एक दिव्यज्ञानी ने आकर रत्नावली से कहा—"तुम चिन्ता न करो, तुम्हारी कन्या को चक्रवर्ती सुवर्णबाहु जैसे योग्य पति की प्राप्ति होगी। आज वह बात सत्य सिद्ध हुई है।"

आश्रम के आचार्य गालव ऋषि ने जब सुवर्णबाहु के आने की बात सुनी तो महारानी रत्नावली को साथ लेकर वे भी वहाँ आये और अतिथि सत्कार के पश्चात् सुवर्णबाहु के साथ पद्मा का गांधर्व-विवाह कर दिया। उस समय राजा सुवर्णबाहु का सैन्यदल और पद्मा के भाई पद्मोत्तर भी वहाँ आ गये। पद्मोत्तर के आग्रह से सुवर्णबाहु कुछ समय तक वहाँ रहे और फिर अपने नगर को लौट आये।

राज्य का उपभोग करते हुए सुवर्णबाहु के यहाँ चक्ररत्न प्रकट हुआ। उसके प्रभाव से षट्खंड की साधना कर सुवर्णबाहु चक्रवर्ती सम्राट् बन गये।[1]

एक दिन पुराणपुर के उद्यान में तीर्थंकर जगन्नाथ का समवशरण हुआ। सुवर्णबाहु ने सहस्रों नर-नारियों को समवशरण की ओर जाते देख कर द्वार-पाल से इसका कारण पूछा और जब उन्हें तीर्थंकर जगन्नाथ के पधारने की बात मालूम हुई तो हर्षित होकर वे भी सपरिवार उन्हें वन्दन करने गये। तीर्थंकर जगन्नाथ के दर्शन और समवशरण में आये हुए देवों का बार बार स्मरण कर सुवर्णबाहु बहुत प्रभावित हुए और उन्हें वीतराग-जीवन की महिमा पर चिन्तन करते हुए जातिस्मरण हो आया।[2] फलतः पुत्र को राज्य सौंप कर उन्होंने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास दीक्षा ग्रहण की एवं उग्र तपस्या करते हुए गीतार्थ हो गये। मुनि सुवर्णबाहु ने तीर्थंकर गोत्र उपार्जित करने के अर्हद्भक्ति आदि बीस साधनों में से अनेक की सम्यक्रूप से आराधना कर तीर्थंकर गोत्र का बंध किया।[3] तपस्या के साथ-साथ उनकी प्रतिज्ञा बड़ी बढ़ी-चढ़ी थी। एक बार वे विहार करते हुए क्षीरगिरि के पास क्षीरवर्ण नामक वन में आये और सूर्य के सामने दृष्टि रख कर कायोत्सर्गपूर्वक आतापना लेने खड़े हो गये। उस समय कमठ का जीव, जो सप्तम नर्क से निकल कर उस वन में सिंह रूप से उत्पन्न हुआ था, अपने सामने सुवर्णबाहु मुनि को खड़े देख कर क्रुद्ध हो गर्जना करता हुआ उन पर झपट पड़ा।

---

१ त्रिषष्टि शलाका पु० च० ८।२१

२ चउ. म. अ. च., पृ. २५५

३ चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २५६

मुनि सुवर्णबाहु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया और अपनी आयु निकट समझ कर संलेखनापूर्वक अनशन कर वे ध्यानावस्थित हो गये।

सिंह ने पूर्वभव के वैर के कारण मुनि पर आक्रमण किया और उनके शरीर को चीरने लगा, पर मुनि सर्वथा शान्त और अचल रहे। समभाव के साथ आयु पूर्ण कर वे महाप्रभ नाम के विमान में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए।

सिंह भी मर कर चौथी नर्कभूमि में दश सागर की स्थिति वाले नारक-जीव के रूप में उत्पन्न हुआ। नारकीय आयु पूर्ण करने के पश्चात् कमठ का जीव दीर्घकाल तक तिर्यग् योनि में अनेक प्रकार के कष्ट भोगता रहा।

विविध ग्रन्थों में पूर्वभव

पद्मचरित्र के अनुसार पार्श्वनाथ की पूर्वजन्म की नगरी का नाम साकेता और पूर्वभव का नाम आनन्द था और उनके पिता का नाम वीतशोक डामर था। रविसेन ने पार्श्वनाथ को वैजयन्त स्वर्ग से अवतरित माना है, जबकि तिलोयपण्णत्ती और कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ के प्राणत कल्प से आने का उल्लेख था।

जिनसेन का आदि पुराण और गुणभद्र का उत्तर पुराण पद्मचरित्र के पश्चात् की रचनाएँ हैं।

उत्तरपुराण और पासनाह चरिउं में पार्श्वनाथ के पूर्वभव का वर्णन प्राय: समान है।

आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और लक्ष्मी वल्लभ की उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के तेईसवें अध्ययन में भी पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त होता है।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा पार्श्वनाथ की जीवनगाथा स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप में भी ग्रथित की गई है। श्वेताम्बर परम्परा में पहले पहल श्री देवभद्र सूरि ने 'सिरि पासनाह चरिउं' के नाम से एक स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखा है। उसमें निर्दिष्ट पूर्वभवों का वर्णन प्राय: वही है जो गुणभद्र के उत्तर पुराण में उल्लिखित है। केवल परम्परा की दृष्टि से कुछ स्थलों में भिन्नता पाई जाती है, जो श्वेताम्बर परम्परा के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी स्वीकृत है। देवभद्र सूरि के अनुसार मरुभूति अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् खिन्नमन रहने लगे एवं हरिश्चन्द्र नामक मुनि के द्वारा दिये गये उपदेश का अनुसरण करके अपने घर-बार, यहाँ तक कि अपनी पत्नी के प्रति भी वे सर्वथा उदासीन रहने लगे। इसके

परिणामस्वरूप उनकी पत्नी वसुन्धरी का कमठ नामक किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण हो गया। कमठ और अपनी पत्नी के पापाचरण की कहानी मरुभूति को कमठ की पत्नी वरुणा से ज्ञात हुई। मरुभूति ने इसकी सचाई को जानने के लिये नगर के बाहर जाने का ढोंग किया। रात्रि में याचक के वेप में लौटकर उसी स्थान पर ठहरने की अनुमति पा ली। वहाँ उसने कमठ और वसुन्धरी को मिलते देखा।[1]

जन्म और मातापिता

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में स्वर्णबाहु का जीव प्राणत देवलोक से बीस सागर की स्थिति भोग कर च्युत हुआ और भारतवर्ष की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी के महाराज अश्वसेन की महारानी वामा की कुक्षि में मध्यरात्रि के समय गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। माता वामादेवी चौदह शुभ-स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखकर परम प्रसन्न हुई और पुत्र-रत्न की सुरक्षा के लिए साव-धानीपूर्वक गर्भ का धारण-पालन करती रही। गर्भकाल के पूर्ण होने पर पौप कृष्णा[2] दशमी के दिन मध्यरात्रि के समय विशाखा नक्षत्र से चन्द्र का योग होने पर आरोग्ययुक्त माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। तिलोयपन्नत्ती में भगवान् नेमिनाथ के जन्मकाल से ८४ हजार छह सौ ५० वर्ष बीतने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म लिखा है।[3] प्रभु के जन्म से घर-घर में आमोद-प्रमोद का मंगलमय वातावरण प्रसरित हुआ और क्षणभर के लिए समग्र लोक में उद्योत हो गया।

समवायांग और आवश्यक निर्युक्ति में पार्श्व के पिता का नाम आससेण (अश्वसेन) तथा माता का नाम वामा लिखा है। उत्तरकालीन अनेक ग्रन्थकारों ने भी यही नाम स्वीकृत किये हैं।

आचार्य गुणभद्र और पुष्पदन्त ने (उत्तरपुराण और महापुराण में) पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है। वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित्र में माता का नाम ब्रह्मदत्ता लिखा है। तिलोयपन्नत्ती में पार्श्व की माता का नाम वर्मिला भी दिया है। अश्वसेन का पर्यायवाची हयसेन नाम भी मिलता है। मौलिक रूप से देखा जाय तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। गुण, प्रभाव और बोलचाल की दृष्टि से व्यक्ति के नाम में भिन्नता होना आश्चर्य की बात नहीं है।

---

१ पासनाह चरिउं, पद्मकीर्ति विरचित, प्रस्तावना, पृष्ठ ३१

२ उत्तरपुराण में दशमी के स्थान पर एकादशी को विशाखा नक्षत्र में जन्म माना गया है।

३ पण्णासाधियछस्सयचुलसीदिसहस्स-वस्सपरिवत्ते।
णेमि जिणुत्पत्तीदो, उप्पत्ती पासणाहस्स। ति. प., ४।५७६।पृ. २१४

वंश एवं कुल

भगवान् पार्श्वनाथ के कुल और वंश के सम्बन्ध में समवायांग आदि मूल आगमों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। केवल आवश्यक निर्युक्ति में कुछ संकेत मिलता है, वहाँ बाईस तीर्थंकरों को काश्यपगोत्रीय और मुनिसुव्रत एवं अरिष्टनेमि को गौतमगोत्रीय बतलाया है। पर देवभद्र सूरि के "पार्श्वनाथ चरित्र" और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में अश्वसेन भूप को इक्ष्वाकुवंशी[1] माना गया है। काश्यप और इक्ष्वाकु एकार्थक होने से कहीं इक्ष्वाकु के स्थान पर काश्यप कहते हैं। पुष्पदन्त ने पार्श्व को उग्रवंशीय कहा है।[2] तिलोयपन्नत्ती में भी आपका वंश उग्रवंश बतलाया है और आजकल के इतिहासज्ञ विद्वान् पार्श्व को उरग या नागवंशी भी कहते हैं।

नामकरण

पुत्रजन्म की खुशी में महाराज अश्वसेन ने दश दिनों तक मंगल-महोत्सव मनाया और बारहवें दिन नामकरण करने के लिए अपने सभी स्वजन एवं मित्र-वर्ग को आमन्त्रित कर बोले—"बालक के गर्भस्थ रहते समय इसकी माता ने अँधेरी रात में भी पास (पार्श्व) में चलते हुए सर्प को देख कर मुझे सूचित किया और अपनी प्राणहानि से मुझे बचाया, अतः इस बालक का नाम पार्श्वनाथ रखना चाहिए।" इस निश्चय के अनुसार बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया।[3]

---

१ तस्यामिक्ष्वाकुवंश्योऽभूदश्वसेनो महीपतिः। [त्रि०श०पु०च०, प. ६, स. ३, श्लो० १४]

२ महापुराण—६४।२२।२३

३ (क) सामण्णं सव्वे जाणका पासका य सव्व भावाणं, विसेसो माता अन्धारे सप्पं पासति, रायाणं भणति-हत्थं विलएह सप्पो जाति, किह एस दीसति ? दीवएणं पलोइओ दिट्ठो।

[आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पृष्ठ ११]

(ख) गर्भस्थितेऽस्मिञ्जननी, कृष्णनिश्यपि पार्श्वतः।
सर्पन्तं सर्पमद्राक्षीत्, सद्यः पत्युः शशंस च॥
स्मृत्वा तदेप गर्भस्य, प्रभाव इति निर्णयन्।
पार्श्व इत्यभिधां सूनोरश्वसेननृपोऽकरोत्॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो. ४५]

(ग) पासोवसप्पेण सुविणयंमि सप्पं पलोइत्या........

[सिरि पासनाह चरिउं, गाथा ११, प्र. ३ पृष्ठ १४०]

उत्तरपुराण के अनुसार इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा।[1]

बाललीला

नीलोत्पल सी कान्ति वाले श्री पार्श्व बाल्यकाल से ही परम मनोहर और तेजस्वी प्रतीत होते थे। अतुल बल-वीर्य के धारक प्रभु १००८ शुभ लक्षणों से विभूषित थे। सर्प-लांछन वाले पार्श्व कुमार बालभाव में अनेक राजकुमारों और देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए उडुगण में चन्द्र की तरह चमक रहे थे।

पार्श्वकुमार की बाल्यकाल से ही प्रतिभा और उसके बुद्धिकौशल को देख कर महारानी वामा और महाराज अश्वसेन परम संतुष्ट थे।

गर्भकाल से ही प्रभु मति, श्रुति और अवधिज्ञान के धारक तो थे ही फिर बाल्यकाल पूर्ण कर जब यौवन में प्रवेश करने लगे तो आपकी तेजस्विता और अधिक चमकने लगी। आपके पराक्रम और साहस की द्योतक एक घटना इस प्रकार है :—

पार्श्व की वीरता और विवाह

महाराज अश्वसेन एक दिन राजसभा में बैठे हुए थे कि सहसा कुशस्थल नगर से एक दूत आया और बोला—"कुशस्थल के भूपति नरवर्मा, जो बड़े धर्म-प्रेमी साधु-महात्माओं के परम उपासक थे, उन्होंने संसार को तृणवत् त्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा स्वीकार की और उनके पुत्र प्रसेनजित इस समय राज्य का संचालन कर रहे हैं। उनकी पुत्री प्रभावती ने जब से आपके पुत्र पार्श्वकुमार के अनुपम रूप एवं गुणों की महिमा सुनी, तभी से वह इन पर मुग्ध है। उसने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि मैं पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी का भी वरण नहीं करूंगी।

माता-पिता भी कुमारी की इस पसंद से प्रसन्न थे, किन्तु कलिंग देश के यवन नामक राजा ने जब यह सुना, तो उसने कुशस्थल पर चढ़ाई की आज्ञा देते हुए भरी सभा में यह घोषणा की—"मेरे रहते हुए प्रभावती को व्याहने वाला पार्श्व कौन है ?"

ऐसा कह कर उसने एक विशाल सेना के साथ कुशस्थल नगर पर घेरा डाल दिया। उसका कहना है कि या तो प्रभावती दो या युद्ध करो। कुशस्थल

---

१ जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम्।
पार्श्वाभिधानं कृत्वास्य, पितृभ्यां तं समर्पयन्॥

[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक ९२]

वंश एवं कुल

भगवान् पार्श्वनाथ के कुल और वंश के सम्बन्ध में समवायांग आदि मूल आगमों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। केवल आवश्यक निर्युक्ति में कुछ संकेत मिलता है, वहाँ बाईस तीर्थंकरों को काश्यपगोत्रीय और मुनिसुव्रत एवं अरिष्टनेमि को गौतमगोत्रीय बतलाया है। पर देवभद्र सूरि के "पार्श्वनाथ चरित्र" और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में अश्वसेन भूप को इक्ष्वाकुवंशी[1] माना गया है। काश्यप और इक्ष्वाकु एकार्थक होने से कहीं इक्ष्वाकु के स्थान पर काश्यप कहते हैं। पुष्पदन्त ने पार्श्व को उग्रवंशीय कहा है।[2] तिलोयपन्नत्ती में भी आपका वंश उग्रवंश बतलाया है और आजकल के इतिहासज्ञ विद्वान् पार्श्व को उरग या नागवंशी भी कहते हैं।

नामकरण

पुत्रजन्म की खुशी में महाराज अश्वसेन ने दश दिनों तक मंगल-महोत्सव मनाया और बारहवें दिन नामकरण करने के लिए अपने सभी स्वजन एवं मित्र-वर्ग को आमन्त्रित कर बोले—"बालक के गर्भस्थ रहते समय इसकी माता ने अँधेरी रात में भी पास (पार्श्व) में चलते हुए सर्प को देख कर मुझे सूचित किया और अपनी प्राणहानि से मुझे बचाया, अतः इस बालक का नाम पार्श्वनाथ रखना चाहिए।" इस निश्चय के अनुसार बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया।[3]

---

१ तस्यामिक्ष्वाकुवंश्योऽभूदश्वसेनो महीपतिः। [त्रि०श०पु०च०, प. ६, स. ३, श्लो० १४]

२ महापुराण–९४।२२।२३

३ (क) सामण्णं सव्वे जाणका पासका य सव्व भावाणं, विसेसो माता अन्धारे सप्पं पासति, रायाणं भणाति-हत्थं विलएह सप्पो जाति, किह एस दीसति ? दीवएणं पलोइओ दिट्ठो।

[आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पृष्ठ ११]

(ख) गर्भस्थितेऽस्मिञ्जननी, कृष्णनिश्यपि पार्श्वतः।
सर्पन्तं सर्पमद्राक्षीत्, सद्यः पत्युः शशंस च ॥
स्मृत्वा तदेप गर्भस्य, प्रभाव इति निर्णयन्।
पार्श्व इत्यभिधां सूनोरश्वसेननृपोऽकरोत् ॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो. ४५]

(ग) पासोवसप्पेण सुविणयंमि सप्पं पलोइत्था.......

[सिरि पासनाह चरिउं, गाथा ११, प्र. ३ पृष्ठ १४०]

उत्तरपुराण के अनुसार इन्द्र ने वालक का नाम पार्श्वनाथ रखा ।[1]

बाललीला

नीलोत्पल सी कान्ति वाले श्री पार्श्व बाल्यकाल से ही परम मनोहर और तेजस्वी प्रतीत होते थे । अतुल बल-वीर्य के धारक प्रभु १००८ शुभ लक्षणों से विभूषित थे । सर्प-लांछन वाले पार्श्व कुमार बालभाव में अनेक राजकुमारों और देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए उडुगण में चन्द्र की तरह चमक रहे थे ।

पार्श्वकुमार की बाल्यकाल से ही प्रतिभा और उसके बुद्धिकौशल को देख कर महारानी वामा और महाराज अश्वसेन परम संतुष्ट थे ।

गर्भकाल से ही प्रभु मति, श्रुति और अवधिज्ञान के धारक तो थे ही फिर बाल्यकाल पूर्ण कर जब यौवन में प्रवेश करने लगे तो आपकी तेजस्विता और अधिक चमकने लगी । आपके पराक्रम और साहस की द्योतक एक घटना इस प्रकार है :—

पार्श्व की वीरता और विवाह

महाराज अश्वसेन एक दिन राजसभा में बैठे हुए थे कि सहसा कुशस्थल नगर से एक दूत आया और बोला—"कुशस्थल के भूपति नरवर्मा, जो बड़े धर्म-प्रेमी साधु-महात्माओं के परम उपासक थे, उन्होंने संसार को तृणवत् त्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा स्वीकार की और उनके पुत्र प्रसेनजित इस समय राज्य का संचालन कर रहे हैं । उनकी पुत्री प्रभावती ने जब से आपके पुत्र पार्श्वकुमार के अनुपम रूप एवं गुणों की महिमा सुनी, तभी से वह इन पर मुग्ध है । उसने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि मैं पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी का भी वरण नहीं करूंगी ।

माता-पिता भी कुमारी की इस पसंद से प्रसन्न थे, किन्तु कलिंग देश के यवन नामक राजा ने जब यह सुना, तो उसने कुशस्थल पर चढ़ाई की आज्ञा देते हुए भरी सभा में यह घोषणा की—"मेरे रहते हुए प्रभावती को ब्याहने वाला पार्श्व कौन है ?"

ऐसा कह कर उसने एक विशाल सेना के साथ कुशस्थल नगर पर घेरा डाल दिया । उसका कहना है कि या तो प्रभावती दो या युद्ध करो । कुशस्थल

---

१ जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम् ।
पार्श्वाभिधानं कृत्वास्य, पितृभ्यां तं समर्पयन् ।।

[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक ९२]

के महाराज प्रसेनजित बड़े असमंजस में हैं। उन्होंने मुझे सारी स्थिति से आपको अवगत करने के लिए आपकी सेवा में भेजा है। अब आगे क्या करना है, इसमें देव ही प्रमाण हैं।"

दूत की बात सुन कर महाराज अश्वसेन क्रोधावेश में बोले—"अरे! उस पामर यवनराज की यह हिम्मत जो मेरे होते हुए तुम पर आक्रमण करे। मैं कुशस्थल के रक्षण की अभी व्यवस्था करता हूँ।"

यह कहकर महाराज अश्वसेन ने युद्ध की भेरी बजवा दी। क्रीड़ांगण में खेलते हुए पार्श्वकुमार ने जब रणभेरी की आवाज सुनी तो वे पिता के पास आये और प्रणाम कर पूछने लगे—"तात! यह कैसी तैयारी है? आप कहां जा रहे हैं? मेरे रहते आपके जाने की क्या आवश्यकता है? छोटे-मोटे शत्रुओं को तो मैं ही शिक्षा दे सकता हूँ। कदाचित् आप सोचते होंगे कि यह बालक है, इसको खेल से क्यों वंचित रखा जाय, परन्तु महाराज क्षत्रियपुत्र के लिए युद्ध भी एक खेल ही है। मुझे इसमें कोई विशेष श्रम प्रतीत नहीं होता।"

पुत्र के इन साहस भरे वचनों को सुन कर महाराज अश्वसेन ने उन्हें सहर्ष कुशस्थल जाने की अनुमति प्रदान कर दी। पार्श्वकुमार ने गजारूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ शुभमुहूर्त में वहाँ से प्रयाण किया। प्रभु के प्रयाण करने पर शक्र का सारथि सहयोग हेतु आया और विनयपूर्वक नमस्कार कर बोला—"भगवन्! क्रीड़ा की इच्छा से आपको युद्ध के लिए तत्पर देख कर इन्द्र ने मेरे साथ सांग्रामिक रथ भेजा है। आपकी अपरिमित शक्ति को जानते हुए भी इन्द्र ने अपनी भक्ति प्रकट की है।"

कुमार पार्श्वनाथ ने भी कृपा पर धरातल से ऊपर चलने वाले उस रथ पर आरोहण किया[1] और कुछ ही दिनों में कुशस्थल पहुँच कर युद्ध की घोषणा करवा दी। उन्होंने पहले यवनराज के पास अपना दूत भेज कर कहलाया कि राजा प्रसेनजित ने महाराज अश्वसेन की शरण ग्रहण की है। इसलिए कुशस्थल को घेराबन्दी से मुक्त कर दो, अन्यथा महाराज अश्वसेन के कोप-भाजन बनने में तुम्हारा भला नहीं है।

दूत की बात सुनकर यवनराज ने आवेश में आकर कहा—"जाओ, अपने स्वामी पार्श्व को कह दो कि यदि वह अपनी कुशल चाहता है तो बीच में न पड़े। ऐसा न हो कि हमारे क्रोध की आग में पड़ने से उस बालक को असमय में ही प्राण गँवाना पड़े।"

दूत के मुख से यवनराज की बात सुनकर करुणासागर पार्श्वकुमार ने यवनराज को समझाने के लिये दूत को दूसरी बार और भेजा।

---

१ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३, श्लोक ११७-१२०।

दूत ने दुबारा जाकर यवनराज से फिर कहा—"स्वामी ने तुम पर कृपा करके पुनः मुझे भेजा है, न कि किसी प्रकार की कमजोरी के कारण। तुम्हारा इसी में भला है कि उनकी आज्ञा को स्वीकार कर लो।"

दूत की बात सुनकर यवनराज के सैनिक उठे और जोर-जोर से कहने लगे—"अरे! अपने स्वामी के साथ क्या तुम्हारी कोई शत्रुता है, जिससे तुम उन्हें युद्ध में ढकेल रहे हो?"

सैनिकों को रोक कर वृद्ध मन्त्री बोला—"सैनिको! स्वामी के प्रति द्रोह यह दूत नहीं अपितु तुम लोग कर रहे हो। पार्श्व की महिमा तुम लोग नहीं जानते, वह देवों, दानवों और मानवों के पूजनीय एवं महान् पराक्रमी हैं। इन्द्र भी उनकी शक्ति के सामने सिर झुकाते हैं, अतः सबका हित इसी में है कि पार्श्वनाथ की शरण स्वीकार कर लो।"

मन्त्री की इस स्व-परहितकारिणी शिक्षा से यवनराज भी प्रभावित हुआ और पार्श्वनाथ का वास्तविक परिचय प्राप्त कर उनकी सेवा में पहुँचा। विशाल सेना से युक्त प्रभु के अद्भुत पराक्रम को देखकर उसने सविनय अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की। पार्श्वनाथ ने भी उसको अभय कर विदा कर दिया।

उसी समय कुशस्थल का राजा प्रसेनजित प्रभावती को लेकर पार्श्वकुमार के पास पहुँचा और बोला—"महाराज! जिस प्रकार आपने हमारे नगर को पावन कर दुष्टों के आक्रमण से बचाया है, उसी प्रकार हमारी प्राणाधिका पुत्री प्रभावती का पाणिग्रहण कर हमें अनुगृहीत कीजिये।"

इस पर पार्श्वनाथ बोले—"राजन्! मैं पिता की आज्ञा से आपके नगर की रक्षा करने के लिये आया हूँ न कि आपकी कन्या के साथ विवाह करने, अतः इस विषय में वृथा आग्रह न करिये।"[1] यह कहकर पार्श्वनाथ अपनी सेना सहित वाराणसी की ओर चल पड़े।

प्रसेनजित भी अपनी पुत्री प्रभावती सहित पार्श्वकुमार के साथ-साथ वाराणसी आये और महाराज अश्वसेन को सारी स्थिति से अवगत कराते हुए उन्होंने निवेदन किया—"आपकी छत्र-छाया में हम सबका सब तरह से कुशल-मंगल है, केवल एक ही चिन्ता है और वह भी आपकी दया से ही दूर होगी।

---

१ ताताज्ञया त्रातुमेव, त्वामायाताः प्रसेनजित्।
भवतः कन्यकामेतामुद्वोढुं न पुनर्वयम्॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो. १८५]

मेरी एक प्रभावती नाम की कन्या है, मेरी आग्रहपूर्ण प्रार्थना है कि उसे पार्श्वकुमार के लिये स्वीकार किया जाय।"

महाराज अश्वसेन ने कहा—"राजन्! कुमार सर्वदा संसार से विरक्त रहता है, न मालूम कब क्या करले, फिर भी तुम्हारे आग्रह से इस समय बलात् भी कुमार का विवाह करा दूंगा।"

तदनन्तर महाराज अश्वसेन प्रसेनजित के साथ पार्श्वकुमार के पास आये और बोले—"कुमार! प्रसेनजित की सर्वगुणसम्पन्ना पुत्री प्रभावती से विवाह कर लो।"

पिता के वचन सुनकर पार्श्वकुमार बोले—"तात! मैं मूल से ही अपरिग्रही हो संसारसागर को पार करूंगा, अतः संसार चलाने हेतु इस कन्या से विवाह कैसे करूं?"

महाराज अश्वसेन ने आग्रह भरे स्वर में कहा—"तुम्हारी ऐसी भावना है तो समझ लो कि तुमने संसारसागर पार कर ही लिया। वत्स! एक बार हमारा मनोरथ पूर्ण करदो, फिर विवाहित होकर समय पर तुम आत्म-साधन कर लेना।"[1]

अंत में पिता के आग्रह को टालने में असमर्थ पार्श्वकुमार ने भोग्य कर्मों का क्षय करने हेतु पितृ-वचन स्वीकार किया और प्रभावती के साथ विवाह कर लिया।[2]

भगवान् पार्श्व के विवाह के विषय में आचार्यों का मतभेद

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और चउपन्न महापुरिस चरियं में पार्श्व के विवाह का जिस प्रकार वर्णन मिलता है, उस प्रकार का वर्णन तिलोयपन्नत्ती, पद्मचरित्र, उत्तरपुराण, महापुराण और वादीराजकृत पार्श्व चरित में नहीं मिलता। देवभद्र कृत पासनाह चरियं और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में यवन के आत्मसमर्पण के पश्चात् विवाह का वर्णन है, किन्तु पद्मकीर्ति ने विवाह का प्रसंग उठाकर भी विवाह होने का प्रसंग नहीं दिया है। वहां पर यवनराज के साथ पार्श्व के युद्ध का विस्तृत वर्णन है।

---

१ संसारोऽपि त्वयोत्तीर्ण, एव यस्येदृशं मनः।
कृतोद्वाहोऽपि तज्जात, समये स्वार्थमाचरे ॥२०६॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, स० ३]

२ इत्थं पितृवचः पार्श्वोऽप्युल्लंघयितुमनीश्वरः।
भोग्यं कर्म क्षपयितुमुदुवाह प्रभावतीम् ॥२१०॥ [वही]

मूल आगम समवयांग और कल्पसूत्र में विवाह का वर्णन नहीं है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के कुछ प्रमुख ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि वासुपूज्य, मल्ली, नेमि, पार्श्व और महावीर तीर्थंकर कुमार अवस्था में दीक्षित हुए और उन्नीस (१६) तीर्थंकरों ने राज्य किया। इसी आधार पर दिगम्बर परम्परा इन्हें अविवाहित मानती है। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यो का मन्तव्य है कि कुमारकाल का अभिप्राय यहां युवराज अवस्था से है। जैसा कि शब्दरत्न-कोष और वैजयन्ती में भी कुमार का अर्थ युवराज किया है।[1]

पार्श्व को विवाहित मानने वालों की दृष्टि में वे पिता के आग्रह से विवाह करने पर भी भोग-जीवन से अलिप्त रहे और तरुण एवं समर्थ होकर भी उन्होंने राज्यपद स्वीकार नहीं किया। इसी कारण उन्हें कुमार कहा गया है। किन्तु दूसरे आचार्यों की दृष्टि में वे अविवाहित रहने के कारण कुमार कहे गये हैं। यही मतभेद का मूल कारण है।

नाग का उद्धार

लोकानुरोध से पार्श्वनाथ ने प्रभावती के साथ वन, उद्यान आदि की क्रीड़ा में कितने ही दिन बिताये।[2]

एक दिन प्रभु पार्श्वनाथ राजभवन के झरोखे में बैठे हुए कुतूहल से वाराणसी पुरी की छटा निहार रहे थे। उस समय उन्होंने सहस्रों नर-नारियों को पत्र, पुष्पादि के रूप में अर्चा की सामग्री लिये बड़ी उमंग से नगर के बाहर जाते देखा।

जब उन्होंने इस विषय में अनुचर से जिज्ञासा की तो ज्ञात हुआ कि नगर के उपवन में कमठ नाम के एक बहुत बड़े तापस आये हुए हैं। वे बड़े तपस्वी हैं और सदा पंचाग्नि-तप करते हैं। यह मानव-समुदाय उन्हीं की सेवा-पूजा के लिये जा रहा है।

अनुचर की बात सुनकर कुमार भी कुतूहलवश तापस को देखने चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि तापस धूनी लगाये पंचाग्नि-तप तप रहा है। उसके चारों ओर अग्नि जल रही है और मस्तक पर सूर्य तप रहा है। झुण्ड के

---

१ कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके। —शब्दरत्न समन्वय कोष, पृ० २६८
कुमारस्स्याद्ग्रहे बाले वरुणेऽश्वानुचारके ॥२८॥
युवराजे च.... —वैजयन्ती कोष, पृ० २५६

२ जनोपरोधादुद्यानक्रीड़ा शैलादिषु प्रभुः।
रममाणस्तया सार्धं, वासरानत्यवाहयत् ॥२११॥
[त्रिषष्टि श० पु०, च०, पर्व ६, स० ३]

झुण्ड भक्त लोग जाते हैं और विभूति का प्रसाद लेकर अपने आपको धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। तपस्वी के सिर की फैली हुई लम्बी जटाओं के बीच लाल-लाल आँखें डरावनी-सी प्रतीत हो रही थीं।

पार्श्वकुमार ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि धूनी में जो लक्कड़ पड़ा है, उसमें एक बड़ा नाग (उत्तरपुराण के अनुसार नाग-नागिन का जोड़ा) जल रहा है।[1] उसके जलने की घोर आशंका से कुमार का हृदय दयावश द्रवित हो गया। वे मन ही मन सोचने लगे—"अहो! कैसा अज्ञान है, तप में भी दया नहीं।"

पार्श्वकुमार ने कमठ से कहा—"धर्म का मूल दया है, वह आग के जलाने में किस तरह संभव हो सकती है? क्योंकि अग्नि प्रज्वलित करने से सब प्रकार के जीवों का विनाश होता है।[2] अहो! यह कैसा धर्म है, जिसमें कि धर्म की मूल दया ही नहीं? बिना जल के नदी की तरह दया-शून्य धर्म निस्सार है।"

पार्श्वकुमार की बात सुनकर तापस आग-बबूला हो उठा—"कुमार! तुम धर्म के विषय में क्या जानते हो? तुम्हारा काम हाथी-घोड़ों से मनोविनोद करना है। धर्म का मर्म तो हम मुनि लोग ही जानते हैं। इतनी बढ़कर बात करते हो तो क्या इस धूनी में कोई जलता हुआ जीव बता सकते हो?"

यह सुनकर राजकुमार ने सेवकों को अग्निकुण्ड में से लक्कड़ निकालने की आज्ञा दी। लक्कड़ आग से बाहर निकालकर सावधानीपूर्वक चीरा गया तो उसमें से जलता हुआ एक साँप बाहर निकला। भगवान् ने सर्प को पीड़ा से तड़पते हुए देखकर सेवक से नवकार मन्त्र सुनवाया और पच्चक्खाण दिलाकर उसे आर्त-रौद्ररूप दुर्ध्यान से बचाया। शुभ भाव से आयु पूर्ण कर नाग भी नाग

---

१ (क) तत्थ पुलइयो ईसीसि डज्झमाणो एको महाणागो।
तओ भयवयाणियपुरिसवयणेण दवाविओ से पंचणमोक्कारो पच्चक्खाणं च॥
[चउपन्न म० पु० चरियं, पृ० २६२]

(ख) नागी नागश्च तच्छेदात्, द्विधा खण्डमुपागतौ॥
[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक १०३]

(ग) सुमहानुरगस्तस्मात् सहसा निर्जगाम च॥२२४॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ६, सर्ग ३]

२ (क) धम्मस्स दयामूलं, सा पुण पज्जालणे कहं सिहिणो।
[सिरि पासनाह चरिउं, ३। १६६]

जाति के भवन वासी देवों में धरणेन्द्र नाम का इन्द्र हुआ।[1]

इस तरह प्रभु की कृपा से नाग का उद्धार हो गया। पार्श्वकुमार के ज्ञान और विवेक की सब लोग मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे।

इस तापस की प्रतिष्ठा कम होगई और लोग उसे धिक्कारने लगे। तापस मन ही मन पार्श्वकुमार पर बहुत जलने लगा पर कुछ कर न सका। अन्त में अज्ञान-तप से आयु पूर्ण कर वह असुर-कुमारों में मेघमाली नाम का देव हुआ।

वैराग्य और मुनि-दीक्षा

तीर्थंकर स्वयंबुद्ध (स्वतः बोधप्राप्त) होते हैं, इस बात को जानते हुए भी कुछ आचार्यों ने पार्श्वनाथ के चरित्र का चित्रण करते हुए उनके वैराग्य में बाह्य कारणों का उल्लेख किया है। जैसे 'चउपन महापुरुष चरियं' के कर्ता आचार्य शीलांक, 'सिरि पास नाह चरियं' के रचयिता, देव भद्र सूरि और 'पार्श्व-चरित्र' के लेखक भावदेव तथा हेम विजयगणि ने भित्तिचित्रों को देखने से वैराग्य होना बतलाया है। इनके अनुसार उद्यान में घूमने गये हुए पार्श्व-कुमार को नेमिनाथ के भित्तिचित्र देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ। उत्तरपुराण के अनुसार नाग-उद्धार की घटना वैराग्य का कारण नहीं होती, क्योंकि उस समय पार्श्वकुमार सोलह वर्ष से कुछ अधिक वय के थे। जब पार्श्वकुमार तीस वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके तब अयोध्या के भूपति जयसेन ने उनके पास दूत के माध्यम से एक भेंट भेजी। जब पार्श्वकुमार ने अयोध्या की विभूति के लिए पूछा तो दूत ने पहले आदिनाथ का परिचय दिया और फिर अयोध्या के अन्य समाचार बतलाये। ऋषभदेव के त्याग-तपोमय जीवन की बात सुनकर पार्श्व को जाति-स्मरण[2] हो आया। यही वैराग्य का कारण बताया गया है, किन्तु पद्मकीर्ति के अनुसार नाग की घटना इकतीसवें वर्ष में हुई और यही पार्श्व के वैराग्य का मुख्य कारण बनी। महापुराण में पुष्पदन्त ने भी नाग की मृत्यु को पार्श्व के वैराग्यभाव का कारण माना है।

---

१ तत्रैपद्ह्यमानस्य, महाहेर्भगवान्नृभिः।
अदापयन् नमस्कारान्, प्रत्याख्यानं च तत्क्षणम् ॥२२५॥
नागः समाहितः सोऽपि, तत्प्रतीयेष शुद्धधीः।
वीक्ष्यमाणो भगवता, कृपामधुरया दृशा ॥२२६॥
नमस्कारप्रभावेण, स्वामिनो दर्शनेन च।
विपद्य धरणो नाम, नागराजो बभूव सः ॥२२७॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३]

२ शास्त्र में तीर्थंकर के जन्मतः ३ बतलाये हैं। फिर जातिस्मरण का क्या उपयोग?

किन्तु आचार्य हेमचन्द्र और वादिराज ने पार्श्व की वैराग्योत्पत्ति में बाह्य कारण को निमित्त न मानकर स्वभावतः ज्ञान भाव से विरक्त होना माना है।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी वही पक्ष समीचीन और युक्ति-संगत प्रतीत होता है। शास्त्र में लोकान्तिक देवों द्वारा तीर्थंकरों से निवेदन करने का उल्लेख आता है, वह भी केवल मर्यादा-रूप ही माना गया है, कारण कि संसार में बोध पाने वालों की तीन श्रेणियां मानी गई हैं—(१) स्वयंबुद्ध, (२) प्रत्येक बुद्ध और (३) बुद्धबोधित। इनमें तीर्थंकरों को स्वयंबुद्ध कहा है—वे किसी गुरु आदि से बोध पाकर विरक्त नहीं होते। किसी एक बाह्यनिमित्त को पाकर बोध पाने वाले प्रत्येक बुद्ध और ज्ञानवान् गुरु से बोध पाने वाले को बुद्ध-बोधित कहते हैं। तीन ज्ञान के धनी होने से तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं, अतः इनका बाह्यकारण-सापेक्ष वैराग्य मानना ठीक नहीं।

पार्श्वनाथ सहज-विरक्त थे। तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहकर भी वे काम-भोग में आसक्त नहीं हुए।

भगवान् पार्श्व ने भोग्य कर्मों के फलभोगों को क्षीण समझ कर जिस समय संयम ग्रहण करने का संकल्प किया, उस समय लोकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर प्रार्थना की—"भगवन्! धर्मतीर्थ को प्रकट करें।"[1] तदनुसार भगवान् पार्श्वनाथ वर्षभर स्वर्ण-मुद्राओं का दान कर पौष कृष्णा एकादशी को दिन के पूर्व भाग में देवों, असुरों और मानवों के साथ वाराणसी नगरी के मध्यभाग से निकले और आश्रमपद उद्यान में पहुँच कर अशोक वृक्ष के नीचे विशाला शिविका से उतरे। वहाँ भगवान् ने अपने ही हाथों आभूषणादि उतार कर पंचमुष्टि लोच किया और तीन दिन के निर्जल उपवास अर्थात् अष्टम-तप से विशाखा नक्षत्र में तीन सौ पुरुषों के साथ गृहवास से निकलकर सर्वसावद्य-त्याग रूप अणगार-धर्म स्वीकार किया। प्रभु को उसी समय चौथा मनः पर्यवज्ञान हो गया।

प्रथम पारणा

दीक्षा-ग्रहण के दूसरे दिन आश्रमपद उद्यान से विहार कर प्रभु कोपकटक सन्निवेश में पधारे। वहां धन्य नामक गृहस्थ के यहां आपने परमान्न-खीर से

१ इतश्च पार्श्वो भगवान्, कर्मभोगफलं निजम्।
उपभुक्तं हरिज्ञाय, प्रव्रज्यायां दधौ मनः ॥२३१॥
भावज्ञा इव तत्कालमेत्य लोकान्तिकामराः।
पार्श्वं विज्ञापयामासुर्नाथ तीर्थं प्रवर्तय ॥२३२॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व, ६ सर्ग ३]

अष्टमतप का पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्यों की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की। आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' में गुलमखेट नगर के राजा धन्य[1] के यहां अष्टम-तप का पारणा होना लिखा है। पद्मकीर्ति ने अष्टम-तप के स्थान पर आठ उपवास से दीक्षित होना लिखा है, जो विचारणीय है।

अभिग्रह

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् ने यह अभिग्रह किया "तिरासी (८३) दिन का छद्मस्थ-काल का मेरा साधना-समय है, उसे पूरे समय में शरीर से ममत्व हटा कर मैं पूर्ण समाधिस्थ रहूंगा। इस अवधि में देव, मनुष्य और पशु-पक्षियों द्वारा जो भी उपसर्ग उपस्थित किये जायेंगे, उनको मैं अविचल भाव से सहन करता रहूँगा।"

भ० पार्श्वनाथ की साधना और उपसर्ग

वाराणसी से विहार करते हुए उपर्युक्त अभिग्रग्रहानुसार भगवान् शिवपुरी नगर पधारे और कौशाम्ववन में ध्यानस्थ हो खड़े हो गये।[2] वहां पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र आया और धूप से रक्षा करने के लिये उसने भगवान् पर छत्र कर दिया।[3] कहते हैं उसी समय से उस स्थान का नाम 'अहिछत्र' प्रसिद्ध हो गया।

फिर विहार करते हुए प्रभु एक नगर के पास तापसाश्रम पहुँचे और सायंकाल हो जाने के कारण वहीं एक वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खड़े हो गये।

सहसा कमठ के जीव ने, जो मेघमाली असुर बना था, अपने ज्ञान से प्रभु को ध्यानस्थ खड़े देखा तो पूर्वभव के वैर की स्मृति से वह भगवान् पर बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह तत्काल सिंह, चीता, मत्त हाथी, आशुविष वाला विच्छू और साँप आदि के रूप बनाकर भगवान् को अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। तदनन्तर उसने वीभत्स वैताल का रूप धारण कर प्रभु को अनेक प्रकार से

---

१ गुलमखेटपुरं कायस्थित्यर्थं समुपेयिवान् ॥१३२॥
तत्र धनाख्य भूपाल: श्यामवर्णोऽष्ट मंगलै:
प्रतिगृह्याशनं शुद्धं, दत्वापत्तत्क्रियोचितम् ॥१३३॥ [उत्तरपुराण, पर्व ७३]

२ सिवनयरीए बहिया, कोसंववणे ट्ठिओ य पड़िमाए
[पासनाह चरियं, ३, पृ० १८७]

३ ....पहुणो उवरिं धरइ छत्तं।
[वी पृ० १८८]

डराने-धमकाने का प्रयास किया, परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ पर्वतराज की तरह अडोल एवं निर्मम भाव से सब कुछ सहते रहे।

मेघमाली अपनी इन करतूतों की विफलता से और अधिक क्रुद्ध हुआ। उसने वैक्रिय-लब्धि की शक्ति से घनघोर मेघघटा की रचना की। भयंकर गर्जन और विद्युत की कड़कड़ाहट के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। दनादन ओले गिरने लगे, वन्य-जीव भय के मारे त्रस्त हो इधर-उधर भागने लगे। देखते ही देखते सारा वन-प्रदेश जलमय हो गया। प्रभु पार्श्व के चारों ओर पानी भर गया और वह चढ़ते-चढ़ते घुटनों, कमर और गर्दन तक पहुँच गया। नासाग्र तक पानी आ जाने पर भी भगवान् का धर्म भंग नहीं हुआ।[1] जबकि थोड़ी ही देर में भगवान् का सारा शरीर पानी में डूबने ही वाला था, तब धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ।[2] उसने अवधिज्ञान से देखा तो, पता चला—"मेरे परम उपकारी भगवान् पार्श्वनाथ इस समय घोर कष्टों से घिरे हुए हैं।" यह देख कर वह बहुत ही क्षुब्ध हुआ और पद्मावती, वैरोट्या आदि देवियों के साथ तत्काल दौड़-कर प्रभु की सेवा में पहुँचा। धरणेन्द्र ने प्रभु को नमस्कार किया और उनके चरणों के नीचे दीर्घनाल युक्त कमल की रचना की एवं प्रभु के शरीर को सप्तफणों के छत्र[3] से अच्छी तरह ढक दिया। भगवान् देव-कृत उस कमलासन पर समाधिलीन राजहंस की तरह शोभा पा रहे थे।

वीतराग भाव में पहुँचे भगवान् पार्श्वनाथ कमठासुर की उपसर्ग लीला और धरणेन्द्र की भक्ति, दोनों पर समदृष्टि रहे। उनके हृदय में न तो कमठ के प्रति द्वेष था और न धरणेन्द्र के प्रति अनुराग। वे मेघमाली के उपसर्ग से किञ्चिन्मात्र भी क्षुब्ध नहीं हुए। इतने पर भी मेघमाली क्रोधवश वर्षा करता रहा तब धरणेन्द्र को अवश्य रोष आया और वह गरज कर बोला—"दुष्ट! तू यह क्या कर रहा है? उपकार के बदले अपकार का पाठ तूने कहां पढ़ा है? जिन्होंने तुम्हें अज्ञानगर्त से निकाल कर समुज्ज्वल सुमार्ग का दर्शन कराया, उनके प्रति कृतघ्न होकर उनको ही उपसर्ग-पीड़ा से पीड़ित करने का प्रयास

---

१ अवगण्णियासेसोवसग्गस्स य लग्गं नासियाविवरं जाव सलिलं।
[चउवन्न म. पु. चरियं, पृ. २६७]

२ एत्थावसरम्मि य चलियमासणं धरणराइणो।
[वही]

३ (क) सिरिपासणाह चरियं में सात फणों का छत्र करने का उल्लेख है। यथा—........
सत्तसंखफारफणाफल गमयं........

(ख) चउवन्न महापुरिस चरियं में सहस्रफण का उल्लेख है। यथा :—विरइयं भयवओ उवरिं फणसहस्सायवत्तं। [पृ० २६७]

कर रहा है। तुम्हें नहीं मालूम कि ऐसी महान् आत्मा की अवज्ञा व अशान्त अग्नि को पैर से दबाने के समान दुःखप्रद है। इनका तो कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, किन्तु तेरा सर्वनाश हो जायगा। भगवान् तो दयालु हैं, पर मैं इस तरह सहन नहीं करूँगा।"

धरणेन्द्र की बात सुनकर मेघमाली भयभीत हुआ और प्रभु की अविचल शान्ति एवं धरणेन्द्र की भक्ति से प्रभावित होकर उसने अपनी माया तत्काल समेट ली। प्रभु के चरणों में सविनय क्षमा-याचना कर वह अपने स्थान को चला गया। धरणेन्द्र भी भक्ति-विभोर हो पार्श्व की सेवा-भक्ति कर वहाँ से अपने स्थान को चला गया।

उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर भगवान् अपनी अखण्ड साधना में रत रहे। इस तरह अनेक स्थलों का विचरण करते हुए प्रभु वाराणसी के बाहर आश्रमपद नामक उद्यान में पधारे और उन्होंने छद्मस्थकाल की तिरासी रातें पूर्ण कीं।

केवलज्ञान

छद्मस्थ दशा की तिरासी रात्रियां[1] पूर्ण होने के पश्चात् चौरासीवें दिन प्रभु वाराणसी के निकट आश्रमपद उद्यान में घातकी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े हो गये। अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में मोह कर्म का क्षय कर आपने सम्पूर्ण घातिक कर्मों पर विजय प्राप्त की और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की।[2] जिस समय आपको केवलज्ञान हुआ उस समय चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग था।

पद्मकीर्ति ने कमठ द्वारा उपस्थित किये गये उपसर्ग के समय प्रभु को केवलज्ञान होना माना है, जबकि अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने कुछ दिनों बाद। तिलोयपण्णत्ती ने चार मास के बाद केवली होना माना है, पर सबने केवलज्ञान-प्राप्ति का दिन चैत्र कृष्णा चतुर्थी और विशाखा नक्षत्र ही मान्य किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की उपलब्धि होने की सूचना पाकर महाराज अश्वसेन वन्दन करने आये और देव-देवेन्द्रों ने भी हर्षित मन से आकर केवलज्ञान की महिमा प्रकट की। उस समय सारे संसार में क्षण भर के लिये प्रद्योत हो गया। देवों द्वारा समवसरण की रचना की गई।

देशना और संघ-स्थापना

केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद भगवान् ने जगजीवों के हितार्थ धर्म-

---

१ दिगम्बर परम्परा में प्रभु का छद्मस्थकाल चार मास और उपसर्गकर्त्ता का नाम शंवर माना गया है। हेमचन्द्र ने 'दीक्षादिनादतिगतेषु तु दिनेषु चतुरशीति' ८४ दिन लिखा है। —सम्पादक

२ कल्पसूत्र में छट्ठ तप का उल्लेख है।

उपदेश दिया। आपने प्रथम देशना में फरमाया—"मानवो! अनादिकालीन इस संसार में जड़ और चेतन ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं। इनमें जड़ तो चेतनाशून्य होने के कारण केवल ज्ञातव्य है। उसका गुण-स्वभाव चेतन द्वारा ही प्रकट होता है। चेतन ही एक ऐसा द्रव्य है, जो ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता, एवं प्रमाता हो सकता है। यह प्रत्येक के स्वानुभव से प्रत्यक्ष है। कर्म के सम्बन्ध में आत्म-चन्द्र की ज्ञान किरणें आवृत हो रही हैं, उनको ज्ञान-वैराग्य की साधना से प्रकट करना ही मानव का प्रमुख धर्म है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र ही आवरण-मुक्ति का सच्चा मार्ग है, जो श्रुत और चारित्र धर्म के भेद से दो प्रकार का है। कर्मजन्य आवरण और बन्धन काटने का एकमात्र मार्ग धर्म-साधन है। बिना धर्म के जीवन शून्य व सारहीन है, अतः धर्म की आराधना करो।

चारित्र धर्म आगार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है। चार महा-व्रत रूप अनगार-धर्म मुक्ति का अनन्तर कारण है और देश-विरति रूप आगार-धर्म परम्परा से मुक्ति दिलाने वाला है। शक्ति के अनुसार इनका आराधन कर परम तत्त्व की प्राप्ति करना ही मानव-जीवन का चरम और परम लक्ष्य है।

इस प्रकार त्याग-वैराग्यपूर्ण प्रभु की वाणी सुन कर महाराज अश्वसेन विरक्त हुए और पुत्र को राज्य देकर स्वयं प्रव्रजित हो गये। महारानी वामा देवी, प्रभावती आदि कई नारियों ने भी भगवान् की देशना से प्रबुद्ध हो आर्हती-दीक्षा स्वीकार की। प्रभु के ओजपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो कर शुभदत्त आदि वेदपाठी विद्वान् भी प्रभु की सेवा में दीक्षित हुए और पार्श्व प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान पाकर वे चतुर्दश पर्वों के ज्ञाता एवं गणधर पद के अधिकारी बन गये। इस प्रकार पार्श्वनाथ ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भावतीर्थंकर कहलाये।

पार्श्व के गणधर

समवायांग और कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ के आठ गणधर बतलाये हैं[1] जबकि आवश्यक निर्युक्ति एवं तिलोयपन्नत्ती आदि ग्रन्थों में दश गणधरों का उल्लेख है।[2] इस संख्याभेद के सम्बन्ध में कल्पसूत्र के टीकाकार उपाध्याय

---

१ पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ठगणा, अट्ठ गणहरा हुत्या तंजहा:
सुभेय, अज्जघोसेय, वसिट्ठे बंभयारि य।
सोमे सिरिहरे चेव, वीरभद्दे जसे विय॥

२ आर्यदत्त, आर्यघोषो वशिष्ठो ब्रह्मनामकः।
सोमश्च श्रीधरो वारिषेणो भद्रयशो जयः॥
विजयश्चेति नामानो, दशैते पुरुषोत्तमाः। पास. च. ५।४३७।२८

श्री विनय विजय ने लिखा है कि दो गणधर अल्पायु वाले थे[1] अतः सूत्र में आठ का ही निर्देश किया गया है।

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् जब भगवान् का प्रथम समवसरण हुआ, सहस्रों नर-नारियों ने प्रभु की त्याग-वैराग्यपूर्ण वाणी को श्रवण कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। उनमें आर्य शुभदत्त आदि विद्वानों ने प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर चौदह पूर्व की रचना की और गणनायक-गणधर कहलाये।

श्री पासनाह चरिउं के अनुसार गणधरों का परिचय निम्न प्रकार है :—

(१) शुभदत्त—ये भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम गणधर थे। इनकी जन्मस्थली क्षेमपुरी नगरी थी। पिता का नाम धन्य एवं माता का नाम लीलावती था। सम्भूति मुनि के पास इन्होंने श्रावकधर्म ग्रहण किया और माता-पिता के परलोकवासी होने पर संसार से विरक्त होकर बाहर निकल गये और आश्रमपद उद्यान में आये, जहां कि भगवान् पार्श्वनाथ का प्रथम समवसरण हुआ। भगवान् की देशना सुनकर उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और वे प्रथम गणधर बन गये।

(२) आर्य घोष—पार्श्वनाथ के दूसरे गणधर का नाम आर्य घोष था। ये राजगृह नगर के निवासी अमात्यपुत्र थे। जिस समय भगवान् को केवलज्ञान हुआ, वे अपने स्नेही साथियों के साथ वहाँ आये और दीक्षा लेकर गणधर पद के अधिकारी हो गये।

(३) वशिष्ठ—भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे गणधर वशिष्ठ हुए। ये कम्पिलपुर के अधीश्वर महाराज महेन्द्र के पुत्र थे। बाल्यावस्था से ही इनकी रुचि प्रव्रज्या ग्रहण करने की ओर रही। संयोग पाकर भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम समवसरण में उपस्थित हुए और वहीं संयम ग्रहण करके तीसरे गणधर बन गये।

(४) आर्य ब्रह्म—भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे गणधर आर्यब्रह्म हुए। ये सुरपुर नगर के महाराजा कनककेतु के पुत्र थे। इनकी माता शान्तिमती थीं। भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान होने पर ये भी अपने साथियों सहित वंदन करने उनके पास पहुँचे और देशना श्रवण कर प्रव्रजित हो गये।

(५) सोम—भगवान् पार्श्वनाथ के पाँचवें गणधर सोम थे। क्षिति-प्रतिष्ठित नगर के महाराजा महीधर के ये पुत्र थे। इनकी माता का नाम रेवती

---

१ द्वौ अल्पायुष्कत्वादि कारणान्नोक्तौ इति टिप्पणके व्याख्यातम्।

[कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृष्ठ ३८१]

था। युवावस्था प्राप्त होने पर "चम्पकमाला" नाम की कन्या के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। इनके हरिशेखर नाम का पुत्र हुआ, जो चार वर्ष की उम्र में ही निधन को प्राप्त हो गया। पुत्र की मृत्यु एवं पत्नी चम्पकमाला की लम्बी रुग्णता तथा निधन-लीला से इनको संसार से विरक्ति हो गई और भगवान् पार्श्वनाथ के प्रवचन से प्रभावित होकर संयममार्ग में प्रव्रजित हो गये।

(६) आर्य श्रीधर—भगवान् पार्श्वनाथ के छठे गणधर आर्य श्रीधर हुए। इनके पिता का नाम नागबल एवं माता का महासुन्दरी था। युवावस्था प्राप्त होने पर महाराजा प्रसेनजित की पुत्री राजमती के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए उनको किसी दिन एक श्रेष्ठिपुत्र के द्वारा पूर्वजन्म की भगिनी के समाचार सुनाये गये। समाचार सुनकर इनको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और संसार से विरक्ति हो गई। एक दिन वे अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति देने का आग्रह कर रहे थे कि सहसा अन्तःपुर में कोलाहल मच गया। उन्हें अपने छोटे भाई के असमय में ही आकस्मिक निधन का समाचार मिला। इससे इनकी वैराग्यभावना और प्रबल हो गई। भगवान् पार्श्वनाथ का संयोग पाकर ये भी दीक्षित हो गये।

(७) वारिसेन—ये भगवान् के सातवें गणधर थे। ये विदेह राज्य की राजधानी मिथिला के निवासी थे। इनके पिता का नाम नमिराजा तथा माता का यशोधरा था। पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण वारिसेन प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त थे। उनके अन्तर्मन में प्रव्रज्या ग्रहण करने की प्रबल इच्छा जागृत हो रही थी। माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर वे अपने साथी राजपुत्रों के साथ भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में पहुंचे। वहाँ उनकी वीतरागता भरी देशना श्रवण की और प्रव्रज्या ग्रहण कर गणधर बन गये।

(८) भद्रयश—भगवान् के आठवें गणधर भद्रयश हुए। इनके पिता का नाम समरसिंह और माता का पद्मा था। किसी तरह मत्तकुंज नामक उद्यान में गये। वहां उन्होंने एक व्यक्ति को नुकीली कीलों से वेष्टित देखा। करुणा से द्रवित होकर उन्होंने उसकी वे नुकीली कीलें शरीर से निकालीं और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके भाई ने ही पूर्वजन्म के वैर के कारण उसकी यह दशा की है तो उनको संसार की इस स्वार्थपरता के कारण विरक्ति हो गई। वे अपने कई साथियों के साथ भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा में दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

(९), (१०) जय एवं विजय—इसी तरह जय एवं विजय क्रमशः भगवान् के नवें एवं दसवें गणधर के रूप में विख्यात हुए। ये दोनों श्रावस्ती नगरी के रहने वाले सहोदर थे। इनमें परस्पर अत्यन्त स्नेह था। एक बार

उन्होंने स्वप्न देखा कि उनका आयुष्य अत्यल्प है। इससे विरक्त होकर दोनों भाई प्रव्रज्या ग्रहण करने हेतु भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा में पहुंचे और दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म

भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते हैं। तत्कालीन ऋजु एवं प्राज्ञजनों को लक्ष्य कर पार्श्वनाथ ने जिस चारित्र-धर्म की दीक्षा दी, वह चातुर्याम—चार व्रत के रूप में थी। यथा :–(१) सर्वथा प्राणातिपात विरमण-हिंसा का त्याग, (२) सर्वथा मृषावाद विरमण–असत्य का त्याग, (३) सर्वथा अदत्तादान विरमण–चौर्य-त्याग और (४) सर्वथा बहिद्धादान विरमण अर्थात् परिग्रह-त्याग। इस प्रकार पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म को आत्म-साधना का पुनीत मार्ग बतलाया।

यम का अर्थ दमन करना कहा गया है। चार प्रकार से आत्मा का दमन करना, अर्थात् उसे नियन्त्रित रखना ही चातुर्याम धर्म का मर्म है। इसमें हिंसा आदि चार पापो की विरति होती है। इन चारों में ब्रह्मचर्य का पृथक् स्थान नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा में ब्रह्मचर्य उपेक्षित था अथवा ब्रह्मचर्य की साधना कोई गौण मानी गई हो। ब्रह्मचर्य-पालन भी और व्रतों की तरह परम प्रधान और अनिवार्य था, किन्तु पार्श्वनाथ के संत विज्ञ थे, अतः वे स्त्री को भी परिग्रह के अन्तर्गत समझकर बहिद्धादान में ही स्त्री और परिग्रह दोनों का अन्तर्भाव कर लेते थे। क्योंकि बहिद्धादान का अर्थ बाह्य वस्तु का आदान होता है। अतः धन-धान्य आदि की तरह स्त्री भी बाह्य वस्तु होने से दोनों का बहिद्धादान में अन्तर्भाव माना गया है।

कुछ लेखक चातुर्याम धर्म का उद्‌गम वेदों एवं उपनिषदों से बतलाते हैं पर वास्तव में चातुर्याम धर्म का उद्‌गम वेदों या उपनिषदों से बहुत पहले श्रमण संस्कृति में हो चुका था। इतिहास के विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी इस बात को मान्य किया है। उनके अनुसार चातुर्याम का मूल पहले के ऋषि-मुनियों का तपोधर्म माना गया है। वे ऋषि-मुनि संसार के दुःखों और मनुष्य-मनुष्य के बीच होने वाले असद्व्यवहार से ऊबकर अरण्य में चले जाते एवं चार प्रकार की तपश्चर्या करते थे। उनमें से एक तप अहिंसा या दया का होता था। पानी की एक बूंद को भी कष्ट न देने की साधना आखिर तपश्चर्या नहीं तो और क्या थी? उन पर असत्य बोलने का अभियोग लग ही नहीं सकता था, क्योंकि वे जनशून्य अरण्य में एकान्त, शान्त स्थान में निवास करते तथा फल-मूलों द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। चोरी के लिये भी उन्हें न तो कोई आवश्यकता थी और न निकट सम्पर्क में चित्ताकर्षक परकीय सामग्री थी। अतः वे जगत् में रहकर भी

एक तरह से संसार से अलिप्त थे। वे या तो नग्न रहते थे या फिर इच्छा हुई तो वल्कल पहनते थे। इसलिये यह स्पष्ट है कि वे पूर्णरूपेण अपरिग्रह व्रत का पालन करते थे, परन्तु इन यामों का वे प्रचार नहीं करते थे, अतः ब्राह्मणों के साथ उनका विवाद कभी नहीं हुआ। परन्तु पार्श्व ने मधुकरी अंगीकार कर लोगों को इसकी शिक्षा दी, जिससे ब्राह्मणों के यज्ञ अप्रिय होने लगे।[1]

ब्राह्मण-संस्कृति में अहिंसादि व्रतों का मूल नहीं है, क्योंकि वैदिक परम्परा में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की प्रधानता है। संन्यास परम्परा का वहाँ कोई प्रमुख स्थान नहीं है। अतः विशुद्ध अध्यात्म पर आधारित संन्यास-परम्परा, श्रमण-परम्परा की ही देन हो सकती है। आज वैदिक परम्परा के पुराणों, स्मृतियों तथा उपनिषदों में जो व्रतों एवं महाव्रतों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे सभी भगवान् पार्श्वनाथ के उत्तरकालीन हैं। इसलिये पूर्वकालीन व्रत-व्यवस्था को उत्तरकाल से प्रभावित कहना उचित नहीं। डॉ० हरमन जेकोबी ने भ्रांतिवश इनका स्रोत ब्राह्मण-संस्कृति को माना है, संभव है उन्होंने बोधायन के आधार पर ऐसी कल्पना की है।

विहार और धर्म प्रचार

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ कहाँ-कहाँ विचर और किस वर्ष किस नगर में चातुर्मास किया, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी सामान्य रूप से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर समझा जाता है कि महावीर की तरह भगवान् पार्श्वनाथ का भी सुदूर प्रदेशों में विहार एवं धर्म प्रचार हुआ हो। काशी-कोशल से नेपाल तक प्रभु का विहार-क्षेत्र रहा है। भक्त, राजा और उनकी कथाओं से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, काशी, कोशल, अवन्ति, पौण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, वत्स और आभीर आदि विभिन्न क्षेत्रों में विहार किया।

दक्षिण कर्णाटक, कोंकण, पल्लव और द्रविड़ आदि उस समय अनार्य क्षेत्र माने जाते थे। शाक भी अनार्य देश था परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ व उनकी निकट परम्परा के श्रमण वहाँ पहुंचे थे। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है, वहाँ भी पार्श्व के अनुयायी थे।[2] महात्मा बुद्ध के काका स्वयं भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावक थे, जो शाक्य देश में भगवान् का विहार होने से ही संभव हो सकता

---

१ "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" धर्मानन्द कौशाम्बी, पृ० १७-१८

२ सकलकीर्ति, पार्श्वनाथ चरित्र २३, १८-१९/१५/७६-८५

है। सिकन्दर महान् और चीनी यात्री फाहियान, ह्वेनत्सांग के समय में उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त एवं अफगानिस्तान में विशाल संख्या में जैन मुनियों के पाये जाने का उल्लेख मिलता है, वह तभी संभव हो सकता है, जबकि वह क्षेत्र भगवान् पार्श्वनाथ का विहारस्थल माना जाय।[1]

सात सौ ई० में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने तथा उसके भी पूर्व सिकन्दर ने मध्य एशिया के "कियारिशि" नगर में बहुसंख्यक निर्ग्रन्थ संतों को देखा था। अतः यह अनुमान से सिद्ध होता है कि मध्य एशिया के समरकन्द, बल्ख आदि नगरों में जैन धर्म उस समय प्रचलित था। आधुनिक खोज से यह प्रमाणित हो चुका है कि पार्श्वनाथ के धर्म का उपदेश सम्पूर्ण आर्यावर्त में व्याप्त था। पार्श्वनाथ एक बार ताम्रलिप्ति से चलकर कोपकटक पहुंचे थे और उनके वहां आहार ग्रहण करने से वह धन्यकटक कहलाने लगा। आजकल वह "कोपारि" कहा जाता है। इन प्रदेशों में भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता आज भी बनी हुई है। बिहार के रांची और मानभूमि आदि जिलों में हजारों मनुष्य आज भी केवल पार्श्वनाथ की उपासना करते हैं और उन्हीं को अपना इष्टदेव मानते हैं। वे आज सराक (श्रावक) कहलाते हैं।

लगभग सत्तर (७०) वर्ष तक भगवान् पार्श्वनाथ ने देश-देशान्तर में विचरण किया और जैन धर्म का प्रचार किया।

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे, यह आज ऐतिहासिक तथ्यों से असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुका है। जैन साहित्य ही नहीं, बौद्ध साहित्य से भी भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित है।

बौद्ध साहित्य के उल्लेखों के आधार पर बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए डॉ० जेकोबी ने लिखा है—"यदि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय एक से ही प्राचीन होते, जैसा कि बुद्ध और महावीर की समकालीनता तथा इन दोनों को इन दोनों संप्रदायों का संस्थापक मानने से अनुमान किया जाता है, तो हमें आशा करनी चाहिये कि दोनों ने ही अपने अपने साहित्य में अपने प्रतिद्वन्द्वी का अवश्य ही निर्देश किया होता, किन्तु बात ऐसी नहीं है। बौद्धों ने तो अपने साहित्य में, यहां तक कि त्रिपटकों में भी, निर्ग्रंथों का बहुतायत से उल्लेख किया है पर जैनों के आगमों में बौद्धों का कहीं उल्लेख नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध, निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थों की धारणा इसके विपरीत थी और वे अपने प्रतिद्वन्द्वी

१ पार्श्वनाथ चरित्र सर्ग १५-७६-८५

की उपेक्षा तक करते थे। इससे हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित संप्रदाय नहीं था। यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है।[१]

मज्झिम निकाय के महासिंहनाद सूत्र में बुद्ध ने अपनी कठोर तपस्या का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं :—'(१) तपस्विता, (२) रूक्षता, (३) जुगुप्सा और (४) प्रविविक्तता। इनका अर्थ है तपस्या करना, स्नान नहीं करना, जल की बूंद पर भी दया करना और एकान्त स्थान में रहना। ये चारों तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के होते थे। स्वयं भगवान् महावीर ने इनका पालन किया था और अन्य निर्ग्रन्थों के लिये इनका पालन आवश्यक था।

बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय में अजातशत्रु द्वारा भगवान् महावीर और उनके शिष्यों को चातुर्याम-युक्त कहलाया है। यथा :—

"भंते ! मैं निगन्ठ नातपुत्र के पास भी गया और उनसे श्रामण्यफल के विषय में पूछा। उन्होंने चातुर्याम संवरद्वार बतलाया और कहा, निगण्ठ चार संवरों से युक्त होता है, यथा :—(१) वह जल का व्यवहार वर्जन करता है जिससे कि जल के जीव न मरें, (२) सभी पापों का वर्जन करता है, (३) पापों के वर्जन से धुत-पाप होता है और (४) सभी पापों के वर्जन से लाभ रहता है।"

पर जैन साहित्य की दृष्टि से यह पूर्णतया सिद्ध है कि भगवान् महावीर की परम्परा पंचमहाव्रत रूप रही है, फिर भी उसे चातुर्याम रूप से कहना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्धभिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित रहे हैं और उन्होंने महावीर के धर्म को भी उसी रूप में देखा है। हो सकता है बुद्ध और उनके अनुयायी विद्वानों को, श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा में जो आन्तरिक परिवर्तन हुआ, उसका पता न चला हो। बुद्ध के पूर्व की यह चातुर्याम परम्परा भगवान् पार्श्वनाथ की ही देन थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि बुद्ध पार्श्वनाथ के धर्म से परिचित थे।[२]

बौद्ध वाङ्मय के प्रकांड पंडित धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है[३] :— निर्ग्रन्थों के श्रावक 'बप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थों का चातुर्याम धर्म शाक्य देश में प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि उस देश में निर्ग्रन्थों का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ

---

१ इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० १६०।

२ मज्झिम निकाय महासिंहनाद सुत्त, ह० ४८-५०।

३ चातुर्याम (धर्मानन्द कौशाम्बी)

श्रमण बीच-बीच में शाक्य देश में जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे। शाक्यों में आलारकालाम के श्रावक अधिक थे, क्योंकि उनका आश्रम कपिलवस्तु नगर में ही था। आलार के समाधिमार्ग का अध्ययन गौतम बोधिसत्त्व ने बचपन में ही किया। फिर गृहत्याग करने पर वे प्रथमतः आलार के ही आश्रम में गये और उन्होंने योगमार्ग का आगे अध्ययन प्रारम्भ किया। आलार ने उन्हें समाधि की सात सीढ़ियां सिखाई। फिर वे उद्रक रामपुत्र के पास गये और उससे समाधि की आठवीं सीढ़ी सीखी, परन्तु इतने ही से उन्हें संतोष नहीं हुआ, क्योंकि उस समाधि से मानव-मानव के बीच होने वाले विवाद का अन्त होना संभव नहीं था। तब बोधिसत्त्व "उद्रक रामपुत्र" का आश्रम छोड़कर राजगृह चले गये। वहाँ के श्रमण-सम्प्रदाय में उन्हें शायद निर्ग्रन्थों का चातुर्याम-संवर ही विशेष पसंद आया, क्योंकि आगे चलकर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रवर्त्तन किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

भ० पार्श्वनाथ का धर्म-परिवार

पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण	—शुभदत्त आदि आठ गणधर और आठ ही गण
केवली	—एक हजार [१,०००]
मनःपर्यवज्ञानी	—साढ़े सात सौ [७५०]
अवधिज्ञानी	—एक हजार चार सौ [१,४००]
चौदह पूर्वधारी	—साढे तीन सौ [३५०]
वादी	—छह सौ [६००]
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—एक हजार दो सौ [१,२००]
साधु	—आर्यदिन्न आदि सोलह हजार [१६,०००]
साध्वी	—पुष्पचूला आदि अड़तीस हजार [३८,०००]
श्रावक	—सुनन्द आदि एक लाख चौसठ हजार [१,६४,०००]
श्राविका	—नन्दिनी आदि तीन लाख सत्ताईस हजार [३,२७,०००][1]

---

१ कल्पसूत्र.......सूत्र १५७। (ख) ३ लाख ७७ हजार श्राविका [त्रि.श.पु.च. ९।४।३१५]

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में एक हजार साधुओं और दो हजार साध्वियों ने सिद्धिलाभ किया। यह तो मात्र व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त करोड़ों नर-नारी सम्यग्दृष्टि वनकर प्रभु के भक्त वने।

परिनिर्वाण

कुछ कम सत्तर वर्ष तक केवलचर्या से विचर कर जब भगवान् पार्श्वनाथ ने अपना आयुकाल निकट समझा, तब वे वाराणसी से आमलकप्पा होकर सम्मेतशिखर पधारे और तेतीस साधुओं के साथ एक मास का अनशन कर उन्होंने शुक्लध्यान के तृतीय और चतुर्थ चरण का आरोहण किया। फिर प्रभु ने श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग होने पर योग-मुद्रा में खड़े ध्यानस्थ आसन से वेदनीय आदि कर्मों का क्षय किया और वे सिद्ध-बुद्ध-मक्त हुए।

श्रमण-परम्परा और पार्श्व

श्रमण-परम्परा भारतवर्ष की वहुत प्राचीन धार्मिक परम्परा है। मन और इन्द्रिय से तप करने वाले श्रमण कहलाते हैं। जैन आगमों एवं ग्रन्थों[1] में श्रमण पाँच प्रकार के वतलाये हैं, यथा—(१) निर्ग्रन्थ, (२) शाक्य, (३) तापस, (४) गेरुआ और (५) आजीवक। इनमें जैन श्रमणों को निर्ग्रन्थ श्रमण कहा गया है। सुगतशिष्य-बौद्धों को शाक्य और जटाधारी वनवासी पाखंडियों को तापस कहा गया है। गेरुए वस्त्र वाले त्रिदण्डी को गेरुक या परिव्राजक तथा गोशालकमती को आजीवक कहा गया है। ये पाँचों श्रमण रूप से लोक में प्रसिद्ध हुए हैं।

श्रमण परम्परा की नींव ऋषभदेव के समय में ही डाली गई थी, जिसका कि श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में भी उल्लेख है।[2] वृहदारण्यक उपनिषद् एवं वाल्मीकि रामायण में भी[3] श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। त्रिपिटक साहित्य में भी "निर्ग्रन्थ" शब्द का स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। डॉ० हरमन जेकोबी ने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि बुद्ध के पूर्व निर्ग्रन्थ

---

१ निग्गंथा, सक्क, तावस, गेरुय, आजीव पंचहा समरणा।
तम्मिय निग्गंथा ते, जे जिरणसासरणभवा मुरिणरणो ॥३८॥
सक्काय सुगय सिस्सा, जे जडिला ते उ तावसा गीता।
जे धाउरत्तवत्था, तिदंडिरणो गेरुया तेज ॥३६॥
जे गोसालकमयमणुसरंति भन्नंति तेउ आजीवा।
समरणत्तरणेरण भुवरणे, पंच वि पत्ता पसिद्धिमिमे ॥४०॥ [प्रवचन सारोद्धार, द्वार ९४]

2 The Sacred book of the East Vol. XXII, Introduction page 24. Jecoby.

३ वालकाण्ड, सर्ग १४, श्लोक २२।

सम्प्रदाय विद्यमान था। "अंगुत्तर निकाय" में "वप्प" नाम के शाक्य को निर्ग्रन्थ श्रावक बतलाया है, जो कि महात्मा बुद्ध का चाचा था। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध से पहले या उसके बाल्यकाल में शाक्य देश में निर्ग्रन्थ धर्म का प्रचार था। भगवान् महावीर बुद्ध के समकालीन थे। उनको निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवर्तक मानना युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः यह प्रमाणित होता है कि इनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ही श्रमण परम्परा के प्रवर्तक थे।

उपर्युक्त आधार से आधुनिक इतिहासकार पार्श्वनाथ को निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक मानते हैं। वास्तव में निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवर्तन पार्श्वनाथ से भी पहले का है। पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रवर्तक मानने का प्रतिवाद करते हुए डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है :—

"यह प्रमाणित करने के लिए कोई आधार नहीं है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर (आदि-संस्थापक) मानने में सर्वसम्मति से एकमत है। इस पुष्ट परम्परा में कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है, जो उन्हें (ऋषभ को) प्रथम तीर्थंकर मान्य करती है।"[1]

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैन धर्म का अस्तित्व वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से बहुत पहले भी था।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव

भगवान् पार्श्वनाथ की वाणी में करुणा, मधुरता और शान्ति की त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित होती थी। परिणामतः जन-जन के मन पर उनकी वाणी का मंगलकारी प्रभाव पड़ा, जिससे हजारों ही नहीं, लाखों लोग उनके अनन्य भक्त बन गये।

पार्श्वनाथ के कार्यकाल में तापस परम्परा का प्राबल्य था। लोग तप के नाम पर जो अज्ञान-कष्ट चला रहे थे, प्रभु के उपदेश से उसका प्रभाव कम पड़ गया। अधिक संख्या में लोगों ने आपके विवेकयुक्त तप से नवप्रेरणा प्राप्त की। आपके ज्ञान-वैराग्यपूर्ण उपदेश से तप का सही रूप निखर आया।

'पिप्पलाद' जो उस समय का एक मान्य वैदिक ऋषि था, उसके उपदेशों पर भी आपके उपदेश की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से झलकती है।[3] उसका कहना

1 Indian Antigwary, Vol. IX, page 163 :
But there is nothing to prove that Parsva was a founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabh, the first Tirthankara, as the founder. There may be some Historical tradition, which makes him the first Tirthankara.

2 Indian Philosophy, Vol. I, Page 281. Radhakrishnan.

3 Cambridge History of India, part I, page 180.

था कि प्राण या चेतना जब शरीर से पृथक् हो जाती है, तब वह शरीर नष्ट हो जाता है। वह निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के, 'पुद्गलमय शरीर से जीव के पृथक् होने पर विघटन' इस सिद्धान्त की अनुकृति है। 'पिप्पलाद' की नवीन दृष्टि से निकले हुए ईश्वरवाद से प्रमाणित होता है कि उनकी विचारधारा पर पार्श्व का स्पष्ट प्रभाव है।

प्रख्यात ब्राह्मण ऋषि 'भारद्वाज', जिनका अस्तित्व बौद्ध धर्म से पूर्व है, पार्श्वनाथ-काल में एक स्वतन्त्र मुण्डक संप्रदाय के नेता थे।[१] बौद्धों के अंगुत्तर निकाय में उनके मत की गणना मुण्डक श्रावक के नाम से की गई है।[२] जैन 'राजवार्त्तिक' ग्रन्थ में उन्हें क्रियावादी आस्तिक के रूप में बताया गया है।[३] मुण्डक मत के लोग वन में रहने वाले, पशु-यज्ञ करने वाले तापसों तथा गृहस्थ-विप्रों से अपने आपको पृथक् दिखाने के लिए सिर मुंडा कर भिक्षावृत्ति से अपना उदर-पोषण करते थे, किन्तु वेद से उनका विरोध नहीं था।[४] उनके इस मत पर पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का प्रभाव दिखाई देता है। यही कारण है कि एक विद्वान् ने उसकी परिगणना जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत की है, पर उनकी जैन सम्प्रदाय में परिगणना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती।

नचिकेता, जो कि उपनिषद्कालीन एक वैदिक ऋषि थे, उनके विचारों पर भी पार्श्वनाथ की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। वे भारद्वाज के समकालीन थे तथा ज्ञान-यज्ञ को मानते थे। उनकी मान्यता के मुख्य अंग थे :—इन्द्रिय-निग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्मा के अनीश्वर स्वरूप का चिन्तन तथा शरीर और आत्मा का पृथक् बोध। इसी तरह प्रबुद्ध कात्यायन, जो कि महात्मा बुद्ध से पूर्व हुए थे तथा जाति से ब्राह्मण थे, उनकी विचारधारा पर भी पार्श्व के मन्तव्यों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे शीत जल में जीव मान कर उसके उपयोग को धर्मविरुद्ध मानते थे, जो पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा से प्राप्त है। उनकी कुछ अन्य मान्यताएँ भी पार्श्वनाथ की मान्यताओं से मेल खाती हैं।

'अजितकेशकम्बल' भी पार्श्व-प्रभाव से अछूते दिखाई नहीं देते। यद्यपि उन्होंने पार्श्व के सिद्धान्त को विकृत रूप से प्रकट किया था, फिर भी वे वैदिक क्रियाकाण्ड के कट्टर विरोधी थे।

भारत की तो बात ही क्या, इससे बाहर के देशों पर भी पार्श्व के प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। ई. पू. ५८० में उत्पन्न यूनानी दार्शनिक

---

1 Bilongs of the Boudha, Part II, page 22.

२ वातरशनाह्वा…………

३ धर्मान्दर्शयितुकामो…………

४ बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।२२

पाइथोगोरस, जो स्वयं महावीर और बुद्ध के समकालीन थे, जीवात्मा के पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इतना ही नहीं मांसप्रेमी जातियों को भी वे सभी प्रकार की हिंसा तथा मांसाहार से विरत रहने का उपदेश देते थे। यहाँ तक कि कतिपय वनस्पतियों को भी वे धार्मिक दृष्टि से अभक्ष्य मानते थे। वे पूर्वजन्म के वृत्तान्त को भी स्मृति से बताने का दावा करते थे और आत्मा की तुलना में देह को हेय और नश्वर समझते थे।

उपर्युक्त विचारों का बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से कोई सादृश्य नहीं, जबकि जैन धर्म के साथ उनका अद्‌भुत सादृश्य है। ये मान्यताएँ उस काल में प्रचलित थीं, जबकि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मों का प्रचलन प्रारम्भ ही कर रहे थे। अत: पाइथोगोरस आदि दार्शनिक पार्श्वनाथ के उपदेशों से किसी न किसी तरह प्रभावित रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

बुद्ध पर पार्श्व-मत का प्रभाव

बुद्ध के जीवन-दर्शन से यह बात साफ झलकती है कि उन पर भगवान् पार्श्व के आचार-विचार का गहरा प्रभाव पड़ा था। शाक्य देश, जो कि नेपाल की उपत्यका में है और जहाँ कि बुद्ध का जन्म हुआ था, वहाँ पार्श्वानुयायी संतों का आना-जाना बना रहता था। और तो क्या, उनके राजघराने पर भी पार्श्व-की वाणी का स्पष्ट प्रभाव था। बुद्ध के चाचा भी पार्श्व-मतावलम्बी थे। इन सबसे सिद्ध होता है कि बचपन में बुद्ध के कोमल अन्त:करण में संसार की असारता एवं त्याग-वैराग्य के जो अंकुर जमे, उनके बीज भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

गृह-त्याग के पश्चात् बुद्ध की चर्या पर जब दृष्टिपात करते हैं तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे ज्ञानार्जन के लिए विभिन्न स्थानों पर घूमते रहे, किन्तु उन्हें आत्मबोध या सच्ची शान्ति कहीं प्राप्त नहीं हुई। जब वे उद्रक-राम पुत्र का आश्रम छोड़ कर राजगृह आए तो वहाँ के निर्ग्रन्थ श्रमण सम्प्रदाय में उन्हें निर्ग्रन्थों का चातुर्याम संवर अत्यधिक पसन्द आया। क्योंकि आगे चल कर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का आविष्कार किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।[1]

आगे चल कर केवल चार यामों से ही काम चलने वाला नहीं, ऐसा जान कर उन्होंने उसमें समाधि एवं प्रज्ञा को भी जोड़ दिया। शीलस्कन्ध बुद्ध धर्म की नींव है। शील के बिना अध्यात्म-मार्ग में प्रगति पाना असम्भव है। पार्श्वनाथ

१ "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" पृ० २८।

के चातुर्याम का सन्निवेश शीलस्कन्ध में किया गया है और उस ही की रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए समाधित-प्रज्ञा की आवश्यकता है।[1]

आकंखेय सुत्त (मज्झिम निकाय) पढ़ने से पता चलता है कि बुद्ध ने शील को कितना महत्त्व दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चारों यामों को पूर्णतया स्वीकार किया था। उन्होंने उन यामों में आलारकलाम की समाधि और अपनी खोजी हुई चार आर्य-सत्यरूपी प्रज्ञा को जोड़ दिया और उन यामों को तपश्चर्या एवं आत्मवाद से पृथक् कर दिया।

बुद्ध ने तपश्चर्या का त्याग कर दिया, जो कि उन दिनों साधु वर्ग में अत्यधिक प्रचलित थी, अतः लोग उन्हें और उनके शिष्यों को विलासी (मौजी) कहते थे। इस सम्बन्ध में 'दीर्घनिकाय' के पासादिक सुत्त में भगवान् बुद्ध चुन्द से कहते हैं—"अपन सब पर तपश्चर्या की कमी से आक्षेप रूप में आने वाले मौजों के बारे में तुम आक्षेप करने वाले लोगों से कहना—"हिंसा, स्तेय, असत्य और भोगोपभोग (काम सुखल्लिकानुयोग)—ये चार मौजें हीन-गंवार, पृथक्-जन-सेवित, अनार्य एवं अनर्थकारी हैं[2]—अर्थात् इनके विपरीत चतुर्याम पालन ही सच्ची तपस्या है और हम सब इस आर्य-सिद्धान्त को अच्छी तरह समझते और पालते हैं।"

कहा जाता है कि बुद्ध के न सिर्फ विचारों पर ही जैन धर्म की छाप पड़ी थी बल्कि संन्यास धारण के बाद छः वर्षों तक जैन श्रमण के रूप में उन्होंने जीवन व्यतीत किया था।[3]

'दर्शनसार' के रचनाकार आचार्य देवसेन ने अपनी इस कृति में लिखा है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर में पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो बहुश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था। परन्तु मछलियों का आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की—"फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान माँस में भी जीव नहीं है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने में कोई पाप नहीं है। जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या बहने वाला पदार्थ है, उसी प्रकार शराब है, वह त्याज्य नहीं है।" इस प्रकार की घोषणा से उसने संसार में पाप-कर्म की परिपाटी चलाई। एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता

१ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३०।

२ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३१।

३ जैन सूत्र (एस.बी.ई.), भाग १, पृ० ३९।४१ और रत्नकरण्डक श्रावकाचार १।१०

है, ऐसे सिद्धान्त की कल्पना कर लोगों को अपना अनुयायी वना कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ ।[1]

पार्श्वभक्त राजन्यवर्ग

पार्श्वनाथ की वाणी का ऐसा प्रभाव था कि उससे वड़े-वड़े राजा महाराजा भी प्रभावित हुए विना नहीं रह सके । व्रात्य क्षत्रिय सव जैन धर्म के ही उपासक थे । पार्श्वनाथ के समय में कई ऐसे राज्य थे, जिनमें पार्श्वनाथ ही इष्टदेव माने जाते थे ।

डॉ० ज्योति प्रसाद के अनुसार उनके समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में अनेक प्रवल नाग-सत्ताएँ राजतन्त्रों अथवा गणतन्त्रों के रूप में उदित हो चुकी थीं और उन लोगों के इष्टदेव पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं । उनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशों के अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी पार्श्व के उपासक थे । लिच्छवी आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय धर्म था । कलिंग के शक्तिशाली राजा "करकंडु" जो कि एक ऐतिहासिक नरेश थे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही तीर्थ में उत्पन्न हुए थे और उस युग के उनके उपासक आदर्श नरेश थे । राजपाट का त्याग कर जैन मुनि के रूप में उन्होंने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की, ऐसा उल्लेख है । इनके अतिरिक्त पांचाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् या नागाति भी तीर्थंकर पार्श्व के समसामयिक नरेश थे ।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य ज्योतिर्मण्डल में

निरयावलिका सूत्र के पुष्पिता नामक तृतीय वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय

---

१ सिरि पासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलास णयरत्थो ।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुवो बुड्ढकित्तिमुणी ।।६।।
तिमिपूरणासणेहिं अहिगय पवज्जाओ परिब्भट्ठो ।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयं तं ।।७।।
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय, दुद्ध, सक्करए ।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ।।८।।
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तहा एदं ।
इदिलोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ।।९।।
अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धंतं ।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ।।१०।। दर्शनसार ।

२ भारतीय इतिहास में जैन धर्म का योगदान ।

अध्ययनों में क्रमशः ज्योतिषियों के इन्द्र, चन्द्र और सूर्य का तथा तृतीय अध्ययन में शुक्र महाग्रह का वर्णन है, जो इस प्रकार है :—

एक समय जब भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशिलक नामक उद्यान में पधारे हुए थे, उस समय ज्योतिष्चक्र का इन्द्र 'चन्द्र' भी प्रभुदर्शन के लिए समवसरण में उपस्थित हुआ। प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् उसने प्रभु-भक्ति से आनन्दविभोर हो जिन-शासन की प्रभावना हेतु समवसरण में उपस्थित चतुर्विध-संघ एवं अपार जनसमूह के समक्ष अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव-देवी समूहों को प्रकट कर बड़े मनोहारी, अत्यन्त सुन्दर एवं अत्यद्भुत अनेक दृश्य प्रस्तुत किये। अलौकिक नटराज के रूप में चन्द्र द्वारा प्रदर्शित आश्चर्य-जनक दृश्यों को देख कर परिषद् चकित हो गई।

चन्द्र के अपने स्थान को लौट जाने के अनन्तर गौतम गणधर ने प्रभु से पूछा—"भगवन्! ये चन्द्रदेव पूर्वजन्म में कौन थे? इस प्रकार की ऋद्धि इन्हें किस कारण मिली है?"

भगवान् महावीर ने फरमाया—"पूर्वकाल में श्रावस्ती नगरी का निवासी अंगति नाम का एक सुसमृद्ध, उदार, यशस्वी-राज्य-प्रजा एवं समाज द्वारा सम्मानित गाथापति था।"

"किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में शुभागमन हुआ। विशाल जनसमूह के साथ अंगति गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में पहुँचा और प्रभु के उपदेशामृत से आप्यायित एवं संसार से विरक्त हो प्रभु की चरणशरण में श्रमण बन गया।"

"अंगति अणगार ने स्थविरों के पास एकादश अंगों का अध्ययन कर कठोर तपश्चरण किया। उसने अनेक चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, मासार्द्ध एवं मासक्षमण आदि उग्र तपस्याओं से अपनी आत्मा को भावित किया।"

"संयम के मूल गुणों का उसने पूर्ण रूपेण पालन किया पर कभी बयालीस दोषों में से किसी दोषसहित आहार-पानी का ग्रहण कर लेना, ईर्या आदि समितियों की आराधना में कभी प्रमाद कर बैठना, अभिग्रह ग्रहण कर लेने पर उसका पूर्ण रूप से पालन न करना, शरीर चरण आदि का बार-बार प्रक्षालन करना इत्यादि संयम के उत्तर गुणों की विराधना के कारण अंगति अणगार विराधित-चरित्र वाला बन गया।"

"उसने संयम के उत्तर गुणों के अतिचारों की आलोचना नहीं की और अन्त में पन्द्रह दिन के संथारे से आयु पूर्ण होने पर वह अंगति अणगार

ज्योतिषियों का इन्द्र अर्थात् एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की स्थिति वाला चन्द्रदेव बना। तप और संयम से प्रभाव से उन्हें यह ऋद्धि मिली है।"

गणधर गौतम ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन्! अपनी देव-आयु पूर्ण होने पर चन्द्र कहाँ जायेंगे?"

भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम! यह चन्द्रदेव आयुष्यपूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होगा।"

इसी प्रकार उपर्युक्त सूत्र के द्वितीय अध्ययन में ज्योतिर्मण्डल के इन्द्र सूर्य और उनके पूर्वभव का वर्णन किया गया है कि राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य में भगवान् महावीर के पधारने पर सूर्य भी प्रभु के समवसरण में उपस्थित हुआ।

चन्द्र की तरह सूर्य ने भी प्रभु-वन्दन के पश्चात् परिषद् के समक्ष वैक्रिय-शक्ति के अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किये और अपने स्थान को लौट गया।

गौतम गणधर द्वारा सूर्य के पूर्वभव का वृत्तान्त पूछने पर भगवान् महावीर ने फरमाया कि श्रावस्ती नगरी का सुप्रतिष्ठ नामक गाथापति भी अंगति गाथापति के ही समान समृद्धिशाली, उदार, राज्य तथा प्रजा द्वारा सम्मानित एवं कीर्तिशाली था।

सुप्रतिष्ठ गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावस्ती-आगमन पर धर्म-देशना सुनने गया और संसार से विरक्त हो प्रभु-चरणों में दीक्षित हो गया। उसने भी अंगति की ही तरह उग्र तपस्याएँ की, संयम के मूल गुणों का पूर्णरूपेण पालन किया, संयम के उत्तरगुणों की विराधना की और अन्त में वह संयम के अतिचारों की आलोचना किये बिना ही संलेखनापूर्वक काल कर सूर्य-देव बना।

देवायुष्य पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म ग्रहण कर तप-संयम की साधना से सिद्धि प्राप्त करेगा।

श्रमणोपासक सोमिल

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के तीसरे अध्ययन में शुक्र महाग्रह का निम्नलिखित कथानक दिया हुआ है—

"श्रमण भगवान् महावीर एक बार राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान में पधारे। प्रभु के आगमन की सूचना पाकर नर-नारियों का विशाल समूह बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् के समवसरण में पहुँचा।

उस समय शुक्र भी वहाँ आया और भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् उसने अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव उत्पन्न कर अनेक प्रकार के आश्चर्योत्पादक दृश्यों का धर्म परिषद् के समक्ष प्रदर्शन किया। तदनन्तर प्रभु को भक्ति-भाव से वन्दन-नमन कर अपने स्थान को लौट गया।"

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में शुक्र का पूर्वभव बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"भगवान् पार्श्वनाथ के समय में वाराणसी नगरी में वेद-वेदांग का पारंगत विद्वान् सोमिल नामक ब्राह्मण रहता था।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ का वाराणसी नगरी के आम्रशाल वन में आगमन सुनकर सोमिल ब्राह्मण भी बिना छात्रों को साथ लिए उनको वन्दन करने गया। सोमिल ने पार्श्व प्रभु से अनेक प्रश्न पूछे तथा अपने सब प्रश्नों का सुन्दर एवं समुचित उत्तर पाकर वह परम सन्तुष्ट हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ से बोध पाकर श्रावक बन गया।

कालान्तर में असाधुदर्शन और मिथ्यात्व के उदय से सोमिल के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यदि वह अनेक प्रकार के उद्यान लगाये तो बड़ा श्रेयस्कर होगा। अपने विचारों को साकार बनाने के लिए सोमिल ने आम्रादि के अनेक आराम लगवाये।

कालान्तर में आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए उसके मन में तापस बनने की उत्कट भावना जगी। तदनुसार उसने अपने मित्रों और जातिबन्धुओं को अशनपानादि से सम्मानित कर उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया। तदनन्तर अनेक प्रकार के तापसों को लोहे की कड़ाहियाँ, कलछू तथा ताम्बे के पात्रों का दान कर वह दिशाप्रोक्षक तापसों के पास प्रव्रजित हो गया।

तापस होकर सोमिल ब्राह्मण छट्ठ-छट्ठ की तपस्या और दिशा-चक्रवाल से सूर्य की आतापना लेते हुए विचरने लगा।

प्रथम पारण के दिन उसने पूर्व दिशा का पोषण किया और सोम लोक-पाल की अनुमति से उसने पूर्व दिशा के कन्द-मूलादि ग्रहण किये।

फिर कुटिया पर आकर उसने क्रमशः वेदी का निर्माण, गंगा-स्नान और विधिवत् हवन किया। इस सब कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के पश्चात् सोमिल ने पारणा किया।

इसी प्रकार सोमिल ने द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पारण क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में किये।

एक रात्रि में अनित्य जागरण करते हुए उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि तापसों से पूछ कर उत्तर दिशा में महाप्रस्थान करे, काष्ठमुद्रा में मुँह बाँध कर मौनस्थ रहे और चलते-चलते जिस किसी भी जगह स्खलित हो जाय अथवा गिर जाय उस जगह से उठे नहीं, अपितु वहीं पड़ा रहे।

प्रातःकाल तापसों से पूछ कर सोमिल ने अपने संकल्प के अनुसार उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अपराह्नकाल में वह एक अशोक वृक्ष के नीचे पहुँचा। वहाँ उसने बाँस की छाब रक्खी और मज्जन एवं बलि-वैश्वदेव करके काष्ठमुद्रा से मुँह बाँधे वह मौनस्थ हो गया। अर्द्ध रात्रि के समय एक देव ने आकर उससे कहा—"सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नहीं है।"

सोमिल ने देव की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। देव ने उपर्युक्त वाक्य दो तीन बार दोहराया। पर सोमिल ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और मौन रहा। अन्त में देव वहाँ से चला गया।

सोमिल निरन्तर उत्तर दिशा की ओर आगे बढ़ता रहा और दूसरे, तीसरे व चौथे दिन के अपराह्नकाल में क्रमशः सप्तपर्ण, अशोक और वटवृक्ष के नीचे उपर्युक्त विधि से कर्मकाण्ड सम्पन्न कर एवं काष्ठमुद्रा से मुख बाँध कर प्रथम रात्रि की तरह उसने तीनों रात्रियाँ व्यतीत कीं।

तीनों ही मध्यरात्रियों में उपर्युक्त देव सोमिल के समक्ष प्रकट हुआ और उसने वही उपर्युक्त वाक्य "सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नहीं है, दुष्प्रव्रज्या है" को दो तीन बार दोहराया।

सोमिल ने हर बार देव की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और मौनस्थ रहा।

उत्तर दिशा में अग्रसर होते हुए सोमिल पाँचवें दिन की अन्तिम वेला में एक गूलर वृक्ष के नीचे पहुँचा और वहाँ अपनी कावड़ रख, वेदीनिर्माण, गंगा-मज्जन, शरक एवं अरणि से अग्निप्रज्वालन और दैनिक यज्ञ से निवृत्त होकर काष्ठमुद्रा में मुँह बाँध कर मौनस्थ हो गया।

मध्यरात्रि में फिर वही देव सोमिल के समक्ष प्रकट होकर कहने लगा—"सोमिल तुम्हारी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है।"

सोमिल फिर भी मौन रहा।

सोमिल के मौन रहने पर देव ने दूसरी बार अपनी बात दोहराई। इस बार भी सोमिल ने अपना मौन भंग नहीं किया।

देव ने तीसरी बार फिर कहा—"सोमिल ! तेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है।"

इस पर सोमिल ने अपना मौन तोड़ते हुए देव से पूछा—"देवानुप्रिय ! आप बतलाइये कि मेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या किस प्रकार है ?"

उत्तर में देव ने कहा—"सोमिल ! तुमने अर्हत् पार्श्व के समक्ष पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, इस तरह बारह व्रत वाला श्रावकधर्म स्वीकार किया था। उनका तुमने त्याग कर दिया और दिशाप्रोक्षक तापस बन गये हो। यह तुम्हारी दुष्प्रव्रज्या है। मैंने बार-बार तुम्हें समझाया, फिर भी तुम नहीं समझे।"

सोमिल ने पूछा—"देव ! मेरी सुप्रव्रज्या कैसे हो सकती है ?"

"सोमिल ! यदि तुम पूर्ववत् श्रावक के बारह व्रत धारण करो तो तुम्हारी प्रव्रज्या सुप्रव्रज्या हो सकती है।" यह कहकर देव सोमिल को नमस्कार कर तिरोहित हो गया।

तदनन्तर सोमिल देव के कथनानुसार स्वतः ही पूर्ववत् श्रावकधर्म स्वीकार कर बेला, तेला, चोला, अर्द्धमास, मास आदि की घोर तपश्चर्याओं के साथ श्रमणोपासक-पर्याय का पालन करता हुआ बहुत वर्षों तक विचरण करता रहा।

अन्त में १५ दिन की संलेखना से आत्मा को भावित करता हुआ पूर्वकृत दुष्कृत की आलोचना किये बिना आयुष्य पूर्ण कर वह शुक्र महाग्रह रूप से देव हुआ। कठोर तप और श्रमणोपासकधर्म के पालन के कारण इसे यह ऋद्धि प्राप्त हुई है।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन् ! यह शुक्रदेव आयुष्य पूर्ण होने पर कहाँ जायगा ?"

भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम ! देवायु पूर्ण होने पर यह शुक्र महाविदेह क्षेत्र में जन्म ग्रहण करेगा और वहाँ प्रव्रजित हो सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करेगा।"

यहाँ पर सोमिल का काष्ठमुद्रा से मुख बाँध कर मौन रहना विचारणीय एवं शोध का विषय है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में कहीं भी मुख बाँधने का विधान उपलब्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में निरयावलिका में सोमिल द्वारा काष्ठमुद्रा से मुँह बाँधना प्रमाणित करता है कि प्राचीन समय में जैनेतर

धार्मिक परम्पराओं में काष्ठमुद्रा से मुख बाँधने की परम्परा थी और पार्श्वनाथ के समय में जैन परम्परा में भी मुखवस्त्रिका बाँधने की परम्परा थी। अन्यथा देव सोमिल को काष्ठमुद्रा का परित्याग करने का परामर्श अवश्य देता।

जहाँ तक हमारा अनुमान है, जैन साधु की मुखवस्त्रिका का तापस सम्प्रदाय पर भी अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। काष्ठमुद्रा से मुँह बाँधने वाली परम्परा का परिचय देते हुए राजशेखर ने षड्दर्शन प्रकरण में कहा है—

वीटेति भारते ख्याता, दारवी मुखवस्त्रिका।
दयानिमित्तं भूतानां मुखनिश्वासरोधिका॥
घ्राणादनुप्रयातेन, श्वासेनैकेन जन्तवः।
हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिना॥ श्लो.

ऐतिहासिक तथ्य की गवेषणा करने वाले विद्वानों को इस पर तटस्थ दृष्टि से गम्भीर विचार कर तथ्य प्रस्तुत करना चाहिए। इसके साथ ही जो मुख-वस्त्रिका को अर्वाचीन और शास्त्र के पन्नों की थूंक से रक्षा के लिए ही मानते हैं, उन विद्वानों को तटस्थता से इस पर पुनर्विचार करना चाहिये।

बहुपुत्रिका देवी के रूप में पार्श्वनाथ की आर्या

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के चतुर्थ अध्याय में बहुपुत्रिका देवी के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है—

एक समय राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान में भगवान् महावीर के पधारने पर विशाल जनसमुदाय प्रभु के दर्शन व वन्दन को गया। उस समय सौधर्मकल्प की ऋद्धिशालिनी बहुपुत्रिका देवी भी भगवान् को वन्दन करने हेतु समवसरण में उपस्थित हुई। देशनाश्रमण एवं प्रभुवन्दन के पश्चात् उस देवी ने अपनी दाहिनी भुजा फैला कर १०८ देवकुमारों और बांईं भुजा से १०८ देवकुमारियों तथा अनेक छोटी-बड़ी उम्र के पोगण्ड एवं वयस्क अगणित बच्चे-बच्चियों को प्रकट कर बड़ी ही अद्भुत तथा मनोरंजक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गई।

गौतम गणधर ने भगवान् महावीर स्वामी से साश्चर्य पूछा—"भगवन्! यह बहुपुत्रिका देवी पूर्वभव में कौन थी और इसने इस प्रकार की अद्भुत ऋद्धि किस प्रकार प्राप्त की है?"

भगवान् ने कहा—"पूर्व समय की बात है कि वाराणसी नगरी में भद्र नामक एक अतिसमृद्ध सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी सुभद्रा बड़ी सुन्दर और सुकुमार थी। अपने पति के साथ दाम्पत्य जीवन के सभी प्रकार के भोगों

का उपभोग करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सुभद्रा ने एक भी संतान को जन्म नहीं दिया क्योंकि वह वन्ध्या थी।

संतति के अभाव में अपने आपको बड़ी अभागिन, अपने स्त्रीत्व और स्त्री-जीवन को निन्दनीय, अकिंचन और विडम्बनापूर्ण मानती हुई वह विचारने लगी कि वे माताएँ धन्य हैं, उन्हीं स्त्रियों का स्त्री-जीवन सफल और सारभूत है, जिनकी कुक्षि से उत्पन्न हुए कुसुम से कोमल बच्चे कर्णप्रिय 'माँ' के मधुर सम्बोधन से सम्बोधित करते हुए, संततिवात्सल्य के कारण दूध से भरे माताओं के स्तनों से दुग्धपान करते हुए, गोद, आँगन और घर भर को अपनी मनोमुग्ध-कारिणी बालकेलियों से सुशोभित और अपनी माताओं एवं परिजनों को हर्ष-विभोर कर देते हैं।

इस तरह सुभद्रा गाथापत्नी अपनी वन्ध्यत्व से अत्यन्त दुखित हो रात-दिन चिन्ता में घुलने लगी।

एक दिन भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्या आर्या सुव्रता की आर्याओं का एक संघाटक वाराणसी के विभिन्न कुलों में मधुकरी करता हुआ सुभद्रा के घर पहुँचा। सुभद्रा ने बड़े सम्मान के साथ उन साध्वियों का सत्कार करते हुए उन्हें अपनी सन्ततिविहीनता का दुखड़ा सुना कर उनसे सन्तान उत्पन्न होने का उपाय पूछा।

आर्या ने उत्तर में कहा—"देवानुप्रिये ! हम श्रमणियों के लिए इस प्रकार का उपाय बताना तो दूर रहा, ऐसी बात सुनना भी वर्जित है। हम तो तुम्हें सर्व-दुखनाशक वीतरागधर्म का उपदेश सुना सकती हैं। सुभद्रा द्वारा धर्मश्रवण की रुचि प्रकट किये जाने पर आर्या ने उसे सांसारिक भोगोपभोगों की विडम्बना बताते हुए वीतराग द्वारा प्ररूपित त्यागमार्ग का महत्त्व समझाया।

आर्याओं के मुख से धर्मोपदेश सुन कर सुभद्रा ने संतोष एवं प्रसन्नता का अनुभव करते हुए श्राविकाधर्म स्वीकार्य किया और अन्ततोगत्वा कालान्तर में संसार से विरक्त हो अपने पति की आज्ञा प्राप्त कर वह आर्या सुव्रता के पास प्रव्रजित हो गई

साध्वी बनने के पश्चात् आर्या सुभद्रा कालान्तर में लोगों के बालकों को देख कर मोहोदय से उन्हें बड़े प्यार और दुलार के साथ खिलाने लगी। वह उन बालकों के लिए अंजन, विलेपन, खिलौने, प्रसाधन एवं खिलाने-पिलाने की सामग्री लाती, स्नान-मंजन, अंजन, बिंदी, प्रसाधन आदि से उन बच्चों को सजाती, मोदक आदि खिलाती और उन बाल-क्रीड़ाओं को बड़े प्यार से देख कर अपने आपको पुत्र-पौत्रवती समझती हुई अपनी संततिलिप्सा को शान्त करने का प्रयास करती।

आर्या सुव्रता ने यह सब देख कर उसके इस आचरण को साधुधर्म के विरुद्ध बताते हुए उसे ऐसा न करने का आदेश दिया पर सुभद्रा अपने उस असाधु आचरण से बाज न आई। सुव्रता द्वारा और अधिक कहे जाने पर सुभद्रा अलग उपाश्रय में चली गई। वहाँ निरंकुश हो जाने के कारण वह पासत्था, पासत्थ-विहारिणी, उसन्ना, उसन्नविहारिणी, कुशीला, कुशील-विहारिणी, संसत्ता, संसत्त-विहारिणी एवं स्वच्छन्दा, स्वच्छन्दविहारिणी बन गई।

इस प्रकार शिथिलाचारपूर्वक श्रामण्यपर्याय का बहुत वर्षों तक पालन करने के पश्चात् अंत में आर्या सुभद्रा मासार्द्ध की संलेखना से बिना आलोचना किये ही आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म कल्प में बहुपुत्रिका देवी रूप से उत्पन्न हुई।"

गौतम ने प्रश्न किया—"भगवन्! इस देवी को बहुपुत्रिका किस कारण कहा जाता है?"

भगवान् महावीर ने कहा—"यह देवी जब-जब सौधर्मेन्द्र के पास जाती है तो अपनी वैक्रियशक्ति से अनेक देवकुमारों और देवकुमारियों को उत्पन्न कर उनको साथ लिए हुए जाती है, अतः इसे बहुपुत्रिका के नाम से सम्बोधित किया जाता है।"

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन्! सौधर्म कल्प की आयुष्य पूर्ण होने के पश्चात् यह बहुपुत्रिका देवी कहाँ उत्पन्न होगी?"

भगवान् महावीर ने फरमाया—"सौधर्म कल्प से च्यवन कर यह देवी भारत के विभेल सन्निवेश में सोमा नाम की ब्राह्मण पुत्री के रूप में उत्पन्न होगी। उसका पिता अपने भानजे राष्ट्रकूट नामक युवक के साथ सोमा का विवाह करेगा। पूर्वभव की अत्युत्कट पुत्रलिप्सा के कारण सोमा प्रतिवर्ष युगल बालक-बालिका को जन्म देगी और इस प्रकार विवाह के पश्चात् सोलह वर्षों में वह बत्तीस बालक-बालिकाओं की माता बन जायगी। अपने उन बत्तीस बालक-बालिकाओं के क्रंदन, चीख-पुकार, सार-सँभाल, मल-मूत्र-वमन को साफ करने आदि कार्यों से वह इतनी तंग आ जायगी कि बालक-बालिकाओं के मल-मूत्र से सने अपने तन-बदन एवं कपड़ों तक को साफ नहीं कर पायेगी।

जहाँ वह सुभद्रा सार्थवाहिनी के भव में संतान के लिए छटपटाती रहती थी वहाँ अपने आगामी सोमा के भव में संतति से ऊब कर बंध्या स्त्रियों को धन्य और अपने आपको हतभागिनी मानेगी।

कालान्तर में सोमा सांसारिक जीवन को विडम्बनापूर्ण समझ कर सुव्रता नाम की किसी आर्या के पास प्रव्रजित हो जायगी और घोर तपस्या कर एक

मास की संलेखनापूर्वक काल कर शक्रेन्द्र के सामानिक देव रूप में उत्पन्न होगी। देवभवपूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होकर बहुपुत्रिका का जीव तप-संयम की साधना से निर्वाणपद प्राप्त करेगा।"

भगवान् पार्श्वनाथ की साध्वियाँ विशिष्ट देवियों के रूप में

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित हो समय-समय पर २१६ जराजीर्ण कुमारिकाओं ने पार्श्व प्रभु की चरणशरण ग्रहण कर प्रव्रज्या ली, इस प्रकार के वर्णन निरयावलिका और ज्ञाताधर्म कथा सूत्रों में उपलब्ध होते हैं।

उन आख्यानों से तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर, भगवान् पार्श्वनाथ की अत्यधिक लोकप्रियता और उनके नाम के साथ 'पुरुषादानीय' विशेषण प्रयुक्त किये जाने के कारणों पर काफी अच्छा प्रकाश पड़ता है, अतः उन उपाख्यानों को यहां संक्षेप में दिया जा रहा है।

निरयावलिका सूत्र के पुष्पचूलिका नामक चौथे वर्ग में श्री, ह्री, धी, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी नाम की दश देवियों के दश अध्ययन हैं।

प्रथम अध्ययन में श्रीदेवी के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है कि एक समय भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान में पधारे। उस समय सौधर्म कल्प के श्री अवतंसक विमान की महती ऋद्धिशालिनी श्रीदेवी भी भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए समवशरण में आयी।

श्रीदेवी ने अपने नाम-गोत्र का उच्चारण कर प्रभु को प्रांजलिपूर्वक आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ वन्दन कर समवशरण में अपनी उच्चकोटि की वैक्रियलब्धि द्वारा अत्यन्त मनोहारी एवं परम अद्भुत नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। तदनन्तर वह भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने देवलोक को लौट गई।

गौतम गणधर द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने श्रीदेवी का पूर्वजन्म बताते हुए फरमाया—"गौतम ! राजा जितशत्रु के राज्य-काल में सुदर्शन नामक एक समृद्ध गाथापति राजगृह नगर में निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम प्रिया और इकलौती पुत्री का नाम भूता था। कन्या भूता का विवाह नहीं हुआ और वह जराजीर्ण हो वृद्धावस्था को प्राप्त हो गई। बुढ़ापे के कारण उसके स्तन और नितम्ब शिथिल हो गये थे।

एक समय पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व राजगृह नगर में पधारे। नगरनिवासी हर्षविभोर हो प्रभुदर्शन के लिए गये। वृद्धकुमारिका भूता भी अपने माता-पिता

की आज्ञा लेकर भगवान् के समवशरण में पहुँची और पार्श्वनाथ के उपदेश को सुन कर एवं हृदयंगम करके बड़ी प्रसन्न हुई ।

उसने वन्दन के पश्चात् प्रभु से हाथ जोड़ कर कहा—"प्रभो ! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा रखती हूँ और उसके आराधन के लिए समुद्यत हूँ। अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मैं आपके पास प्रव्रजित होना चाहती हूँ ।"

प्रभु पार्श्वनाथ ने कहा—"देवानुप्रिये ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो वैसा ही करो ।"

घर लौट कर भूता कन्या ने अपने माता-पिता के समक्ष दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट कर उनसे आज्ञा प्राप्त कर ली ।

सुदर्शन गाथापति ने बड़े समारोह के साथ दीक्षा-महोत्सव आयोजित किया और एक हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली सुन्दर पालकी में भूता को बिठा कर दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाली विविध वाद्यों की ध्वनि के बीच स्वजन-परिजन सहित शहर के मध्यभाग के विस्तीर्ण राजपथ से वह गुणशील चैत्य के पास पहुँचा ।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अतिशयों को देखते ही भूता कन्या शिविका से उतरी । गाथापति सुदर्शन और उसकी पत्नी प्रिया अपनी पुत्री भूता को आगे कर प्रभु के पास पहुँचे और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन, नमस्कार के पश्चात् कहने लगे—"भगवन् ! यह भूता दारिका हमारी इकलौती पुत्री है, जो हमें अत्यन्त प्रिय है । यह संसार के जन्म-मरण के भय से उद्विग्न हो आपकी सेवा में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती है । अतः हम आपको यह शिष्यारूपी भिक्षा समर्पित करते हैं । प्रभो ! अनुग्रह कर आप इस भिक्षा को स्वीकार कीजिये ।"

भगवान् पार्श्वनाथ ने कहा—"देवानुप्रियो ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो ।"

तदनन्तर वृद्धकुमारिका भूता ने हृष्टतुष्ट हृदय से ईशान कोण में जाकर आभूषण उतारे और वह पुष्पचूला आर्या के पास प्रव्रजित हो गई ।

उसके बाद कालान्तर में वह भूता आर्या शरीरबाकुशिका (अपने शरीर की अत्यधिक सार-सम्हाल करने वाली) हो गई और अपने हाथों, पैरों, शिर, मुँह आदि को बार-बार धोती रहती । जहाँ कहीं, सोने, बैठने और स्वाध्याय आदि के लिए उपयुक्त स्थान निश्चित करती तो उस स्थान को पहले पानी से छिड़कती और फिर उस स्थान पर सोती, बैठती अथवा स्वाध्याय करती थी ।

यह देख कर आर्या पुष्पचूला ने उसे बहुतेरा समझाया कि साध्वी के लिए शरीरबाकुशिका होना उचित नहीं है, अतः इस प्रकार के आचरण के लिए वह

आलोचना करे और भविष्य में ऐसा कभी न करे, पर भूता आर्या ने पुष्पचूला की बात नहीं मानी । वह अकेली ही अलग उपाश्रय में रहने लगी और स्वतन्त्र होकर पूर्ववत् शरीरबाकुशिका ही बनी रही ।

तत्पश्चात् भूता आर्या ने अनेक चतुर्थ, षष्ठ और अष्टमभक्त आदि तप कर के अपनी आत्मा को भावित किया और संलेखनापूर्वक, अपने शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही, आयुष्य पूर्ण होने पर वह सौधर्म कल्प के श्री अवतंसक विमान में देवी हुई और इस प्रकार वह ऋद्धि उसे प्राप्त हुई ।

देवलोक में एक पल्योपम की आयुष्य भोग कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी और वहाँ वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगी ।

श्रीदेवी की ही तरह ह्री आदि ६ देवियों ने भी भगवान् महावीर के दर्शन, वन्दन हेतु समवशरण में उपस्थित हो अपनी अत्यन्त आश्चर्यजनक वैक्रियलब्धि द्वारा मनोहारी दृश्यों का प्रदर्शन किया और प्रभु को वन्दन कर क्रमशः अपने स्थान को लौट गईं ।

उन ६ देवियों के पूर्वभव सम्बन्धी गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने फरमाया कि वे ६ ही देवियाँ अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं । वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाने तक उनका विवाह नहीं हुआ, अतः वे वृद्धा-वृद्धकुमारिका, जीर्णा-जीर्णकुमारिका के विशेषणों से सम्बोधित की गई हैं । उन सभी वृद्धकुमारिकाओं ने भूता वृद्धकुमारिका की तरह भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित हो प्रवर्तिनी पुष्पचूला के पास दीक्षा ग्रहण कर अनेक प्रकार की तपस्याएँ कीं, पर शरीरबाकुशिका बन जाने के कारण संयम की विराधिकाएँ हुईं । अपनी प्रवर्तिनी पुष्पचूला द्वारा समझाने पर भी वे नहीं मानीं और स्वतन्त्र एकलविहारिणी हो गईं । अन्त समय में संलेखना कर अपने शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही मर कर सौधर्म कल्प में ऋद्धिशालिनी देवियाँ हुईं । देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर ये सब महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगी और अन्त में वहाँ निर्वाण प्राप्त करेंगी ।

इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्गों में कुल मिला कर २०६ जराजीर्णा वृद्धकुमारिकाओं द्वारा प्रभु पार्श्वनाथ के पास प्रव्रजित होने का निम्न क्रम से उल्लेख है—

प्रथम वर्ग में चमरेन्द्र की पाँच (५) अग्रमहिषियाँ ।

दूसरे वर्ग में बलीन्द्र की पाँच (५) अग्रमहिषियाँ ।

तीसरे वर्ग में नव निकाय के नौ दक्षिणेन्द्रों में से प्रत्येक की छः-छः अग्रमहिषियों के हिसाब से कुल ५४ अग्रमहिषियाँ ।

चौथे वर्ग में उत्तर के नव निकायों के उत्तरेन्द्रों की ५४ अग्रमहिषियाँ।

पाँचवें वर्ग में व्यन्तर के ३२ दक्षिणेन्द्रों की ३२ देवियाँ।

छठे वर्ग में व्यन्तर के ३२ उत्तरेन्द्रों की ३२ देवियाँ।

सातवें वर्ग में चन्द्र की ४ अग्रमहिषियाँ।

आठवें वर्ग में सूर्य की चार (४) अग्रमहिषियाँ।

नवें वर्ग में शकेन्द्र की ८ अग्रमहिषियाँ और

दशवें वर्ग में ईशानेन्द्र की आठ (८) अग्रमहिषियाँ।

प्रथम वर्ग में चमरेन्द्र की काली, राई, रयणी, विज्जू और मेघा इन ५ अग्रमहिषियों के कथानक दिये हुए हैं।

प्रथम काली देवी ने भगवान् महावीर को राजगृह नगर में विराजमान देख कर भक्तिपूर्वक सविधि वन्दन किया और फिर अपने देव-देवीगण के साथ प्रभु की सेवा में आकर सूर्याभ देव की तरह अपनी वैक्रियशक्ति से नाट्यकला का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गई।

गौतम गणधर द्वारा उसके पूर्वभव की पृच्छा करने पर प्रभु ने फरमाया—"जम्बू द्वीप के भारतवर्ष की आमलकल्पा नाम की नगरी में काल नामक गाथापति की काल श्री भार्या की कुक्षि से काली बालिका का जन्म हुआ। वह वृद्ध वय की हो जाने तक भी कुमारी ही रही, इसलिए उसे वृद्धा-वृद्धकुमारी, जुन्ना-जुन्नकुमारी कहा गया है।

आमलकल्पा नगरी में किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का शुभागमन हुआ।

भगवान् का आगमन जान कर काली भी प्रभुवन्दन के लिए समवशरण में गई और वहाँ प्रभु के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुन कर संसार से विरक्ति हो गई। उसने अपने घर लौट कर मातापिता के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और मातापिता की आज्ञा प्राप्त होने पर वह भगवान् पार्श्वनाथ के पास प्रव्रजित हो गई। स्वयं पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे पुष्पचूला आर्या को शिष्या रूप में सौंपा। आर्या काली एकादश अंगों की ज्ञाता होकर चतुर्थ, षष्ठ, अष्टभक्तादि तपस्या से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी।

अन्यदा आर्या काली शरीरबाकुशिका होकर बार-बार अपने अंग-उपांगों को धोती और बैठने, सोने आदि के स्थान को पानी से छींटा करती। पुष्पचूला

आर्या द्वारा मना किये जाने पर भी उसने शरीर बाकुशिकता का शिथिलाचार नहीं छोड़ा और अलग उपाश्रय में रह कर स्वतन्त्र रूप से विचरने लगी।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अलग रहने के कारण उसे पासत्था, पासत्थ विहारिणी, उसन्ना, उसन्न विहारिणी आदि कहा गया। वर्षों चारित्र का पालन कर एक पक्ष की संलेखना से अन्त में वह बिना आलोचना किये ही काल कर चमरचंचा राजधानी में काली देवी के रूप में चमरेन्द्र की अग्रमहिषी हुई। चमरचंचा से च्यव कर काली महाविदेह में उत्पन्न होगी और वहाँ अन्त में मुक्ति प्राप्त करेगी।"

काली देवी की ही तरह रात्रि, रजनी, विद्युत और मेधा नाम की चमरेन्द्र की अग्रमहिषियों ने भी भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् अपनी वैक्रियलब्धियों का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किया।

गौतम गणधर के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव का परिचय देते हुए फरमाया कि ये चारों देवियां अपने पूर्वभव में आमलकल्पा नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं और जराजीर्ण वृद्धाएं हो जाने तक भी उनका विवाह नहीं हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से विरक्त हो उन्होंने काली की तरह प्रव्रज्या ग्रहण की, विविध तपस्याएं कीं, शरीर बाकुशिका बनीं, श्रमणी संघ से अलग हो स्वतन्त्र-विहारिणी बनी और अन्त में बिना अपने शिथिलाचार की आलोचना किये ही संलेखना कर वे चमरेन्द्र की अग्रमहिषियां बनीं।

ये रात्रि आदि चारों देवियां भी देवीआयुष्य पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में एक भव कर मुक्त होंगी।

ज्ञाताधर्म कथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दूसरे वर्ग में वर्णित शुंभा, निशुंभा, रंभा, निरंभा और मदना नाम की बलीन्द्र की पाँचों अग्रमहिषियों ने भी भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया।

उन देवियों ने अपने स्थान पर लौट जाने के अनन्तर गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव बताते हुए फरमाया कि वे सब अपने पूर्वभवों में सावत्थी नगरी में अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं।

तीसरे वर्ग में वर्णित नव निकायों के ६ ही दक्षिणेन्द्रों की छै-छै के हिसाब से कुल ५४ अग्रमहिषियाँ—इला, सतेरा, सोयामणि आदि—अपने

पूर्वभव में वाराणसी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

इसी प्रकार चौथे वर्ग में उल्लिखित उत्तर के नव निकायों के ६ भूतानन्द आदि उत्तरेन्द्रों की ५४ अग्रमहिषियां भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हुईं। भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् क्रमशः उन्होंने भी काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का परिषद् के समक्ष अत्यद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किया।

गणधर गौतम द्वारा उन ५४ देवियों के पूर्वभव के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान् महावीर ने फरमाया—"गौतम ये ५४ ही उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषियाँ अपने पूर्वजन्म में चम्पा नगरी के निवासी अपने समान नाम वाले माता-पिताओं की रूपा, सुरूपा, रूपांसा, रूपकावती, रूपकान्ता, रूपप्रभा, आदि नाम की पुत्रियां थीं। ये सभी वृद्धकुमारियां थीं। जराजीर्ण हो जाने पर भी इन सबका विवाह नहीं हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ के चम्पानगरी में पधारने पर इन सब वृद्धकुमारिकाओं ने उनके उपदेश से प्रभावित हो प्रवर्तिनी सुव्रता के पास संयम ग्रहण किया। इन सबने कठोर तपस्या करके संयम के मूल गुणों का पूर्णरूपेण पालन किया। लेकिन शरीरबाकुशिका होकर संयम के उत्तर गुणों की यह सब विराधिकायें बन गईं। बहुत वर्षों तक संयम और तप की साधना से इन्होंने चरित्र का पालन किया और अन्त में संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अपने चारित्र के उत्तर गुणों के दोषों की आलोचना नहीं करने के कारण उत्तरेन्द्र की अग्रमहिषियां हुईं।

पंचम वर्ग में दक्षिण के व्यन्तरेन्द्रों की ३२ अग्रमहिषियों का वर्णन है। कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना, रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा, सुभगा, पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा, भार्या, पद्मा, वसुमती, कनका, कनकप्रभा, बडेसा, केतमती, नइरसेणा, रईप्रिया, रोहिणी, नमिया, ह्री, पुष्पवती, भुजगा, भुजगावती, महा-कच्छा, अपराजिता, सुघोषा, विमला, सुस्सरा, सरस्वती, इन सब देवियों ने भी काली की ही तरह भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो अपनी वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया।

गौतम द्वारा इनके पूर्वभव के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर भगवान् महावीर ने कहा—ये बत्तीसों देवियां पूर्वभव में नागपुर निवासी अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं। ये भी जीवनभर अविवाहित रहीं। जब ये वृद्ध कन्यायें—जीर्ण कन्यायें हो चुकी थीं, उस समय नागपुर में भगवान् पार्श्वनाथ का आगमन सुन कर ये भी भगवान् के समवशरण में पहुँची और उनके उपदेश से विरक्त हो सुव्रता आर्या के पास प्रव्रजित हो गई। इन्होंने अनेक वर्षों तक संयम का पालन किया और अनेक प्रकार की उग्र तपस्यायें

कीं। किन्तु शरीरबाकुशिका हो जाने के कारण इन्होंने संयम के उत्तर गुणों की विराधना की और अन्त समय में बिना संयम के अतिचारों की आलोचना किये संलेखनापूर्वक काल धर्म को प्राप्त हो ये दक्षिणेन्द्रों की अग्रमहिषियां बनीं।

षष्ट वर्ग में निरूपित व्यन्तर जाति के महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की देवियां अपने पूर्वभव में साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं। इन्होंने भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो आर्या सुव्रता के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। अनेक वर्षों तक इन सबने संयम एवं तप की साधना की, किन्तु संयम के उत्तर गुणों की विराधिकाएं होने के कारण बिना आलोचना किये ही संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषियां बनीं।

सप्तम वर्ग में उल्लिखित सूरप्रभा, आतपा, अर्चिमाली और प्रभंकरा नाम की सूर्य की ४ अग्रमहिषियां अपने पूर्वभव से अरक्खुरी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं।

अष्टम वर्ग में वर्णित चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली और प्रभंगा नाम की चन्द्र की चार अग्रमहिषियां अपने पूर्वभव में मथुरा के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

नवम वर्ग में वर्णित पद्मा, शिवा, सती, अंजु, रोहिणी, नवमिया, अचला और अच्छरा नाम की सौधर्मेन्द्र की ८ अग्रमहिषियों के पूर्वभव बताते हुए प्रभु महावीर ने फरमाया कि पद्मा और शिवा श्रावस्ती नगरी के, सती और अंजु हस्तिनापुर के, रोहिणी और नवमिया कम्पिलपुर के तथा अचला और अच्छरा साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापतियों की पुत्रियां थीं।

दशम वर्ग से वर्णित ईशानेन्द्र की कृष्णा तथा कृष्णराजि अग्रमहिषियाँ वाराणसी, रामा और रामरक्खिया राजगृह नगर, वसु एवं वसुदत्ता श्रावस्ती नगरी, तथा वसुमित्रा और वसुंधरा नाम की अग्रमहिषियां कोशाम्बी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

दूसरे वर्ग से दशम वर्ग तक में वर्णित ये सभी २०१ देवियाँ अपने अपने पूर्वभव में जीवन भर अविवाहित रहीं, जराजीर्ण वृद्धावस्था में इन सभी वृद्ध-कुमारियों ने भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो श्रमणीधर्म स्वीकार किया। ग्यारह अंगों की ज्ञाता होकर इन सबने अनेक प्रकार की तपस्याएं कीं, पर कालान्तर में ये सबकी सब शरीरबाकुशिका हो साध्विसंघ से पृथक् हो स्वतन्त्रविहारिणियां एवं शिथिलाचारिणियां बन गईं और अन्त में अपने अपने

शिथिलाचार की आलोचना किये विना ही संलेखनापूर्वक कालकवलिताएं हो उपरिवर्णित इन्द्रों एवं सूर्य तथा चन्द्र की अग्रमहिषियां वनीं ।

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव

वीतरागता और सर्वज्ञता आदि आत्मिक गुणों की सव तीर्थंकरों में समानता होने पर भी संभव है, पार्श्वनाथ में कोई विशेषता रही हो, जिससे कि वे अधिकाधिक लोकप्रिय हो सके ।

जैन साहित्य के अन्तर्गत स्तुति, स्तोत्र और मंत्रपदों से भी ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरों में से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में जितने मंत्र या स्तोत्र उपलब्ध होते हैं, उतने अन्य के नहीं हैं ।

भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से ओतप्रोत अनेक महात्माओं एवं विद्वानों द्वारा रचित प्रभु पार्श्वनाथ की महिमा से पूर्ण कई महाकाव्य, काव्य, चरित्र, अगणित स्तोत्र आदि और देश के विभिन्न भागों में प्रभु पार्श्व के प्राचीन भव्य कलाकृतियों के प्रतीक विशाल मन्दिरों का वाहुल्य, ये सब इस वात के पुष्ट प्रमाण हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति धर्मनिष्ठ मानवसमाज पीढ़ियों से कृतज्ञ और श्रद्धावनत रहा है ।

आगमों में अन्यान्य तीर्थंकरों का 'अरहा' विशेषण से ही उल्लेख किया गया है । जैसे—'मल्ली अरहा', 'उसभेणं अरहा', 'सीयलेणं अरहा', 'संतिस्सणं अरहओ'[1] आदि । पर पार्श्वनाथ का परिचय देते समय आगमों में लिखा गया है—'पासेणं अरहा पुरिसादाणीए' 'पासस्सणं अरहओ पुरिसादाणिअस्स' ।[2] इससे प्रमाणित होता है कि आगमकाल में भी भगवान् पार्श्वनाथ की कोई खास विशिष्टता मानी जाती थी । अन्यथा उनके नाम से पहले विशेषण के रूप में 'अरहा अरिट्ठनेमी' की तरह 'पासेणं अरहा' केवल इतना ही लिखा जाता ।

'पुरुषादानीय' का अर्थ होता है पुरुषों में आदरपूर्वक नाम लेने योग्य । महावीर के विशिष्ट तप के कारण जैसे उनके नाम के साथ 'समणे भगवं महावीरे' लिखा जाता है, वैसे ही पार्श्वनाथ के नाम के साथ अंग-शास्त्रों में 'पुरिसादाणी' विशेषण दिया गया है । अतः इस विशेषण के जोड़ने का कोई न कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिये ।

वह कारण यह हो सकता है कि पूर्वोक्त २२० देवों और देवियों के प्रभाव से जनता अत्यधिक प्रभावित हुई हो । देवियों एवं देवताओं की आश्चर्यजनक विपुल ऋद्धि और अत्यन्त अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षदर्शी विभिन्न नगरों के विशाल

१ समवायांग व कल्पसूत्र आदि ।

२ समवायांग सूत्र, समवाय ३८ व कल्पसूत्र आदि ।

कीं। किन्तु शरीरबाकुशिका हो जाने के कारण इन्होंने संयम के उत्तर गुणों की विराधना की और अन्त समय में बिना संयम के अतिचारों की आलोचना किये संलेखनापूर्वक काल धर्म को प्राप्त हो ये दक्षिणेन्द्रों की अग्रमहिषियां बनीं।

षष्ट वर्ग में निरूपित व्यन्तर जाति के महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की देवियां अपने पूर्वभव में साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं। इन्होंने भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो आर्या सुव्रता के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। अनेक वर्षों तक इन सबने संयम एवं तप की साधना की, किन्तु संयम के उत्तर गुणों की विराधिकाएं होने के कारण बिना आलोचना किये ही संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषियां बनीं।

सप्तम वर्ग में उल्लिखित सूरप्रभा, आतपा, अर्चिमाली और प्रभंकरा नाम की सूर्य की ४ अग्रमहिषियां अपने पूर्वभव से अरक्खुरी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं।

अष्टम वर्ग में वर्णित चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली और प्रभंगा नाम की चन्द्र की चार अग्रमहिषियां अपने पूर्वभव में मथुरा के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

नवम वर्ग में वर्णित पद्मा, शिवा, सती, अंजु, रोहिणी, नवमिया, अचला और अच्छरा नाम की सौधर्मेन्द्र की ८ अग्रमहिषियों के पूर्वभव बताते हुए प्रभु महावीर ने फरमाया कि पद्मा और शिवा श्रावस्ती नगरी के, सती और अंजु हस्तिनापुर के, रोहिणी और नवमिया कम्पिलपुर के तथा अचला और अच्छरा साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापतियों की पुत्रियां थीं।

दशम वर्ग से वर्णित ईशानेन्द्र की कृष्णा तथा कृष्णाराजि अग्रमहिषियाँ वाराणसी, रामा और रामरक्खिया राजगृह नगर, वसु एवं वसुदत्ता श्रावस्ती नगरी, तथा वसुमित्रा और वसुंधरा नाम की अग्रमहिषियां कोशाम्बी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

दूसरे वर्ग से दशम वर्ग तक में वर्णित ये सभी २०१ देवियाँ अपने अपने पूर्वभव में जीवन भर अविवाहित रहीं, जराजीर्ण वृद्धावस्था में इन सभी वृद्ध-कुमारियों ने भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो श्रमणीधर्म स्वीकार किया। ग्यारह अंगों की ज्ञाता होकर इन सबने अनेक प्रकार की तपस्याएं कीं, पर कालान्तर में ये सबकी सब शरीरबाकुशिका हो साध्विसंघ से पृथक् हो स्वतन्त्रविहारिणियां एवं शिथिलाचारिणियां बन गईं और अन्त में अपने अपने

शिथिलाचार की आलोचना किये विना ही संलेखनापूर्वक कालकवलिताएं हो उपरिवर्णित इन्द्रों एवं सूर्य तथा चन्द्र की अग्रमहिषियां बनीं।

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव

वीतरागता और सर्वज्ञता आदि आत्मिक गुणों की सब तीर्थकरों में समानता होने पर भी संभव है, पार्श्वनाथ में कोई विशेषता रही हो, जिससे कि वे अधिकाधिक लोकप्रिय हो सके।

जैन साहित्य के अन्तर्गत स्तुति, स्तोत्र और मंत्रपदों से भी ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरों में से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में जितने मंत्र या स्तोत्र उपलब्ध होते हैं, उतने अन्य के नहीं हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से ओतप्रोत अनेक महात्माओं एवं विद्वानों द्वारा रचित प्रभु पार्श्वनाथ की महिमा से पूर्ण कई महाकाव्य, काव्य, चरित्र, अगणित स्तोत्र आदि और देश के विभिन्न भागों में प्रभु पार्श्व के प्राचीन भव्य कलाकृतियों के प्रतीक विशाल मन्दिरों का बाहुल्य, ये सब इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति धर्मनिष्ठ मानवसमाज पीढ़ियों से कृतज्ञ और श्रद्धावनत रहा है।

आगमों में अन्यान्य तीर्थंकरों का 'अरहा' विशेषण से ही उल्लेख किया गया है। जैसे—'मल्ली अरहा', 'उसभेणं अरहा', 'सीयलेणं अरहा', 'संतिस्सणं अरहओ'[1] आदि। पर पार्श्वनाथ का परिचय देते समय आगमों में लिखा गया है—'पासेणं अरहा पुरिसादाणीए' 'पासस्सणं अरहओ पुरिसादाणिअस्स'।[2] इससे प्रमाणित होता है कि आगमकाल में भी भगवान् पार्श्वनाथ की कोई खास विशिष्टता मानी जाती थी। अन्यथा उनके नाम से पहले विशेषण के रूप में 'अरहा अरिट्ठनेमी' की तरह 'पासेणं अरहा' केवल इतना ही लिखा जाता।

'पुरुषादानीय' का अर्थ होता है पुरुषों में आदरपूर्वक नाम लेने योग्य। महावीर के विशिष्ट तप के कारण जैसे उनके नाम के साथ 'समणे भगवं महावीरे' लिखा जाता है, वैसे ही पार्श्वनाथ के नाम के साथ अंग-शास्त्रों में 'पुरिसादाणी' विशेषण दिया गया है। अतः इस विशेषण के जोड़ने का कोई न कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिये।

वह कारण यह हो सकता है कि पूर्वोक्त २२० देवों और देवियों के प्रभाव से जनता अत्यधिक प्रभावित हुई हो। देवियों एवं देवताओं की आश्चर्यजनक विपुल ऋद्धि और अत्यन्त अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षदर्शी विभिन्न नगरों के विशाल

---

१ समवायांग व कल्पसूत्र आदि।

२ समवायांग सूत्र, समवाय ३८ व कल्पसूत्र आदि।

जनसमूहों ने जब उन देवताओं और देवियों के पूर्वभव के सम्बन्ध में त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवान् महावीर के मुखारविन्द से यह सुना कि ये सभी देव और देवियां भगवान् पार्श्वनाथ के अन्तेवासी और अन्तेवासिनियाँ थीं तो निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति उस समय के जनमानस में प्रगाढ़ भक्ति और अगाध श्रद्धा का घर कर लेना सहज स्वाभाविक ही था।

इसके साथ ही साथ अपने नीरस नारी जीवन से ऊबी हुई उन दो सौ सोलह (२१६) वृद्धकुमारिकाओं ने भगवान् पार्श्वनाथ की कृपा से महती दैवीऋद्धि प्राप्त की। अतः सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देवियां बन कर उन्होंने निश्चित रूप से जिनशासन की प्रभावना के अनेक कार्य किये होंगे और उस कारण भारत का मानवसमाज निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ का विशिष्ट उपासक बन गया होगा।

भगवान् पार्श्वनाथ के कृपाप्रसाद से ही तापस की धूनी में जलता हुआ नाग और नागिन का जोड़ा धरणेन्द्र और पद्मावती बना तथा भगवान् पार्श्वनाथ के तीन शिष्य क्रमशः सूर्यदेव, चन्द्रदेव और शुक्रदेव बने।

श्रद्धालु भक्तों की यह निश्चित धारणा है कि इन देवियों, देवों और देवेन्द्रों ने समय-समय पर शासन की प्रभावना की है। इसका प्रमाण यह है कि धरणेन्द्र और पद्मावती के स्तोत्र आज भी प्रचलित हैं।

भद्रबाहु के समय में संघ को संकटकाल में पार्श्वनाथ का स्तोत्र ही दिया गया था। सिद्धसेन जैसे पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने भी पार्श्वनाथ की स्तुति से ही शासनप्रभावना की।

इन वृद्धकुमारिकाओं के आख्यानों से उस समय की सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन होता है कि सामाजिक रूढ़ियों अथवा अन्य किन्हीं कारणों से उस समय समृद्ध परिवारों को भी अपनी कन्याओं के लिये योग्य वरों का मिलना बड़ा दूभर था। भगवान् पार्श्वनाथ ने जीवन से निराश ऐसे परिवारों के समक्ष साधना का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज को बड़ी राहत प्रदान की।

इन सब आख्यानों से सिद्ध होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने उस समय के मानवसमाज को सच्चे सुख की राह बताई एवं उलझी हुई जटिल समस्याओं को सुलझा कर मानव समाज की अत्यधिक भक्ति और प्रगाढ़ प्रीति प्राप्त की और अपने अमृतोपम प्रभावशाली उपदेशों से जनमन पर ऐसी अमिट छाप लगाई कि हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परागत छाप आज के जनमानस पर भी स्पष्टतः दिखाई दे रही है।

इसके अतिरिक्त भगवान् पार्श्वनाथ के विशिष्ट प्रभाव का एक कारण उनका प्रबल पुण्यातिशय एवं अधिष्ठाता देव-देवियों का सान्निध्य भी हो सकता है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अपने दीर्घकाल के विहार में अनार्य देशों में भ्रमण कर अनार्यजनों को भी अधिकाधिक संख्या में धर्मानुरागी बनाया हो, तो यह भी उनकी लोकप्रियता का विशेष कारण हो सकता है। जैसा कि भगवान् पार्श्वनाथ के विहारक्षेत्रों के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों द्वारा किये गये वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है।

पार्श्व ने कुमारकाल में प्रसेनजित् की सहायता की और राजा यवन को अपने प्रभाव से झुकाया। संभव है कि यवनराज भी आगे चल कर भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से अत्यधिक प्रभावित हुआ हो और उसके फलस्वरूप अनार्य कहे जाने वाले उस समय के लोग भी अधिकाधिक संख्या में धर्ममार्ग पर आरूढ़ हुए हों और इस कारण भगवान् पार्श्वनाथ आर्य और अनार्य जगत् में अधिक आदरणीय और लोकप्रिय हो गये हों।

भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा

यह एक सामान्य नियम है कि किन्हीं भी तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् जब तक दूसरे तीर्थंकर द्वारा अपने धर्म-तीर्थ की स्थापना नहीं कर दी जाती तब तक पूर्ववर्ती तीर्थंकर का ही धर्म-शासन चलता रहता है और उनकी आचार्य परम्परा भी उस समय तक चलती रहती है।

इस दृष्टि से मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन में असंख्य आचार्य हुए हैं, पर उन आचार्यों के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होने के कारण उनका परिचय नहीं दिया जा सका है।

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का वर्तमान जैन धर्म के इतिहास से बड़ा निकट का सम्बन्ध है और भगवान् महावीर के शासन से उनका अन्तरकाल भी २५० वर्ष का ही माना गया है तथा कल्पसूत्र के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ की जो दो प्रकार की अन्तकड़ भूमि बतलाई गई है, उसमें उनकी युगान्तकृत भूमि में चौथे पुरुषयुग (आचार्य) तक मोक्ष-गमन माना गया है। अतः भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का उल्लेख यहाँ किया जाना ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक है।

उपकेशगच्छ-चरितावली में भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का जो परिचय दिया गया है, वह संक्षेप में इस प्रकार है :—

१. आर्य शुभदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर गणधर शुभदत्त हुए। उन्होंने चौबीस वर्ष तक आचार्यपद पर रहते हुए चतुर्विध संघ का बड़ी कुशलता से नेतृत्व किया और धर्म का उपदेश करते रहे।

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के चौबीस वर्ष पश्चात् आर्य हरिदत्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर आर्य शुभदत्त मोक्ष पधारे।

२. आर्य हरिदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के द्वितीय पट्टधर आर्य हरिदत्त हुए। पार्श्वनिर्वाण संवत् २४ से ९४ तक आप आचार्यपद पर रहे।

श्रमण बनने से पूर्व हरिदत्त ५०० चोरों के नायक थे। गणधर शुभदत्त के शिष्य श्री वरदत्त मुनि को एक बार जंगल में ही अपने ५०० शिष्यों के साथ रुकना पड़ा। उस समय चोर-नायक हरिदत्त अपने ५०० साथी चोरों के साथ मुनियों के पास इस आशा से गया कि उनके पास जो भी धन-सम्पत्ति हो वह लूट ली जाय। पर वरदत्त मुनि के पास पहुँचने पर ५०० चोरों और चोरों के नायक को धन के स्थान पर उपदेश मिला। मुनि वरदत्त के उपदेश से हरिदत्त अपने ५०० साथियों सहित दीक्षित हो गये और इस तरह जो चोरों के नायक थे, वे ही हरिदत्त मुनिनायक और धर्मनायक बन गये।

गुरुसेवा में रह कर मुनि हरिदत्त ने बड़ी लगन के साथ ज्ञान-संपादन किया और अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण एकादशांगी के पारगामी विद्वान् हो गये। इनकी योग्यता से प्रभावित हो आचार्य शुभदत्त ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

आचार्य हरिदत्त अपने समय के बड़े प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। आपने "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" इस मत के कट्टर समर्थक और प्रबल प्रचारक, उद्भट विद्वान् लौहित्याचार्य को शास्त्रार्थ द्वारा राज्यसभा में पराजित कर 'अहिंसा परमो धर्मः' की उस समय के जनमानस पर धाक जमा दी थी।

सत्य के पुजारी लौहित्याचार्य अपने एक हजार शिष्यों सहित आचार्य हरिदत्तसूरि के पास दीक्षित हो गये और उनकी आज्ञा लेकर दक्षिण में अहिंसा-धर्म का प्रचार करने के लिए निकल पड़े। आपने प्रतिज्ञा की कि जिस तरह अज्ञानवश उन्होंने हिंसा-धर्म का प्रचार किया था, उससे भी शतगुणित वेग से वे अहिंसाधर्म का प्रचार करेंगे। अपने संकल्प के अनुसार उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को निरन्तर धर्मप्रचार द्वारा कार्यरूप में परिणत कर बताया।

कहा जाता है कि लौहित्याचार्य ने दक्षिण में लंका तक जैन धर्म का प्रचार किया। बौद्ध भिक्षु धेनुसेन ने ईसा की पाँचवीं शताब्दी में लंका के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला 'महावंश काव्य' नामक पाली भाषा का एक काव्य लिखा था। उस काव्य में ईस्वी सन् पूर्व ५४३ से ३०१ वर्ष तक की लंका की स्थिति का वर्णन करते हुए धेनुसेन ने लिखा है कि सिंहलद्वीप के राजा 'पनुगानय' ने लगभग ई० सन् पूर्व ४३७ में अपरी राजधानी अनुराधापुर में स्थापित की और वहां निर्ग्रंथ मुनियों के लिए 'गिरी' नामक एक स्थान खुला छोड़ रक्खा।

इससे सिद्ध होता है कि सुदूर दक्षिण में उस समय जैन धर्म का प्रचार और प्रसार हो चुका था।

इस प्रकार आचार्य हरिदत्त के नेतृत्व में उस समय जैन धर्म का दूर-दूर तक प्रभाव फैल गया था।

आचार्य हरिदत्त ने ७० वर्ष तक धर्म का प्रचार कर समुद्रसूरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और अन्त में पार्श्वनिर्वाण संवत् ९४ में मुक्ति के अधिकारी हुए।

३. आर्य समुद्रसूरि

भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे पट्टधर आर्य समुद्रसूरि हुए। पार्श्व सं० ९४ से १६६ तक ये भी जिनशासन की सेवा करते रहे। इन्होंने विविध देशों में घूम-घूम कर धर्म का प्रचार किया। आप चतुर्दश पूर्वधारी और यज्ञवाद से होने वाली हिंसा के प्रबल विरोधी थे। आपके आज्ञानुवर्ती विदेशी नामक एक मुनि, जो बड़े प्रतिभाशाली और प्रकाण्ड विद्वान् थे, एक बार विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे। कहा जाता है कि आपके त्याग-विरागपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो उज्जयिनी के राजा जयसेन और रानी अनंग सुन्दरी ने अपने प्रिय पुत्र केशी के साथ जैन श्रमण-दीक्षा अंगीकार की। उपकेशगच्छ-पट्टावली के अनुसार वालपि केशी जातिस्मरण के साथ-साथ चतुर्दश पूर्व तक श्रुतज्ञान के धारक थे।

इन्हीं केशी श्रमण ने आचार्य समुद्रसूरि के समय में यज्ञवाद के प्रचारक मुकुंद नामक आचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।

अन्त में आचार्य समुद्रसूरि ने अपना अन्तिम समय निकट देख केशी को आचार्यपद पर नियुक्त किया और पार्श्व सं० १६६ में सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

४. आर्य केशी श्रमण

भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी श्रमण हुए, जो बड़े ही

प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे।

कहा जाता है कि आपने बड़ी योग्यता के साथ श्रमरासंघ के संगठन को सुदृढ़ बना कर विद्वान् श्रमरणों के नेतृत्व में पाँच-पांच सौ (५००-५००) साधुओं की ९ टुकड़ियों को पांचाल, सिन्धु-सौवीर, अंग-बंग, कलिंग, तेलंग, महाराष्ट्र, काशी,कोशल, सूरसेन, अवन्ती, कोंकरण आदि प्रान्तों में भेज कर और स्वयं ने एक हजार साधुओं के साथ मगध प्रदेश में रह कर सारे भारत में जैन धर्म का प्रचार और प्रसार किया। पार्श्व संवत् १६६ से २५० तक आपका आचार्य-काल बताया गया है।

आपने ही अपने अमोघ उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को घोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया। राजा प्रदेशी ने आपके पास श्रावक-धर्म स्वीकार किया और अपने राज्य की आय का चतुर्थ भाग दान में देता हुआ वह सांसारिक भोगों से विरक्त हो छट्ठ-छट्ठ-भक्त की तपस्यापूर्वक आत्मकल्याण में जुट गया।

अहने पति को राज्य-व्यवस्था के कार्यों से उदासीन देख कर रानी सूरिकान्ता ने स्वार्थवश अपने पुत्र सूरिकान्त को राजा बनाने की इच्छा से महाराज प्रदेशी को उनके तेरहवें छट्ठ-भक्त के पारणे के समय विषाक्त भोजन खिला दिया। प्रदेशी ने भी विष का प्रभाव होते ही सारी स्थिति समझ ली, किन्तु रानी के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना न रखते हुए समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग किया और सौधर्मकल्प में ऋद्धिमान् सूर्याभ देव बना।

आचार्य केशिकुमार पार्श्वनिर्माण संवत् १६६ से २५० तक, अर्थात् चौरासी (८४) वर्ष तक आचार्यपद पर रहे और अन्त में स्वयंप्रभ सूरि को अपना उत्तराधिकारी बना कर मुक्त हुए।

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के चार पट्टधर भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद के २५० वर्षों के समय में मुक्त हुए।

अनेक विद्वान् आचार्य केशिकुमार और कुमार केशिश्रमण को, जिन्होंने गौतम गणधर के साथ हुए संवाद से प्रभावित हो सावत्थी नगरी में पंच महाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार किया, एक ही मानते हैं, पर उनकी यह मान्यता समीचीन विवेचन के पश्चात् संगत एवं शास्त्रसम्मत प्रतीत नहीं होती।

शास्त्र में केशी नाम के दो मुनियों का परिचय उपलब्ध होता है। एक तो प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशिश्रमण का और दूसरे गौतम के साथ संवाद के पश्चात् चातुर्यामधर्म से पंचमहाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार करने वाले

केशिकुमार श्रमण का। इन दोनों में से भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर कौनसे केशिश्रमण थे, यह यहां एक विचारणीय प्रश्न है।

आचार्य राजेन्द्रसूरि ने अपने अभिधान राजेन्द्र-कोष में दो स्थानों पर केशिश्रमण का परिचय दिया है। उन्होंने इस कोष के भाग प्रथम, पृष्ठ २०१ पर 'अजरिणय कण्णिया' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए केशिश्रमण के लिए निर्ग्रंथी पुत्र, कुमारावस्था में प्रव्रजित एवं युगप्रवर्तक आचार्य होने का उल्लेख किया है और आगे चल कर इसी कोष के भाग ३, पृष्ठ ६६६ पर 'केशी' शब्द की व्युत्पत्ति में उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि करते हुए लिखा है :-

"केससंस्पृष्टशुक्रपुद्गलसम्पर्काज्जाते निर्ग्रन्थी पुत्रे, (स च यथा जातस्तथा 'अजणिकन्निया' शब्दे प्रथम भागे १०१ पृष्ठे दर्शितः) स च कुमार एव प्रवजितः पार्श्वापत्यीयश्चतुर्ज्ञानी अनगारगुणसम्पन्नः सूर्याभदेव-जीवं पूर्वभवे प्रदेशी नामानं राजानं प्रबोधयदिति। रा० नि०। ध० र०। (तद्वर्णकविशिष्टं 'पएसि' शब्दे वक्ष्यते गोयमकेसिज्ज शब्दे गौतमेन सहास्य संवादो वक्ष्यते)"

इस प्रकार राजेन्द्रसूरि ने केशिश्रमण आचार्य को ही प्रदेशी प्रतिबोधक, चार ज्ञान का धारक और गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला केशी बताकर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता प्रकट की है।

उपकेशगच्छ चरित्र से केशिकुमार श्रमण को उज्जयिनी के महाराज जयसेन व रानी अनंग सुन्दरी का पुत्र, आचार्य समुद्रसूरि का शिष्य, पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा व चतुर्थ पट्टधर, प्रदेशी राजा का प्रतिबोधक तथा गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला बताया गया है।

एक ओर उपकेशगच्छ पट्टावली में निर्ग्रन्थीपुत्र केशी का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया है, तो दूसरी ओर अभिधान राजेन्द्र-कोष में उज्जयिनी के राजा जयसेन के पुत्र केशी का कोई जिक्र नहीं किया गया है।

पर दोनों ग्रन्थों में केशिश्रमण को भगवान् पार्श्वनाथ का चतुर्थ पट्टधर आचार्य, प्रदेशी का प्रतिबोधक तथा गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला मान कर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता का प्रतिपादन किया है।

'जैन परम्परा नो इतिहास' नामक गुजराती पुस्तक के लेखक मुनि दर्शनविजय आदि ने भी समान नाम वाले दोनों केशिश्रमणों को अलग न मान कर एक ही माना है।

इसके विपरीत 'पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास' नामक पुस्तक के दोनों केशश्रमणों का भिन्न-भिन्न परिचय नहीं देते हुए भी आचार्य केशी और

केशिकुमार श्रमण को अलग-अलग मान कर दो केशिश्रमणों का होना स्वीकार किया गया है।[1]

इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले आचार्य केशी और गौतम गणधर के साथ संवाद के पश्चात् पंच महाव्रत-धर्म स्वीकार करने वाले केशिकुमार श्रमण एक न होकर अलग-अलग समय में केशिश्रमण हुए हैं।

आचार्य केशी, जो कि भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और श्वेताम्बिका के महाराज प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गये हैं, उनका काल उपकेश-गच्छ पट्टावली के अनुसार पार्श्व-निर्वाण संवत् १६६ से २५० तक का है। यह काल भगवान् महावीर की छद्मस्थावस्था तक का ही हो सकता है।

इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी में दूसरे केशिकुमार श्रमण और गौतम गणधर का सम्मिलन भगवान् महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है।

इस प्रकार प्रथम केशिश्रमण का काल भगवान् महावीर के छद्मस्थकाल तक का और दूसरे केशिकुमार श्रमण का महावीर की केवलीचर्या के पन्द्रहवें वर्ष के पश्चात् तक ठहरता है।

इसके अतिरिक्त रायप्रसेणी सूत्र में प्रदेशिप्रतिबोधक केशिश्रमण को चार ज्ञान का धारक बताया गया है[2] तथा जिन केशिकुमार श्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती में संवाद हुआ, उन केशिकुमार श्रमण को उत्तराध्ययन सूत्र में तीन ज्ञान का धारक बताया गया है।[3]

ऐसी दशा में प्रदेशिप्रतिबोधक चार ज्ञानधारक केशिश्रमण, जो महावीर के छद्मस्थकाल में हो सकते हैं, उनका महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् तीन ज्ञानधारक के रूप में गौतम के साथ मिलना किसी भी तरह युक्तिसंगत और संभव प्रतीत नहीं होता।

---

१ भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास (पूर्वार्द्ध), पृ० ४८

२ इच्चेए णं पदेसी ! अहं तव चउव्विहेणं नाणेणं इमेयारूवं अब्भत्थियं जाव समुप्पन्नं जाणामि। [रायपसेणी]

३ तस्स लोगपईवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसीकुमार समणे, विज्जाचरण पारगे ॥२॥
ओहिनाण सुए बुद्धे, सीससंघसमाउले।
गामाणुगामं रीयन्ते, सावत्थिं नगरिमागए ॥३॥
[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३]

रायप्रसेणी और उत्तराध्ययन सूत्र में दिये गये दोनों केशिश्रमणों के परिचय के समीचीन मनन के अभाव में और समान नाम वाले इन दोनों श्रमणों के समय का सम्यक्रूपेण विवेचनात्मक पर्यवेक्षण न करने के कारण ही कुछ विद्वानों द्वारा दोनों को ही केशिश्रमण मान लिया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाता है कि प्रदेशिप्रतिबोधक चार ज्ञानधारी केशिश्रमण आचार्य समुद्रसूरि के शिष्य एवं पार्श्वपरंपरा के मोक्षमार्गी चतुर्थ आचार्य थे, न कि गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाले तीन ज्ञानधारक केशिकुमार श्रमण। दोनों एक न होकर भिन्न-भिन्न हैं। एक का निर्वाण पार्श्वनाथ के शासन में हुआ जबकि दूसरे का महावीर के शासन में।

□ □ □

भगवान् महावीर

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र के चौवीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए। घोरातिघोर परीषहों को भी अतुल धैर्य, अलौकिक साहस, सुमेरुतुल्य अविचल दृढ़ता, अथाह सागरोपम गम्भीरता एवं अनुपम समभाव के साथ सहन कर प्रभु महावीर ने अभूतपूर्व सहनशीलता, क्षमा एवं अद्भुत घोर तपश्चर्या का संसार के समक्ष एक नवीन कीर्तिमान प्रतिष्ठापित किया।

भगवान् महावीर न केवल एक महान् धर्मसंस्थापक ही थे अपितु वे महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्रान्तिकारी सुधारक, सच्चे पथ-प्रदर्शक, विश्व-बन्धुत्व के प्रतीक, विश्व के कर्णधार और प्राणिमात्र के परमप्रिय हितचिन्तक भी थे।

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरीजिउं' इस दिव्यघोष के साथ उन्होंने न केवल मानव समाज को अपितु पशुओं तक को भी अहिंसा, दया और प्रेम का पाठ पढ़ाया। धर्म के नाम पर यज्ञों में खुलेआम दी जाने वाली क्रूर पशुवली के विरुद्ध जनमत को आन्दोलित कर उन्होंने इस घोर पापपूर्ण कृत्य को सदा के लिये समाप्तप्राय कर असंख्य प्राणियों को अभयदान दिया।

यही नहीं, भगवान् महावीर ने रूढ़िवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्णभेद के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त में गिरती हुई मानवता को ऊपर उठाने का अथक प्रयास भी किया। उन्होंने प्रगाढ़ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मानव-हृदयों में अपने दिव्य ज्ञानालोक से ज्ञान की किरणें प्रस्फुटित कर विनाशोन्मुख मानव-समाज को न केवल विनाश से बचाया अपितु उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रत्नत्रयी का अक्षय पाथेय दे मुक्तिपथ पर अग्रसर किया।

भगवान् महावीर ने विश्व को सच्चे समतावाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखा कर अमरत्व की ओर अग्रसर किया, जिसके लिये मानव-समाज उनका सदा-सर्वदा ऋणी रहेगा।

भगवान् महावीर का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी माना गया है, जो कि विश्व के सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ई० पूर्व छठी शताब्दी में, जबकि भारत में भगवान् महावीर ने और उनके समकालीन महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का उपदेश देकर धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, लगभग उसी समय चीन में लाओत्से और कांग्फ्यूत्सी

यूनान में पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात, ईरान में जरथुष्ट, फिलिस्तीन में जिरेमियां और इर्जकिल आदि महापुरुष अपने-अपने क्षेत्र में सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार बने।

रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों का विरोध कर उन सभी महापुरुषों ने जनता को सही दिशा में बढ़ने का मार्ग-दर्शन किया और उन्हें शुद्ध चिन्तन की प्रवल प्रेरणा दी। समाज की तत्कालीन कुरीतियों में युगान्तरकारी परिवर्तन प्रस्तुत कर वे सही अर्थ में युगपुरुष बने। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने ऊपर आने वाली आपदाओं का डटकर मुकावला किया और प्रतिशोधात्मक परीषहों के आगे वे रत्ती भर भी नहीं झुके।

भगवान् महावीर का उपर्युक्त युगपुरुषों में सबसे उच्च, प्रमुख और वहुत ही सम्माननीय स्थान है। विश्वकल्याण के लिये उन्होंने धर्ममयी मानवता का जो आदर्श प्रस्तुत किया, वह अनुपम और अद्वितीय है।

महावीरकालीन देश-दशा

भगवान् पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् भगवान् श्री महावीर[१] चौवीसवें तीर्थंकर के रूप में भारत-वसुधा पर उत्पन्न हुए। उस समय देश और समाज की दशा काफी विकृत हो चुकी थी। खास कर धर्म के नाम पर सर्वत्र आडंबर का ही बोलबाला था। पार्श्वकालीन तप, संयम और धर्म के प्रति रुचि मंद पड़ गई थी। ब्राह्मण संस्कृति के बढ़ते हुए वर्चस्व में श्रमण संस्कृति दवी जा रही थी। यज्ञ-याग और वाह्य क्रिया-काण्ड को ही धर्म का प्रमुख रूप माना जाने लगा था। यज्ञ में घृत, मधु ही नहीं अपितु प्रकट रूप में पशु भी होमे जाते और उसमें अधर्म नहीं, धर्म माना जाता था। डंके की चोट कहा जाता था कि भगवान् ने यज्ञ के लिये ही पशुओं की रचना की है।[२] वेदविहित यज्ञ में की जाने वाली हिंसा, हिंसा नहीं प्रत्युत अहिंसा है।[३]

धार्मिक क्रियाओं और संस्कृति-संरक्षण का भार तथाकथित ब्राह्मणों के ही अधीन था। वे चाहे विद्वान् हों या अविद्वान्, सदाचारी हों या दुराचारी,

१ (क) "पास जिणाओ य होइ वीरजिणो, अड्ढाइज्जसयेहि गयेहि चरिमो समुप्पन्नो।
आवश्यक निर्युक्ति (मलय), पृ० २४१, गाथा १७
(ख) आवश्य चूर्णि, गा० १७, पृ० २१७

२ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः। मनुस्मृति ५।२२।३६

३ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः॥
या वेदविहिता हिंसा, नियतास्मिश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्, वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ॥ [मनुस्मृति, ५।२२।३६।४४]

अग्नि के समान सदा पवित्र और पूजनीय माने जाते थे।[1] मनुष्य और ईश्वर के बीच सम्बन्ध जोड़ने की सारी शक्ति उन्हीं के अधीन समझी जाती थी। वे जो कुछ कहते, वह अकाट्य समझा जाता और इस तरह हिंसा भी धर्म का एक प्रमुख अंग माना जाने लगा। वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद के वन्धन में मानव-समाज इतना जकड़ा हुआ और उलझा हुआ था कि निम्नवर्ग के व्यक्तियों को अपनी सुख-सुविधा और कल्याण-साधन में भी किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी।

समाज में यद्यपि अमीर और गरीब का वर्ग-संघर्ष नहीं था, फिर भी गरीबों के प्रति अमीरों की वत्सलता का स्रोत सूखता जा रहा था। ऊंच-नीच का मिथ्याभिमान मानवता को व्यथित और क्षुब्ध कर रहा था। जाति-पूजा और वेष-पूजा ने गुण-पूजा को भुला रखा था।

निम्नवर्ग के लोग उच्चजातीय लोगों के सामने अपने सहज मानवीय भाव भी भलीभाँति व्यक्त नहीं कर पाते थे। कई स्थानों पर तो ब्राह्मणों के साथ शूद्र चल भी नहीं सकते थे। शिक्षा-दीक्षा और वेदादि शास्त्र-श्रवण पर द्विजातिवर्ग का एकाधिपत्य था। शूद्र लोग वेद की ऋचाएं न सुन सकते थे, न पढ़ सकते थे और न वोल ही सकते थे। स्त्रीसमाज को भी वेद-पठन का अधिकार नहीं था।[2] शूद्रों के लिए वेद सुनने पर कानों में शीशा भरने; वोलने पर जीभ काटने और ऋचाओं को कण्ठस्थ करने पर शरीर नष्ट कर देने का कठोर विधान था। इतना ही नहीं, उनके लिए प्रार्थना की जाती कि उन्हें बुद्धि न दें, यज्ञ का प्रसाद न दें और व्रतादि का उपदेश भी नहीं दें।[3] स्त्री जाति को प्रायः दासी मान कर हीन दृष्टि से देखा जाता था और उन्हें किसी भी स्थिति में स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं था।[4]

---

१ अविद्वांश्चैव विद्वांश्च, ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च, यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी, पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेपु, भूय एवाभिवर्द्धते॥
एवं यद्यप्यनिष्टेपु, वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः, परमं दैवतं हि तत्॥ [मनुस्मृति, ९।३१७।३१८।३१९]

२ न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्।

३ (क) वेदमुपशृण्वतस्तस्य जतुभ्यां श्रोत्रः प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर-भेदः। [गौतम धर्म सूत्र, पृ० १९५]

(ख) न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं नहविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं, न चास्य, व्रतमादिशेत्॥ [वशिष्ठ स्मृति १८।१२।१३]

४ न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। [वशिष्ठ स्मृति]

राजनैतिक दृष्टि से भी यह समय उथल-पुथल का था। उसमें स्थिरता व एकरूपता नहीं थी। कई स्थानों पर प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य थे, जिनमें नियमित रूप से प्रतिनिधियों का चुनाव होता था। जो प्रतिनिधि राज्य-मंडल या सांथागार के सदस्य होते, वे जनता के व्यापक हितों का भी ध्यान रखते थे। तत्कालीन गणराज्यों में लिच्छवी गणराज्य सबसे प्रवल था। इसकी राजधानी वैशाली थी। महाराजा चेटक इस गणराज्य के प्रधान थे। महावीर स्वामी की माता त्रिशला इन्हीं महाराज चेटक की बहिन थीं। काशी और कौशल के प्रदेश भी इसी गणराज्य में शामिल थे। इनकी व्यवस्थापिका-सभा "वज्जियन राज-संघ" कहलाती थी।

लिच्छवी गणराज्य के अतिरिक्त शाक्य गणराज्य का भी विशेष महत्त्व था। इसकी राजधानी 'कपिलवस्तु' थी। इसके प्रधान महाराजा शुद्धोदन थे, जो गौतम बुद्ध के पिता थे। इन गणराज्यों के अलावा मल्ल गणराज्य, जिसकी राजधानी कुशीनारा और पावा थी, कोल्य गणराज्य, आम्लकप्पा के बुलिगण, पिप्पलिवन के मोरीयगण आदि कई छोटे-मोटे गणराज्य भी थे। इन गणराज्यों के अतिरिक्त मगध, उत्तरी कोशल, वत्स, अवन्ति, कलिंग, अंग, बंग आदि कतिपय स्वतन्त्र राज्य भी थे।[1] इन गणराज्यों में परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। इस तरह उस समय विभिन्न गण एवं स्वतन्त्र राज्यों के होते हुए भी तथाकथित निम्नवर्ग की दशा अत्यन्त चिन्तनीय बनी हुई थी। ब्राह्मण-प्रेरित राजन्यवर्गो के उत्पीड़न से जनसाधारण में क्षोभ और विषाद का प्राबल्य था।

इन सब परिस्थितियों का प्रभाव उस समय विद्यमान पार्श्वनाथ के संघ पर भी पड़े बिना नहीं रहा। श्रमणसंघ की स्थिति प्रतिदिन क्षीण होने लगी। मति-बल में दुर्बलता आने लगी तथा अनुशासन की अतिशय मृदुता से आचार-व्यवस्था में शिथिलता दिखाई देने लगी। फिर भी कुछ विशिष्ट मनोबल वाले श्रमण इस विषम स्थिति में भी अपने मूलस्वरूप को टिकाये हुए थे। वे याज्ञिकी हिंसा का विरोध और अहिंसा का प्रचार भी करते थे, पर उनका बल पर्याप्त नहीं था। फिर साधना का लक्ष्य भी बदला हुआ था। धर्म-साधना का हेतु निर्वाण-मुक्ति के बदले मात्र अभ्युदय—स्वर्ग रह गया था। यह चतुर्थकाल की समाप्ति का समय था। फलतः जन-मन में धर्म-भाव की रुचि कम पड़ती जा रही थी। ऐसे विषम समय में जन-समुदाय को जागृत कर, उसमें सही भावना भरने और सत्यमार्ग बताने के लिए ज्योतिर्धर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

पूर्वभव की साधना

जैन धर्म यह नहीं मानता कि कोई तीर्थंकर या महापुरुष ईश्वर का अंश

१ मि० ह्रीस डैविड्स-बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २३

होकर अवतार लेता है। जैन शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की योग्यता रखती है और विशिष्ट क्रिया के माध्यम से उसका तीर्थंकर या भगवान् रूप से उत्तर-जन्म होता है। किन्तु ईश्वर कर्ममुक्त होने के कारण पुनः मानव रूप में अवतार-जन्म नहीं लेते। हाँ, स्वर्गीय देव मानवरूप में अवतार ले सकते हैं। मानव सत्कर्म से भगवान् हो सकता है। इस प्रकार नर का नारायण होना अर्थात् ऊपर चढ़ना यह उत्तार है। अतः जैन धर्म अवतार-वादी नहीं उत्तारवादी है। भगवान् महावीर के जीव ने नयसार के भव में सत्कर्म का बीज डाल कर क्रमशः सिंचन करते हुए तीर्थंकर-पद की प्राप्ति की,—जो इस प्रकार है—

किसी समय प्रतिष्ठानपुर का ग्रामचिन्तक नयसार, राजा के आदेश से वन में लकड़ियों के लिये गया हुआ था। एकदा मध्याह्न में वह खाने बैठा ही था कि उसी समय वन में मार्गच्युत कोई तपस्वी मुनि उसे दृष्टिगोचर हुए। उसने भूख-प्यास से पीड़ित उन मुनि को भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार-प्रदान किया और उन्हें गाँव का सही मार्ग बतलाया। मुनि ने भी नयसार को उपदेश देकर आत्म-कल्याण का मार्ग समझाया। फलस्वरूप उसने वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर भव-भ्रमण को परिमित कर लिया।

दूसरे भव में वह सौधर्म कल्प में देव हुआ और तीसरे भव में भरत-पुत्र मरीचि के रूप में उत्पन्न हुआ। चौथे भव में ब्रह्मलोक में देव, पाँचवें भव में कौशिक ब्राह्मण, छठे भव में पुष्यमित्र ब्राह्मण, सातवें भव में सौधर्म देव, आठवें भव में अग्निद्योत, नवें भव में द्वितीय कल्प का देव, दशवें भव में अग्निभूति ब्राह्मण, ग्यारहवें भव में सनत्कुमार देव, बारहवें भव में भारद्वाज, तेरहवें भव में महेन्द्रकल्प का देव, चौदहवें भव में स्थावर ब्राह्मण, पन्द्रहवें भव में ब्रह्मकल्प का देव और सोलहवें भव में युवराज विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति हुआ। संसार की कपट-लीला देखकर उन्हें विरक्ति हो गई। मुनि बनकर उन्होंने घोर तपस्या की और अन्त में अपरिमित बलशाली बनने का निदान कर काल किया। सत्रहवाँ भव महाशुक्र देव का कर इन्होंने अठारहवें भव में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप से जन्म ग्रहण किया।

एक दिन त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता प्रजापति के पास प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव का सन्देश आया कि शाली-क्षेत्र पर शेर के उपद्रव से कृषकों की रक्षा करने के लिये उनको वहाँ जाना है। महाराज प्रजापति कृषकों की रक्षा के लिये प्रस्थान कर ही रहे थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ ने आकर कहा—"पिताजी! हम लोगों के रहते आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। उस अकिंचन शेर के लिये तो हम बच्चे ही पर्याप्त हैं।" इस तरह त्रिपृष्ठ कुमार राजा की आज्ञा लेकर उपद्रव के स्थान पर पहुँचे और खेत के रखवालों से बोले—"भाई! यहाँ कैसे और कब तक रहना है?"

रक्षकों ने कहा—"जब तक शालि-धान्य पक नहीं जाता तब तक सेना सहित घेरा डाल कर यहीं रहना है[1] और शेर से रक्षा करनी है।"

इतने समय तक यहाँ कौन रहेगा, ऐसा विचार कर त्रिपृष्ठ ने शेर के रहने का स्थान पूछा और सशस्त्र रथारूढ़ हो गुफा पर पहुँच कर गुफास्थित शेर को ललकारा। सिंह भी उठा और भयंकर दहाड़ करता हुआ अपनी माँद से बाहर निकला।

उत्तम पुरुष होने के कारण त्रिपृष्ठ ने शेर को देख कर सोचा—"यह तो पैदल और शस्त्ररहित निहत्था है, फिर मैं रथारूढ़ और शस्त्र से सुसज्जित हो इस पर आक्रमण करूं, यह कैसे न्यायसंगत होगा? मुझे भी रथ से नीचे उतर कर बराबरी से मुकाबला करना चाहिये।"

ऐसा सोच कर वह रथ से नीचे उतरा और शस्त्र फेंक कर सिंह के सामने तन कर खड़ा हो गया। सिंह ने ज्यों ही उसे बिना शस्त्र के सामने खड़ा देखा तो सोचने लगा—"अहो! यह कितना धृष्ट है, रथ से उतर कर एकाकी मेरी गुफा पर आ गया है। इसे मारना चाहिये। ऐसा सोच सिंह ने आक्रमण किया। त्रिपृष्ट ने साहसपूर्वक छलांग भर कर शेर के जबड़े दोनों हाथों से पकड़ लिये और जीर्ण वस्त्र की तरह शेर को अनायास ही चीर डाला। दर्शक, कुमार का साहस देख कर स्तब्ध रह गये और कुमार के जय-घोषों से गगन गूंज उठा।[2]

अश्वग्रीव ने जब कुमार त्रिपृष्ठ के अद्भुत शौर्य की यह कहानी सुनी तो उसे कुमार के प्रबल शौर्य से बड़ी ईर्ष्या हुई। उसने कुमार को अपने पास बुलवाया और उसके न आने पर नगर पर चढ़ाई कर दी। दोनों में खूब जम-कर युद्ध हुआ। त्रिपृष्ठ की शक्ति के सम्मुख अश्वग्रीव ने जब अपने शस्त्रों को निस्तेज देखा तो उसने चक्र-रत्न चलाया, किन्तु त्रिपृष्ठ ने चक्र-रत्न को पकड़ कर उस ही के द्वारा अश्वग्रीव का शिर काट डाला और स्वयं प्रथम वासुदेव बना।

एक दिन त्रिपृष्ठ के राजमहल में कुछ संगीतज्ञ आये और अपने मधुर संगीत की स्वर-लहरी से उन्होंने श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर दिया। राजा ने सोते समय शय्यापालकों से कहा—"मुझे जब नींद आ जाय तो गाना बन्द करवा देना।" किन्तु शय्यापालक संगीत की माधुरी से इतने प्रभावित हुए कि

---

१ त्रि. श. पु. च., १ प०, १० स०, श्लोक १४०

२ एकेन पाणिनोर्ध्वोष्ठमपरेणाधरं पुनः। धृत्वा त्रिपृष्ठस्तं सिंहं जीर्णवस्त्रमिवाट्टणात्। पुष्पाभरण वस्त्राणि.......। त्रि० श० पु० च० १०।१।१४१-१५०

राजा के सो जाने पर भी वे संगीत को वन्द नहीं करा सके। रात के अवसान पर जब राजा की नींद भंग हुई तो उसने संगीत को चालू देखा।

क्रोध में भर कर त्रिपृष्ठ शय्यापालक से बोले—"गाना बन्द नहीं करवाया ?" उसने कहा—"देव ! संगीत की मीठी तान में मस्त होकर मैंने गायक को नहीं रोका।" त्रिपृष्ठ ने आज्ञाभंग के अपराध से रुष्ट हो शय्यापालक के कानों में शीशा गरम करवा कर डाल दिया।

इस घोर कृत्य से उस समय त्रिपृष्ठ ने निकाचित कर्म का बन्ध किया और मर कर सप्तम नरक में नेरइया रूप से उत्पन्न हुआ।[1] यह महावीर के जीव का उन्नीसवां भव था। बीसवें भव में सिंह और इक्कीसवें भव में चतुर्थ नरक का नेरइया हुआ। तदनन्तर अनेक भव कर पहली नरक में उत्पन्न हुआ, वहाँ की आयु पूर्ण कर बाईसवें प्रियमित्र (पोट्टिल) चक्रवर्ती के भव में दीर्घ-काल तक राज्यशासन करके पोट्टिलाचार्य के पास संयम स्वीकार किया और करोड़ वर्ष तक तप-संयम की साधना की। तेईसवें भव में महाशुक्र कल्प में देव हुआ और चौवीसवें भव में नन्दन राजा के भव में तीर्थंकरगोत्र का बंध किया, जो इस प्रकार है :—

छत्रा नगरी के महाराज जितशत्रु के पुत्र नन्दन ने पोट्टिलाचार्य के उपदेश से राजसी वैभव और काम-भोग छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की। चौबीस लाख वर्ष तक इन्होंने संसार में भोग-जीवन बिताया और फिर एक लाख वर्ष की संयम पर्याय में निरन्तर मास-मास की तपस्या करते रहे और कर्मशूर से धर्मशूर बनने की कहावत चरितार्थ की। इस लाख वर्ष के संयमजीवन में इन्होंने ग्यारह लाख साठ हजार मास-खमण किये। सब का पारण-काल तीन हजार तीन सौ तैंतीस वर्ष, तीन मास और उन्तीस दिनों का हुआ। तप-संयम और अर्हत् आदि बीसों ही बोलों की उत्कट आराधना करते हुए इन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध किया एवं अन्त में दो मास का अनशन कर समाधिभाव में आयु पूर्ण की। पच्चीसवें भव में प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए।

समवायांग सूत्र के अनुसार प्राणत स्वर्ग से च्यवन कर नन्दन का जीव देवानन्द की कुक्षि में उत्पन्न हुआ, इसे भगवान् का छब्बीसवाँ भव और देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला देवी की कुक्षि में शक्राज्ञा से हरिणैगमेषी देव द्वारा गर्भ-परिवर्तन किया गया, इसे भगवान् का सत्ताईसवां भव माना गया है। क्रमशः दो गर्भों में आगमन को पृथक्-पृथक् भव मान लिया गया है।

---

१ त्रि० श० पु० च० १०।१।१७८ से १८१

इस सम्बन्ध में समवायांग सूत्र का मूल पाठ व श्री अभय देव सूरी द्वारा निर्मित वृत्ति का पाठ इस प्रकार है :—

"समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाश्रो छट्ठे पोटिल्ल भवग्गहणे एगं वास कोडिं सामण्ण परियागं......"

[समवायांग, समवाय १३४, पत्र ६८ (१)]

"समणेत्यादि यतो भगवान् प्रोट्टिलाभिधान राजपुत्रो बभूव, तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्यां पालितवानित्येको भवः, ततो देवोऽभूदिति द्वितीयः, ततो नन्दनाभिधानो राजसूनुः छत्राग्रनगर्यां जज्ञे इति तृतीयः, तत्र वर्षलक्षं सर्वथा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुस्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवदिति चतुर्थस्ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया कुक्षावुत्पन्न इति पञ्चमस्ततस्त्र्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्याया कुक्षाविन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृतस्तीर्थंकरतया च जातः इति षष्ठः, उक्तभवग्रहणं हि विना नान्यद्भवग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवत इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भवग्रहणादिदं षष्ठं तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति सुष्ठूच्यते तीर्थंकर भवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति।"

[समवायांग, अभयदेववृत्ति, पत्र ६८]

आचार्य हेमचन्द्र सूरि कृत त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आचार्य गुणचन्द्रगणि कृत श्री महावीर चरियं, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यकमलयगिरिवृत्ति में पोट्टिल (प्रियमित्र चक्रवर्ती) से पहले बाईसवां भव मानव के रूप में उत्पन्न होने का उल्लेख कर देवानन्दा के गर्भ में उत्पन्न होने और त्रिशला के गर्भ में संहारण इन दोनों को भगवान् महावीर का सत्ताईसवां भव माना है। पर मूल आगम समवायांग के उपर्युक्त उद्धरण के समक्ष इस प्रकार की अन्य किसी मान्यता को स्वीकार करने का कोई प्रश्न पैदा नहीं होता।

दिगम्बर परम्परा में भगवान् महावीर के ३३ भवों का वर्णन है।[1]

इतिहास-प्रेमियों की सुविधा हेतु एवं पाठकों की जानकारी के लिये श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के भव यहाँ दिये जा रहे हैं :—

---

१ गुणभद्राचार्य रचित उत्तरपुराण, पर्व ७४, पृ० ४४४

श्वेताम्बर मान्यता	दिगम्बर मान्यता
१. नयसार ग्राम चिन्तक	१. पुरुरवा भील
२. सौधर्मदेव	२. सौधर्म देव
३. मरीचि	३. मरीचि
४. ब्रह्म स्वर्ग का देव	४. ब्रह्म स्वर्ग का देव
५, कौशिक ब्राह्मण (अनेक भव)	५. जटिल ब्राह्मण
६. पुष्यमित्र ब्राह्मण	६. सौधर्म स्वर्ग का देव
७. सौधर्मदेव	७. पुष्यमित्र ब्राह्मण
८. अग्निद्योत	८. सौधर्म स्वर्ग का देव
९. द्वितीय कल्प का देव	९. अग्निसह ब्राह्मण
१०. अग्निभूति ब्राह्मण	१०. सनत्कुमार स्वर्ग का देव
११. सनत्कुमारदेव	११. अग्निमित्र ब्राह्मण
१२. भारद्वाज	१२. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१३. महेन्द्रकल्प का देव	१३. भारद्वाज ब्राह्मण
१४. स्थावर ब्राह्मण	१४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव त्रस स्थावर योनि के असंख्य भव
१५. ब्रह्मकल्प का देव	१५. स्थावर ब्राह्मण
१६. विश्वभूति	१६. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१७. महाशुक्र का देव	१७, विश्वनन्दी
१८. त्रिपृष्ठ नारायण	१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
१९. सातवीं नरक	१९. त्रिपृष्ठ नारायण
२०. सिंह	२०. सातवीं नरक का नारकी
२१. चतुर्थ नरक (अनेक भव, अन्त में पहली नरक का नेरिया)	२१. सिंह
२२ पोट्टिल (प्रियमित्र) चक्रवर्ती	२२. प्रथम नरक का नारकी
२३. महाशुक्रकल्प का देव	२३. सिंह
२४. नन्दन	२४. प्रथम स्वर्ग का देव
२५. प्राणत देवलोक	२५. कनकोज्वल राजा
२६. देवानन्दा के गर्भ में	२६. लान्तक स्वर्ग का देव
२७. त्रिशला की कुक्षि से भगवान् महावीर	२७. हरिषेण राजा
	२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव

२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती
३०. सहस्रार स्वर्ग का देव
३१. नन्द राजा
३२. अच्युत स्वर्ग का देव
३३. भगवान् महावीर

दोनों परम्पराओं में भगवान् के पूर्वभवों के नाम एवं संख्या में भिन्नता होने पर भी इस मूल एवं प्रमुख तथ्य को एकमत से स्वीकार किया गया है कि अनन्त भवभ्रमण के पश्चात् सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तथा कर्मनिर्जरा के प्रभाव से नयसार का जीव अभ्युदय और आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हुआ। दुष्कृतपूर्ण कर्मबन्ध से उसे पुनः एक बहुत लम्बे काल तक भवाटवी में भटकना पड़ा और अन्त में नन्दन के भव में अत्युत्कट चिन्तन, मनन एवं भावना के साथ-साथ उच्चतम कोटि के त्याग, तप, संयम, वैराग्य, भक्ति और वैयावृत्य के आचरण से उसने महामहिमापूर्ण सर्वोच्चपद तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

भगवान् महावीर के पूर्वभवों की जो यह संख्या दी गई है, उसमें नयसार के भव से महावीर के भव तक के सम्पूर्ण भव नहीं आये हैं। दोनों परम्पराओं की मान्यता इस सम्बन्ध में समान है कि ये २७ भव केवल प्रमुख-प्रमुख भव हैं। इन सत्ताईस भवों के बीच में भगवान् के जीव ने अन्य अगणित भवों में भ्रमण किया।

भ० महावीर के कल्याणक

भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में दशम स्वर्ग से च्यवन कर उसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में वे देवानन्दा के गर्भ में आये। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही उनका देवानन्दा के गर्भ से महारानी त्रिशलादेवी के गर्भ में साहरण किया गया। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भ० महावीर का जन्म हुआ। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही प्रभु महावीर मुण्डित हो सागार से अणगार बने और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही प्रभु महावीर ने कृत्स्न (समग्र), प्रतिपूर्ण, अव्याघात, निरावरण अनन्त और अनुत्तर केवलज्ञान एवं केवलदर्शन एक साथ प्राप्त किया। स्वाति नक्षत्र में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया।[1]

च्यवन और गर्भ में आगमन

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दुष्षम नामक

१ आचारांग सूत्र, श्रु० २, तृतीया चूला, भावना नामक १५वां अध्ययन का प्रारम्भिक सूत्र।

तीन आरकों के व्यतीत हो जाने पर और दुष्षम-सुषम नामक चौथे आरक का बहुत काल व्यतीत हो जाने पर जब कि उस चौथे आरक के केवल ७५ वर्ष और सार्द्ध आठ मास ही शेष रहे थे, उस समय ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवें पक्ष में आषाढ़ शुक्ला छट्ठ की रात्रि में चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग होने पर भ० महावीर (नन्दन राजा का जीव) महाविजय सिद्धार्थ-पुष्पोत्तर वर पुण्डरीक, दिक्स्वस्तिक वर्द्धमान नामक महा विमान में सागरोपम की देव-आयु पूर्ण कर देवायु, देवस्थिति और देवभव का क्षय होने पर उस दशवें स्वर्ग से च्यवन कर इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध भरत के दक्षिण ब्राह्मण-कुण्ड पुर सन्निवेश में कुडाल गोत्रीय ब्राह्मण ऋषभदत्त की भार्या जालन्धर गोत्रीया ब्राह्मणी देवानन्दा की कुक्षि में, गुफा में प्रवेश करते हुए सिंह के समान गर्भ रूप में उत्पन्न हुए।[1]

श्रमण भ० महावीर के जीव ने जिस समय दशवें स्वर्ग से च्यवन किया, उस समय वह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञानों से युक्त था। मैं दशवें स्वर्ग से च्यवन करूँगा—यह वे जानते थे। स्वर्ग से च्यवन कर मैं गर्भ में आ गया हूँ, यह भी वे जानते थे, किन्तु मेरा इस समय च्यवन हो रहा है, इस च्यवन-काल को वे नहीं जानते थे, क्योंकि वह च्यवनकाल अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है।[2] वह काल केवल केवलीगम्य ही होता है, छद्मस्थ उसे नहीं जान सकता।

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की अर्द्धरात्रि में भगवान् महावीर गर्भ में आये और उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखपूर्वक सोयी हुई देवानन्दा ने अर्द्धजागृत और अर्द्धसुप्त अवस्था में चौदह महान् मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे। महास्वप्नों को देखने के पश्चात् तत्काल देवानन्दा उठी। वह परम प्रमुदित हुई। उसने उसी समय अपने पति ऋषभदत्त के पास जा कर उन्हें अपने चौदह स्वप्नों का विवरण सुनाया।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन की बात सुनकर ऋषभदत्त बोले—"अयि देवानुप्रिये! तुमने बहुत ही अच्छे स्वप्न देखे हैं। ये स्वप्न शिव और मंगलरूप हैं। विशेष बात यह है कि नौ मास और साढ़े सात रात्रि-दिवस बीतने पर तुम्हें पुण्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी। वह पुत्र शरीर से सुन्दर, सुकुमार, अच्छे लक्षण, व्यञ्जन, सद्गुणों से युक्त और सर्वप्रिय होगा। जब वह बाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था को प्राप्त होगा तो वेद-वेदाङ्गादि का पारंगत विद्वान्, बड़ा

---

१ समणे भगवं महावीरे इमाए ओसप्पिणीए..............देवाणंदाए माहणीए जालंधर-स्सगुत्ताए सीहुब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिसि गब्भं वक्कंते।

२ समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि हुत्था, चइस्सामिति जाणइ, चुएमित्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, सुहुमे णं से काले पन्नत्ते। आचारांग, श्रु० २, अ० १५।

शूरवीर और महान् पराक्रमी होगा। ऋषभदत्त के मुख से स्वप्नफल सुन कर देवानन्दा बड़ी प्रसन्न हुई तथा योग्य आहार-विहार और अनुकूल आचार से गर्भ का परिपालन करने लगी।

इन्द्र का अवधिज्ञान से देखना

उसी समय देवपति शक्रेन्द्र ने सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को अवधिज्ञान से देखते हुए श्रमण भगवान् महावीर को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए देखा। वे प्रसन्न होकर सिंहासन पर से उठकर पादपीठ से नीचे उतरे और मणिजटित पादुकाओं को उतार कर बिना सिले एक शाटक-वस्त्र से उत्तरासन (मुँह की यतना) किये और अंजलि जोड़े हुए तीर्थंकर के सम्मुख सात आठ पैर आगे चले तथा बायें घुटने को ऊपर उठाकर एवं दाहिने घुटने को भूमि पर टिका कर उन्होंने तीन बार सिर झुकाया और फिर कुछ ऊँचे होकर, दोनों भुजाओं को संकोच कर, दशों अंगुलियाँ मिलाये अंजलि जोड़कर वंदन करते हुए वे बोले— "नमस्कार हो अर्हन्त भगवान्! यावत् सिद्धिगति नाम स्थान प्राप्त को। फिर नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर! धर्मतीर्थ की आदि करने वाले चरम-तीर्थंकर को।" इस प्रकार भावी तीर्थंकर को नमस्कार करके इन्द्र पूर्वाभिमुख हो सिंहासन पर बैठ गये।[१]

इन्द्र की चिन्ता और हरिणैगमेषी को आदेश

इन्द्र ने जब अवधिज्ञान से देवानन्दा की कुक्षि में भगवान् महावीर के गर्भरूप से उत्पन्न होने की बात जानी तो उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ— "अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव सदा उग्रकुल आदि विशुद्ध एवं प्रभावशाली वंशों में ही जन्म लेते आये हैं, कभी अंत, प्रान्त, तुच्छ या भिक्षुक कुल में उत्पन्न नहीं हुए और न भविष्य में होंगे। चिरन्तन काल से यही परम्परा रही है कि तीर्थंकर आदि उग्रकुल, भोगकुल प्रभृति प्रभावशाली वीरोचित कुलों में ही उत्पन्न होते हैं। फिर भी प्राक्तन कर्म के उदय से श्रमण भगवान् महावीर देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए हैं, यह अनहोनी और आश्चर्यजनक बात है। मेरा कर्त्तव्य है कि तथाविध अन्त आदि कुलों से उनका उग्र आदि विशुद्ध कुल-वंश में साहरण करवाऊँ।" ऐसा सोचकर इन्द्र ने हरिणैगमेषी देव को बुलाया और उसे श्रमण भगवान् महावीर को सिद्धार्थ राजा की पत्नी त्रिशला के गर्भ में साहरण करने का आदेश दिया।[२]

---

१ (क) आव० भाष्य०, गा० ५८,५९ पत्र २५६
(ख) कल्पसूत्र, सू० ६१।

हरिणैगमेषी द्वारा गर्भापहार

इन्द्र का आदेश पाकर हरिणैगमेषी प्रसन्न हुआ और "तथास्तु देव !" कह कर उसने विशेष प्रकार की क्रिया से कृत्रिम रूप बनाया। उसने ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में आकर देवानन्दा को निद्रावश करके बिना किसी प्रकार की बाधा-पीड़ा के महावीर के शरीर को करतल में ग्रहण किया एवं त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में लाकर रख दिया तथा त्रिशला का गर्भ लेकर देवानन्दा की कूँख में बदल दिया[1] और उसकी निद्रा का अपहरण कर चला गया।

आचारांग सूत्र के भावना अध्ययन में कब और किस तरह गर्भपरिवर्तन किया, इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध भरत में, दक्षिण ब्राह्मणकुंडपुर सन्निवेश में कोडालसगोत्रीय उसभदत्त ब्राह्मण की जालंधर गोत्र वाली देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंहअर्भक की तरह भगवान् महावीर गर्भरूप से उत्पन्न हुए। उस समय श्रमण भगवान् महावीर तीन ज्ञान के धारक थे। श्रमण भगवान् महावीर को हितानुकम्पी देव ने जीतकल्प समझ कर, वर्षाकाल के तीसरे मास, अर्थात् पाँचवें पक्ष में, आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को जब चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग था, बयासी अहोरात्रियाँ बीतने पर तियासीवीं रात्रि में दक्षिण ब्राह्मणकुंडपुर सन्निवेश से उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में ज्ञात-क्षत्रिय, काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ की वशिष्ठ गोत्रीया क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में अशुभ पुद्गलों को दूर कर शुभ पुद्गलों के साथ गर्भ रूप में रखा और जो त्रिशला क्षत्रियाणी का गर्भ था उसको दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश में ब्राह्मण ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा की कूंख में स्थापित किया।[2]

गर्भापहार-विधि

इस प्रकार ८२ रात्रियों तक देवानन्दा के गर्भ में रहने के पश्चात् ८३वीं रात्रि में जिस समय हरिणैगमेषी देव द्वारा गर्भ रूप में रहे हुए भगवान् महावीर का महारानी त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया गया—"हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस समय वे भगवान् तीन ज्ञान से युक्त थे। मेरा देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया जायगा, इस समय मेरा साहरण किया जा रहा है और देवानन्दा की कुक्षि से मेरा साहरण त्रिशलादेवी की कुक्षि में कर दिया गया है—ये तीनों ही बातें भगवान् महावीर जानते थे।"[3]

---

१ आचारांग सूत्र

२ आचारांग सूत्र

३ समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि होत्था—साहरिज्जिसामित्ति जाणइ, साहरिज्जमाणे वि जाणइ, साहरिएमित्ति जाणइ समणाउसो।

आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० १५

देवकृत साहरण का कार्य च्यवन काल के समान अत्यन्त सूक्ष्म नहीं होता, अतः तीन ज्ञान के धनी भ० महावीर साहरण की भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही क्रियाओं को जानते थे। कल्पसूत्र में जो उल्लेख है कि "इस समय मेरा साहरण किया जा रहा है, यह भ० महावीर नहीं जानते थे", वह उल्लेख ठीक नहीं है। कल्पसूत्र के टीकाकार विनय विजयजी ने "साहरिज्जमाणे वि जाणइ" इस प्रकार के प्राचीन प्रति के पाठ को प्रामाणिक माना है।

भगवती सूत्र में हरिणैगमेषी द्वारा जिस प्रकार गर्भ-परिवर्तन किया जाता है, उसकी चर्चा की गई है। इन्द्रभूति गौतम ने जिज्ञासा करते हुए भगवान् महावीर से पूछा—"प्रभो! हरिणैगमेषी देव जो गर्भ का परिवर्तन करता है, वह गर्भ से गर्भ का परिवर्तन करता है या गर्भ से लेकर योनि द्वारा परिवर्तन करता है अथवा योनिद्वार से निकाल कर गर्भ में परिवर्तन करता है या योनि से योनि में परिवर्तन करता है?"

उत्तर में कहा गया—"गौतम! गर्भाशय से लेकर हरिणैगमेषी दूसरे गर्भ में नहीं रखता किन्तु योनि द्वारा निकाल कर बाधा-पीड़ा न हो, इस तरह गर्भ को हाथ में लिए दूसरे गर्भाशय में स्थापित करता है। गर्भपरिवर्तन में माता को पीड़ा इस कारण नहीं होती कि हरिणैगमेषी देव में इस प्रकार की लब्धि है कि वह गर्भ को सूक्ष्म रूप से नख या रोमकूप से भी भीतर प्रविष्ट कर सकता है।" जैसा कि कल्पसूत्र में कहा है :—

"हरिणैगमेषी ने देवानन्दा ब्राह्मणी के पास आकर पहले श्रमण भगवान् महावीर को प्रणाम किया और फिर देवानन्दा को परिवार सहित निद्राधीन कर अशुभ पुद्गलों का अपहरण किया और शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप कर प्रभु की अनुज्ञा से श्रमण भगवान् महावीर को बाधा-पीड़ा रहित दिव्य प्रभाव से करतल में लेकर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ रूप से साहरण किया।"

[कल्पसूत्र, सू० २७]

गर्भापहार असंभव नहीं, आश्चर्य है

वास्तव में ऐसी घटना अद्भुत होने के कारण आश्चर्यजनक हो सकती है, पर असंभव नहीं। आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है—"गर्भपरिवर्तन जैसी घटना लोक में आश्चर्यभूत है जो अनन्त अवसर्पिणी काल और अनन्त उत्सर्पिणी काल व्यतीत होने पर कभी-कभी होती है।"

दिगम्बर परम्परा ने गर्भापहरण के प्रकरण को विवादास्पद समझ कर मूल से ही छोड़ दिया है। पर श्वेताम्बर परम्परा के मूल सूत्रों और टीका चूर्णि आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर आचार्यों का कहना

है कि तीर्थंकर का गर्भहरण आश्चर्यजनक घटना हो सकती है, पर असंभव नहीं। समवायांग सूत्र के ८३ वें समवाय में गर्भपरिवर्तन का उल्लेख मिलता है। स्थानांग सूत्र के पाँचवें स्थान में भी भगवान् महावीर के पंचकल्याणकों में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में गर्भपरिवर्तन का स्पष्ट उल्लेख है। स्थानांग सूत्र के १०वें स्थान में दश आश्चर्य गिनाये गये हैं। उनमें गर्भ-हरण का दूसरा स्थान है। वे आश्चर्य इस प्रकार है :-

> उवसग्ग,[1] गब्भहरणं[2] इत्थीतित्थं[3] अभाविया-परिसा[4]।
> कण्हस्स अवरकंका,[5] उत्तरणं चंद-सूराणं[6]॥
> हरिवंसकुलुप्पत्ती[7] चमरुप्पातो[8] य अट्ठसयसिद्धा[9]।
> अस्संजतेसु[10] पूआ, दस वि अणंतेण कालेण॥
>
> [स्थानांग भा. २ सूत्र ७७७, पत्र ५२३-२]

१. उपसर्ग :—श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण में गोशालक ने सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को तेजोलेश्या से भस्मीभूत कर दिया। भगवान् पर भी तेजोलेश्या का उपसर्ग किया। यह प्रथम आश्चर्य है।

२. गर्भहरण :—तीर्थंकर का गर्भहरण नहीं होता, पर श्रमण भगवान् महावीर का हुआ। यह दूसरा आश्चर्य है। जैनागमों की तरह वैदिक परम्परा में भी गर्भ-परिवर्तन की घटना का उल्लेख है। वसुदेव की संतानों को कंस जब नष्ट कर देता था तब विश्वात्मा विष्णु योगमाया को आदेश देते हैं कि देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में रखा जाय। विश्वात्मा के आदेश से योगमाया ने देवकी के गर्भ को रोहिणी के उदर में स्थापित किया।[1]

३. स्त्री-तीर्थंकर :—सामान्य रूप से तीर्थंकरपद पुरुष ही प्राप्त करते हैं, स्त्रियाँ नहीं। वर्तमान अवसर्पिणी काल में १९वें तीर्थंकर मल्ली भगवती स्त्री रूप से उत्पन्न हुए, अतः आश्चर्य है।

४. अभाविता परिषद् :—तीर्थंकर का प्रथम प्रवचन अधिक प्रभावशाली होता है, उसे श्रवण कर भोगमार्ग के रसिक प्राणी भी त्यागभाव स्वीकार करते

---

१ गच्छ देवि व्रजं भद्रे, गोपगोभिरलंकृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य, भार्यास्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्नाः, विवरेषु वसन्ति हि ॥७॥
देवक्या जठरे गर्भं, शेषाख्यं धाम मामकम्।

हैं। किन्तु भगवान् महावीर की प्रथम देशना में किसी ने चारित्र स्वीकार नहीं किया, वह परिषद् अभावित रही, यह आश्चर्य है।

५. कृष्ण का अमरकंका गमन :—द्रौपदी की गवेषणा के लिए श्रीकृष्ण धातकीखण्ड की अमरकंका नगरी में गये और वहाँ के कपिल वासुदेव के साथ शंखनाद से उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ। साधारणतया चक्रवर्ती एवं वासुदेव अपनी सीमा से बाहर नहीं जाते, पर कृष्ण गये, यह आश्चर्य की बात है।

६. चन्द्र-सूर्य का उतरना :—सूर्य चन्द्रादि देव भगवान् के दर्शन को आते हैं, पर मूल विमान से नहीं। किन्तु कौशाम्बी में भगवान् महावीर के दर्शन हेतु चन्द्र-सूर्य अपने मूल विमान से आये।[1] महावीर चरियं के अनुसार चन्द्र-सूर्य भगवान् के समवसरण में आये, जबकि सती मृगावती भी वहाँ बैठी थी। रात होने पर भी उसे प्रकाश के कारण ज्ञात नहीं हुआ और वह भगवान् की वाणी सुनने में वहीं बैठी रही। चन्द्र-सूर्य के जाने पर जब वह अपने स्थान पर गई तब चन्दनबाला ने उपालम्भ दिया। मृगावती को आत्मालोचन करते-करते केवलज्ञान हो गया।[2] यह भगवान् की केवली-चर्या के चौवीसवें वर्ष की घटना है।

७. हरिवंश कुलोत्पत्ति :—हरि और हरिणीरूप युगल को देखकर एक देव को पूर्वजन्म के वैर की स्मृति हो आई। उसने सोचा "ये दोनों यहाँ भोग-भूमि में सुख भोग रहे हैं और आयु पूर्ण होने पर देवलोक में जायेंगे। अतः ऐसा यत्न करूँ कि जिससे इनका परलोक दुःखमय हो जाय।" उसने देव शक्ति से उनकी दो कोस की ऊँचाई को सौ धनुष कर दिया,[3] आयु भी घटाई और दोनों को भरतक्षेत्र की चम्पानगरी में लाकर छोड़ दिया। वहाँ के भूपति

---

१ आव० निर्युक्ति में प्रभु की छद्मस्थावस्था में संगम देव द्वारा घोर परीषह देने के बाद कौशाम्बी में चन्द्र-सूर्य का मूल विमान से आगमन लिखा है। कोसंवि चंद सूरो अरणं........ । आव नि० दी०, गा० ५१८. पत्र १०५।

२ साहावियाइं पच्चक्ख दिस्समाणाणि आरुहेउण।
ओयरिया भत्तीए वंदणवडियाए ससिसूरा ॥९॥
तेसि विमाणनिम्मल मऊह निवहप्पयासिए गयणे।
जायं निसिपि लोगो अवियाणंतो सुणइ धम्मं ॥१०॥
नवरं नाउं समयं चंदणबाला पवत्तिणी नमिउं।
सामि समणीहिं समं निययावासं गया सहसा ॥११॥
सा पुण मिगावई जिणकहाए वक्खित्तमाणसा धणियं।
एगागिणी चियट्ठिया दिणंति काऊण ओसरणे ॥१२॥
[महावीर चरियं (गुणचन्द्र), प्रस्ताव ८, पत्र १७५]

३ कुणतिय से दिव्वप्पभावेण धणुसयं उच्चत्तं ॥ वसु० हिं०, पृ० ३५७

का वियोग होने से 'हरि' को अधिकारियों द्वारा राजा बना दिया गया। कुसंगति के कारण दोनों ही दुर्व्यसनी हो गये और फलतः दोनों मरकर नरक में उत्पन्न हुए। इस युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई।

युगलिक नरक में नहीं जाते पर ये दोनों हरि और हरिणी नरक में गये। यह आश्चर्य की बात है।

८. चमर का उत्पात :—पूरण तापस का जीव असुरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। इन्द्र बनने के पश्चात् उसने अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य-भोगों का उपभोग करते हुए देखा और उसके मन में विचार हुआ कि इसकी शोभा को नष्ट करना चाहिए। भगवान् महावीर की शरण लेकर उसने सौधर्म देवलोक में उत्पात मचाया। इस पर शक्रेन्द्र ने क्रुद्ध हो उस पर वज्र फेंका। चमरेन्द्र भयभीत हो भगवान् के चरणों में गिरा। शक्रेन्द्र भी चमरेन्द्र को भगवान् महावीर की चरण-शरण में जानकर बड़े वेग से वज्र के पीछे आया और अपने फेंके हुए वज्र को पकड़ कर उसने चमर को क्षमा प्रदान कर दी।

चमरेन्द्र का इस प्रकार अरिहंत की शरण लेकर सौधर्म देवलोक में जाना आश्चर्य है।

९. उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ सिद्ध :—भगवान् ऋषभदेव के समय में ५०० धनुष की अवगाहना वाले १०८ सिद्ध हुए। नियमानुसार उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो[1] ही एक साथ सिद्ध होने चाहियें, पर ऋषभदेव और उनके पुत्र आदि १०८ एक समय में साथ सिद्ध[2] हुए, यह आश्चर्य की बात है।

१०. असंयत पूजा :—संयत ही वंदनीय-पूजनीय होते हैं, पर नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के शासन में श्रमण-श्रमणी के अभाव में असंयति की ही पूजा हुई, अतः यह आश्चर्य माना गया है।

वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भापहार

भारतीय साहित्य में वर्णित गर्भापहार जैसी कितनी ही बातों को लोग अब तक अविश्वसनीय मानते रहे हैं, पर विज्ञान के अन्वेषण ने उनमें से बहुत कुछ प्रत्यक्ष कर दिखाया है। गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी द्वारा प्रकाशित "जीवन विज्ञान" (पृष्ठ ४३) में एक आश्चर्यजनक घटना प्रकाशित की गई है, जो इस प्रकार है :—

---

१ उक्कोसोगाहणाए य सिज्झंते जुगवं दुवे। उ० ३६, गा० ५४

२ रिसहो रिसहस्स सुया, भरहेण विवज्जिया नवनवई।
अट्ठेव भरहस्स सुया, सिद्धिगया एग समयम्मि॥

"एक अमेरिकन डॉक्टर को एक भाटिया-स्त्री के पेट का ऑपरेशन करना था। वह गर्भवती थी, अतः डॉक्टर ने एक गर्भिणी बकरी का पेट चीर कर उसके पेट का बच्चा बिजली की शक्ति से युक्त एक डिब्बे में रखा और उस औरत के पेट का बच्चा निकाल कर बकरी के गर्भ में डाल दिया। औरत का ऑपरेशन कर चुकने के बाद डॉक्टर ने पुनः औरत का बच्चा औरत के पेट में रख दिया और बकरी का बच्चा बकरी के पेट में रख दिया। कालान्तर में बकरी और स्त्री ने जिन बच्चों को जन्म दिया वे स्वस्थ और स्वाभाविक रहे।"

'नवनीत की तरह अन्य पत्रों में भी इस प्रकार के अनेक वृत्तान्त प्रकाशित हुए हैं, जिनसे गर्भापहरण की बात संभव और साधारण सी प्रतीत होती है।

त्रिशला के यहाँ

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, जिस समय हरिणैगमेषी देव ने इन्द्र की आज्ञा से महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला की कुक्षि में साहरण किया, उस समय वर्षाकाल के तीसरे मास अर्थात् पाँचवें पक्ष का आश्विन कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। देवानन्दा के गर्भ में बयासी (८२) रात्रियाँ बिता चुकने के पश्चात् तियासीवीं रात्रि में चन्द्र के उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग के समय भगवान् महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया गया।

गर्भसाहरण के पश्चात् देवानन्दा यह स्वप्न देखकर कि उसके चौदह मंगलकारी शुभस्वप्न उसके मुखमार्ग से बाहर निकल गये हैं, तत्क्षण जाग उठी। वह शोकाकुल हो बारम्बार विलाप करने लगी कि किसी ने उसके गर्भ का अपहरण कर लिया है।[1]

उधर त्रिशला रानी को उसी रात उन चौदह महामंगलप्रद शुभस्वप्नों के दर्शन हुए। वह जागृत हो महाराज सिद्धार्थ के पास गई और उसने अपने स्वप्न सुनाकर बड़ी मृदु-मंजुल वाणी में उनसे स्वप्नफल की पृच्छा की।

महाराज सिद्धार्थ ने निमित्त-शास्त्रियों को ससम्मान बुलाकर उनसे उन चौदह स्वप्नों का फल पूछा।

निमित्तज्ञों ने शास्त्र के प्रमाणों से बताया—"इस प्रकार के मांगलिक शुभस्वप्नों में से तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती की माता चौदह महास्वप्न देखती है। वासुदेव की माता सात महास्वप्न, बलदेव की माता चार महास्वप्न तथा

१ (क) महावीर चरित्रम् (गुणचन्द्र सूरि), पत्र २१२ (२)।
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक २७ और २८।

माण्डलिक की माता एक शुभस्वप्न देखकर जागृत होती है। महारानी त्रिशला देवी ने चौदह शुभस्वप्न देखे हैं, अतः इनको तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती जैसे किसी महान् भाग्यशाली पुत्ररत्न का लाभ होगा। निश्चित रूप से इनके ये स्वप्न परम प्रशस्त और महामंगलकारी हैं।"

स्वप्नपाठकों की बात सुनकर महाराज सिद्धार्थ परम प्रमुदित हुए और उन्होंने उनको जीवनयापन योग्य प्रीतिदान देकर सत्कार एवं सम्मान के साथ विदा किया। महारानी त्रिशला भी योग्य आहार-विहार और मर्यादित व्यवहारों से गर्भ का सावधानीपूर्वक प्रतिपालन करती हुई परमप्रसन्न मुद्रा में रहने लगीं।

महारानी त्रिशलादेवी ने जिस समय भगवान् महावीर को अपने गर्भ में धारण किया, उसी समय से तृजृंभक देवों ने इन्द्र की आज्ञा से पुरातन निधियाँ लाकर महाराज सिद्धार्थ के राज्य-भण्डार को हिरण्य-सुवर्ण आदि से भरना प्रारंभ कर दिया और समस्त ज्ञातकुल की विपुल धन-धान्यादि ऋद्धियों से महती अभिवृद्धि होने लगी।[1]

महावीर का गर्भ में अभिग्रह

भगवान् महावीर जब त्रिशला के गर्भ में थे, तब उनके मन में विचार आया कि उनके हिलने-डुलने से माता अतिशय कष्टानुभव करती है। यह विचार कर उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। किन्तु गर्भस्थ जीव के हलन-चलनादि क्रिया को बन्द देख कर माता बहुत घबराईं। उनके मन में शंका होने लगी कि उनके गर्भ का किसी ने हरण कर लिया है अथवा वह मर गया है या गल गया है। इसी चिन्ता में वह उदास और व्याकुल रहने लगीं। माता की उदासी से राज-भवन का समस्त आमोद-प्रमोद एवं मंगलमय वातावरण शोक और चिन्ता में परिणत हो गया। गर्भस्थ महावीर ने अवधिज्ञान द्वारा माँ की यह करुणावस्था और राजभवन की विषादमयी स्थिति देखी तो वे पुनः अपने अंगोपांग हिलाने-डुलाने लगे जिससे माँ का मन फिर प्रसन्नता से नाच उठा और राजभवन में हर्ष का वातावरण छा गया। माँ के इस प्रबल स्नेहभाव को देख कर महावीर ने गर्भकाल में ही यह अभिग्रह धारण किया—"जब तक

---

१ जद्दिवसं च भयवं·······तिसला देवीए उदरकमलमइगओ तद्दिवसाओऽवि सुरवइवयणेण तिरियजंभगा देवा विविहाइं महानिहाणाइं सिद्धत्थनरिंदभुवणंमि मुज्जो-मुज्जो परिखिवंति, तंपि नायकुलं धणेणं धन्नेणं·······वाढमभिवड्ढइ·······

[महावीर चरित्र (गुणचन्द्र), पत्र ११४ (१)]

मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक मैं मुंडित होकर दीक्षा-ग्रहण नहीं करूँगा।"[1]

जन्म-महिमा

प्रशस्त दोहद और मंगलमय वातावरण में गर्भकाल पूर्ण कर नौ मास और साढ़े सात दिन बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि के समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में त्रिशला क्षत्रियाणी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु के जन्मकाल में सभी ग्रह उच्च स्थान में आये हुए थे। समस्त दिशाएँ परम सौम्य, प्रकाशपूर्ण और अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रही थीं। धन-धान्य की समृद्धि एवं सुख-सामग्री की अभिवृद्धि के कारण जन-जीवन बड़ा प्रमोदपूर्ण था। गगनमण्डल से देवों ने पंचदिव्यों की वर्षा की।

प्रभु के जन्म लेते ही समस्त लोक में अलौकिक उद्योत और शान्ति का वातावरण व्याप्त हो गया। प्रभु का मंगलमय जन्ममहोत्सव मनाने वाले देव-देवियों के आगमन से सम्पूर्ण गगनमण्डल एवं भूमण्डल एक अपूर्व उद्योत से प्रकाशमान् और मृदु-मंजुल रव से मुखरित हो उठा।

जिस रात्रि में क्षत्रियाणी माता त्रिशलादेवी ने प्रभु महावीर को जन्म दिया, उस रात्रि में बहुत से देवों और देवियों ने अमृतवृष्टि, मनोज्ञ सुगन्धित गन्धों की वृष्टि, सुगन्धित चूर्णों की वृष्टि, सुन्दर सुगन्धित पंच वर्ण पुष्पों की वृष्टि, हिरण्य की वृष्टि, स्वर्ण की वृष्टि और रत्नों की वृष्टि—इस प्रकार सात प्रकार की विपुल वृष्टियाँ कीं।[2]

भगवान् महावीर का जन्म होते ही ५६ दिक्कुमारियों और ६४ देवेन्द्रों के आसन डोलायमान हुए। अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा जब उन्हें ज्ञात हुआ कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म हुआ है तो अपने पद के त्रिकालवर्ती जीताचार के परिपालनार्थ उन सब ने अपने-अपने आभियोगिक देवों को अतीव मनोहर-विशाल एवं विस्तीर्ण अनुपम विमानों की विकुर्वणा करने और सभी देवी-देवियों को अपनी सम्पूर्ण दिव्य देवर्द्धि के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाने हेतु प्रस्थान करने के लिए शीघ्र ही समुद्यत होने का आदेश दिया।

सबसे पहले अधोलोक निवासिनी भोगंकरा आदि आठ दिक्कुमारियाँ अपनी दिव्य ऋद्धि और विशाल देव-देवी परिवार के साथ एक विशाल विमान

---

१ (क) आव० भाष्य० गा० ५८।५६, पत्र २५६
(ख) कल्पसूत्र, सूत्र ६१

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६० से ६४

में बैठ क्षत्रिय कुण्डनगर में आई। उन्होंने महाराज सिद्धार्थ के राजप्रासाद की तीन बार प्रदक्षिणा करके अपने विमान को ईशान कोण में भूमि से चार अंगुल ऊपर ठहराया और उससे उतर कर वे सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ प्रभु के जन्म गृह में आई। उन्होंने माता और प्रभु दोनों को प्रणाम करने के पश्चात् त्रिशला महारानी से सविनय मृदु-मंजुल स्वर में निवेदन किया—"हे त्रैलोक्यैकनाथ तीर्थेश्वर की त्रिलोकवन्दनीया मातेश्वरी! आप धन्य हैं, जो आपने त्रिभुवन-भास्कर जगदेकबन्धु जगन्नाथ को पुत्र रूप में जन्म दिया है। जगदम्ब! हम अधोलोक की आठ दिवकुमारिकाएँ अपने देव-देवी परिवार के साथ इन निखिलेश जिनेश्वर का जन्मोत्सव मनाने आई हैं, अतः आप किसी प्रकार के भय का विचार तक मन में न आने दें।" वे प्रभु के जन्म भवन में और उसके चारों ओर चार-चार कोस तक भूमि को साफ-सुथरी और स्वच्छ बनाने के पश्चात् माता त्रिशलादेवी के चारों ओर खड़ी हो सुमधुर स्वर में विविध वाद्ययन्त्रों की ताल एवं तान के साथ मंगलगीत गाती हैं।

तत्पश्चात् उर्ध्वलोक-वासिनी मेघंकरा आदि आठ दिवकुमारियाँ भी उसी प्रकार प्रभु के जन्मगृह में आ वन्दन-नमन-स्तुति-निवेदन आदि के उपरान्त जन्म-गृह और उसके चारों ओर चार-चार कोस तक जलवृष्टि, गन्धवृष्टि और पुष्प-वृष्टि कर समस्त भूमिभाग को सुखद-सुन्दर-सुरम्य बना माँ त्रिशला महारानी के चारों ओर खड़ी हो विशिष्टतर मंगल गीत गाती हैं।

ऊर्ध्वलोक निवासिनी दिवकुमारियों के पश्चात् पूर्वीय रुचक कूट पर रहने वाली नन्दुत्तरा आदि आठ दिवकुमारिकाएँ हाथों में दर्पण लिए, दक्षिणी रुचक कूट-गिरि निवासिनी समाहारा आदि आठ दिवकुमारियाँ झारियाँ हाथ में लिए, पश्चिमी रुचक-कूट-निवासिनी इनादेवी आदि आठ दिशाकुमारियाँ हाथों में सुन्दर तालवृन्तों से व्यजन करती हुई और उत्तरी रुचक कूट वासिनी अलम्वुषा आदि आठ दिवकुमारिकाएँ तीर्थंकर माता त्रिशला और नवजात प्रभु महावीर को श्वेत चामर ढुलाती हुई मधुर स्वर में मंगलगीत गाती हैं।

तदनन्तर चित्रा, चित्रकनका, सतेरा और सुदामिनी नाम्नी विदिशा के रुचक-कूट पर रहने वाली चार दिशाकुमारिकाएँ वन्दन-नमन-स्तुति निवेदन के पश्चात् जगमगाते प्रदीप हाथों में लिए माता त्रिशला के चारों ओर चारों विदिशाओं में खड़ी हो मंगल गीत गाती हैं।

ये सब कार्य दिव्य द्रुत गति से शीघ्र ही सम्पन्न हो जाते हैं। उसी समय रूपा, रूपांशा, सुरूपा और रूपकावती नाम की, मध्य रुचक पर्वत पर रहने वाली चार महत्तरिका दिशाकुमारियाँ वहाँ आ वन्दन आदि के पश्चात् नाभि के ऊपर चार अंगुल छोड़ कर नाल को काटती हैं। प्रासाद के प्रांगण में गड्ढा खोद कर उसमें नाल को गाड़ कर रत्नों और रत्नों के चूर्ण से उस खड्डे को

भरती हैं। तदनन्तर तीन दिशाओं में तीन कदलीघर, प्रत्येक कदलीगृह में एक-एक चतुश्शाल और प्रत्येक चतुश्शाल के मध्यभाग में एक-एक अति सुन्दर सिंहासन की विकुर्वरणा करती हैं। ये सब कार्य निष्पन्न करने के पश्चात् वे माता त्रिशला के पास आ नवजात शिशु प्रभु को करतल में ग्रहण कर और माता त्रिशला को बहुओं में समेटे दक्षिणी कदलीगृह की चतुश्शाला में सिंहासन पर बिठा शतपाक, सहस्रपाक तैल से मर्दन और उबटन कर उसी प्रकार पूर्वीय कदलीगृह की चतु:शाला में ला सिंहासन पर बिठाती है। वहाँ माता और पुत्र दोनों को क्रमशः गन्धोदक, पुष्पोदक और शुद्धोदक से स्नान करा वस्त्रालंकारों से विभूषित कर उत्तरी कदलीगृह की चतु:शाला के मध्यस्थ सिंहासन पर प्रभु की माता और प्रभु को आसीन करती हैं। आभियोगिक देवों से गौशीर्ष चन्दन मंगवा अरणी से आग उत्पन्न कर हवन करती हैं। हवन के पश्चात् उन चारों दिक्कुमारिकाओं ने भूतिकर्म किया, रक्षा पोटलिका बाँधी और प्रभु के कर्णमूल में मणिरत्नयुक्त दो छोटे-छोटे गोले इस प्रकार लटकाये जिससे कि वे टन-टन शब्द करते रहें। तदनन्तर वे देवियाँ तीर्थंकर प्रभु को उसी प्रकार करतल में लिये और माता को बाहुओं में समेटे जन्मगृह में लाईं और उन्हें शय्या पर बिठा दिया। वे सब दिक्कुमारियाँ माता की शय्या के चारों ओर खड़ी हो प्रभु की और प्रभु की माता की पर्युपासना करती हुई मंगल गीत गाने लगीं।

उसी समय सौधर्मेन्द्र देवराज शक्र अपनी सम्पूर्ण दिव्य ऋद्धि और परिवार के साथ प्रभु के जन्मगृह की प्रदक्षिणा आदि के पश्चात् माता त्रिशला देवी के पास आ उन्हें वन्दन-नमन-स्तुति-निवेदन के पश्चात् अवस्वापिनी विद्या से निद्राधीन कर दिया। प्रभु के दूसरे स्वरूप की विकुर्वणा कर शक्र ने उसे माता के पास रखा। तदनन्तर वैक्रिय शक्ति से शक्र ने अपने पाँच स्वरूप बनाये। एक शक्र ने प्रभु को अपने करतल में लिया, एक शक्र ने प्रभु पर छत्र किया, दो शक्र प्रभु के पार्श्व में चामर ढुलाते हुए चलने लगे और पाँचवाँ शक्र का स्वरूप हाथ में वज्र धारण किये प्रभु के आगे-आगे चलने लगा। चारों जाति के देवों और देवियों के अति विशाल समूह से परिवृत शक्र जयघोष एवं विविध देव-वाद्यों के तुमुल निर्घोष से गगनमण्डल को गुंजाता हुआ दिव्य देवगति से चल कर मेरुपर्वत पर पण्डक वन में अभिषेक-शिला के पास पहुँचा। शेष ६३ इन्द्र भी अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ देव-देवियों के अति विशाल परिवार से परिवृत हो उसी समय अभिषेक-शिला के पास पहुँचे। शक्र ने प्रभु महावीर को अभिषेक-शिला पर पूर्वाभिमुख कर बिठाया और ६४ इन्द्र प्रभु की पर्युपासना करने लगे।

अच्युतेन्द्र की आज्ञा से स्वर्ण, रजत, मणि, स्वर्णरौप्य, स्वर्णमणि, स्वर्ण-रजतमणि, मृत्तिका और चन्दन इन प्रत्येक के एक-एक हजार और आठ-आठ कलश, इन सब के उतने ही लोटे, थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठिका, चित्रक, रत्नकरण्ड,

पुष्पाभरणादि की चंगेरियाँ, सिंहासन, छत्र, चामर आदि-आदि अभिषेक योग्य महार्घ्य विपुल सामग्री आभियोगिक देवों ने तत्काल प्रस्तुत की। सभी कलशों को क्षीरोदक, पुष्करोदक, भरत-एरवत क्षेत्रों के मागधादि तीर्थों और गंगा आदि महानदियों के जल से पूर्ण कर उन पर क्षीरसागर के सहस्रदल कमलपुष्पों के पिधान लगा आभियोगिक देवों द्वारा वहाँ अभिषेक के लिए प्रस्तुत किया गया।

सर्वप्रथम अच्युतेन्द्र ने और तदनन्तर शेष सभी इन्द्रों ने उन कलशों और सभी प्रकार की अभिषेक योग्य महर्द्धिक, महार्घ्य सामग्री से प्रभु महावीर का महाजन्माभिषेक किया।[1] देवदुन्दुभियों के निर्घोषों, जयघोषों, सिंहनादों, आस्फोटनों और विविध विबुध वाद्ययन्त्रों के तुमुल निनाद से गगन, गिरीन्द्र वसुन्धरातल एक साथ ही गुंजरित हो उठे। देवों ने पंच दिव्यों की वृष्टि की, अद्भुत नाटक किये और अनेक देवगण आनन्दातिरेक से नाचते-नाचते झूम उठे।

इस प्रकार असीम हर्षोल्लासपूर्वक प्रभु महावीर का जन्माभिषेक करने के पश्चात् देवराज शक्र जिस प्रकार प्रभु को जन्म गृह से लाया था उसी प्रकार पूरे ठाठ के साथ जन्म-गृह में ले गया। शक्र ने प्रभु को माता के पास सुला कर प्रभु के विकुर्वित कृत्रिम स्वरूप को हटाया। प्रभु तदनन्तर देवराज शक्र ने प्रभु के सिरहाने क्षोमयुगल और कुण्डलयुगल रख त्रिशलादेवी की अवस्वापिनी निद्रा का हरण किया और तत्काल वह वहाँ से तिरोहित हो गया।

सौधर्मेन्द्र शक्र की आज्ञा से कुबेर ने जृम्भक देवों को आदेश दे महाराजा सिद्धार्थ के कोशागारों को बत्तीस-बत्तीस कोटि हिरण्य-मुद्राओं, स्वर्णमुद्राओं, रत्नों तथा अन्यान्य भण्डारों को नन्द नामक वृत्तासनों, भद्रासनों एवं सभी प्रकार की प्रसाधन-सामग्रियों से भरवा दिया।

---

१ मेरु पर्वत पर इन्द्रों द्वारा अभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में निम्नाशय का उल्लेख किया है :

इन्द्र ने प्रभु को सुमेरु पर्वत पर ले जा कर जन्म-महोत्सव किया, उस समय शक्र के मन में शंका उत्पन्न हुई कि नवजात प्रभु का कुसुम सा सुकोमल व नन्हा सा वपु अभिषेक कलशों के जलप्रपात को किस प्रकार सहन कर सकेगा ?

भ० महावीर ने इन्द्र की इस शंका का निवारण करने हेतु अपने वाम पाद के अंगुष्ठ से सुमेरु को दबाया। इसके परिणामस्वरूप गिरिराज के उत्तुंग शिखर झंझावात से झकझोरे गये वेत्रवन की तरह प्रकम्पित हो उठे।

शक्र को अवधिज्ञान से जब यह ज्ञात हुआ कि यह सब प्रभु के अनन्त बल की माया है, तो उसने नतमस्तक हो प्रभु से क्षमायाचना की।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६०-६६

महाराजा सिद्धार्थ के कोशागारों और भण्डारों को इस प्रकार भरपूर करवा कर देवराज शक्र ने कुण्डनपुर नगर के सभी बाह्याभ्यन्तर भागों, शृंगाटकों, त्रिकों, चतुष्कों आदि में अपने आभियोगिक देवों से निम्नाशय की घोषणा करवाई :—

"चार जाति के देव-देवियों में यदि कोई भी देवी अथवा देव तीर्थंकर की माता अथवा तीर्थंकर के प्रति किसी भी प्रकार का अशुभ विचार करेगा तो उसका मस्तक आम्र-मंजरी की भाँति शतधा तोड़ दिया जायगा।"

इस प्रकार की घोषणा करवाने के पश्चात् शक्र और सभी देवेन्द्रों ने नन्दीश्वर द्वीप में जा कर तीर्थंकर भगवान् का अष्टाह्निक जन्म-महोत्सव मनाया। बड़े हर्षोल्लास के साथ अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के पश्चात् सभी देव और देवेन्द्र आदि अपने-अपने स्थान को लौट गये।[1]

देवियों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भ० महावीर का शुचि-कर्म और तीर्थंकराभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र में जो सार रूप में उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है :—

"क्षत्रियाणी त्रिशलादेवी ने जिस रात्रि में भ० महावीर को जन्म दिया, उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी एवं वैमानिक देवों और देवियों ने भ० महावीर का शुचिकर्म और तीर्थंकराभिषेक किया।"[2]

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य विमल सूरि ने 'पउम चरियम्' में[3] और दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने 'आदि पुराण' में[4] यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भावतरण के छह मास पूर्व से ही देवगण तीर्थंकर के माता-पिता के राजप्रासाद पर रत्नों की वृष्टि करना प्रारम्भ कर देते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र और गुणचन्द्र आदि ने तीर्थंकर के गर्भावतरण के पश्चात् तृजृंभक देवों द्वारा शक्राज्ञा से तीर्थंकरों के पिता के राज्य-कोषों को विपुल

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पाँचवाँ वक्षस्कार।

२ जंण्णं रयणि तिसला खत्तियाणी समणं भगवं महावीरं पसूया तण्णं रयणि भवणवइ-वाणमंतरजोइसियविमाणवासिणो देवा य देवियो य समणस्स भगवओ महावीरस्स सुइकम्माइं तित्थयराभिसेयं च करिंसु। आचारांग, श्रु० २, अ० १५

३ छम्मासेण जिणवरो, होही गब्भम्मि चवणकालाओ।
पाडेइ रयणवुट्ठी, धणओ मासाणि पण्णरस॥ [पउम चरिउं, ३ श्लोक ६७]

४ षड्भिर्मासैरथैतस्मिन्, स्वर्गादवतरिष्यति।
रत्नवृष्टि दिवो देवाः, पातयामासुरादरात्॥ [आदि पुराण, १२, श्लोक ८४]

पुष्पाभरणादि की चंगेरियाँ, सिंहासन, छत्र, चामर आदि-आदि अभिषेक योग्य महार्घ्य विपुल सामग्री आभियोगिक देवों ने तत्काल प्रस्तुत की। सभी कलशों को क्षीरोदक, पुष्करोदक, भरत-एरवत क्षेत्रों के मागधादि तीर्थों और गंगा आदि महानदियों के जल से पूर्ण कर उन पर क्षीरसागर के सहस्रदल कमलपुष्पों के पिधान लगा आभियोगिक देवों द्वारा वहाँ अभिषेक के लिए प्रस्तुत किया गया।

सर्वप्रथम अच्युतेन्द्र ने और तदनन्तर शेष सभी इन्द्रों ने उन कलशों और सभी प्रकार की अभिषेक योग्य महर्द्धिक, महार्घ्य सामग्री से प्रभु महावीर का महाजन्माभिषेक किया।[1] देवदुन्दुभियों के निर्घोषों, जयघोषों, सिंहनादों, आस्फोटनों और विविध विवुध वाद्ययन्त्रों के तुमुल निनाद से गगन, गिरीन्द्र वसुन्धरातल एक साथ ही गुंजरित हो उठे। देवों ने पंच दिव्यों की वृष्टि की, अद्भुत नाटक किये और अनेक देवगण आनन्दातिरेक से नाचते-नाचते झूम उठे।

इस प्रकार असीम हर्षोल्लासपूर्वक प्रभु महावीर का जन्माभिषेक करने के पश्चात् देवराज शक्र जिस प्रकार प्रभु को जन्म गृह से लाया था उसी प्रकार पूरे ठाठ के साथ जन्म-गृह में ले गया। शक्र ने प्रभु को माता के पास सुला कर प्रभु के विकुर्वित कृत्रिम स्वरूप को हटाया। प्रभु तदनन्तर देवराज शक्र ने प्रभु के सिरहाने क्षोमयुगल और कुण्डलयुगल रख त्रिशलादेवी की अवस्वापिनी निद्रा का हरण किया और तत्काल वह वहाँ से तिरोहित हो गया।

सौधर्मेन्द्र शक्र की आज्ञा से कुबेर ने जृम्भक देवों को आदेश दे महाराजा सिद्धार्थ के कोशागारों को बत्तीस-बत्तीस कोटि हिरण्य-मुद्राओं, स्वर्णमुद्राओं, रत्नों तथा अन्यान्य भण्डारों को नन्द नामक वृत्तासनों, भद्रासनों एवं सभी प्रकार की प्रसाधन-सामग्रियों से भरवा दिया।

---

१ मेरु पर्वत पर इन्द्रों द्वारा अभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में निम्नाशय का उल्लेख किया है :
इन्द्र ने प्रभु को सुमेरु पर्वत पर ले जा कर जन्म-महोत्सव किया, उस समय शक्र के मन में शंका उत्पन्न हुई कि नवजात प्रभु का कुसुम सा सुकोमल व नन्हा सा वपु अभिषेक कलशों के जलप्रपात को किस प्रकार सहन कर सकेगा ?
भ० महावीर ने इन्द्र की इस शंका का निवारण करने हेतु अपने वाम पाद के अंगुष्ठ से सुमेरु को दबाया। इसके परिणामस्वरूप गिरिराज के उत्तुंग शिखर झंझावात से झकझोरे गये वेत्रवन की तरह प्रकम्पित हो उठे।
शक्र को अवधिज्ञान से जब यह ज्ञात हुआ कि यह सब प्रभु के अनन्त बल की माया है, तो उसने नतमस्तक हो प्रभु से क्षमायाचना की।
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६०-६४

महाराजा सिद्धार्थ के कोशागारों और भण्डारों को इस प्रकार भरपूर करवा कर देवराज शक्र ने कुण्डनपुर नगर के सभी बाह्याभ्यन्तर भागों, शृंगाटकों, त्रिकों, चतुष्कों आदि में अपने आभियोगिक देवों से निम्नाशय की घोषणा करवाई :—

"चार जाति के देव-देवियों में यदि कोई भी देवी अथवा देव तीर्थंकर की माता अथवा तीर्थंकर के प्रति किसी भी प्रकार का अशुभ विचार करेगा तो उसका मस्तक आम्र-मंजरी की भाँति शतधा तोड़ दिया जायगा।"

इस प्रकार की घोषणा करवाने के पश्चात् शक्र और सभी देवेन्द्रों ने नन्दीश्वर द्वीप में जा कर तीर्थंकर भगवान् का अष्टाह्निक जन्म-महोत्सव मनाया। बड़े हर्षोल्लास के साथ अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के पश्चात् सभी देव और देवेन्द्र आदि अपने-अपने स्थान को लौट गये।[१]

देवियों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भ० महावीर का शुचि-कर्म और तीर्थंकराभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र में जो सार रूप में उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है :—

"क्षत्रियाणी त्रिशलादेवी ने जिस रात्रि में भ० महावीर को जन्म दिया, उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी एवं वैमानिक देवों और देवियों ने भ० महावीर का शुचिकर्म और तीर्थंकराभिषेक किया।"[२]

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य विमल सूरि ने 'पउम चरियम्' में[३] और दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने 'आदि पुराण' में[४] यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भावतरण के छह मास पूर्व से ही देवगण तीर्थंकर के माता-पिता के राजप्रासाद पर रत्नों की वृष्टि करना प्रारम्भ कर देते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र और गुणचन्द्र आदि ने तीर्थंकर के गर्भावतरण के पश्चात् तृजृंभक देवों द्वारा शक्राज्ञा से तीर्थंकरों के पिता के राज्य-कोषों को विपुल

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पाँचवाँ वक्षस्कार।

२ जण्णं रयणिं तिसला खत्तियाणी समणं भगवं महावीरं पसूया तण्णं रयणिं भवणवइ-वाणमंतरजोइसियविमाणवासिणो देवा य देवियो य समणस्स भगवओ महावीरस्स सुइकम्माइं तित्थयराभिसेयं च करिंसु। आचारांग, श्रु० २, अ० १५

३ छम्मासेण जिणवरो, होही गब्भम्मि चवणकालाओ।
पाडेइ रयणवुट्ठी, धणओ मासाणि पण्णरस॥ [पउम चरिउं, ३ श्लोक ६७]

४ षड्भिर्मासैरथैतस्मिन्, स्वर्गादवतरिष्यति।
रत्नवृष्टिं दिवो देवाः, पातयामासुरादरात्॥ [आदि पुराण, १२, श्लोक ८४]

निधियों से परिपूर्ण करने और उनके जन्म के समय रत्नादि की वृष्टि करने का उल्लेख किया है।

पुत्रजन्म की खुशी में महाराज सिद्धार्थ ने राज्य के वन्दियों को कारागार से मुक्त किया और याचकों एवं सेवकों को मुक्तहस्त से प्रीतिदान दिया। दस दिन तक बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् का जन्मोत्सव मनाया गया। समस्त नगर में वहुत दिनों तक आमोद-प्रमोद का वातावरण छाया रहा।

जन्मस्थान

महावीर की जन्मस्थली के सम्बन्ध में इतिहासज्ञ विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् आगम साहित्य में उल्लिखित 'वेसालिय' शब्द को देख कर इनकी जन्मस्थली वैशाली मानते हैं। क्योंकि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'विशालायां भवः' इस अर्थ में छ प्रत्यय होकर 'वेसालिय' शब्द वनता है, जिसका अर्थ है—वैशाली में उत्पन्न होने वाला।

कुछ विद्वानों के मतानुसार भगवान् का जन्मस्थान 'कुंडनपुर' है तो कुछ के अनुसार क्षत्रियकुंड। क्षत्रियकुंड के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ इसे मगध देश में मानते हैं तो कुछ इसे विदेह में। आचारांग और कल्पसूत्र में महावीर को विदेहवासी कहा गया है।[1] डॉ० हर्मनजेकोबी ने विदेह का अर्थ विदेहवासी किया है।[2] परन्तु 'विदेह जच्चे' का अर्थ 'देह में श्रेष्ठ' होना चाहिये, क्योंकि 'जच्चे' जात्यः का अर्थ उत्कृष्ट होता है। कल्पसूत्र के बंगला अनुवादक बसंतकुमार चट्टोपाध्याय ने इसी मत का समर्थन किया है।[3] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों से भी इसी धारणा का समर्थन होता है। वहाँ कुंडपुर-क्षत्रियकुंड की अवस्थिति जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में विदेह के अन्तर्गत मानी है।[4]

---

१ नाए नायपुत्ते, नायकुलचन्दे, विदेहे-विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे [कल्पसूत्र, सू० ११०]

२ सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, सेक्ट २२, पृ० २५६

३ वसंतकुमार लिखते हैं—,दक्ष, दक्षप्रतिज्ञ, आदर्श रूपवान्, बालीन, भद्रक, विनीत, ज्ञात, ज्ञातीपुत्र, ज्ञाती कुलचन्द्र, विदेह, विदेह दत्तात्मज, वैदेहश्रेष्ठ, वैदेह सुकुमार श्रमण भगवान् महावीर त्रिश वत्सर विदेह देशे काटाइयाँ, माता पितार देवत्व प्राप्ति हइरो गुरुजन ओ महत्तर गणेर अनुमति लइया स्वप्रतिज्ञा समाप्त करिया छिलेन। कल्प सू० अ० व० कलकत्ता वि० वि० १९५३ ई०

४ (क) विक्रमी पाँचवी सदी के आचार्य पूज्यपाद दशभक्ति में लिखते है : 'सिद्धार्थनृपति तनयो, भारतवास्ये विदेह कुंडपुरे। पृ० ११६

(ख) विक्रमी आठवीं सदी के आचार्य जिनसेन हरिवंश पुराण, खण्ड १. सर्ग २ में लिखते हैं :

भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे।
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य, वसुधारापतत् पृथुः।। २५१।२५२। उत्तरार्द्ध

शास्त्र में 'वेसालिय' शब्द होने के कारण वैशाली से भगवान् का सम्बन्ध प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने माना है, किन्तु उस सम्बन्ध का अर्थ जन्मस्थान मानना ठीक नहीं। मुनि कल्याण विजयजी ने कुंडपुर को वैशाली का उपनगर लिखा है, जबकि विजयेन्द्रसूरि के अनुसार कुंडपुर वैशाली का उपनगर नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र नगर माना गया है। मालूम होता है, दोनों ने दृष्टिभेद से ऐसा उल्लेख किया हो और इसी दृष्टि से ब्राह्मणकुंडग्राम नगर और क्षत्रियकुंडग्राम नगर लिखा गया हो। ये दोनों पृथक्-पृथक् बस्ती के रूप में होकर भी इतने नजदीक थे कि उनको कुंडपुर के सन्निवेश मानना भी अनुचित नहीं समझा गया।

दोनों की स्थिति के विषय में भगवती सूत्र के नवें उद्देशगत प्रकरण से अच्छा प्रकाश मिलता है। वहाँ ब्राह्मणकुंड ग्राम से पश्चिम दिशा में क्षत्रियकुंड ग्राम और दोनों के मध्य में बहुशाल चैत्य बतलाया गया है।[1] जैसाकि—

एक बार भगवान् महावीर ब्राह्मणकुंड के बहुशाल चैत्य में पधारे, तब क्षत्रियकुंड के लोग सूचना पाकर वंदन करने को जाने लगे। लोगों को जाते हुए देखकर राजकुमार जमालि भी वंदन को निकले और क्षत्रियकुंड के मध्य से होते हुए ब्राह्मणकुण्ड के बहुशाल चैत्य में, जहाँ भगवान् महावीर थे, वहाँ पहुँचे। उनके साथ पाँच सौ क्षत्रियकुमारों के दीक्षित होने का वर्णन बतलाता है कि वहाँ क्षत्रियों की बड़ी बस्ती थी। संभव है, बढ़ते हुए विस्तार के कारण ही इनको ग्राम-नगर कहा गया हो।

डॉ० हारनेल ने महावीर का जन्मस्थान कोल्लाग सन्निवेश होना लिखा है, पर यह ठीक नहीं। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् महावीर का जन्मस्थान कुंडपुर के अन्तर्गत क्षत्रियकुंड ग्राम है, मगध या अंग देश नहीं। इन सब उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का जन्म मगध या अंग देश में न हो कर विदेह में हुआ था।

कुछ विद्वानों का कहना है कि महावीर के जन्मस्थान के सम्बन्ध में शास्त्र के जो उल्लेख हैं, उनमें कुंडपुर शब्द ही आया है, क्षत्रियकुंड नहीं। आवश्यक निर्युक्ति में कुंडपुर या कुंडग्राम का उल्लेख है[2] और आचारांग सूत्र में

---

१ (क) तस्सणं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्चत्थिमेणं एत्थणं खत्तियकुंडग्गामे नामं नयरे होत्था। भ० ९।३३। सूत्र ३८३। पत्र ४६१

(ख) जाव एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झंमज्झेणं निगच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव माहणकुंडगामे नयरे जेणेव बहुसालए चेइए।

भ० श० ९।३३। सूत्र ३८३। पत्र ४६१।

२ (क) अह चेत्तसुद्ध पक्खस्स, तेरसी पुव्वरत्त कालम्मि
हत्थुत्तराहिं जाओ, कुंडग्गामे महावीरो ॥९१ भा.॥ आ. नि. पृ. २५६

(ख) आवश्यक नि० ३९४।१८०

क्षत्रियकुंडपुर भी आता है। वास्तव में बात यह है कि दोनों स्थानों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। कुण्डपुर के ही उत्तर भाग को क्षत्रियकुंड और दक्षिण भाग को ब्राह्मणकुंड कहा गया है। आचारांग सूत्र से भी यह प्रमाणित होता हैं कि वहाँ दक्षिण में ब्राह्मणकुंड सन्निवेश और उत्तर में क्षत्रियकुंडपुर सन्निवेश था।[१] क्षत्रियकुंड में "ज्ञातृ" क्षत्रिय रहते थे, इस कारण बौद्ध ग्रन्थों में "ज्ञातिक" अथवा "नातिक" नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। ज्ञातियों की बस्ती होने से इसको ज्ञातृग्राम भी कहा गया है। "ज्ञातृक" की अवस्थिति 'वज्जी' देश के अन्तर्गत वैशाली और कोटिग्राम के बीच बताई गई है। उनके अनुसार कुंडपुर क्षत्रियकुंड अथवा "ज्ञातृक" वज्जि विदेह देश के अन्तर्गत था। महापरिनिव्वान सुत्त के चीनी संस्करण में इस नातिक की स्थिति और भी स्पष्ट कर दी गई है। वहाँ इसे वैशाली से सात ली अर्थात् १$\frac{3}{5}$ मील दूर बताया गया है।[२]

वैशाली आजकल बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर (तिरहुत) डिविजन में 'बनियां बसाढ़' के नाम से प्रसिद्ध है और बसाढ़ के निकट जो वासुकुंड है, वहाँ पर प्राचीन कुंडपुर की स्थिति बताई जाती है।

उपर्युक्त प्रमाणों और ऐतिहासिक आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर का जन्म वैशाली के कुंडपुर (क्षत्रियकुंड) सन्निवेश में हुआ था। यह 'कुंडपुर' वैशाली का उपनगर नहीं, किन्तु एक स्वतन्त्र नगर था।

महावीर के मातापिता

ज्ञातृ-वंशीय महाराज सिद्धार्थ भगवान् महावीर के पिता और महारानी त्रिशला माता थीं। डॉ० हार्नेल और जैकोबी सिद्धार्थ को राजा न मान कर एक प्रतिष्ठित उमराव या सरदार मानते हैं, जो कि शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर उपयुक्त नहीं जँचता। शास्त्रों में भगवान् महावीर को महान् राजा के कुल का कहा गया है। यदि सिद्धार्थ साधारण क्षत्रिय सरदार मात्र होते तो राजा शब्द का प्रयोग उनके लिए नहीं किया जाता।

---

१ दाहिण माहणकुंडपुर सन्निवेसाओ उत्तर खत्तिय कुंडपुर सन्निवेसंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स....।।आचा० भावना अ० १५

२ (क) Sino Indian Studies vol. I, part 4, page 195, July 1945.
(ख) Comparative studies "The parinivvan Sutta and its Chinese version, by Faub.
(ग) ली, दूरी नापने का एक पैमाना है। कनिंघम के अनुसार १ ली १।५ मील के बराबर होती है। एन्सियेन्ट जोग्राफी आफ इण्डिया।

शास्त्रों में आये हुए सिद्धार्थ के साथ 'क्षत्रिय' शब्द के प्रयोग से सिद्धार्थ को क्षत्रिय सरदार मानना ठीक नहीं, क्योंकि कल्पसूत्र में "तएणं से सिद्धत्थे राया" आदि रूप से उसको राजा भी कहा गया है। इतना ही नहीं, उनके बारे में बताया गया है कि वे मुकुट, कुण्डल आदि से विभूषित "नरेन्द्र" थे। "महावीर चरित्र" में भी "सिद्धत्थो य नरिंदो" ऐसा उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य अथवा लोक व्यवहार में नरेन्द्र शब्द का प्रयोग साधारण सरदार या उमराव के लिए न होकर राजा के लिए ही होता आया है। साथ ही सिद्धार्थ के साथ गणनायक आदि राजकीय अधिकारियों का होना भी शास्त्रों में उल्लिखित है। निश्चित रूप से इस प्रकार के अधिकारी किसी राजा के साथ ही हो सकते हैं।

दूसरी बात क्षत्रिय का अर्थ गुण-कर्म विभाग से तथाकथित वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली युद्धप्रिय क्षत्रिय जाति नहीं, अपितु राजा भी होता है। जैसे कि अभिधान चिन्तामणि में लिखा है :—क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा, राजन्यो बाहुसंभवः'।[1]

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप के लिए, जो क्षत्रिय कुलोद्भव थे, लिखा है :—

'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः,
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।'

वस्तुतः विपत्ति से बचाने वाले के लिए रूढ "क्षत्रिय" शब्द राजा का भी पर्यायवाची हो सकता है, केवल साधारण क्षत्रिय का नहीं।

डॉ० हार्नेल और जैकोबी ने सिद्धार्थ को राजा मानने में जो आपत्ति की है, उसका एकमात्र कारण यही दिखाई देता है कि वैशाली के चेटक जैसे प्रमुख राजाओं की तरह उस समय उनका विशिष्ट स्थान नहीं था, फिर भी राजा तो वे थे ही। बड़े या छोटे जो भी हों, सिद्धार्थ उन सभी सुख-साधनों से सम्पन्न थे जो कि एक राजा के रूप में किसी को प्राप्त हो सकते हैं। इस तरह सिद्धार्थ को राजा मानना उचित ही है, इसमें किसी प्रकार की कोई बाधा दिखाई नहीं देती।

सिद्धार्थ की तरह त्रिशला के साथ भी क्षत्रियाणी शब्द देख कर इस प्रकार उठने वाली शंका का समाधान उपर्युक्त प्रमाण से हो जाता है। वैशाली जैसे शक्तिशाली राज्य की राजकुमारी और उस समय के महान् प्रतापी राजा चेटक की सहोदरा त्रिशला का किसी साधारण क्षत्रिय से विवाह कर

१ अभिधान चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लो० ५२७

दिया गया हो, यह नितान्त असंभव सा प्रतीत होता है। क्षत्रियाणी की तरह श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों परम्परा के ग्रन्थों में देवी रूप में भी त्रिशला का उल्लेख किया गया है। अतः उसे रानी समझने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। महावीर चरियं[1], त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र[2] और दशभक्ति ग्रन्थ[3] इसके लिए द्रष्टव्य हैं।

सिद्धार्थ को इक्ष्वाकुवंशी और गोत्र से काश्यप कहा गया है। कल्पसूत्र और आचारांग में सिद्धार्थ के तीन नाम बताये गये हैं: (१) सिद्धार्थ, (२) श्रेयांस और (३) यशस्वी।[4] त्रिशला वासिष्ठ गोत्रीया थीं, उनके भी तीन नाम उल्लिखित हैं—(१) त्रिशला, (२) विदेहदिन्ना और (३) प्रियकारिणी। वैशाली के राजा चेटक की बहिन होने से ही इसे विदेहदिन्ना कहा गया है।

नामकरण

नामकरण के सम्बन्ध में आचारांग में निम्नलिखित उल्लेख है—निवत्तदसाहंसि वुक्कंतंसि सुइभूयंसि विपुलं असणपाणखाइमसाइमं उवखडाविंति २ त्ता मित्तनाइसयणसंबंधिवग्गं उवनिमंतंति, मित्त० उवनिमंतित्ता बहवे समणमाहणकिवणवणीमगाहिं भिच्छुंडग पंडरगाईण विच्छड्डंति विग्गोविंति विस्साणिंति, दायारेसु दाणं, पज्जभाइंति, विच्छड्डित्ता·······मित्तनाइसयणसंबंधिवग्गं भुंजाविंति मित्त० भुंजावित्ता मित्त० वग्गेण इमेयारूवं नामधिज्जं कारविंति-जओ णं पमिइ इमे कुमारे तिसलाए ख० कुच्छिंसि गब्भे आहूए तओ णं पमिइ इमं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं सुवण्णेणं धणेणं धन्नेणं माणिक्केणं मुत्तिएणं संखसिलप्पवालेणं, अईव अईव परिवड्ढइ, ता होउ णं कुमारे वद्धमाणे।[5]

दश दिन तक जन्म-महोत्सव मनाये जाने के बाद राजा सिद्धार्थ ने मित्रों और बन्धुजनों को आमन्त्रित कर स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों से उन सबका सत्कार करते हुए कहा—"जब से यह शिशु हमारे कुल में आया है तबसे धन, धान्य, कोष, भण्डार, बल, वाहन आदि समस्त राजकीय साधनों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई

१ (क) तस्स घरे तं साहर, तिसला देवीए कुच्छिंसि।५१। [महावीर चरियं, पृ. २८]
(ख) सिद्धत्थो य नरिंदो, तिसला देवी य रायलोओ य।६८। [महावीर चरियं ३३]

२ दधार त्रिशला देवी, मुदिता गर्भमद्भुतम्।३३।
देव्या पार्श्वे च भगवत्प्रतिरूपं निधाय सः।५५।
उवाच त्रिशला देवी, सदने नस्त्वमागमः।१४१। [त्रिषष्टि शलाका, प० १०, सर्ग २]

३ देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः।४। [दशभक्ति, पृ० ११६]

४ कल्पसूत्र, १०५।१०६ सूत्र। आचारांग भावनाध्ययन

५ (अ) कल्पसूत्र, सूत्र १०३। आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० १५

है, अतः मेरी सम्मति में इसका 'वर्द्धमान'[1] नाम रखना उपयुक्त जँचता है।" उपस्थित लोगों ने राजा की इच्छा का समर्थन किया। फलतः त्रिशलानन्दन का नाम वर्द्धमान रखा गया। आपके बाल्यावस्था के कतिपय वीरोचित अद्भुत कार्यों से प्रभावित होकर देवों ने गुण-सम्पन्न दूसरा नाम 'महावीर' रखा।

त्याग-तप की साधना में विशिष्ट श्रम करने के कारण शास्त्र में आपको 'श्रमण' भी कहा गया है। विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न होने से 'भगवान्' और ज्ञातृकुल में उत्पन्न होने से 'ज्ञातपुत्र' आदि विविध नामों से भी आपका परिचय मिलता है। भद्रबाहु ने कल्पसूत्र में आपके तीन नाम बताये हैं, यथा :—माता-पिता के द्वारा 'वर्द्धमान', सहज प्राप्त सद्बुद्धि के कारण 'समण' अथवा शारीरिक व बौद्धिक शक्ति से तप आदि की साधना में कठिन श्रम करने से 'श्रमण' और परीषहों में निर्भय-अचल रहने से देवों द्वारा 'महावीर' नाम रखा गया।[2]

शिशु जिनेश्वर भ० महावीर के लालन-पालन के लिए पाँच सुयोग्य धाय माताओं को नियुक्त किया गया, एक दूध पिलाने वाली, दूसरी प्रभु को स्नान-मज्जन कराने वाली, तीसरी उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत करने वाली, चौथी उन्हें क्रीड़ा कराने वाली और पाँचवीं प्रभु को एक गोद से दूसरी गोद में बाल-लीलाएँ करवाने वाली धाय। माता त्रिशला महारानी और इन पाँच धाय माताओं के प्रगाढ़ दुलार से ओतप्रोत लालन-पालन और सतर्क देख-रेख में प्रभु महावीर शुक्ल पक्षीया द्वितीया के चन्द्र के समान निर्विघ्न रूप से उत्तरोत्तर इस कारप्र अभिवर्द्धित होने लगे, मानो गगनचुम्बी गिरिराज की सुरम्य गहन गुहा में पनपा हुआ कल्पवृक्ष का पौधा बढ़ रहा हो। तीन ज्ञान के धनी शिशु महावीर इस प्रकार उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होते हुए स्वतः एक व्यवहार ज्ञान को सँजो लौकिक ज्ञान-विज्ञान में निष्णात हो क्रमशः बाल वय से किशोर वय में और किशोर वय से युवावस्था में प्रविष्ट हुए और अतीव सुखद-सुन्दर शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धादि से युक्त पाँच प्रकार के मानवीय उत्तम भोगोपभोगों का निस्संग भाव से उपभोग करते हुए विचरण करने लगे।[3]

संगोपन और बालक्रीड़ा

महावीर का लालन-पालन राजपुत्रोचित सुसम्मान के साथ हुआ। इनकी

१ कल्पसूत्र, सूत्र १०३

२ कल्पसूत्र, १०४

३ तओ णं समणे भगवं महावीरे पंचधाइपरिवुडे..........विन्नाण-परिणय (मित्ते) विणियत बालभावे अप्पुस्सुयाइं उरालाइं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सद्दफरिसरसरूवगन्धाइं परियारेमाणे एवं च णं विहरेइ।

[आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० १५]

सेवा-शुश्रूषा के लिए पाँच परम दक्ष धाइयाँ नियुक्त की गईं, जो कि अपने-अपने काय को यथासमय विधिवत् निष्ठापूर्वक संपादित करतीं। उनमें से एक का काम दूध पिलाना, दूसरी का स्नान-मंडन कराना, तीसरी का वस्त्रादि पहनाना, चौथी का क्रीड़ा कराना और पाँचवीं का काम गोद में खिलाना था।

बालक महावीर की बालक्रीड़ाएँ केवल मनोरंजक ही नहीं अपितु शिक्षाप्रद एवं बलवर्द्धक भी होती थीं। एक बार आप समवयस्क साथियों के साथ राजभवन के उद्यान में 'संकुली' नामक खेल खेल रहे थे। उस समय इनकी अवस्था आठ वर्ष के लगभग थी, पर साहस और निर्भयता में आपकी तुलना करने वाला कोई नहीं था।

कुमार की निर्भयता देख कर एक बार देवपति शक्र ने देवों के समक्ष उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—"भरत क्षेत्र में बालक महावीर बाल्यकाल में ही इतने साहसी और पराक्रमी हैं कि देव-दानव और मानव कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता।"

इन्द्र के इस कथन पर एक देव को विश्वास नहीं हुआ और वह परीक्षा के लिए महावीर के क्रीड़ा-प्रांगण में आया।

संकुली खेल की यह रीति है कि किसी वृक्ष-विशेष को लक्षित कर सभी क्रीड़ारत बालक उस ओर दौड़ते हैं। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ़ कर उतर आता है, वह विजयी माना जाता है और पराजित बालक के कन्धे पर सवार होकर वह उस स्थान तक जाता है जहाँ से दौड़ प्रारम्भ होती है।

परीक्षक देव विकट विषधर सर्प का रूप बना कर वृक्ष के तने पर लिपट गया और फूत्कार करने लगा। महावीर उस समय पेड़ पर चढ़े हुए थे। उस भयंकर सर्प को देखते ही सभी बालक डर के मारे इधर-उधर भागने लगे, किन्तु महावीर तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने भागने वाले साथियों से कहा— "तुम सब भागते क्यों हो ? यह छोटा सा प्राणी अपना क्या बिगाड़ने वाला है ? इसके तो केवल मुँह ही है, हम सब के पास तो दो हाथ, दो पैर, एक मुख, मस्तिष्क और बुद्धि आदि बहुत से साधन हैं। आओ, इसे पकड़ कर अभी दूर फेंक आयें।"

यह सुन कर सभी बच्चे एक साथ बोल उठे—"महावीर, भूल से भी इसको छूना नहीं, इसके काटने से आदमी मर जाता है।" ऐसा कह कर सब बच्चे वहाँ से भाग गये। महावीर ने निःशंक भाव से बायें हाथ से सर्प को पकड़ा और रज्जु की तरह उठा कर उसे एक ओर डाल दिया।[1]

---

१ (क) चेडरूवेहिं समं सुंकलिकउएण अभिरमति। [आ. चू., पृ. २४६ पूर्वभाग]
(ख) स्मित्वा रज्जुमिवोत्क्षिप्य, तं चिक्षेप क्षितौ विभुः। त्रि. पु. च., १०।२।१०७ श्लो.

महावीर द्वारा सर्प के हटाये जाने पर पुनः सभी बालक वहाँ चले आये और तिंदुसक खेल खेलने लगे। यह खेल दो-दो बालकों में खेला जाता है। दो बालक एक साथ लक्षित वृक्ष की ओर दौड़ते हैं और दोनों में से जो वृक्ष को पहले छू लेता है, उसे विजयी माना जाता है। इस खेल का नियम है कि विजयी बालक पराजित पर सवार होकर मूल स्थान पर आता है।[1] परीक्षार्थी देव भी बालक का रूप बना कर खेल की टोली में सम्मिलित हो गया और खेलने लगा। महावीर ने उसे दौड़ में पराजित कर वृक्ष को छू लिया। तब नियमानुसार पराजित बालक को सवारी के रूप में उपस्थित होना पड़ा। महावीर उस पर आरूढ़ होकर नियत स्थान पर आने लगे तो देव ने उनको भयभीत करने और उनका अपहरण करने के लिए सात ताड़ के बराबर ऊँचा और भयावह शरीर बना कर डराना प्रारम्भ किया। इस अजीब दृश्य को देख कर सभी बालक घबरा गये परन्तु महावीर पूर्ववत् निर्भय चलते रहे। उन्होंने ज्ञान-बल से देखा कि यह कोई मायावी जीव हमसे वंचना करना चाहता है। ऐसा सोच कर उन्होंने उसकी पीठ पर साहसपूर्वक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि देव उस आघात से चीख उठा और गेंद की तरह उसका फूला हुआ शरीर दब कर वामन हो गया।[2] उस देव का मिथ्याभिमान चूर-चूर हो गया। देव ने बालक महावीर से क्षमायाचना करते हुए कहा—"वर्द्धमान! इन्द्र ने जिस प्रकार आपके पराक्रम की प्रशंसा की वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वास्तव में आप वीर ही नहीं, महावीर हैं।" इस प्रकार महावीर की वीरता, धीरता और सहिष्णुता बाल्यावस्था से ही अनुपम थी।

तीर्थंकर का अतुल बल

भगवान् महावीर जन्म से ही अतुल बली थे। उनके बल की उपमा देते हुए कहा गया है कि—बारह सुभटों का बल एक वृषभ में, वृषभ से दश गुना बल एक अश्व में, अश्व से बारह गुना बल एक महिष में, महिष से पन्द्रह गुना बल एक गज में, पाँच सौ गजों का बल एक केशरीसिंह में, दो हजार सिंहों का बल एक अष्टापद में, दस लाख अष्टापदों का बल एक बलदेव में, बलदेव से दुगुना बल एक वासुदेव में, वासुदेव से द्विगुणित बल एक चक्रवर्ती में, चक्रवर्ती से लाख गुना बल एक नागेन्द्र में, नागेन्द्र से करोड़ गुना बल एक इन्द्र में और इन्द्र से अनन्त गुना अधिक बल तीर्थंकर की एक कनिष्ठा अंगुली में होता है। सचमुच तीर्थंकर के बल की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। उनका बल

---

१ तस्स तेसु रुक्खेसु जो पढ़मं विलग्गति, जो पढ़मं ओलुगति सो चेड़ रूवाणि वाहेति ॥
आव० चू० भा० १, पत्र २४६

२ (क) स व्यरंसीद्वर्धनान्न, यावत्तावन्महौजसा।
आहत्य मुष्टिना पृष्ठे, स्वामिना वामनीकृतः। त्रि. पु. च,. १०।२ श्लो. २१७
(ख) आव. चू. १ भा., पृ. २४६

जन्म-जन्मान्तर की करणी से संचित होता है। उनका शारीरिक संहनन वज्र-ऋषभनाराच और संस्थान समचतुरस्र होता है।

महावीर और कलाचार्य

महावीर जब आठ वर्ष के हुए तब माता-पिता ने शुभ मुहूर्त देख कर उनको अध्ययन के लिये कलाचार्य के पास भेजा। माता-पिता को उनके जन्म-सिद्ध तीन ज्ञान और अलौकिक प्रतिभा का परिज्ञान नहीं था। उन्होंने परम्परानुसार पण्डित को प्रथम श्रीफल आदि भेंट किये और वर्द्धमान कुमार को सामने खड़ा किया। जब देवेन्द्र को पता चला कि महावीर को कलाचार्य के पास ले जाया जा रहा है तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि तीन-ज्ञानधारी को अल्पज्ञानी पंडित क्या पढ़ायेगा।

उसी समय वे निमेषार्ध में विद्या-गुरु और जनसाधारण को प्रभु की योग्यता का ज्ञान कराने के लिये एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में वहाँ प्रकट हुए और महावीर से व्याकरण सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्न पूछने लगे। महावीर द्वारा दिये गये युक्तिपूर्ण यथार्थ उत्तरों को सुन कर कलाचार्य सहित सभी उपस्थित जन चकित हो गये। पंडित ने भी अपनी कुछ शंकाएँ बालक महावीर के सामने रखीं और उनका सम्यक् समाधान पा कर वह अवाक् रह गया।

जब पंडित बालक वर्द्धमान की ओर साश्चर्य देखने लगा तो वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र ने कहा—"पंडितजी ! यह साधारण बालक नहीं, विद्या का सागर और सकल शास्त्रों का पारंगत महापुरुष है।" जातिस्मरण और जन्म से तीन ज्ञान होने के कारण ये सब विद्याएं जानते हैं। वृद्ध ब्राह्मण ने महावीर के तत्काल प्रश्नोत्तरों का संग्रह कर 'ऐन्द्र व्याकरण' की रचना की।[1]

महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला महावीर की इस असाधारण योग्यता को देख कर परम प्रसन्न हुए और बोले—"हमें पता नहीं था कि हमारा कुमार इस प्रकार का 'गुरूणां गुरुः' है।"

यशोदा से विवाह

बाल्यकाल पूर्ण कर जब वर्द्धमान युवावस्था में आये तब राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला ने वर्द्धमान—महावीर के मित्रों के माध्यम से उनके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखा। राजकुमार महावीर भोग-जीवन जीना नहीं चाहते थे क्योंकि वे सहज-विरक्त थे। अतः पहले तो उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध किया

---

१ अन्नया अवितअट्ठवासजाते.......तप्पभिति च णं ऐंद्रं व्याकरणं संवृत्तं,
[आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २४८]

और अपने मित्रों से कहा—"प्रिय मित्रो ! तुम विवाह के लिये जो आग्रह कर रहे हो, वह मोह-वृद्धि का कारण होने से भव-भ्रमण का हेतु है। फिर भोग में रोग का भय भी भुलाने की वस्तु नहीं है। माता-पिता को मेरे वियोग का दुःख न हो, इसलिये दीक्षा लेने हेतु उत्सुक होते हुए भी मैं अब तक दीक्षा नहीं ले रहा हूँ।"

जिस समय वर्द्धमान और उनके मित्रों में परस्पर इस प्रकार की बात हो ही रही थी तभी माता त्रिशलादेवी वहां आ पहुंचीं। भगवान् ने खड़े होकर माता के प्रति आदर प्रदर्शित किया। माता त्रिशला ने कहा—"वर्द्धमान ! मैं जानती हूं कि तुम भोगों से विरक्त हो, फिर भी हमारी प्रबल इच्छा है कि तुम एक बार योग्य राज-कन्या से पाणिग्रहण करो।"

अन्ततोगत्वा माता-पिता क अनवरत प्रबल आग्रह के समक्ष महावीर को झुकना पड़ा और वसंतपुर के महासामन्त समरवीर की सर्वगुण सम्पन्ना पुत्री यशोदा[1] के साथ शुभ-मुहूर्त में उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। सच है, भोग-कर्म तीर्थंकर को भी नहीं छोडते।

गर्भकाल में ही माता के स्नेहाधिक्य को देख कर महावीर ने अभिग्रह कर रखा था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, वे दीक्षा ग्रहण नहीं करेंगे। माता-पिता को प्रसन्न रखने के इस अभिग्रह के कारण ही महावीर को विवाह-बन्धन में बँधना पड़ा।

भगवान् महावीर के विवाह के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् शंकाशील हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आगम आचारांग, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति आदि सभी ग्रन्थों में विवाह होने का उल्लेख है। पर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में यह स्वीकृत नहीं है, पर माता-पिता का विवाह के लिये अत्याग्रह और विभिन्न राजाओं द्वारा अपनी कन्याओं के लिये प्रार्थना एवं जितशत्रु की पुत्री यशोदा के लिये सानुनय निवेदन उन ग्रन्थों में भी मिलता है। भगवान् महावीर विवाहित थे या नहीं, इस शंका का आधार शास्त्र में प्रयुक्त 'कुमार' शब्द है। उसका सही अर्थ समझ लेने पर समस्या का सरलता से समाधान हो सकता है। दोनों परम्पराओं में वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पांच तीर्थंकरों को 'कुमार प्रव्रजित' कहा है। कुमार का अर्थ अकृत-राज्य और

---

१ उम्मुक्क बालभावो कमेण अह जोव्वणं अणुपत्तो।
भोगसमत्थं णाउं, अम्मापियरो उ वीरस्स। ७८
तिहि रिक्खम्मि पसत्थे, महन्त सामंत कुलप्पसूयाए।
कारेन्ति पाणिग्गहणं, जसोयवर रायकण्णाए। ७९

[आ० नि० भा०, पृ० २५९]

अविवाहित दोनों मान लिया जाय जैसा कि एक एकविंशतिस्थान प्रकरण[1] की टीका में लिखा है, तो सहज ही समाधान हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा के तिलोयपन्नत्ती, हरिवंशपुराण और पद्मपुराण[2] में भी पांच तीर्थंकरों के कुमार रहने और शेष तीर्थंकरों के राज्य करने का उल्लेख मिलता है। लोक प्रकाश में स्पष्ट रूप में लिखा है कि मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोग-कर्म शेष नहीं थे, अतः उन्होंने बिना विवाह किये ही दीक्षा ग्रहण की।[3]

'कुमार' शब्द का अर्थ, एकान्ततः कुंआरा-अविवाहित नहीं होता। कुमार का अर्थ युवराज, राजकुमार भी होता है[4] इसीलिये आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में 'न य इच्छिअभिसेया, कुमार वासंमि पव्वइया' अर्थात् राज्याभिषेक नहीं करने से कुमारवास में प्रव्रज्या लेना माना है।

माता-पिता का स्वर्गवास

राजसी भोग के अनुकूल साधन पाकर भी ज्ञानवान् महावीर उनसे अलिप्त थे। वे संसार में रहकर भी कमलपत्र की तरह निर्लेप थे। उनके संसार-वास का प्रमुख कारण था—कृतकर्म का उदयभोग और बाह्य कारण था—माता-पिता का अतुल स्नेह। महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का परिपालन कर जब अन्तिम समय निकट समझा तो उन्होंने आत्मा की शुद्धि के लिए अर्हत्, सिद्ध एवं आत्मा की साक्षी से कृत पाप के लिए पश्चात्ताप किया। दोषों से दूर हट कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार किया। डाभ के संथारे पर बैठ कर चतुर्विध आहार के

---

१ एकविंशतिस्थान प्रकरण में कहा है : 'वसुपुज्ज, मल्ली, नेमी, पासो, वीरो कुमार पव्वइया। रज्जं काउं सेसा, मल्ली नेमी अपरिणीया।' ३४। वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए। शेष तीर्थंकरों ने राज्य किया। मल्लीनाथ और नेमिनाथ ये दो अविवाहित प्रव्रजित हुए।

२ कुमाराः निर्गता गेहात्, पृथिवीपतयोऽपरे ॥ पद्म० पु०, २०।६७

३ अभोगफलकर्माणौ, मल्लिनेमिजिनेश्वरौ।
निरीयतुरनुद्वाहौ, कृतोद्वाहापरे जिनाः।१००४। लोक० प्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४

४ (क) कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके। शब्दरत्न सम० कोष, पृ० २६८
(ख) युवराजः कुमारो भर्तृदारकः। अभि० चि०, काण्ड २, श्लोक २४६, पृ० १३६
(ग) कुमार-सन, बॉय, यूथ, ए बॉय बिलो फाइव, ए प्रिन्स। आप्टे संस्कृत, इंग्लिश डि०, पृ० ३६३।
(घ) युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः॥ अमरकोष, कांड १, नाट्यवर्ग, श्लोक १२, पृ० ७५।

त्याग के साथ उन्होंने संथारा ग्रहण किया और तत्पश्चात् अपश्चिम मरणान्तिक संलेखना से भूषित शरीर वाले वे काल के समय में काल कर अच्युत कल्प (बारहवें स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न हुए।[1] वे स्वर्ग से च्युत हो महाविदेह में उत्पन्न होंगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे।

भ० महावीर के माता-पिता के स्वर्गारोहण के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५ वें अध्ययन में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :—

"समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। ते णं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालइत्ता छण्हं जीवनिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता निंदिता गरिहित्ता पडिकम्मित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंथारगं दुरूहिता भत्तं पच्चक्खायंति २ अपच्छिमाए मारणंतियाए संलेहणाए ज्झूयिसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना,, तओ णं आउक्खएणं, भवक्खएणं, टिइक्खएणं चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेणं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

त्याग की ओर

माता-पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर महावीर की गर्भकालीन प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। उस समय वे २८ वर्ष के थे। प्रतिज्ञा पूर्ण होने से उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन आदि स्वजनों के सम्मुख प्रव्रज्या की भावना व्यक्त की। किन्तु नन्दिवर्धन इस बात को सुनकर बहुत दुःखी हुए और बोले—"भाई ! अभी माता-पिता के वियोगजन्य दुःख को तो हम भूल ही नहीं पाये कि इसी बीच तुम भी प्रव्रज्या की बात कहते हो। यह तो घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। अतः कुछ काल के लिए ठहरो, फिर प्रव्रज्या लेना। तब तक हम गत-शोक हो जायं।"[2]

भगवान् ने अवधिज्ञान से देखा कि उन सब का इतना प्रबल स्नेह है कि इस समय उनके प्रव्रजित होने पर वे सब भ्रान्तचित्त हो जायेंगे और कई तो प्राण भी छोड़ देंगे। ऐसा सोच कर उन्होंने कहा—"अच्छा, तो मुझे कब तक ठहरना होगा ?" इस पर स्वजनों ने कहा—"कम से कम अभी दो वर्ष तक तो

---

१ समणस्सणं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा, समणोवासगा यावि होत्था।..........अच्चुएकप्पे देवताए उववण्णा।..........महाविदेहवासे चरिमेणं।
[आवश्यक चू., १ भा. पृ. २४६]

२ अच्छंह कंचिकालं, जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि। आचा. २।१५। (भावना)

अविवाहित दोनों मान लिया जाय जैसा कि एक एकविंशतिस्थान प्रकरण[1] की टीका में लिखा है, तो सहज ही समाधान हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा के तिलोयपन्नत्ती, हरिवंशपुराण और पद्मपुराण[2] में भी पांच तीर्थंकरों के कुमार रहने और शेष तीर्थंकरों के राज्य करने का उल्लेख मिलता है। लोक प्रकाश में स्पष्ट रूप में लिखा है कि मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोग-कर्म शेष नहीं थे, अतः उन्होंने बिना विवाह किये ही दीक्षा ग्रहण की।[3]

'कुमार' शब्द का अर्थ, एकान्ततः कुंआरा-अविवाहित नहीं होता। कुमार का अर्थ युवराज, राजकुमार भी होता है[4] इसीलिये आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में 'न य इच्छिआभिसेया, कुमार वासंमि पव्वइया' अर्थात् राज्याभिषेक नहीं करने से कुमारवास में प्रव्रज्या लेना माना है।

माता-पिता का स्वर्गवास

राजसी भोग के अनुकूल साधन पाकर भी ज्ञानवान् महावीर उनसे अलिप्त थे। वे संसार में रहकर भी कमलपत्र की तरह निर्लेप थे। उनके संसार-वास का प्रमुख कारण था—कृतकर्म का उदयभोग और बाह्य कारण था—माता-पिता का अतुल स्नेह। महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का परिपालन कर जब अन्तिम समय निकट समझा तो उन्होंने आत्मा की शुद्धि के लिए अर्हत्, सिद्ध एवं आत्मा की साक्षी से कृत पाप के लिए पश्चात्ताप किया। दोषों से दूर हट कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार किया। डाभ के संथारे पर बैठ कर चतुर्विध आहार के

---

१ एकविंशतिस्थान प्रकरण में कहा है : 'वसुपुज्ज, मल्ली, नेमी, पासो, वीरो कुमार पव्वइया। रज्जं काउं सेसा, मल्ली नेमी अपरिणीया।' ३४। वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए। शेष तीर्थंकरों ने राज्य किया। मल्लीनाथ और नेमिनाथ ये दो अविवाहित प्रव्रजित हुए।

२ कुमाराः निर्गता गेहात्, पृथिवीपतयोऽपरे ॥ पद्म० पु०, २०।६७

३ अभोगफलकर्माणौ, मल्लिनेमिजिनेश्वरौ।
निरीयतुरनुद्वाहौ, कृतोद्वाहापरे जिनाः।१००४। लोक० प्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४

४ (क) कुमारो युवराजेऽश्ववाहके वालके शुके। शब्दरत्न सम० कोष, पृ० २६८

(ख) युवराजः कुमारो भर्तृदारकः। अभि० चि०, काण्ड २, श्लोक २४६, पृ० १३६

(ग) कुमार-सन, बॉय, यूथ, ए बॉय बिलो फाइव, ए प्रिन्स। आप्टे संस्कृत, इंग्लिश डि०, पृ० ३६३।

(घ) युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ॥ अमरकोष, कांड १, नाट्यवर्ग, श्लोक १२, पृ० ७५।

त्याग के साथ उन्होंने संथारा ग्रहण किया और तत्पश्चात् अपश्चिम मरणान्तिक संलेखना से झूषित शरीर वाले वे काल के समय में काल कर अच्युत कल्प (बारहवें स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न हुए।[1] वे स्वर्ग से च्युत हो महाविदेह में उत्पन्न होंगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे।

भ० महावीर के माता-पिता के स्वर्गारोहण के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५ वें अध्ययन में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :—

"समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। ते णं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालइत्ता छण्हं जीवनिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता निंदिता गरिहित्ता पडिकम्मित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंथारगं दुरूहिता भत्तं पच्चक्खायंति २ अपच्छिमाए. मारणंतियाए संलेहणाए झूसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना,, तओ णं आउक्खएणं, भवक्खएणं, टिइक्खएणं चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेणं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्व-दुक्खाणमंतं करिस्संति।

त्याग की ओर

माता-पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर महावीर की गर्भकालीन प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। उस समय वे २८ वर्ष के थे। प्रतिज्ञा पूर्ण होने से उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन आदि स्वजनों के सम्मुख प्रव्रज्या की भावना व्यक्त की। किन्तु नन्दिवर्धन इस बात को सुनकर बहुत दुःखी हुए और बोले—"भाई! अभी माता-पिता के वियोगजन्य दुःख को तो हम भूल ही नहीं पाये कि इसी बीच तुम भी प्रव्रज्या की बात कहते हो। यह तो घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। अतः कुछ काल के लिए ठहरो, फिर प्रव्रज्या लेना। तब तक हम गत-शोक हो जायं।"[2]

भगवान् ने अवधिज्ञान से देखा कि उन सब का इतना प्रबल स्नेह है कि इस समय उनके प्रव्रजित होने पर वे सब भ्रान्तचित्त हो जायेंगे और कई तो प्राण भी छोड़ देंगे। ऐसा सोच कर उन्होंने कहा—"अच्छा, तो मुझे कब तक ठहरना होगा ?" इस पर स्वजनों ने कहा—"कम से कम अभी दो वर्ष तक तो

---

१ समणस्सणं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा, समणोवासगा यावि होत्था।..........अच्चुएकप्पे देवत्ताए उववण्णा।..........महाविदेहवासे चरिमेणं।

[आवश्यक चू., १ भा. पृ. २४६]

२ अच्छह कंचिकालं, जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि। आचा. २।१५। (भावना)

ठहरना ही चाहिए।" महावीर ने उन सब की बात मान ली और बोले—"इस अवधि में मैं आहारादि अपनी इच्छानुसार करूंगा।" स्वजनों ने भी सहर्ष यह बात स्वीकार की।

दो वर्ष से कुछ अधिक काल तक महावीर विरक्तभाव से घर में रहे, पर उन्होंने सचित्त जल और रात्रि-भोजन का उपयोग नहीं किया। ब्रह्मचर्य का भी पालन किया।[1] टीकाकार के उल्लेखानुसार महावीर ने इस अवधि में प्राणातिपात की तरह असत्य, कुशील और अदत्त आदि का भी परित्याग कर रखा था। वे पाद-प्रक्षालन आदि क्रियाएं भी अचित्त जल से ही करते थे। भूमि-शयन करते एवं क्रोधादि से रहित हो एकत्व भाव में लीन रहते।[2] इस प्रकार एक वर्ष तक वैराग्य की साधना कर प्रभु ने वर्षीदान प्रारम्भ किया। प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान करते हुए उन्होंने वर्ष भर में तीन अरब अठ्यासी करोड़ एवं अस्सी लाख स्वर्णमुद्राओं का दान किया।

तीस वर्ष की आयु होने पर ज्ञात-पुत्र महावीर की भावना सफल हुई। उस समय लोकान्तिक देव अपनी नियत मर्यादा के अनुसार आये और महावीर को निम्न प्रकार से निवेदन करने लगे—"भगवन्! मुनि दीक्षा ग्रहण कर समस्त जीवों के हितार्थ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।"

भगवान् महावीर ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन और चाचा सुपार्श्व आदि की अनुमति प्राप्त कर दीक्षा की तैयारी की। नन्दिवर्धन ने भगवान् के निष्क्रमण की तैयारी के लिए अपने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया—"एक हजार आठ सुवर्ण, रूप्य आदि कलश तैयार करो।"

आचारांग सूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय को जान कर चार प्रकार के देव और देवियों के समूह अपने-अपने विमानों से सम्पूर्ण ऋद्धि और कान्ति के साथ आये और उत्तर क्षत्रियकुण्ड सन्निवेश में उतरे। वहाँ उन्होंने वैक्रियशक्ति से सिंहासन की रचना की। सबने मिल कर महावीर को सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। उन्होंने शतपाक एवं सहस्रपाक तेल से महावीर का अभ्यंगन किया और स्वच्छ जल से मज्जन

---

१ (क) अविसाहिए दुवेवासे सीतोदगमभोच्चा णिक्खंते, अफासुगं आहारं राइभत्तं च अणाहारेंतो अविसाहिए दुते वासे, सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते [आव. चूर्णि. पृ.२४६]

(ख) आचा., प्र. ६, अ, ११।

२ (क) आचा. प्र. टीका, पृ. २७५। समिति

(ख) बंभयारी असंजमवावाररहितो ठिओ, ण य फासुगेण विण्हातो, हत्थपादसोयणं तु फासुगेणं आयमणं च।........णय बंधवेहिवि अतिणेहं कतवं। आव. चू. १, पृ. २४०

कराया। गन्धकाषाय वस्त्र से शरीर पोंछा और गौशीर्ष चन्दन का लेपन किया। भार में हल्के और मूल्यवान् वस्त्र एवं आभूषण पहनाये। कल्पवृक्ष की तरह समलंकृत कर देवों ने वर्द्धमान (महावीर) को चन्द्रप्रभा नामक शिविका में आरूढ़ किया। मनुष्यों, इन्द्रों और देवों ने मिल कर शिविका को उठाया।

राजा नंदिवर्धन गजारूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ भगवान् महावीर के पीछे-पीछे चल रहे थे। प्रभु की पालकी के आगे घोड़े, दोनों ओर हाथी और पीछे रथ चल रहे थे।

इस प्रकार विशाल जन-समूह से घिरे प्रभु क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्यभाग में होते हुए ज्ञातृ-खण्ड-उद्यान में आये और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। आभूषणों एवं वस्त्रों को हटा कर प्रभु ने अपने हाथ से पंच-मुष्टि लोच किया। वैश्रमण देव ने हंस के समान श्वेत वस्त्र में महावीर के वस्त्रालंकार ग्रहण किये। शक्रेन्द्र ने विनयपूर्वक वज्रमय थाल में प्रभु के लुंचित केश ग्रहण किये तथा "अनुजानासि" कह कर तत्काल क्षीर सागर में उनका विसर्जन किया।

दीक्षा

उस समय हेमन्त ऋतु का प्रथम मास, मृगशिर कृष्णा दशमी तिथि का समय, सुव्रत दिवस, विजय नामक मुहूर्त और चतुर्थ प्रहर में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। ऐसे शुभ समय में निर्जल बेले की तपस्या से प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की। शक्रेन्द्र के आदेश से दीक्षा प्रसंग पर बजने वाले वाद्य भी बन्द हो गये और सर्वत्र शान्ति छा गई।[1]

प्रभु ने देव-मनुष्यों की विशाल परिषद् के समक्ष सिद्धों को नमस्कार करते हुए यह प्रतिज्ञा की—"सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं"। अब से मेरे लिए सब पाप-कर्म अकरणीय हैं, अर्थात् मैं आज से किसी भी प्रकार के पाप-कार्य में प्रवृत्ति नहीं करूंगा। यह कहते हुए प्रभु ने सामायिक चारित्र स्वीकार किया। उन्होंने प्रतिज्ञा की—"करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि"। आज से सम्पूर्ण सावद्यकर्म का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूं।"

जिस समय प्रभु ने यह प्रतिज्ञा ग्रहण की, उस समय देव-मनुष्यों की सम्पूर्ण परिषद् चित्रलिखित सी रह गई। सभी देव और मनुष्य शान्त एवं निर्निमेष-नेत्रों से उस नयनाभिराम एवं अन्तस्तलस्पर्शी दृश्य को देख रहे थे, जो राग पर त्याग की विजय के रूप में उन सबके सामने प्रत्यक्ष था।

---

१ (क) 'दिव्वो मणुस्सघोसो, तुरियणिणाओ य सक्कवयणेणं।'
खिप्पामेव णिलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्तं ।१। आचा. भा.।
(ख) आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २६२

महावीर के सामने सुख-साधनों की कोई कमी नहीं थी और न कमी थी चाहने वालों की, प्यार और सत्कार करने वालों की, फिर भी सब कुछ ठुकरा कर वे साधना के कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़ चले। चारित्र ग्रहण करते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान हो गया। इससे ढाई द्वीप और दो समुद्र तक के समनस्क प्राणियों के मनोगत भावों को महावीर जानने लगे।

महावीर का अभिग्रह और विहार

सबको विदा कर प्रभु ने निम्न अभिग्रह धारण किया :—

"आज से साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक मैं देह की ममता छोड़ कर रहूंगा, अर्थात् इस बीच में देव, मनुष्य या तिर्यंच जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग-कष्ट उत्पन्न होंगे, उनको समभावपूर्वक सम्यक्रूपेण सहन करूंगा।[1] अभिग्रह ग्रहण के पश्चात् उन्होंने ज्ञातखण्ड उद्यान से विहार किया। उस समय वहाँ उपस्थित सारा जनसमूह जाते हुए को तब तक देखता रहा, जब तक कि वे उनकी आंखों से ओझल नहीं हो गये। भगवान् संध्या के समय मुहूर्त भर दिन शेष रहते कुमारग्राम पहुंचे,[2] तथा वहाँ ध्यानावस्थित हो गये।

कई आचार्यों की मान्यता है कि साधना मार्ग में प्रविष्ट होकर जब भगवान् ने विहार किया तो मार्ग में एक वृद्ध ब्राह्मण मिला, जो वर्षीदान के समय नहीं पहुंच सका था। कुछ न कुछ मिलेगा, इस आशा से वह भगवान् के पास पहुंचा। भगवान् ने उसकी करुणाजनक स्थिति देख कर कंधे पर रखे हुए देवदूष्य वस्त्र में से आधा फाड़ कर उसको दे दिया। कल्पसूत्र मूल या अन्य किसी शास्त्र में आधा वस्त्र फाड़कर देने का उल्लेख नहीं है। आचारांग और कल्पसूत्र में १३ मास के बाद देवदूष्य का गिरना लिखा है, पर ब्राह्मण को देने का आधा उल्लेख नही है। हां, चूर्णि टीका आदि में ब्राह्मण को आधा देवदूष्य वस्त्र देने का उल्लेख अवश्य मिलता है।

प्रथम उपसर्ग और प्रथम पारणा

जिस समय भगवान् कुमारग्राम के बाहर स्थाणु की तरह अचल ध्यानस्थ खड़े थे, उस समय एक ग्वाला अपने बैलों सहित वहाँ आया। उसने महावीर

---

१ वारस वासाइं वीसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जंति, तं जहा, दिव्वा वा माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे समाणे सम्म सहिस्सामि खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥ आचा०, श्रु० २, अ० २३, पत्र ३६१।

२ तओ णं समणस्स भगवओ·······दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारगामं समणुपत्ते।
[आचारांग भावना]

पास बैलों को चरने के लिये छोड़ दिया और गाय दूहने के लिये स्वयं पास के गाँव में चला गया। पशु-स्वभाव के अनुसार बैल चरते-चरते वहां से बहुत दूर कहीं निकल गये। कुछ समय बाद जब ग्वाला लौट कर वहाँ आया, तो बैलों को वहाँ न देख कर उसने पास खड़े महावीर से पूछा—"कहो, हमारे बैल कहां गये ?' ध्यानस्थ महावीर की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलने पर वह स्वयं उन्हें ढूंढ़ने के लिये जंगल की ओर चला गया। संयोगवश सारी रात खोजने पर भी उसे बैल नहीं मिले।

कालान्तर में बैल यथेच्छ चर कर पुनः महावीर के पास आकर बैठ गये। बैल नहीं मिलने पर उद्विग्न ग्वाला प्रातःकाल वापिस महावीर के पास आया और अपने बैलों को वहां बैठे देख कर आग बबूला हो उठा। उसने सोचा कि निश्चय ही इसने रात भर बैलों को कहीं छिपा रखा था। इस तरह महावीर को चोर समझ कर वह उन्हें बैल बांधने की रस्सी से मारने दौड़ा।

इन्द्र, जो भगवान् की प्राथमिक चर्या को जानना चाहता था, उसने जब यह देखा कि ग्वाला भगवान् पर प्रहार करने के लिये झपट रहा है, तो वह भगवान् के रक्षार्थ निमेषार्ध में ही वहां आ पहुंचा। ग्वाले के उठे हुए हाथ दैवी प्रभाव से उठे के उठे ही रह गये। इन्द्र ने ग्वाले के सामने प्रकट होकर कहा— "ओ मूर्ख ! तू क्या कर रहा है ? क्या तू नहीं जानता कि ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वर्द्धमान महावीर हैं ? आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करने हेतु दीक्षा धारण कर साधना में लीन हैं।"[1]

इस घटना के बाद इन्द्र भगवान् से अपनी सेवा लेने की प्रार्थना करने लगा। परन्तु प्रभु ने कहा—"अर्हन्त केवलज्ञान और सिद्धि प्राप्त करने में किसी की सहायता नहीं लेते जिनेन्द्र अपने बल से ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।" फिर भी इन्द्र ने अपने संतोषार्थ मारणान्तिक उपसर्ग टालने के लिये सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को प्रभु की सेवा में नियुक्त किया और स्वयं भगवान् को वन्दन कर चला गया।[2]

दूसरे दिन भगवान् वहाँ से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश में आये और वहां बहुल नाम के ब्राह्मण के घर घी और शक्कर से मिश्रित परमान्न (खीर)

---

१ त्रि० श० पु० च०, १०।३।१७ से २६ श्लो०

२ (क) आव० चू० १, पृ० २७०। सक्को पडिगतो, सिद्धत्थठितो।
  (ख) नापेक्षां चक्रिरेऽर्हन्तः पर साहायिकं क्वचित्। २९
  केवलं केवलज्ञानं, प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।
  स्ववीर्येणैव गच्छन्ति, जिनेन्द्राः परमं पदम्। ३१।
  त्रि० श० पु० च०, १०।३।२९ से ३३।

महावीर के सामने सुख-साधनों की कोई कमी नहीं थी और न कमी थी चाहने वालों की, प्यार और सत्कार करने वालों की, फिर भी सब कुछ ठुकरा कर वे साधना के कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़ चले। चारित्र ग्रहण करते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान हो गया। इससे ढाई द्वीप और दो समुद्र तक के समनस्क प्राणियों के मनोगत भावों को महावीर जानने लगे।

महावीर का अभिग्रह और विहार

सबको विदा कर प्रभु ने निम्न अभिग्रह धारण किया :—

"आज से साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक मैं देह की ममता छोड़ कर रहूंगा, अर्थात् इस बीच में देव, मनुष्य या तिर्यंच जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग-कष्ट उत्पन्न होंगे, उनको समभावपूर्वक सम्यक्‌रूपेण सहन करूंगा।[1] अभिग्रह ग्रहण के पश्चात् उन्होंने ज्ञातखण्ड उद्यान से विहार किया। उस समय वहाँ उपस्थित सारा जनसमूह जाते हुए को तब तक देखता रहा, जब तक कि वे उनकी आंखों से ओझल नहीं हो गये। भगवान् संध्या के समय मुहूर्त भर दिन शेष रहते कुमारग्राम पहुंचे,[2] तथा वहाँ ध्यानावस्थित हो गये।

कई आचार्यों की मान्यता है कि साधना मार्ग में प्रविष्ट होकर जब भगवान् ने विहार किया तो मार्ग में एक वृद्ध ब्राह्मण मिला, जो वर्षीदान के समय नहीं पहुंच सका था। कुछ न कुछ मिलेगा, इस आशा से वह भगवान् के पास पहुंचा। भगवान् ने उसकी करुणाजनक स्थिति देख कर कंधे पर रखे हुए देवदूष्य वस्त्र में से आधा फाड़ कर उसको दे दिया। कल्पसूत्र मूल या अन्य किसी शास्त्र में आधा वस्त्र फाड़कर देने का उल्लेख नहीं है। आचारांग और कल्पसूत्र में १३ मास के बाद देवदूष्य का गिरना लिखा है, पर ब्राह्मण को देने का आधा उल्लेख नही है। हां, चूर्णि टीका आदि में ब्राह्मण को आधा देवदूष्य वस्त्र देने का उल्लेख अवश्य मिलता है।

प्रथम उपसर्ग और प्रथम पारणा

जिस समय भगवान् कुमारग्राम के बाहर स्थाणु की तरह अचल ध्यानस्थ खड़े थे, उस समय एक ग्वाला अपने बैलों सहित वहाँ आया। उसने महावीर के

---

१ वारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जंति, तं जहा, दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पणे समाणे सम्मं सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥ आचा०, श्रु० २, अ० २३, पत्र ३९१।

२ तओ णं समणस्स भगवओ·······दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारगामं समणुपत्ते। [आचारांग भावना]

पास बैलों को चरने के लिये छोड़ दिया और गाय दूहने के लिये स्वयं पास के गाँव में चला गया। पशु-स्वभाव के अनुसार बैल चरते-चरते वहां से बहुत दूर कहीं निकल गये। कुछ समय बाद जब ग्वाला लौट कर वहाँ आया, तो बैलों को वहाँ न देख कर उसने पास खड़े महावीर से पूछा—"कहो, हमारे बैल कहां गये ?' ध्यानस्थ महावीर की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलने पर वह स्वयं उन्हें ढूंढ़ने के लिये जंगल की ओर चला गया। संयोगवश सारी रात खोजने पर भी उसे बैल नहीं मिले।

कालान्तर में बैल यथेच्छ चर कर पुनः महावीर के पास आकर बैठ गये। बैल नहीं मिलने पर उद्विग्न ग्वाला प्रातःकाल वापिस महावीर के पास आया और अपने बैलों को वहां बैठे देख कर आग बबूला हो उठा। उसने सोचा कि निश्चय ही इसने रात भर बैलों को कहीं छिपा रखा था। इस तरह महावीर को चोर समझ कर वह उन्हें बैल बांधने की रस्सी से मारने दौड़ा।

इन्द्र, जो भगवान् की प्राथमिक चर्या को जानना चाहता था, उसने जब यह देखा कि ग्वाला भगवान् पर प्रहार करने के लिये झपट रहा है, तो वह भगवान् के रक्षार्थ निमेषार्ध में ही वहां आ पहुंचा। ग्वाले के उठे हुए हाथ दैवी प्रभाव से उठे के उठे ही रह गये। इन्द्र ने ग्वाले के सामने प्रकट होकर कहा—"ओ मूर्ख ! तू क्या कर रहा है ? क्या तू नहीं जानता कि ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वर्द्धमान महावीर हैं ? आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करने हेतु दीक्षा धारण कर साधना में लीन हैं।"[1]

इस घटना के बाद इन्द्र भगवान् से अपनी सेवा लेने की प्रार्थना करने लगा। परन्तु प्रभु ने कहा—"अर्हन्त केवलज्ञान और सिद्धि प्राप्त करने में किसी की सहायता नहीं लेते जिनेन्द्र अपने बल से ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।" फिर भी इन्द्र ने अपने संतोषार्थ मारणान्तिक उपसर्ग टालने के लिये सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को प्रभु की सेवा में नियुक्त किया और स्वयं भगवान् को वन्दन कर चला गया।[2]

दूसरे दिन भगवान् वहाँ से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश में आये और वहां बहुल नाम के ब्राह्मण के घर घी और शक्कर से मिश्रित परमान्न (खीर)

---

१ त्रि० श० पु० च०, १०।३।१७ से २६ श्लो०

२ (क) आव० चू० १, पृ० २७०। सक्को पडिगतो, सिद्धत्थठितो।
(ख) नापेक्षां चक्रिरेऽर्हन्तः पर साहायिकं क्वचित्। २६
केवलं केवलज्ञानं, प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति, जिनेन्द्राः परमं पदम्। ३१।
त्रि० श० पु० च०, १०।३।२६ से ३३।

से उन्होंने छट्ठ तप का प्रथम पारणा किया ।[1] 'अहो दानमहो दानम्' के दिव्यघोष के साथ देवगण ने नभोमण्डल से पंच-दिव्यों की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की ।

भगवान् महावीर की साधना

आचारांगसूत्र और कल्पसूत्र में महावीर की साधना का बहुत विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा गया है कि दीक्षित होकर महावीर ने अपने पास देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं रखा । लगभग तेरह मास तक वह वस्त्र भगवान् के कंधे पर रहा । तत्पश्चात् उस वस्त्र के गिर जाने से वे पूर्णरूपेण अचल हो गये ।

अपने साधनाकाल में वे कभी निर्जन झोंपड़ी, कभी कुटिया, कभी धर्मशाला या प्याऊ में निवास करते थे । शीतकाल में भयंकर से भयंकर ठंड पड़ने पर भी वे कभी बाहुओं को नहीं समेटते थे । वे नितान्त सहज मुद्रा में दोनों हाथ फैलाये विचरते रहे । शिशिरकाल में जब जोर-जोर से सन्सनाता हुआ पवन चलता, कड़कड़ाती सर्दी जब शरीर को ठिठुरा कर असह्य पीड़ा पहुंचाती, उस समय दूसरे साधक शीत से बचने हेतु गर्म स्थान की गवेषणा करते, गर्म वस्त्र बदन पर लपेटते और तापस आग जला कर सर्दी से बचने का प्रयत्न करते, परन्तु श्रमण भगवान् महावीर ऐसे समय में भी खुले स्थान में नंगे खड़े रहते और सर्दी से बचाव की इच्छा तक भी नहीं करते ।[2]

खुले शरीर होने के कारण सर्दी-गर्मी के अतिरिक्त उनको दंश, मशक आदि के कष्ट एवं अनेक कोमल तथा कठोर-स्पर्श भी सहन करने पड़ते । निवास-प्रसंग में भी, जो प्राय: शून्य स्थानों में होता, प्रभु को विविध उपसर्गों का सामना करना पड़ता । कभी सर्पादि विषैले जन्तु और काक, गीध आदि तीक्ष्ण चञ्चु वाले पक्षियों के प्रहार भी सहन करने पड़ते ।

कभी-कभी साधनाकाल में दुष्ट लोग उन्हें चोर समझ कर उन पर शस्त्रों से प्रहार करते, एकान्त में पीटते और अत्यधिक तिरस्कार करते । कामातुर नारियाँ उन्हें भोग-भावना से विमुख देख विविध उपसर्ग देतीं, किन्तु उन सारी बाधाओं और उपसर्गों के बीच भी प्रभु समभाव से अचल, शान्त और समाधिस्थ रहते, कभी किसी प्रकार से मन में उद्वेग नहीं लाते और रात-दिन समाधिभाव

---

१ (ग) आचारांग द्वितीय भावना ।।
(ख) बीय दिवसे छट्ठ पालणए कोल्लाए सन्निवेसे घयमहुसंजुत्तेणं परमन्नेणं बहुलेण माहणेण पडिलाभितो, पंच दिव्वा । आव० चू०, २७० पृ० ।

२ ... ४।१।४५

से ध्यान करते रहते। जहाँ भी कोई स्थान छोड़ने के लिये कहता, सहर्ष वहाँ से हट जाते थे। साधनाकाल में महावीर ने प्राय: कभी नींद नहीं ली, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जब उन्हें निद्रा सताती तो वे खड़े हो जाते अथवा रात्रि में कुछ समय चंक्रमण कर नींद को भगा देते थे। इस प्रकार प्रतिक्षण, प्रतिपल जागृत रह कर वे निरन्तर ध्यान, चिन्तन और कायोत्सर्ग में रमण करते।

विहार के प्रसंग में प्रभु कभी अगल-बगल में या मुड़कर पीछे की ओर भी नहीं देखते। मार्ग में वे किसी से बोलते नहीं थे। क्षुधा-शान्ति के लिये वे कभी आधाकर्मी या अन्य सदोष आहार ग्रहण नहीं करते थे। लाभालाभ में समभाव रखते हुए वे घर-घर भिक्षाचर्या करते। महल, झोंपड़ी या धनी-निर्धन का उनकी भिक्षाचर्या में कोई भेद-भाव नहीं होता था। साथ ही आहार के लिये वे कभी किसी के आगे दीन-भाव भी नहीं दिखाते थे। सुस्वादु पदार्थों की आकांक्षा न करते हुए अवसर पर जो भी रूखा-सूखा ठंडा-बासी, उड़द, सूखा भात, थंथु-बोर की कुट्टी आदि आहार मिल जाता उसे वे निस्पृह भाव से ग्रहण कर लेते।[1]

शरीर के प्रति महावीर की निर्मोह भावना बड़ी आश्चर्योत्पादक थी। वे न सिर्फ शीतातप की ही उपेक्षा करते थे बल्कि रोग उत्पन्न होने पर भी कभी औषधसेवन नहीं करते थे। आँख में रज-कण आदि के पड़ जाने पर भी वे उसे निकालने की इच्छा नहीं रखते थे। कारणवश शरीर खुजलाने तक का भी वे प्रयत्न नहीं करते थे। इस तरह देह के ममत्व से अत्यन्त ऊपर उठ कर वे संदेह होते हुए भी देह मुक्त से, विदेहवत् प्रतीत होते थे।

दीक्षा के समय जो दिव्य सुगन्धित वस्त्र और विलेपन उनके शरीर पर थे, उनकी उत्कट सुवास-सुगन्ध से आकृष्ट होकर चार मास तक भ्रमर आदि सुरभिप्रेमी कीट उनके शरीर पर मँडराते रहे और अपने तीक्ष्ण दंश से पीड़ा पहुंचाते रहे, मांस को नोचते रहे, कीड़े शरीर का रक्त पीते रहे, पर महावीर ने कभी उफ् तक नहीं किया और न उनका निवारण ही किया। वस्तुत: साधना की ऐसी अनुपम सहिष्णुता का उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

साधना का प्रथम वर्ष

'कोल्लाग' सन्निवेश से विहार कर भगवान् महावीर 'मोराक' सन्निवेश पधारे। वहाँ का 'दूइज्जंतक' नाम के पाषंडस्थों के आश्रम का कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। महावीर को आते देख कर वह स्वागतार्थ सामने आया

---

१ अविसूइयं वा, सुक्कं वा सीयपिंडं पुराण कुम्मासं। अदुवुक्कसं पुलागं वा,

[आचारांग भा० ४]

और उनसे वहाँ ठहरने की प्रार्थना करने लगा। उसकी प्रार्थना को मान देकर महावीर ने रात्रिपर्यन्त वहाँ रहना स्वीकार किया।[1]

दूसरे दिन जब महावीर वहाँ से प्रस्थान करने लगे तो कुलपति ने भावपूर्ण आग्रह के साथ कहा—"यह आश्रम दूसरे का नहीं, आपका ही है, अतः वर्षाकाल में यहीं रहें तो बहुत अच्छा रहेगा।" कुलपति की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए भगवान् कुछ समय के लिये आसपास के ग्रामों में घूम कर पुनः वर्षावास के लिये वहीं आ गये और वहीं एक पर्णकुटी में रहने लगे।

महावीर के हृदय में प्राणिमात्र के लिये मैत्री-भावना थी। किसी का कष्ट देख कर उनका मन दया से द्रवित हो जाता था। यथासंभव किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने देना, यह उनका अटल संकल्प था। संयोगवश उस वर्ष पर्याप्त रूप से वर्षा नहीं होने के कारण कृषि तो दरकिनार, घास, दूब, वल्लरी, पत्ते आदि तक भी अंकुरित नहीं हुए। परिणामतः भूखों मरती गायें आश्रम की झोंपड़ियों के तृण खाने लगीं। अन्यान्य कुटियों में रहने वाले परिव्राजक गायों को भगा कर अपनी-अपनी झोंपड़ी की रक्षा करते, पर महावीर सम्पूर्ण सावद्य कर्म के त्यागी और निःस्पृह होने के कारण सहज भाव से ध्यान में खड़े रहे। उनके मन में न कुलपति पर राग था और न गायों पर द्वेष। वे पूर्ण निर्मोही थे। किसी को पीड़ा पहुंचाना उनके साधु-हृदय को स्वीकार नहीं हुआ। अतः वे इन बातों की ओर ध्यान न देकर रात-दिन अपने ध्यान में ही निमग्न रहे।

जब दूसरे तापसों ने कुलपति से कुटी की रक्षा न करने के सम्बन्ध में महावीर की शिकायत की तो मधुर उपालंभ देते हुए कुलपति ने महावीर से कहा—"कुमार! ऐसी उदासीनता किस काम की? अपने घोंसले की रक्षा तो पक्षी भी करता है,फिर आप तो क्षत्रिय राजकुमार हैं। क्या आप अपनी झोंपड़ी भी नहीं सँभाल सकते?" महावीर को कुलपति की बात नहीं जँची। उन्होंने सोचा—"मेरे यहां रहने से आश्रमवासियों को कष्ट होता है, कुटी की रक्षा का प्रश्न तो एक बहाना मात्र है। सचेतन प्राणियों की रक्षा को भुला कर क्या मैं अचेतन कुटी के संरक्षण के लिए ही साधु बना हूँ? महल छोड़ कर पर्णकुटीर में बसने का क्या मेरा यही उद्देश्य है कि आपद्ग्रस्त जीवों को जीने में बाधा दूं? और ऐसा न कर सकूं तो अकर्मण्य तथा अनुपयोगी सिद्ध होऊं। मुझे अब यहाँ नहीं रहना चाहिये।" ऐसा सोच कर उन्होंने वर्षाऋतु के पन्द्रह दिन बीत

---

१ (क) ताहे सामी विहरमाणो गतो मोरागं सन्निवेसं, तत्य दूइज्जंतगाणाम पासंडत्था....
आव. चू. उपोद्घात नि., पृ० २७१

(ख) अन्यदा विहरन् स्वामी मोराके सन्निवेशने।
[त्रि. श. पु. च., १०।३।४९ मे]

जाने पर वहाँ से विहार कर दिया। उस समय प्रभु ने पाँच प्रतिज्ञाएं[1] ग्रहण कीं। यथा :—

(१) अप्रीतिकारक स्थान में कभी नहीं रहूँगा।
(२) सदा ध्यान में ही रहूँगा।
(३) मौन रखूंगा, किसी से नही बोलूंगा।
(४) हाथ में ही भोजन करूंगा और
(५) गृहस्थों का कभी विनय नहीं करूंगा।

मूल शास्त्र में इन प्रतिज्ञाओं का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परम्परा से प्रत्येक तीर्थंकर छद्मस्थकाल तक प्राय: मौन माने गये हैं। आचारांग के अनुसार महावीर ने कभी परपात्र में भोजन नहीं किया।[2] परन्तु मलयगिरि ने प्रतिज्ञा से पूर्व भगवान् का गृहस्थ के पात्र में आहार ग्रहण करना स्वीकार किया है।[3] यह शास्त्रीय परम्परा से विचारणीय है।

अस्थिग्राम में यक्ष का उपद्रव

आश्रम से विहार कर महावीर अस्थिग्राम की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचते-पहुँचते उनको संध्या का समय हो गया। वहाँ प्रभु ने एकान्त स्थान की खोज करते हुए नगर के बाहर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में ठहरने की अनुमति ली। उस समय ग्रामवासियों ने कहा—"महाराज! यहाँ एक यक्ष रहता है, जो स्वभाव से क्रूर है। रात्रि में वह यहाँ किसी को नहीं रहने देता। अत: आप कहीं अन्य स्थान में जाकर ठहरें तो अच्छा रहेगा। पर भगवान् ने परीषह

---

१ (क) इमेण तेण पंच अभिग्गहा गहिया.......

[आ. मलय नि,, पत्र २६८(१)]

(ख) इमेथ तेण पंच अभिग्गहा गहिता.......

[आवश्यक चू., पृ० २७१]

(ग) नाप्रीतिमद् गृहे वास:, स्थेयं प्रतिमया सह।
न गेहिविनयं कार्यो, मौनं पाणौ च भोजनम्॥

[कल्पसूत्र सुबोधा०, पृ० २८८]

२ नो सेवई य परवत्थं, परपाए वि से त भुंजित्था

[आचा., १।६।१, गा० १६]

३ (क) प्रथमं पारणकं गृहस्थपात्रे बभूव, तत: पाणिपात्रभोजिना मया भवितव्यमित्यभिग्रहो गृहीत:।

[आव. म. टी., पृ. २६८ (२)]

(ख) भगवया पढ़म पारणगे परपत्तंमि भुत्तं॥महावीर चरियं॥

सहने और यक्ष को प्रतिबोध देने के लिए वहीं ठहरना स्वीकार किया। भगवान् वहाँ एक कोने में ध्यानावस्थित हो गये।[1]

संध्या के समय पूजा के लिए पुजारी इन्द्रशर्मा यक्षायतन में आया। उसने पूजा के बाद सब यात्रियों को वहाँ से बाहर निकाला और महावीर से भी बाहर जाने को कहा, किन्तु वे मौन थे। इन्द्रशर्मा ने वहां होने वाले यक्ष के भयंकर उत्पात की सूचना दी, फिर भी महावीर वहीं स्थिर रहे। आखिर इन्द्रशर्मा वहाँ से चला गया।

रात्रि में अंधकार होने के पश्चात् यक्ष प्रकट हुआ। भगवान् को ध्यानस्थ देख कर वह बोला—"विदित होता है, लोगों के निषेध करने पर भी यह नहीं माना। संभवतः इसे मेरे पराक्रम का पता नहीं है।" इस विचार से उसने भयंकर अट्टहास किया, जिससे सारा वन-प्रदेश कांप उठा। किन्तु महावीर सुमेरु की तरह अडिग बने रहे। उसने हाथी का रूप बना कर महावीर को दाँतों से बुरी तरह गोदा और पैरों से रौंदा तथापि प्रभु किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए। तत्पश्चात् पिशाच का रूप बना कर उसने तीक्ष्ण नखों व दाँतों से महावीर के शरीर को नोंचा, सर्प बन कर डसा, फिर भी महावीर ध्यान में स्थिर रहे। बाद में उसने महावीर के आँख, कान, नासिका, शिर, दाँत, नख और पीठ इन सात स्थानों में ऐसी भयंकर वेदना उत्पन्न की[2] कि साधारण प्राणी तो छटपटा कर तत्काल प्राण ही छोड़ देता, पर महावीर सभी प्रकार के कष्टों को शान्त भाव से सहते रहे। परिणामस्वरूप यक्ष हार कर प्रभु के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए क्षमा माँगते हुए[3] प्रणाम कर वहाँ से चला गया। रात्रि के अन्त में उसके उपसर्ग बन्द हुए।

प्रथम वर्षावास में अस्थिग्राम के बाहर शूलपाणि ने उपसर्ग दिये, ४ पहर कुछ कम मुहूर्त भर निद्रा, १० स्वप्न—आव० मल० और चूर्णि।

भगवती सूत्र में छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि में दश स्वप्नों को देखकर जागृत होना लिखा है, वहां का पाठ इस प्रकार है—'समणे भ० म० छउमत्थ-

---

१ अथ ग्राम्यैरनुज्ञातो, बोधार्हं व्यन्तरं विदन्। तदायतनैककोणे, तस्थौ प्रतिमया प्रभुः।
[त्रि. श. पु. च., १०।३।२१७]

२ खोभेउं ताहे पभायसमए सत्तविवं वेयणं करेति।
[आव. चू., १ भाग, पृ० २७४]

३ चक्रे सर्पे सुधामूते, भूतराट् सप्तवेदनाः।........
एकापि वेदना मृत्युकारणं प्राकृते नरे।
अविसेहे तु ताः स्वामी, सप्ताऽप्ययुगपद्भवाः।
[त्रि. श. पु. च., १०।३।१३१ से]

कलियाए अंतिमराइयंसि इमे दस० छद्मस्थकालिकायां अंतिमरात्रौ, जिसका अर्थ छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि होता है।

सं० भगवती सूत्र के अनुसार छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि में ये दशमहा-स्वप्न देखना प्रमाणित होता है। जैसा कि सूत्र में कहा है—समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिम राइयंसि इमे दस सुमिणा पासित्ताणं पडिबुद्धे....। मूल आगम की भावना को देखते हुए आव० चूर्णि एवं कल्पसूत्र में कथित उपर्युक्त अस्थिग्राम में प्रभु का स्वप्न-दर्शन मेल नहीं खाता। संभव है, आचार्यो ने शूलपाणि के रात भर उवसर्ग के बाद निद्रा की बात लिखते 'छउमत्थ कालि-याए' पाठ ध्यान में नहीं रखा है। ना ऐसी कोई उनके सामने परंपरा है। भग० १६।६ उ० सू० १६।

निद्रा और स्वप्न-दर्शन

मुहूर्त भर रात्रि शेष रहते-रहते महावीर को क्षण भर के लिए निद्रा आई। प्रभु के साधनाकाल में यह प्रथम तथा अन्तिम निद्रावस्था थी। इस समय प्रभु ने निम्नलिखित दश स्वप्न देखे :—

(१) एक ताड़-पिशाच को अपने हाथों पछाड़ते देखा।
(२) श्वेत पुंस्कोकिल (उनकी) सेवा में उपस्थित हुआ।
(३) विचित्र वर्ण वाला पुंस्कोकिल सामने देखा।
(४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएँ देखीं।
(५) एक श्वेत गौवर्ग सम्मुख खड़ा देखा।
(६) विकसित पद्म-कमल का सरोवर देखा।
(७) अपनी भुजाओं से महासमुद्र को तैरते हुए देखा।
(८) विश्व को प्रकाशित करते हुए सहस्र-किरण-सूर्य को देखा।
(९) वैदूर्य-वर्ण सी अपनी आँतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते देखा।
(१०) अपने आपको मेरु पर आरोहण करते देखा।

स्वप्न-दर्शन के पश्चात् तत्काल भगवान् की निद्रा खुल गई, क्योंकि निद्रा-ग्रहण के समय भगवान् खड़े ही थे। उन्होंने निद्रावरोध के लिए निरन्तर योग का मोर्चा लगा रखा था, फिर भी उदय के जोर से क्षण भर के लिए निद्रा आ ही गई। साधनाकालीन यह प्रथम प्रसंग था, जब क्षण भर भगवान् को नींद आई।[1] यह भगवान् के जीवनकाल की अन्तिम निद्रा थी।

---

१ (क) तत्थ सामी देसूणे चत्तारि जामे अतीव परितावितो,
पभायकाले मुहूत्तमेत्तं निद्दापमायं गतो।

[आव. म. प० २७०।१]

निमित्तज्ञ द्वारा स्वप्न-फल कथन

उस गाँव में उत्पल नाम का एक निमित्तज्ञ रहता था। वह पहले भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का श्रमण था, किन्तु संयोगवश श्रमण-जीवन से च्युत हो गया था। उसने जब भगवान् महावीर के यक्षायतन में ठहरने की बात सुनी तो अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय हिल उठा।

प्रातःकाल वह भी पुजारी के साथ यक्षायतन में पहुँचा। वहां पर उसने भगवान् को ध्यानावस्था में अविचल खड़े देखा तो उसके आश्चर्य और आनन्द की सीमा न रही। उसने रात में देखे हुए स्वप्नों के फल के सम्बन्ध में प्रभु से निम्न विचार व्यक्त किये :—

(१) पिशाच को मारने का फल :—आप मोह कर्म का अन्त करेंगे।

(२) श्वेत कोकिल-दर्शन का फल :—आपको शुक्लध्यान प्राप्त होगा।

(३) विचित्र कोकिल-दर्शन से आप विविध ज्ञान रूप श्रुत की देशना करेंगे।

(४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएं देखने के स्वप्न का फल निमितज्ञ नहीं जान सका।

(५) श्वेत गौवर्ग देखने से आप चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे।

(६) पद्म-सरोवर विकसित देखने से चार प्रकार के देव आपकी सेवा करेंगे।

(७) समुद्र को तैर कर पार करने से आप संसार-सागर को पार करेंगे।

(८) उदीयमान सूर्य को विश्व में आलोक करते देखा। इससे आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।

(९) आँतों से मानुषोत्तर पर्वत वेष्टित करने से आपकी कीर्ति सारे मनुष्य लोक में फैलेगी।

(१०) मेरु-पर्वत पर चढ़ने से आप सिंहासनारूढ़ होकर लोक में धर्मोपदेश करेंगे।

चौथे स्वप्न का फल निमितज्ञ नहीं जान सका, इसका फल भगवान् ने स्वयं बताया—"दो रत्नमालाओं को देखने का फल यह है कि मैं दो प्रकार के धर्म, साधु धर्म और श्रावक धर्म का कथन करूंगा।" भगवान् के वचनों को सुनकर निमित्तज्ञ अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

अस्थिग्राम के इस वर्षाकाल में फिर भगवान् को किसी प्रकार का उपसर्ग

प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने शान्तिपूर्वक पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास आठ वार किये। इस प्रकार यह प्रथम वर्षावास शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ।[1]

साधना का दूसरा वर्ष

अस्थिग्राम का वर्षाकाल समाप्त कर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् ने मोराक सन्निवेश की ओर विहार किया। मोराक पधार कर आप एक उद्यान में विराजे। वहाँ अच्छंदक नाम का एक अन्यतीर्थी पाखंडी रहता था, जो ज्योतिष से अपनी जीविका चलाता था।

सिद्धार्थ देव ने प्रभु की महिमा बढ़ाने के लिए मोराक ग्राम के अधिकारी से कहा—"यह देवार्य तीन ज्ञान के धारक होने के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमान की सब बातें जानते हैं।"

सिद्धार्थ देव की यह बात सब जगह फैल गई और लोग बड़ी संख्या में उस उद्यान में आने लगे, जहां पर कि प्रभु ध्यान में तल्लीन थे। सिद्धार्थ आये हुए लोगों को उनके भूत-भविष्यत् काल की बातें बताता। उससे लोग बड़े प्रभावित हुए और इसके परिणामस्वरूप सिद्धार्थ देव सदा लोगों से घिरा रहता।

उन लोगों में से किसी ने सिद्धार्थ देव से कहा—"यहाँ अच्छंदक नामक एक अच्छा ज्योतिषी रहता है।" इस पर सिद्धार्थ देव ने उत्तर दिया—"वह कुछ भी नहीं जानता। वास्तव में देवार्य ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सच्चे जानकार हैं।"

सिद्धार्थ व्यन्तरदेव ने अच्छंदक द्वारा किये गये अनेक गुप्त पापों को प्रकट कर दिया। लोगों द्वारा छानबीन करने पर सिद्धार्थ देव द्वारा कही गई सब बातें सच्ची सिद्ध हुईं। इस प्रकार अच्छंदक की 'सारी' पोपलीला की कलई खुल गई और लोगों पर जमा हुआ उसका प्रभाव समाप्त हो गया। भगवान् महावीर के उज्ज्वल तप से प्रभावित जन-समुदाय दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक संख्या में प्रभु की सेवा में आने लगा।

अच्छंदक इससे बड़ा उद्विग्न हुआ। अन्य कोई उपाय न देख कर वह भगवान् महावीर के पास पहुंचा और करुण स्वर में प्रार्थना करने लगा—"भगवन्! आप तो सर्वशक्तिमान् और निःस्पृह हैं। आपके यहां विराजने से मेरी आजीविका समाप्तप्राय हो रही है। आप तो महान् परोपकारी हैं, फिर मेरा वृत्तिछेद, जो कि वधतुल्य ही माना गया है-वह आप कभी नहीं कर सकते। अतः आप मुझ पर दया कर अन्यत्र पधार जायें।"

---

१ आव० चू० पृ० २७४–२७५

भगवान् अच्छंदक के अन्तर के मर्म को जान कर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ से विहार कर उत्तर वाचाला की ओर पधार गये।[1]

सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के कारण 'वाचाला' के उत्तर और दक्षिण दो भाग हो गये थे। सुवर्णकूला के किनारे प्रभु के स्कन्ध का देवदूष्य वस्त्र काँटों में उलझ कर गिर पड़ा। प्रभु ने थोड़ा सा मुड़ कर देखा कि वह वस्त्र कहीं अस्थान में तो नहीं गिर पड़ा है। काँटों में उलझ कर गिरे वस्त्र को देख कर प्रभु ने समझ लिया कि शिष्यों को वस्त्र सुगमता से प्राप्त होंगे। तदनन्तर प्रभु ने उस देवदूष्य को वहीं वोसिरा दिया और स्वयं अचेल हो गये। तत्पश्चात् प्रभु जीवन भर अचेल रहे।

देवदूष्य वस्त्र प्राप्त करने की लालसा से प्रभु के पीछे-पीछे घूमते रहने वाले महाराज सिद्धार्थ के परिचित ब्राह्मण ने उस वस्त्र को उठा लिया[2] और वह अपने घर लौट आया।

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

मोराक सन्निवेश से विहार कर प्रभु उत्तर वाचाला की ओर बढ़ते हुए कनखमल नामक आश्रम पर पहुँचे। उस आश्रम से उत्तर वाचाला पहुँचने के दो मार्ग थे। एक मार्ग आश्रम के बीच से होकर और दूसरा बाहर से जाता था। भगवान् सीधे मार्ग पर चल पड़े। मार्ग में उन्हें कुछ ग्वाले मिले और उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—"भगवन्! जिस मार्ग पर आप बढ़ रहे हैं, उसमें प्राणापहारी संकट का भय है। इस पथ पर आगे की ओर वन में चण्डकौशिक नामक दृष्टिविष वाला भयंकर सर्प रहता है, जो पथिकों को देखते ही अपने विष से भस्मसात् कर डालता है। उसकी विषैली फूत्कारों से आकाश के पक्षी भी भूमि पर गिर पड़ते हैं। वह इतना भयंकर है कि किसी को देखते ही जहर बरसाने लगता है। उस चण्डकौशिक के उग्र विष के कारण आसपास के वृक्ष भी सूख कर ठूंठ बन चुके हैं। अतः अच्छा होगा कि आप कृपा कर इस मार्ग को छोड़ कर दूसरे बाहर वाले मार्ग से आगे की ओर पधारें।"

भगवान् महावीर ने उन ग्वालों की बात पर न कोई ध्यान ही दिया और न कुछ उत्तर ही। अकारण करुणाकर प्रभु ने सोचा कि चण्डकौशिक सर्प भव्य प्राणी है, अतः वह प्रतिबोध देने से अवश्यमेव प्रतिबुद्ध होगा। चण्डकौशिक का उद्धार करने के लिए प्रभु उस घोर संकटपूर्ण पथ पर बढ़ चले।

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ २७७

१ तत्थ सुवण्णकूलाए वुलिणे तं वत्थं कंटियाए लग्गं, ताहे तं थितं तं एतेण पितुवतंसधिज्जातितेण गहितं। [आवश्यक चूर्णि, पत्र २७७]

वह चण्डकौशिक सर्प अपने पूर्वभव में एक तपस्वी था। एक बार तप के पारण के दिन वह तपस्वी अपने एक शिष्य के साथ भिक्षार्थ निकला। भिक्षार्थ भ्रमण करते समय अज्ञात दशा में उन तपस्वी मुनि के पैर के नीचे एक मण्डुकी दब गई। यह देख कर शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! आपके पैर से दब कर मेंढकी मर गई।"

उन तपस्वी मुनि ने मार्ग में दबी हुई एक दूसरी मेंढकी की ओर अपने शिष्य का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—"क्या इस मेंढकी को भी मैंने मारा है?"

शिष्य ने सोचा कि सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय गुरुदेव इस पाप की आलोचना कर लेंगे।

सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय भी तपस्वी मुनि अन्य आवश्यक आलोचनाएं कर के बैठ गये और उस मेंढकी के अपने पैर के नीचे दब जाने के पाप की आलोचना उन्होंने नहीं की। शिष्य ने यह सोच कर कि गुरुदेव उस पाप की आलोचना करना भूल गये हैं, अपने गुरु को स्मरण दिलाते हुए कहा—"गुरुदेव! मण्डुकी आपके पैर के नीचे दब कर मर गई, उसकी आलोचना कीजिए।" एक बार में नहीं सुना तो उसने दूसरी व तीसरी बार कहा—"महाराज? मेंढ़की की आलोचना कीजिए।"

इस पर वे तपस्वी मुनि क्रुद्ध हो अपने शिष्य को मारने के लिए उठे। क्रोधावेश में ध्यान न रहने के कारण एक स्तम्भ से उनका शिर टकरा गया। इसके परिणामस्वरूप तत्काल उनके प्राण निकल गये और वे ज्योतिष्क जाति में देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर उस तपस्वी का जीव कनकखल आश्रम के ५०० तापसों के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से बालक के रूप में उत्पन्न हुआ। बालक का नाम कौशिक रखा गया। कौशिक बाल्यकाल से ही बहुत चण्ड प्रकृति का था। उस आश्रम में कौशिक नाम के अन्य भी तापस थे इसलिए उसका नाम चण्डकौशिक रखा गया।

समय पाकर चण्डकौशिक उस आश्रम का कुलपति बन गया। उसकी अपने आश्रम के वन के प्रति प्रगाढ़ ममता थी। वह तापसों को उस वन से फल नहीं लेने देता था, अतः तापस उस आश्रम को छोड़ कर इधर-उधर चले गये।

उस आश्रम के वन में जो भी गोपालक आते उनको वह चण्डकौशिक मार-पीट कर भगा देता। एक बार पास की नगरी 'सेयविया' के राजपुत्रों ने वहां आकर वनप्रदेश को आकर नष्ट कर दिया। गोपालकों ने चण्डकौशिक के बाहर से लौटने पर उसे सारी घटना सुना दी। चन्द्रकौशिक लकड़ियां डाल कर

भगवान् अच्छंदक के अन्तर के मर्म को जान कर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ से विहार कर उत्तर वाचाला की ओर पधार गये।[1]

सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के कारण 'वाचाला' के उत्तर और दक्षिण दो भाग हो गये थे। सुवर्णकूला के किनारे प्रभु के स्कन्ध का देवदूष्य वस्त्र काँटों में उलझ कर गिर पड़ा। प्रभु ने थोड़ा सा मुड़ कर देखा कि वह वस्त्र कहीं अस्थान में तो नहीं गिर पड़ा है। काँटों में उलझ कर गिरे वस्त्र को देख कर प्रभु ने समझ लिया कि शिष्यों को वस्त्र सुगमता से प्राप्त होंगे। तदनन्तर प्रभु ने उस देवदूष्य को वहीं वोसिरा दिया और स्वयं अचेल हो गये। तत्पश्चात् प्रभु जीवन भर अचेल रहे।

देवदूष्य वस्त्र प्राप्त करने की लालसा से प्रभु के पीछे-पीछे घूमते रहने वाले महाराज सिद्धार्थ के परिचित ब्राह्मण ने उस वस्त्र को उठा लिया[2] और वह अपने घर लौट आया।

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

मोराक सन्निवेश से विहार कर प्रभु उत्तर वाचाला की ओर बढ़ते हु कनखमल नामक आश्रम पर पहुँचे। उस आश्रम से उत्तर वाचाला पहुँचने के द मार्ग थे। एक मार्ग आश्रम के बीच से होकर और दूसरा बाहर से जाता था भगवान् सीधे मार्ग पर चल पड़े। मार्ग में उन्हें कुछ ग्वाले मिले और उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—"भगवन्! जिस मार्ग पर आप बढ़ रहे हैं, उसमें प्राणापहारी संकट का भय है। इस पथ पर आगे की ओर वन में चण्डकौशिक नामक दृष्टिविष वाला भयंकर सर्प रहता है, जो पथिकों को देखते ही अपने विष से भस्मसात् कर डालता है। उसकी विषैली फूत्कारों से आकाश के पक्षी भी भूमि पर गिर पड़ते हैं। वह इतना भयंकर है कि किसी को देखते ही जहर बरसाने लगता है। उस चण्डकौशिक के उग्र विष के कारण आसपास के वृक्ष भी सूख कर ठूंठ बन चुके हैं। अतः अच्छा होगा कि आप कृपा कर इस मार्ग को छोड़ कर दूसरे बाहर वाले मार्ग से आगे की ओर पधारें।"

भगवान् महावीर ने उन ग्वालों की बात पर न कोई ध्यान ही दिया और न कुछ उत्तर ही। अकारण करुणाकर प्रभु ने सोचा कि चण्डकौशिक सर्प भव्य प्राणी है, अतः वह प्रतिबोध देने से अवश्यमेव प्रतिबुद्ध होगा। चण्डकौशिक का उद्धार करने के लिए प्रभु उस घोर संकटपूर्ण पथ पर बढ़ चले।

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ २७७

१ तत्थ सुवण्णकूलाए वुलिणे तं वत्थं कंटियाए लग्गं, ताहे तं थितं तं एतेण पितुवतंस-विज्जातितेण गहितं। [आवश्यक चूर्णि, पत्र २७७]

वह चण्डकौशिक सर्प अपने पूर्वभव में एक तपस्वी था। एक वार तप के पारण के दिन वह तपस्वी अपने एक शिष्य के साथ भिक्षार्थ निकला। भिक्षार्थ भ्रमण करते समय अज्ञात दशा में उन तपस्वी मुनि के पैर के नीचे एक मण्डुकी दब गई। यह देख कर शिष्य ने कहा—"गुरुदेव ! आपके पैर से दव कर मेंढकी मर गई।"

उन तपस्वी मुनि ने मार्ग में दवी हुई एक दूसरी मेंढकी की ओर अपने शिष्य का ध्यान आर्कषित करते हुए कहा—"क्या इस मेंढकी को भी मैंने मारा है ?"

शिष्य ने सोचा कि सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय गुरुदेव इस पाप की आलोचना कर लेंगे।

सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय भी तपस्वी मुनि अन्य आवश्यक आलोचनाएं कर के बैठ गये और उस मेंढकी के अपने पैर के नीचे दब जाने के पाप की आलोचना उन्होंने नहीं की। शिष्य ने यह सोच कर कि गुरुदेव उस पाप की आलोचना करना भूल गये हैं, अपने गुरु को स्मरण दिलाते हुए कहा—"गुरुदेव ! मण्डुकी आपके पैर के नीचे दब कर मर गई, उसकी आलोचना कीजिए।" एक बार में नहीं सुना तो उसने दूसरी व तीसरी बार कहा—"महाराज ? मेंढ़की की आलोचना कीजिए।"

इस पर वे तपस्वी मुनि क्रुद्ध हो अपने शिष्य को मारने के लिए उठे। क्रोधावेश में ध्यान न रहने के कारण एक स्तम्भ से उनका शिर टकरा गया। इसके परिणामस्वरूप तत्काल उनके प्राण निकल गये और वे ज्योतिष्क जाति में देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर उस तपस्वी का जीव कनकखल आश्रम के ५०० तापसों के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से वालक के रूप में उत्पन्न हुआ। वालक का नाम कौशिक रखा गया। कौशिक बाल्यकाल से ही वहुत चण्ड प्रकृति का था। उस आश्रम में कौशिक नाम के अन्य भी तापस थे इसलिए उसका नाम चण्डकौशिक रखा गया।

समय पाकर चण्डकौशिक उस आश्रम का कुलपति वन गया। उसकी अपने आश्रम के वन के प्रति प्रगाढ़ ममता थी। वह तापसों को उस वन से फल नहीं लेने देता था, अतः तापस उस आश्रम को छोड़ कर इधर-उधर चले गये।

उस आश्रम के वन में जो भी गोपालक आते उनको वह चण्डकौशिक मार-पीट कर भगा देता। एक वार पास की नगरी 'सेयविया' के राजपुत्रों ने वहां आकर वनप्रदेश को आकर नष्ट कर दिया। गोपालकों ने चण्डकौशिक के वाहर से लौटने पर उसे सारी घटना सुना दी। चन्द्रकौशिक लकड़ियां डाल कर

परशु हाथ में लिए क्रुद्ध हो कुमारों के पीछे दौड़ा। तापस को आते देख कर राजकुमार भाग निकले।

तापस परशु हाथ में लिए उन कुमारों के पीछे दौड़ा और एक गड्ढे में गिर पड़ा। परशु की धार से तापस चण्डकौशिक का शिर कट गया और तत्काल मर कर वह उसी वन में दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। वह अपने पहले के क्रोध और ममत्व के कारण वनखण्ड की रक्षा करने लगा। वह चण्डकौशिक सर्प उस वन में किसी को नहीं आने देता था। आश्रम के बहुत से तापस भी उस सर्प के विष के प्रभाव से जल गये और जो थोड़े बहुत बचे थे, वे भी उस आश्रम को छोड़ कर अन्यत्र चले गये।

वह चण्डकौशिक महानाग रात-दिन उस सारे वनखण्ड में इधर से उधर चक्कर लगाता रहता था और पक्षी तक को भी वन में देखता तो उसे तत्काल अपने भयंकर विष से जला डालता था।

उत्तर विशाला के पथ पर आगे बढ़ते हुए भगवान् महावीर चण्डकौशिक द्वारा उजाड़े गये उस वन में पहुँचे। उन्होंने बिना किसी भय और संशय के उस वन में स्थित यक्षगृह के मण्डप में ध्यान लगाया। उनके मन में विश्वप्रेम की विमल गंगा बह रही थी और विमल दृष्टि में अमृत का सागर हिलोरें ले रहा था।

प्रभु के मन में सर्प चण्डकौशिक का कोई भय नहीं था। उनके मन में तो चण्डकौशिक का उद्धार करने की भावना थी।

अपने रक्षणीय वन की सीमा में महावीर को ध्यानस्थ खड़े देख कर चण्डकौशिक सर्प ने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि डाली और अतीव क्रुद्ध हो फूत्कार करने लगा। किन्तु भगवान् महावीर पर उसकी विषमय दृष्टि का किंचिन्मात्र भी प्रभाव नहीं हुआ।

यह देख कर चण्डकौशिक की क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो गई। उसने आवेश में आकर भगवान् महावीर के पैर और शरीर पर जहरीला दंष्ट्रा-घात किया। इस पर भी भगवान् निर्भय एवं अडोल खड़े ही रहे। नाग ने देखा कि रक्त के स्थान पर प्रभु के शरीर से दूध सी श्वेत और मधुर धारा बह रही है।

साधारण लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे किन्तु वास्तव में आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। देखा जाता है कि पुत्रवती माँ के मन में एक बालक के प्रति प्रगाढ़ प्रीति होने के कारण उसके स्तन दूध से भर जाते हैं, रक्त दूध का रूप धारण कर लेता है।

ऐसी दशा में त्रैलोक्यैकमित्र जिन प्रभु के रोम-रोम में प्राणिमात्र के प्रति पूर्ण वात्सल्य हो, उनके शरीर का रुधिर दूध सा श्वेत और मधुर हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसके उपरान्त तीर्थंकर प्रभु के शरीर का यह एक विशिष्ट अतिशय होता है कि उनका रक्त और मांस गौदुग्ध के समान श्वेत वर्ण का ही होता है।

चण्डकौशिक चकित हो भगवान् महावीर की सौम्य, शान्त और मोहक मुखमुद्रा को अपलक दृष्टि से देखने लगा। उस समय उसने अनुभव किया कि भगवान् महावीर के रोम-रोम से अलौकिक विश्वप्रेम और शान्ति का अमृतरस बरस रहा है। चण्डकौशिक के विषमय दंष्ट्राघात से वे न तो उद्विग्न हुए और न उसके प्रति किसी प्रकार का रोष ही प्रकट किया। चण्डकौशिक का क्रोधानल मेघ की जलधारा से बुझे दावानल की तरह शान्त हो गया।

चण्डकौशिक को शान्त देख कर महावीर ध्यान से निवृत्त हुए और बोले—"उवसम भो चण्डकोसिया ! हे चण्डकौशिक ! शान्त हो, जागृत हो, अज्ञान में कहाँ भटक रहा है ? पूर्व-जन्म के दुष्कर्मों के कारण तुम्हें सर्प बनना पड़ा है। अब भी सँभलो तो भविष्य नहीं बिगड़ेगा, अन्यथा इससे भी निम्न भव में भ्रमण करना पड़ेगा।"

भगवान् के इन सुधासिक्त वचनों को सुन कर 'चण्डकौशिक' जागृत हुआ, उसके अन्तर्मन में विवेक की ज्योति जल उठी। पूर्वजन्म की सारी घटनाएं चल-चित्र की भांति एक-एक कर उसके नेत्रों के सामने नाचने लगीं।[1] वह अपने कृत-कर्म के लिए पश्चात्ताप करने लगा। भगवान् की प्रचण्ड तपस्या और निश्छल, विमल करुणा के आगे उसका पाषाणहृदय भी पिघल कर पानी बन गया। उसने शुद्ध मन से संकल्प किया—"अब मैं किसी को भी नहीं सताऊंगा और न आज से मरणपर्यन्त कभी अशन ही ग्रहण करूंगा।"

कुछ लोग भगवान् पर चण्डकौशिक की लीला देखने के लिए इधर-उधर दूर खड़े थे, किन्तु भगवान् पर सर्प का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा देख कर वे धीरे-धीरे पास आये और प्रभु के अलौकिक प्रभाव को देख कर चकित हो गये। चण्डकौशिक सर्प को प्रतिबोध दे प्रभु अन्यत्र विहार कर गये। सर्प बिल में मुंह डाल कर पड़ गया। लोगों ने कंकर मार-मार कर उसको उत्तेजित करने का प्रयास किया पर नाग बिना हिले-डुले ज्यों का त्यों पड़ा रहा। उसका प्रचण्ड क्रोध क्षमा के रूप में बदल चुका था। नाग के इस बदले हुए जीवन को देख व सुन कर आबाल वृद्ध नर-नारी उसकी अर्चा-पूजा करने लगे। कोई उसे दूध शक्कर चढ़ाता तो कोई कुंकुम का टीका लगाता। इस तरह मिठास के कारण

१ न ड्ही चिंता-सरणं जोइस कोवाहि जाओऽहं। [आव. नि., गा. ४६७]

परशु हाथ में लिए क्रुद्ध हो कुमारों के पीछे दौड़ा। तापस को आते देख कर राजकुमार भाग निकले।

तापस परशु हाथ में लिए उन कुमारों के पीछे दौड़ा और एक गड्ढे में गिर पड़ा। परशु की धार से तापस चण्डकौशिक का शिर कट गया और तत्काल मर कर वह उसी वन में दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। वह अपने पहले के क्रोध और ममत्व के कारण वनखण्ड की रक्षा करने लगा। वह चण्डकौशिक सर्प उस वन में किसी को नहीं आने देता था। आश्रम के बहुत से तापस भी उस सर्प के विष के प्रभाव से जल गये और जो थोड़े बहुत बचे थे, वे भी उस आश्रम को छोड़ कर अन्यत्र चले गये।

वह चण्डकौशिक महानाग रात-दिन उस सारे वनखण्ड में इधर से उधर चक्कर लगाता रहता था और पक्षी तक को भी वन में देखता तो उसे तत्काल अपने भयंकर विष से जला डालता था।

उत्तर विशाला के पथ पर आगे बढ़ते हुए भगवान् महावीर चण्डकौशिक द्वारा उजाड़े गये उस वन में पहुँचे। उन्होंने विना किसी भय और संशय के उस वन में स्थित यक्षगृह के मण्डप में ध्यान लगाया। उनके मन में विश्वप्रेम की विमल गंगा बह रही थी और विमल दृष्टि में अमृत का सागर हिलोरें ले रहा था।

प्रभु के मन में सर्प चण्डकौशिक का कोई भय नहीं था। उनके मन में तो चण्डकौशिक का उद्धार करने की भावना थी।

अपने रक्षणीय वन की सीमा में महावीर को ध्यानस्थ खड़े देख कर चण्डकौशिक सर्प ने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि डाली और अतीव क्रुद्ध हो फूत्कार करने लगा। किन्तु भगवान् महावीर पर उसकी विषमय दृष्टि का किंचिन्मात्र भी प्रभाव नहीं हुआ।

यह देख कर चण्डकौशिक की क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो गई। उसने आवेश में आकर भगवान् महावीर के पैर और शरीर पर जहरीला दंष्ट्राघात किया। इस पर भी भगवान् निर्भय एवं अडोल खड़े ही रहे। नाग ने देखा कि रक्त के स्थान पर प्रभु के शरीर से दूध सी श्वेत और मधुर धारा बह रही है।

साधारण लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे किन्तु वास्तव में आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। देखा जाता है कि पुत्रवती माँ के मन में एक बालक के प्रति प्रगाढ़ प्रीति होने के कारण उसके स्तन दूध से भर जाते हैं, रक्त दूध का रूप धारण कर लेता है।

ऐसी दशा में त्रैलोक्यैकमित्र जिन प्रभु के रोम-रोम में प्राणिमात्र के प्रति पूर्ण वात्सल्य हो, उनके शरीर का रुधिर दूध सा श्वेत और मधुर हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसके उपरान्त तीर्थंकर प्रभु के शरीर का यह एक विशिष्ट अतिशय होता है कि उनका रक्त और मांस गौदुग्ध के समान श्वेत वर्ण का ही होता है ।

चण्डकौशिक चकित हो भगवान् महावीर की सौम्य, शान्त और मोहक मुखमुद्रा को अपलक दृष्टि से देखने लगा । उस समय उसने अनुभव किया कि भगवान् महावीर के रोम-रोम से अलौकिक विश्वप्रेम और शान्ति का अमृतरस बरस रहा है । चण्डकौशिक के विषमय दंष्ट्राघात से वे न तो उद्विग्न हुए और न उसके प्रति किसी प्रकार का रोष ही प्रकट किया । चण्डकौशिक का क्रोधानल मेघ की जलधारा से बुझे दावानल की तरह शान्त हो गया ।

चण्डकौशिक को शान्त देख कर महावीर ध्यान से निवृत्त हुए और बोले–"उवसम भो चण्डकोसिया ! हे चण्डकौशिक ! शान्त हो, जागृत हो, अज्ञान में कहाँ भटक रहा है ? पूर्व-जन्म के दुष्कर्मों के कारण तुम्हें सर्प बनना पड़ा है । अब भी सँभलो तो भविष्य नहीं बिगड़ेगा, अन्यथा इससे भी निम्न भव में भ्रमण करना पड़ेगा ।"

भगवान् के इन सुधासिक्त वचनों को सुन कर 'चण्डकौशिक' जागृत हुआ, उसके अन्तर्मन में विवेक की ज्योति जल उठी । पूर्वजन्म की सारी घटनाएं चल-चित्र की भांति एक-एक कर उसके नेत्रों के सामने नाचने लगीं ।[1] वह अपने कृत-कर्म के लिए पश्चात्ताप करने लगा । भगवान् की प्रचण्ड तपस्या और निश्छल, विमल करुणा के आगे उसका पाषाणहृदय भी पिघल कर पानी बन गया । उसने शुद्ध मन से संकल्प किया—"अब मैं किसी को भी नहीं सताऊंगा और न आज से मरणपर्यन्त कभी अशन ही ग्रहण करूंगा ।"

कुछ लोग भगवान् पर चण्डकौशिक की लीला देखने के लिए इधर-उधर दूर खड़े थे, किन्तु भगवान् पर सर्प का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा देख कर वे धीरे-धीरे पास आये और प्रभु के अलौकिक प्रभाव को देख कर चकित हो गये । चण्डकौशिक सर्प को प्रतिबोध दे प्रभु अन्यत्र विहार कर गये । सर्प बिल में मुंह डाल कर पड़ गया । लोगों ने कंकर मार-मार कर उसको उत्तेजित करने का प्रयास किया पर नाग बिना हिले-डुले ज्यों का त्यों पड़ा रहा । उसका प्रचण्ड क्रोध क्षमा के रूप में बदल चुका था । नाग के इस बदले हुए जीवन को देख व सुन कर आबाल वृद्ध नर-नारी उसकी अर्चा-पूजा करने लगे । कोई उसे दूध शक्कर चढ़ाता तो कोई कुंकुम का टीका लगाता । इस तरह मिठास के कारण

१ न डहो चिंता-सरणं जोइस कोवाहि जाओऽहं । [आव. नि., गा. ४६७]

थोड़े ही समय में बहुत सी चींटियां आ-आ कर नाग के शरीर से चिपट गईं और काटने लगीं, पर नाग उस असह्य पीड़ा को भी समभाव से सहन करता रहा। इस प्रकार शुभ भावों में आयु पूर्ण कर उसने अष्टम स्वर्ग की प्राप्ति की।[1] भगवान् के उद्बोधन से चण्डकौशिक ने अपने जीवन को सफल बनाया। उसका उद्धार हो गया।

विहार और नौकारोहण

चण्डकौशिक का उद्धार कर भगवान् विहार करते हुए उत्तर वाचाला पधारे। वहाँ उनका नागसेन के यहाँ पन्द्रह दिन के उपवास का परमान्न से पारणा हुआ। फिर वहाँ से विहार कर प्रभु श्वेताम्बिका नगरी पधारे। वहाँ के राजा प्रदेशी ने भगवान् का खूब भावभीना सत्कार किया।

श्वेताम्बिका से विहार कर भगवान् सुरभिपुर की ओर चले। बीच में गंगा नदी बह रही थी। अतः गंगा पार करने के लिए प्रभु को नौका में बैठना पड़ा। नौका ने ज्यों ही प्रयाण किया त्यों ही दाहिनी ओर से उल्लू के शब्द सुनाई दिये। उनको सुन कर नौका पर सवार खेमिल निमित्तज्ञ ने कहा—"बड़ा संकट आने वाला है, पर इस महापुरुष के प्रबल पुण्य से हम सब बच जायेंगे।"[2] थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही आँधी के प्रबल झोंकों में पड़ कर नौका भँवर में पड़ गई। कहा जाता है कि त्रिपुष्ट के भव में महावीर ने जिस सिंह को मारा था उसी के जीव ने वैर-भाव के कारण सुदंष्ट्र देव के रूप से गंगा में महावीर के नौकारोहण के पश्चात् तूफान खड़ा किया। यात्रीगण घबराये, पर महावीर निर्भय-अडोल थे। अन्त में प्रभु की कृपा से आँधी रुकी और नाव गंगा के किनारे लगी। कम्बल और शम्बल नाम के नागकुमारों ने इस उपसर्ग के निवारण में प्रभु की सेवा की।

पुष्य निमित्तज्ञ का समाधान

नाव से उतर कर भगवान् गंगा के किनारे 'स्थूणाक' सन्निवेश पधारे और वहाँ ध्यान-मुद्रा में खड़े हो गये। गाँव के पुष्य नामक निमित्तज्ञ को भगवान् के चरण-चिह्न देख कर विचार हुआ—"इन चिह्नों वाला अवश्य ही कोई चक्रवर्ती या सम्राट् होना चाहिये। संभव है, संकट में होने से वह अकेला घूम रहा हो। मैं जाकर उसकी सेवा करूं।" इन्हीं विचारों से वह चरण-चिह्नों को देखता हुआ बड़ी आशा से भगवान् के पास पहुंचा। किन्तु भिक्षुकरूप में भगवान् को खड़े देख कर उसके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। वह समझ नहीं पाया

---

१ अद्धमासस्स कालगतो सहस्सारे उववन्नो। [आ. चू. १, पृ. २७६]

२ आ० चू० पूर्वभाग. पृ० २८०

कि चक्रवर्ती के समस्त लक्षण शरीर पर होते हुए भी यह भिक्षुक कैसे है। उसकी ज्योतिष-शास्त्र से श्रद्धा हिल गई और वह शास्त्र को गंगा में बहाने को तैयार हो गया। उस समय देवेन्द्र ने प्रकट होकर कहा—'पंडित! शास्त्र को अश्रद्धा की दृष्टि से न देखो। यह कोई साधारण पुरुष नहीं, धर्म-चक्रवर्ती हैं, देव-देवेन्द्र और नरेन्द्रों के वन्दनीय हैं।' पुष्य की शंका दूर हुई और वह वन्दन कर चला गया।[1]

गोशालक का प्रभु-सेवा में आगमन

विहार-क्रम से घूमते हुए भगवान् ने दूसरा वर्षावास राजगृह के उपनगर नालन्दा में किया। वहाँ प्रभु एक तन्तुवाय-शाला में ठहरे हुए थे। मंखलिपुत्र गौशालक भी उस समय वहाँ वर्षावास हेतु आया हुआ था। भगवान् के कठोर तप और त्याग को देख कर वह आकर्षित हुआ। भगवान् के प्रथम मासतप का पारणा विजय सेठ के यहाँ हुआ। उस समय पंच-दिव्य प्रकट हुए और आकाश में देव-दुन्दुभि बजी। भाव-विशुद्धि से विजय ने संसार परिमित किया और देव-आयु का बन्ध[2] किया। राजगृह में सर्वत्र विजय गाथापति की प्रशंसा हो रही थी। गोशालक ने तप की यह महिमा देखी तो वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने वर्षाकाल भर के लिए मास-मास का दीर्घ तप स्वीकार कर रखा था। दूसरे मास का पारणा आनन्द गाथापति ने करवाया। उसके बाद तीसरा मास खमण किया और उसका पारणा सुनन्द गाथापति के यहाँ क्षीर से सम्पन्न हुआ।[3]

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिये जाते हुए गोशालक ने भगवान् से पूछा—"हे तपस्वी! मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा?" सिद्धार्थ ने कहा—"कोदों का बासी भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया।"[4]

भगवान् की भविष्यवाणी को मिथ्या सिद्ध करने हेतु गोशालक ने श्रेष्ठियों के उच्च कुलों में भिक्षार्थ प्रवेश किया, पर संयोग नहीं मिलने से उसे निराश होकर खाली हाथ लौटना पड़ा। अन्त में एक लुहार के यहाँ उसको खट्टी छाछ,

१ आ० चू० १, पृ० २८२।

२ विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं, तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं दाणेणं मए पड़िलाभिए समाणे, देवाउए निबद्धे, संसारे परित्तीकए गिहंसि य से, इमाइं पंचदिव्वाइं पाउब्भूयाइं। [भगवती, १५ श०, सू० ५४१, पृ० १२१४]

३ तच्च मासक्खमण पारणगंसि तंतुवाय सालाओ.........

[भगवती, शतक १५, उ० १, सूत्र ५४१]

४ सिद्धार्थः स्वामिसंक्रान्तो, बभाषे भद्र लप्स्यसे। धान्याम्लं कोद्रवक्रूरमेकं कूटं च रूप्यकम्।

[त्रि० श० पु० च०, १०।३।३९३ श्लो०]

थोड़े ही समय में बहुत सी चींटियां आ-आ कर नाग के शरीर से चिपट गईं और काटने लगीं, पर नाग उस असह्य पीड़ा को भी समभाव से सहन करता रहा। इस प्रकार शुभ भावों में आयु पूर्ण कर उसने अष्टम स्वर्ग की प्राप्ति की।[1] भगवान् के उद्‌बोधन से चण्डकौशिक ने अपने जीवन को सफल बनाया। उसका उद्धार हो गया।

विहार और नौकारोहण

चण्डकौशिक का उद्धार कर भगवान् विहार करते हुए उत्तर वाचाला पधारे। वहाँ उनका नागसेन के यहाँ पन्द्रह दिन के उपवास का परमान्न से पारणा हुआ। फिर वहाँ से विहार कर प्रभु श्वेताम्बिका नगरी पधारे। वहाँ के राजा प्रदेशी ने भगवान् का खूब भावभीना सत्कार किया।

श्वेताम्बिका से विहार कर भगवान् सुरभिपुर की ओर चले। बीच में गंगा नदी बह रही थी। अतः गंगा पार करने के लिए प्रभु को नौका में बैठना पड़ा। नौका ने ज्यों ही प्रयाण किया त्यों ही दाहिनी ओर से उल्लू के शब्द सुनाई दिये। उनको सुन कर नौका पर सवार खेमिल निमित्तज्ञ ने कहा—"बड़ा संकट आने वाला है, पर इस महापुरुष के प्रबल पुण्य से हम सब बच जायेंगे।"[2] थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही आँधी के प्रबल झोंकों में पड़ कर नौका भँवर में पड़ गई। कहा जाता है कि त्रिपुष्ट के भव में महावीर ने जिस सिंह को मारा था उसी के जीव ने वैर-भाव के कारण सुदंष्ट्र देव के रूप से गंगा में महावीर के नौकारोहण के पश्चात् तूफान खड़ा किया। यात्रीगण घबराये, पर महावीर निर्भय-अडोल थे। अन्त में प्रभु की कृपा से आँधी रुकी और नाव गंगा के किनारे लगी। कम्बल और शम्बल नाम के नागकुमारों ने इस उपसर्ग के निवारण में प्रभु की सेवा की।

पुष्य निमित्तज्ञ का समाधान

नाव से उतर कर भगवान् गंगा के किनारे 'स्थूणाक' सन्निवेश पधारे और वहाँ ध्यान-मुद्रा में खड़े हो गये। गाँव के पुष्य नामक निमित्तज्ञ को भगवान् के चरण-चिह्न देख कर विचार हुआ—"इन चिह्नों वाला अवश्य ही कोई चक्रवर्ती या सम्राट् होना चाहिये। संभव है, संकट में होने से वह अकेला घूम रहा हो। मैं जाकर उसकी सेवा करूं।" इन्हीं विचारों से वह चरण-चिह्नों को देखता हुआ बड़ी आशा से भगवान् के पास पहुंचा। किन्तु भिक्षुकरूप में भगवान् को खड़े देख कर उसके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। वह समझ नहीं पाया

---

१ अद्धमासस्स कालगतो सहस्सारे उववन्नो। [आ. चू. १, पृ. २७६]

२ आ० चू० पूर्वभाग. पृ० २८०

कि चक्रवर्ती के समस्त लक्षण शरीर पर होते हुए भी यह भिक्षुक कैसे है। उसकी ज्योतिष-शास्त्र से श्रद्धा हिल गई और वह शास्त्र को गंगा में बहाने को तैयार हो गया। उस समय देवेन्द्र ने प्रकट होकर कहा—'पंडित ! शास्त्र को अश्रद्धा की दृष्टि से न देखो। यह कोई साधारण पुरुष नहीं, धर्म-चक्रवर्ती हैं, देव-देवेन्द्र और नरेन्द्रों के वन्दनीय हैं।' पुष्य की शंका दूर हुई और वह वन्दन कर चला गया।[1]

गोशालक का प्रभु-सेवा में आगमन

विहार-क्रम से घूमते हुए भगवान् ने दूसरा वर्षावास राजगृह के उपनगर नालन्दा में किया। वहाँ प्रभु एक तन्तुवाय-शाला में ठहरे हुए थे। मंखलिपुत्र गौशालक भी उस समय वहाँ वर्षावास हेतु आया हुआ था। भगवान् के कठोर तप और त्याग को देख कर वह आकर्षित हुआ। भगवान् के प्रथम मासतप का पारणा विजय सेठ के यहाँ हुआ। उस समय पंच-दिव्य प्रकट हुए और आकाश में देव-दुन्दुभि बजी। भाव-विशुद्धि से विजय ने संसार परिमित किया और देव-आयु का बन्ध[2] किया। राजगृह में सर्वत्र विजय गाथापति की प्रशंसा हो रही थी। गोशालक ने तप की यह महिमा देखी तो वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने वर्षाकाल भर के लिए मास-मास का दीर्घ तप स्वीकार कर रखा था। दूसरे मास का पारणा आनन्द गाथापति ने करवाया। उसके बाद तीसरा मास खमण किया और उसका पारणा सुनन्द गाथापति के यहाँ क्षीर से सम्पन्न हुआ।[3]

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिये जाते हुए गोशालक ने भगवान् से पूछा—"हे तपस्वी ! मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा ?" सिद्धार्थ ने कहा—"कोदों का बासी भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया।"[4]

भगवान् की भविष्यवाणी को मिथ्या सिद्ध करने हेतु गोशालक ने श्रेष्ठियों के उच्च कुलों में भिक्षार्थ प्रवेश किया, पर संयोग नहीं मिलने से उसे निराश होकर खाली हाथ लौटना पड़ा। अन्त में एक लुहार के यहाँ उसको खट्टी छाछ,

---

१ आ० चू० १, पृ० २८२।

२ विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं, तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं दाणेणं मए पड़िलाभिए समाणे, देवाउए निवद्धे, संसारे परित्तीकए गिहंसि य से, इमाइं पंचदिव्वाइं पाउब्भूयाइं। [भगवती, १५ श०, सू० ५४१, पृ० १२१४]

३ तच्च मासक्खमण पारणगंसि तंतुवाय सालाओ........ [भगवती, शतक १५, उ० १, सूत्र ५४१]

४ सिद्धार्थः स्वामिसंक्रान्तो, बभाषे भद्र लप्स्यसे। धान्याम्लं कोद्रवक्रूरमेकं कूटं च रूप्यकम्। [त्रि० श० पु० च०, १०।३।३६३ श्लो०]

बासी भात और दक्षिणा में एक रुपया प्राप्त हुआ जो बाजार में नकली सिद्ध हुआ। गोशालक के मन पर इस घटना का यह प्रभाव पड़ा कि वह नियतिवाद का भक्त बन गया। उसने निश्चय किया कि जो कुछ होने वाला है, वह पहले से ही नियत होता है। भगवती सूत्र में उपर्युक्त भविष्यवाणी का उल्लेख नहीं मिलता।

इधर चातुर्मास समाप्त होने पर भगवान् ने राजगृही के नालन्दा से विहार किया और 'कोल्लाग' सन्निवेश में जाकर 'बहुल ब्राह्मण' के यहाँ अन्तिम मास-खमण का पारणा किया। गोशालक उस समय भिक्षा के लिये बाहर गया हुआ था। जब वह लौट कर तन्तुवायशाला में आया और भगवान् को नहीं देखा तो सोचा कि भगवान् नगर में कहीं गये होंगे। वह उन्हें नगर में जाकर ढूँढ़ने लगा। पर भगवान् का कहीं पता नहीं चला तो निराश होकर लौट आया और वस्त्र, कुंडिका, चित्रफलक आदि अपनी सारी वस्तुएँ ब्राह्मणों को देकर तथा शिर मुंडवा कर भगवान् की खोज में निकल पड़ा।[1]

प्रभु को ढूँढ़ते हुए वह कोल्लाग सन्निवेश पहुँचा और लोगों के मुख से बहुल ब्राह्मण की दान-महिमा सुनकर विचारने लगा कि अवश्य ही यह मेरे धर्माचार्य की महिमा होनी चाहिये। दूसरे का ऐसा तपः प्रभाव नहीं हो सकता। 'कोल्लाग सन्निवेश' के बाहर प्रणीत-भूमि में उसने भगवान् के दर्शन किये। दर्शनानन्तर भाव-विभोर हो उसने प्रभु को वन्दन किया और बोला—'आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूँ।' उसके ऐसा बारम्बार कहने से भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।[2] रागरहित भी भगवान् ने भाविभाव को जानते हुए उसके वचन को स्वीकार किया।[3] इसके बाद छह वर्ष तक गोशालक प्रभु के साथ विचरता रहा।

साधना का तीसरा वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश से विहार कर प्रभु गोशालक के साथ स्वर्णखल पधारे। मार्ग में उनको खीर पकाते हुए कुछ ग्वाले मिले। गोशालक का मन खीर देखकर मचल उठा। उसने महावीर से कहा—"भगवन्! कुछ देर ठहरें तो खीर खाकर चलेंगे।" सिद्धार्थ ने कहा—"खीर खाने को नहीं मिलेगी, क्योंकि हँडिया फूटने के कारण खीर पकने से पूर्व ही मिट्टी में मिल जायेगी।"

---

१ साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य पाहणाओ य चित्तफलगं च माहणे आयामेति आयामेत्ता सउत्तरोट्ठं मुंडं करोति....। [भगवती श० १५।१ स० ५४१ पृ० १२१७]
(ख) आ० चू० १, पृ० २८३।

२ गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं पड़िसुणेमि। [भगवती शतक, १५।१ सूत्र ५४१]

३ नीरागोऽपि भव्यतार्थं, तद्भावं च विदन्नपि। तद्वचः प्रत्यपादीशो, महान्तः क्व न वत्सलाः। [त्रि० श० पु० च०, १०।३।४१२]

नियतिवाद

पर गोशालक ग्वालों को सचेत कर स्वयं खीर के लिए रुका रहा। भगवान् आगे प्रयाण कर गये। सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करने पर भी चावलों के फूलने से हँडिया फूट गई और खीर धूल में मिल गई। गोशालक निराश होकर नन्हा सा मुँह लिए महावीर के पास पहुँचा। उसे इस बार दृढ़ विश्वास हो गया कि होनहार कभी टलता नहीं। इस तरह वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक बन गया।

कालान्तर में वहाँ से विहार कर भगवान् 'ब्राह्मणगाँव' पधारे। ब्राह्मण-गाँव दो भागों में विभक्त था—एक 'नन्दपाटक' और दूसरा 'उपनन्दपाटक'। नन्द और उपनन्द नाम के दो प्रसिद्ध पुरुषों के नाम पर गाँव के भाग इन नामों से पुकारे जाते थे। भगवान् महावीर 'नन्दपाटक' में नन्द के घर पर भिक्षा को पधारे। वहाँ उनको दही मिश्रित भात मिला। गोशालक 'उपनन्दपाटक' में उपनन्द के घर गया था वहाँ उपनन्द की दासी उसको बासी भात देने लगी किन्तु गोशालक ने दुर्भाव से उसे अस्वीकार कर दिया। गोशालक के इस अभद्र व्यवहार से क्रुद्ध हो उपनन्द दासी से बोला—"यदि यह भिक्षा नहीं ले तो इसके सिर पर फेंक देना।" दासी ने स्वामी की आज्ञा से वैसा ही किया। इस घटना से गोशालक बहुत कुपित हुआ और उसके घर वालों को शाप देकर वहाँ से चल दिया।

आवश्यक चूर्णिकार के मतानुसार गोशालक ने उपनन्द को उसका घर जल जाने का शाप दिया। भगवान् के तप की महिमा असत्य प्रमाणित न हो इस दृष्टि से निकटवर्ती व्यन्तरों के द्वारा घर जलाया गया और उसका शाप सच्चा ठहरा।[1]

ब्राह्मणगाँव से विहार कर भगवान् चम्पा पधारे और वहीं पर तृतीय वर्षाकाल पूर्ण किया। वर्षाकाल में दो-दो मास के उत्कट तप के साथ प्रभु ने विविध आसन व ध्यानयोग की साधना की। प्रथम द्विमासीय तप का पारणा चंपा में और द्वितीय द्विमासीय तप का पारणा चंपा के बाहर किया।[2]

साधना का चतुर्थ वर्ष

अंग देश की चम्पा नगरी से विहार कर भगवान् 'कालाय' सन्निवेश पधारे। वहाँ गोशालक के साथ एक सूने घर में ध्यानावस्थित हुए। गोशालक वहाँ द्वार के पास छिप कर बैठ गया और पास आयी हुई 'विद्युन्मती' नाम की

१ आव० चू० पूर्व भाग, पृ० २८४ वाणमंतरेहिं मा भगवतो अलियं भवतुत्ति तं घरं दड्ढं।
२ जं चरिमं दो मासियपारणयं तं बाहिं पारेति। [आव. चू., १।२८४]

दासी के साथ हँसी-मजाक करने लगा। दासी ने गाँव में जाकर मुखिया से शिकायत की और इसके परिणामस्वरूप मुखिया के पुत्र पुरुषसिंह द्वारा गोशालक पीटा गया।

कालाय सन्निवेश से प्रभु 'पत्तकालय' पधारे। वहाँ भी एक शून्य स्थान देख कर भगवान् ध्यानारूढ़ हो गये। गोशालक वहाँ पर भी अपनी विकृत भावना और चंचलता के कारण जनसमुदाय के क्रोध का शिकार बना।

गोशालक का शाप-प्रदान

'पत्तकालय' से भगवान् 'कुमारक सन्निवेश' पधारे।[1] वहाँ चंपगरमणीय नामक उद्यान में ध्यानावस्थित हो गये। वहाँ के कूपनाथ नामक कुम्भकार की शाला में पार्श्वनाथ के संतानीय आचार्य मुनिचन्द्र अपने शिष्यों के संग ठहरे हुए थे। उन्होंने अपने एक शिष्य को गच्छ का मुखिया बना कर स्वयं जिनकल्प स्वीकार कर रखा था। गोशालक ने भगवान् को भिक्षा के लिए चलने को कहा किन्तु प्रभु की ओर से सिद्धार्थ ने उत्तर दिया कि आज इन्हें नहीं जाना है।

गोशालक अकेला भिक्षार्थ गाँव में गया और वहाँ उसने रंग-बिरंगे वस्त्र पहने पार्श्व-परम्परा के साधुओं को देखा। उसने उनसे पूछा—"तुम सब कौन हो?" उन्होंने कहा—"हम सब पार्श्व परम्परानुयायी श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।" इस पर गोशालक ने कहा—"तुम सब कैसे निर्ग्रन्थ हो? इतने सारे रंग-बिरंगे वस्त्र और पात्र रख कर भी अपने को निर्ग्रन्थ कहते हो। सच्चे निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जो वस्त्र व पात्र से रहित हैं और त्याग-तप के साक्षात् रूप हैं। पार्श्व संतानीय ने कहा—"जैसा तू, वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी, स्वयंगृहीतलिंग होंगे।"[2] इस पर गोशालक क्रुद्ध होकर बोला—"अरे! मेरे धर्माचार्य की तुम निन्दा करते हो। यदि मेरे धर्माचार्य के दिव्य तप और तेज का प्रभाव है तो तुम्हारा उपाश्रय जल जाय।" यह सुन कर पार्श्वापत्यों ने कहा—"तुम्हारे जैसों के कहने से हमारे उपाश्रय जलने वाले नहीं हैं।"

यह सुन कर गोशालक भगवान् के पास आया और बोला—"आज मैंने सारंभी और सपरिग्रही साधुओं को देखा। उनके द्वारा आपके अपवाद करने पर मैंने कहा—"धर्माचार्य के दिव्य तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल जाय, किन्तु उनका उपाश्रय जला नहीं, इसका क्या कारण है?" सिद्धार्थ देव ने कहा—"गोशालक! वे पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधु हैं। साधुओं के तपस्तेज उपाश्रय जलाने के लिए नहीं होता।"

[आव. चू., १। पृ० २८५]

१ ततो कुमारायं संनिवेसं गता।
२ आव. चू., पृ० २८५

उधर आचार्य मुनिचन्द्र उपाश्रय के बाहर खड़े हो ध्यानमग्न हो गये। अर्द्धरात्रि के समय कूपनय नामक कुम्भकार अपनी मित्रमण्डली में सुरापान कर अपने घर की ओर लौटा। उपाश्रय के बाहर ध्यानमग्न मुनि को देख कर मद्य के नशे में मदहोश उस कुम्भकार ने उन्हें चोर समझ कर अपने दोनों हाथों से मुनि का गला धर दबाया। असह्य वेदना होने पर भी मुनिचन्द्र ध्यान में अडोल खड़े रहे। समभाव से शुक्लध्यान में स्थित होने के कारण मुनिचन्द्र को तत्काल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

देवों ने पुष्पादि की वर्षा कर केवलज्ञान की महिमा की। जब गोशालक ने देवों को आते-जाते देखा तो उसने समझा कि उन साधुओं का उपाश्रय जल रहा है।

गोशालक ने भगवान् ने कहा—"उन विरोधियों का उपाश्रय जल रहा है।" इस पर सिद्धार्थ देव ने कहा—"उपाश्रय नहीं जल रहा है। आचार्य को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है, इसलिए देवगण महिमा कर रहे हैं।"

गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा देख कर गोशालक को बड़ा हर्ष हुआ। वह उपाश्रय में जाकर मुनिचन्द्र के शिष्यों से कहने लगा—"अरे! तुम लोगों को कुछ भी पता नहीं है, खाकर अजगर की तरह सोये पड़े हो। तुम्हें अपने आचार्य के काल-कवलित हो जाने का भी ध्यान नहीं है। गोशालक की बात सुन कर साधु उठे और अपने आचार्य को कालप्राप्त समझ कर प्रगाढ़ पश्चात्ताप और अपने आपकी निन्दा करते रहे। गोशालक ने भी अवसर देख कर उन्हें जी भर भला-बुरा कहा।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार मुनिचन्द्र को उस समय अवधिज्ञान हुआ और उन्होंने स्वर्गगमन किया।[2]

कुमारक से विहार कर भगवान् 'चोराक सन्निवेश'[3] पधारे। वहाँ पर चोरों का अत्यधिक भय था। अतः वहाँ के पहरेदार अधिक सतर्क रहते थे। भगवान् उधर पधारे तो पहरेदारों ने उनसे परिचय पूछा, पर मौनस्थ होने के कारण प्रभु की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। पहरेदार उनके इस आचरण से सशंक और बड़े क्रुद्ध हुए। फलतः प्रभु को गुप्तचर या चोर समझ कर उन्होंने उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं। जब इस बात की सूचना ग्रामवासी 'उत्पल' निमित्तज्ञ की बहिनों, 'सोमा और जयंती' को मिली तो वे घटना-स्थल पर

१ आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २८६

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, १०।३।४७० से ४७७

३ गोरखपुर जिले में स्थित चौराचौरी

[तीर्थंकर महावीर, पृ० १६७]

उपस्थित हुई और रक्षक पुरुषों को उन्होंने महावीर का सही परिचय दिया। परिचय प्राप्त कर आरक्षकों ने महावीर को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की।

चौराक से भगवान् महावीर 'पृष्ठ चंपा' पधारे और चतुर्थ वर्षाकाल वहीं बिताया। वर्षाकाल में चार मास का दीर्घ तप और अनेक प्रकार की प्रतिमाओं से ध्यान-मुद्रा में कायोत्सर्ग करते रहे। चार मास की तप-समाप्ति के बाद भगवान् ने चम्पा बाहिरिका में पारणा किया।

साधना का पंचम वर्ष

पृष्ठ चम्पा का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् 'कयंगला' पधारे।[1] वहाँ 'दरिद्द थेर' नामक पाषंडी के देवल में कायोत्सर्ग-स्थित हो कर रहे।

कयंगला से विहार कर भगवान् 'सावत्थी' पधारे और नगर के बाहर ध्यानावस्थित हो गये। कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी, फिर भी भगवान् उसकी परवाह किये बिना रात भर ध्यान में लीन रहे। गोशालक सर्दी नहीं सह सका और रात भर जाड़े के मारे ठिठुरता-सिसकता रहा। उधर देवल में धार्मिक उत्सव होने से बहुत से स्त्री-पुरुष मिल कर नृत्य-गान में तल्लीन हो रहे थे। गोशालक ने उपहास करते हुए कहा—"अजी! यह कैसा धर्म, जिसमें स्त्री और पुरुष साथ-साथ लज्जारहित हो गाते व नाचते हैं?"

लोगों ने उसे धर्म-विरोधी समझ कर वहाँ से बाहर धकेल दिया। वह सर्दी में ठिठुरते हुए बोला—"अरे भाई! सच बोलना आजकल विपत्ति मोल लेना है। लोगों ने दया कर फिर उसे भीतर बुलाया। पर वह तो आदत से लाचार था। अतः अनर्गल प्रलाप के कारण वह दो-तीन बार बाहर निकाला गया और युवकों के द्वारा पीटा भी गया।

तदनन्तर जब जन-समुदाय को यह ज्ञात हुआ कि यह देवार्य महावीर का शिष्य है, तो सोचा कि इसे यहाँ रहने देने में कोई हानि नहीं है। वृद्धों ने जोर-जोर से बाजे बजवाने शुरू किये, जिससे उसकी बातें न सुनी जा सकें। इस प्रकार रात कुशलता से बीत गई।

प्रातःकाल महावीर वहाँ से विहार कर श्रावस्ती नगरी में पधारे। वहाँ पर 'पितृदत्त' गाथापति की पत्नी ने अपने बालक की रक्षा के लिए किसी निमित्तज्ञ के कथन से किसी एक गर्भ के माँस से खीर बनाई और तपस्वी को देने के विचार से गोशालक को दे डाली। उसने भी अनजाने ले ली। सिद्धार्थ ने पहले

---

१ आव. चू., पृ० २८८

ही इसकी सूचना कर दी थी। जब गोशालक ने इसे झुठलाने का प्रयत्न किया तो सिद्धार्थ ने कहा—वमन कर। वमन करने पर असलियत प्रकट हो गई। पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि गोशालक पक्का नियतिवादी हो गया।

सावत्थी से विहार कर प्रभु 'हलेदुग' पधारे। गाँव के पास ही 'हलेदुग' नाम का एक विशाल वृक्ष था। भगवान् ने उस स्थान को ध्यान के लिए उपयुक्त समझा और वहीं रात्रि-विश्राम किया। दूसरे अनेक पथिक भी रात्रि में वहाँ विश्राम करने को ठहरे हुए थे। उन्होंने सर्दी से बचने के लिए रात में आग जलाई और प्रातःकाल बिना आग बुझाये ही वे लोग चले गये। इधर सूखे घास के संयोग से हवा का जोर पा कर अग्नि की लपटें जलती हुई महावीर के निकट आ पहुँची और उनके पैर आग की लपटों से झुलस गये फिर भी ध्यान से चलायमान नहीं हुए।[1]

मध्याह्न में ध्यान पूर्ण होने पर भगवान् महावीर ने आगे प्रयाण किया और 'नांगला' होते हुए 'आवर्त' पधारे। वहाँ बलदेव के मंदिर में ध्यानावस्थित हो गये। भगवान् के साथ रहते हुए भी गोशालक अपने चंचल स्वभाव के कारण लोगों के बच्चों को डराता और चौंकाता था जिसके कारण वह अनेक बार पीटा गया।

आवर्त से विहार कर प्रभु अनेक क्षेत्रों को अपनी चरणरज से पवित्र करते हुए 'चौराक सन्निवेश' पधारे। वहाँ भी गुप्तचर समझ कर लोगों ने गोशालक को पीटा। गोशालक ने रुष्ट होकर कहा—"अकारण यहाँ के लोगों ने मुझे पीटा है, अतः मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज का प्रभाव हो तो यह मंडप जल जाय" और संयोगवश मंडप जल गया।

उसके इस उपद्रवी स्वभाव से भगवान् विहार कर 'कलंबुका' पधारे। वहाँ निकटस्थ पर्वतीय प्रदेश के स्वामी 'मेघ' और 'कालहस्ती' नाम के दो भाइयों में से कालहस्ती की महावीर से मार्ग में भेंट हुई। 'कालहस्ती' ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो ?" महावीर ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इस पर कालहस्ती ने उन्हें पकड़ कर खूब पीटा, फिर भी महावीर नहीं बोले।

कालहस्ती ने इस पर महावीर को अपने बड़े भाई मेघ के पास भिजवाया। मेघ ने महावीर को एक बार पहले गृहस्थाश्रम में कुंडग्राम में देखा था, अतः देखते ही वह उन्हें पहचान गया। उसने उठ कर प्रभु का सत्कार किया और उन्हें मुक्त ही नहीं किया अपितु अपने भाई द्वारा किये गये अभद्र व्यवहार के लिये क्षमा-याचना भी की।[2]

---

१ आव० चू० पृ० २८८।

२ आव० चू०, पृ० २९०।

मेघ से मुक्त होने पर भगवान् ने सोचा—"मुझे अभी बहुत से कर्म क्षय करने हैं। यदि परिचित प्रदेश में ही घूमता रहा तो कर्मों का क्षय विलम्ब से होगा। यहाँ कष्ट से बचाने वाले परिचित एवं प्रेमी भी मिलते रहेंगे। अतः मुझे ऐसे अनार्य प्रदेश में विचरण करना चाहिये, जहां मेरा कोई परिचित न हो।" ऐसा सोच कर भगवान् लाढ़ देश की ओर पधारे। लाढ़ या राढ़ देश, जो उस समय पूर्ण अनार्य माना जाता था, उस ओर सामान्यतः मुनियों का विचरण नहीं होता था। कदाचित् कोई जाते तो वहाँ के लोग उनकी हीलना-निन्दा करते और कष्ट देते। उस प्रान्त के दो भाग थे—एक वज्र भूमि और दूसरा शुभ्र भूमि। इनको उत्तर राढ़ और दक्षिण राढ़ के नाम से कहा जाता था। उनके बीच अजय नदी[1] बहती थी। भगवान् ने उन स्थानों में विहार किया और वहाँ के कठोरतम उपसर्गों को समभाव से सहन किया।

अनार्य क्षेत्र के उपसर्ग

लाढ़ देश में भगवान् को जो भयंकर उपसर्ग उपस्थित हुए, उनका रोमांचकारी वर्णन आचारांग सूत्र में आर्य सुधर्मा ने निम्नरूप से किया है :—

"वहाँ उनको रहने के लिये अनुकूल आवास प्राप्त नहीं हुए। रूखा-सूखा वासी भोजन भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता। वहां के कुत्ते दूर से ही भगवान् को देखकर काटने को दौड़ते किन्तु उन कुत्तों को रोकने वाले लोग वहाँ बहुत कम संख्या में थे। अधिकांश तो ऐसे थे जो छुछुकार कर कुत्तों को काटने के लिये प्रेरित करते।[2] रूक्षभोजी लोग वहाँ लाठी लेकर विचरण करते। पर भगवान् तो निर्भय थे, वे ऐसे दुष्ट स्वभाव वाले प्राणियों पर भी दुर्भाव नहीं करते, क्योंकि उन्होंने शारीरिक ममता को शुद्ध मन से त्याग दिया था। कर्म-निर्जरा का हेतु समझ कर ग्रामकंटकों-दुर्वचनों को सहर्ष सहन करते हुए वे सदा प्रसन्न रहते। वे मन में भी किसी के प्रति हिंसा भाव नहीं लाते।

जैसे संग्राम में शत्रुओं के तीखे प्रहारों की तनिक भी परवाह किये बिना गजराज आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी लाढ़ देश के विभिन्न उपसर्गों को किंचिन्मात्र भी परवाह किये बिना विचरते रहे।[3] वहाँ उन्हें ठहरने के लिये कभी दूर-दूर तक गाँव भी उपलब्ध नहीं होते। भयंकर अरण्य में ही रात्रिवास करना पड़ता। कभी गाँव के निकट पहुँचते ही लोग उन्हें मारने लग जाते और दूसरे गाँव जाने को बाध्य कर देते। अनार्य लोग भगवान् पर दण्ड, मुष्टि, भाला, पत्थर तथा ढेलों से प्रहार करते और इस कार्य से प्रसन्न होकर अट्टहास करने लगते।

---

१ आचा० चू०, पृ० २८७।

२ अह लूहा देसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु निवइंसु। [आचा० ६।३ पृ० ८३।८४—]

३ आचा०, ६।३।८७।८८। गा० १३

वहाँ के लोगों की दुष्टता असाधारण स्तर की थी। उन्होंने विविध प्रहारों से भगवान् के सुन्दर शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया। उन्हें अनेक प्रकार के असहनीय भयंकर परीषह दिये। उन पर धूल फेंकी तथा उन्हें ऊपर उछाल-उछाल कर गेंद की तरह पटका। आसन पर से धकेल कर नीचे गिरा दिया। हर तरह से उनके ध्यान को भंग करने का प्रयास किया। फिर भी भगवान् शरीर से ममत्व रहित होकर, बिना किसी प्रकार की इच्छा व आकांक्षा के संयम-साधना में स्थिर रह कर शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करते रहे।"[१]

इस प्रकार उस अनार्य प्रदेश में समभावपूर्वक भयंकर उपसर्गों को सहन कर भगवान् ने विपुल कर्मों की निर्जरा की। वहाँ से जब वे आर्य देश की ओर चरण बढ़ा रहे थे कि पूर्णकलश नाम के सीमाप्रान्त के ग्राम में उन्हें दो तस्कर मिले। वे अनार्य प्रदेश में चोरी करने जा रहे थे। सामने से भगवान् को आते देख कर उन दोनों ने अपशकुन समझा और तीक्ष्ण शस्त्र लेकर भगवान् को मारने के लिये लपके। इस घटना का पता ज्योंही इन्द्र को चला, इन्द्र ने प्रकट होकर तस्करों को वहाँ से दूर हटा दिया।[२]

भगवान् आर्य देश में विचरते हुए मलय देश पधारे और उस वर्ष का वर्षावास मलय की राजधानी 'भद्दिला नगरी' में किया। प्रभु ने चातुर्मास में विविध आसनों के साथ ध्यान करते हुए चातुर्मासिक तप की आराधना की और चातुर्मास पूर्ण होने पर नगरी के बाहर तप का पारणा कर 'कदली समागम' और 'जंबू संड' की ओर प्रस्थान किया।

साधना का छठा वर्ष

'कदली समागम' और 'जंबू संड' में गोशालक ने दधिकूर का पारणा किया। वहाँ भी उसका तिरस्कार हुआ। भगवान् 'जंबू संड' से 'तंबाय' सन्निवेश पधारे। उस समय पाश्वापत्य स्थविर नन्दिषेण वहाँ पर विराज रहे थे। गोशालक ने भी उनसे विवाद किया।[३] फिर वहाँ से प्रभु ने 'कूविय' सन्निवेश की ओर विहार किया, जहाँ वे गुप्तचर समझ कर पकड़े गये और मौन रहने के कारण वंदी बना कर पीटे गये। वहाँ पर विजया और प्रगल्भा नाम की दो परिव्राजिकाएं, जो पहले पार्श्वनाथ की शिष्यायें थीं, इस घटना का पता पाकर लोगों के बीच आयीं और भगवान् का परिचय देते हुए बोलीं—"दुरात्मन्! नहीं जानते हो कि यह चरम तीर्थंकर महावीर हैं। इन्द्र को पता चला तो वह

---

१ आचा०, ६।३। पृ० ६२

२ सिद्धत्थेण ते असी तेसिं चेव उपरि छूढो, तेसिं सीसाणि छिन्नाणि। अन्ने भणंति-सक्केण ओहिणा आमोइत्ता दोवि वज्जेण हता। [आव. चु. १, पृ० २६०]

३ आव. चू., पृ० १६१

तुम्हें दण्डित करेगा।" परिव्राजिकाओं की बातें सुन कर उन लोगों ने प्रभु को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की।[१]

वहां से मुक्त होकर प्रभु वैशाली की ओर अग्रसर हुए। कुविय सन्निवेश से प्रभु ने जिस ओर चरण बढ़ाये, वहाँ दो मार्ग थे। गोशालक ने प्रभु से कहा– "आपके साथ मुझे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं और आप मेरा बचाव भी नहीं करते। इसलिए यह अच्छा होगा कि मैं अकेला ही विहार करूं।" इस पर सिद्धार्थ बोले[३] –"जैसी तेरी इच्छा।" वहाँ से महावीर वैशाली के मार्ग पर बढ़े और गोशालक राजगृह की ओर चल पड़ा।

वैशाली पधार कर भगवान् लोहार की 'कम्मशाला' में अनुमति लेकर ध्यानावस्थित हो गये। कर्मशाला के एक कर्मकार-लुहार ने अस्वस्थता के कारण छै मास से काम बन्द कर रखा था। भगवान् के आने के दूसरे दिन से ही वह स्वस्थता का अनुभव करने लगा, अतः औजार लेकर शुभ मुहूर्त में यंत्रालय पहुंचा। भगवान् को यंत्रालय में खड़े देख कर उसने अमंगल मानते हुए उन पर प्रहार करना चाहा, किन्तु ज्योंही वह हथोड़ा लेकर आगे बढ़ा त्योंही दैवी प्रभाव से सहसा उसके हाथ स्तंभित हो गये और प्रहार बेकार हो गया।[४]

वैशाली से विहार कर भगवान् 'ग्रामक सन्निवेश' पधारे और 'विभेलक' यक्ष के स्थान में ध्यानस्थ हो गये। भगवान् के तपोमय जीवन से प्रभावित होकर यक्ष भी गुण-कीर्तन करने लगा।[५]

व्यंतरी का उपद्रव और विशिष्टावधि लाभ

'ग्रामक सन्निवेश' से विहार कर भगवान् 'शालि शीर्ष' के रमणीय उद्यान में पधारे। माघ मास की कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी। मनुष्य घरों में गर्म वस्त्र पहने हुए भी काँप रहे थे। परन्तु भगवान् उस समय भी खुले शरीर ध्यान में खड़े थे। वन में रहने वाली 'कटपूतना' नाम की व्यन्तरी ने जब भगवान् को ध्यानस्थ देखा तो उसका पूर्वजन्म का वैर जागृत हो उठा और उसके क्रोध का पार नहीं रहा। वह परिव्राजिका के रूप में बिखरी जटाओं से मेघ-धाराओं की तरह जल बरसाने लगी और भगवान् के कंधों पर खड़ी हो तेज हवा चलाने लगी। कड़कड़ाती सर्दी में वह वर्फ सा शीतल जल, तेज हवा के कारण तीक्ष्ण काँटों से भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हो रहा था, फिर भी भग-

---

१ आव. चू., पृ० २९२

२ सिद्धार्थोऽयावदत्तुभ्यं, रोचते यत्कुरुष्व तत्। [त्रि. श. पु. च., १०।३।५९४]

३ सक्केण तस्स उवरि घणो पावियो तह चेव मतो। [आव. चू., पृ० २९२]

४ आव० चू०, पृ० २९२

वान् ध्यान में अडोल रहे और मन में भी विचलित नहीं हुए। समभावपूर्वक उस कठोर उपसर्ग को सहन करते हुए भगवान् को विशिष्टावधि ज्ञान प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे।[१] भगवान् की सहिष्णुता व क्षमता देख कर 'कटपूतना' हार गई, थक गई और शान्त होकर कृत अपराध के लिये प्रभु से क्षमायाचना करती हुई, वन्दन कर चली गई।

'शालिशीर्ष' से विहार कर भगवान् 'भद्रिका'[२] नगरी पधारे। वहाँ चातुर्मासिक तप से आसन तथा ध्यान की साधना करते हुए उन्होंने छठा वर्षाकाल बिताया। छै मास तक परिभ्रमण कर अनेक कष्टों को भोगता हुआ आखिर गोशालक भी पुनः वहाँ आ पहुंचा और भगवान् की सेवा में रहने लगा। वर्षाकाल समाप्त होने पर प्रभु ने नगर के बाहर पारण किया और मगध की ओर चल पड़े।[३]

साधना का सप्तम वर्ष

मगध के विविध भागों में घूमते हुए प्रभु ने आठ मास बिना उपसर्ग के पूर्ण किये। फिर चातुर्मास के लिये 'आलंभिया' नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप के साथ ध्यान करते हुए सातवाँ चातुर्मास वहाँ पूर्ण किया। चातुर्मास पूर्ण होने पर नगर के बाहर चातुर्मासिक तप का पारण कर 'कंडाग' सन्निवेश और 'मद्दणा' नाम के सन्निवेश पधारे और क्रमशः वासुदेव तथा बलदेव के मंदिर में ठहरे। गोशालक ने देवमूर्ति का तिरस्कार किया जिससे वह लोगों द्वारा पीटा गया। 'मद्दणा' से निकल कर भगवान् 'बहुसाल' गाँव गये और गांव के बाहर सालवन उद्यान में ध्यानस्थ हो गये। यहाँ शालार्य नामक व्यन्तरी ने भगवान् को अनेक उपसर्ग दिये, किन्तु प्रभु के विचलित नहीं होने से अन्त में थक कर वह क्षमायाचना करती हुई अपने स्थान को चली गई।

साधना का अष्टम वर्ष

'मद्दणा' से विहार कर भगवान् 'लोहार्गला' पधारे। 'लोहार्गला के पड़ौसी राज्यों में उस समय संघर्ष होने से वहाँ के सभी अधिकारी आने वाले यात्रियों से पूर्ण सतर्क रहते थे। परिचय के बिना किसी का राजधानी में प्रवेश संभव नहीं था। भगवान् से भी परिचय पूछा गया। उत्तर नहीं मिलने पर

---

१ वेयणं अहियासंतस्स भगवतो ओही विगसिओ सव्वं लोगं पासिउमारद्धो। आ० चू०, पृ० २९३।

२ "भद्दिया" अंग देश का एक नगर था, भागलपुर से आठ मील दूर दक्षिण में भदरिया ग्राम है, वहीं पहले भद्दिया थी। तीर्थंकर महावीर, पृ० २०६।

३ बाहिं पारेत्ता ततो पच्छा मगहविसए विहरति निरुवसग्गं अट्ठ मासे उदुबद्धिए। [आव० चू०, पृ० २९३]

उनको पकड़ कर अधिकारी राज-सभा में 'जितशत्रु' के पास ले गये। वहाँ 'अस्थिक' गाँव का नैमित्तिक उत्पल आया हुआ था। उसने जब भगवान् को देखा तो उठ कर त्रिविध वंदन किया और बोला--"यह कोई गुप्तचर नहीं है, यह तो सिद्धार्थ-पुत्र, धर्म-चक्रवर्ती महावीर हैं।" परिचय पाकर राजा जितशत्रु ने भगवान् की वंदना की और उन्हें सम्मानपूर्वक विदा किया।[1]

लोहार्गला से प्रभु ने 'पुरिमताल' की ओर प्रयाण किया। नगर के बाहर 'शकटमुख' उद्यान में वे ध्यानावस्थित रहे। 'पुरिमताल' से फिर 'उन्नाग' और 'गौभूमि' को पावन करते हुए प्रभु राजगृह पधारे। वहाँ चातुर्मासिक तपस्या ग्रहण कर विविध आसनों और अभिग्रहों के साथ प्रभु ध्यानावस्थित रहे। इस प्रकार आठवाँ वर्षाकाल पूर्ण कर प्रभु ने नगर के बाहर पारणा ग्रहण किया।

साधना का नवम वर्ष

भगवान् महावीर ने सोचा कि आर्य देश में जन-मन पर अंकित सुसंस्कारों के कारण कर्म की अत्यधिक निर्जरा नहीं होती, इसलिये इस सम्बन्ध में कुछ उपाय करना चाहिये। जैसे किसी कुटुम्बी के खेत में शालि उत्पन्न होने पर पथिकों से कहा जाता है कि कटाई करो, इच्छित भोजन मिलेगा, फिर चले जाना। इस बात से प्रभावित होकर, जैसे लोग उसका धान काट देते हैं वैसे ही उन्हें भी बहुत कर्मों की निर्जरा करनी है। इस कार्य में सफलता अनार्य देश में ही मिल सकती है। इस विचार से भगवान् फिर अनार्य भूमि की ओर पधारे और पहले की तरह इस बार भी लाढ़ और शुभ्र-भूमि के अनार्य खण्ड में जाकर उन्होंने विविध कष्टों को सहन किया, क्योंकि वहाँ के लोग अनुकम्पारहित व निर्दयी थे। योग्य स्थान नहीं मिलने से वहाँ वृक्षों के नीचे, खण्डहरों में तथा घूमते-घामते वर्षाकाल पूर्ण किया। छै मास तक अनार्यदेश में विचरण करने के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के कष्ट सहते हुए भी भगवान् को इस बात का हर्ष था कि उनके कर्म कट रहे हैं। इस तरह अनार्य देश का प्रथम चातुर्मास समाप्त कर प्रभ फिर आर्य देश में पधारे।[2]

साधना का दशम वर्ष

अनार्य प्रदेश से विहार कर भगवान् 'सिद्धार्थपुर' से 'कूर्मग्राम' की ओर पधार रहे थे, तब गोशालक भी साथ ही था। उसने मार्ग में सात पुष्प वाले एक तिल के पौधे को देख कर प्रभु से जिज्ञासा की—"भगवन्! यह पौधा फलयुक्त होगा क्या?" उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—"हाँ पौधा फलेगा और सातों फूलों के जीव इसकी एक ही फली में उत्पन्न होंगे।"

---

१ आव० चू०, पृ० २९४।

२ आव. चू., पृ. २९६-"दइव नियोगेण लेहट्ठो आसी वसही वि न लब्भति।"

गोशालक ने भगवान् के वचन को मिथ्या प्रमाणित करने की दृष्टि से उस पौधे को उखाड़ कर एक किनारे फेंक दिया। संयोगवश उसी समय थोड़ी वर्षा हुई और तिल का उखड़ा हुआ पौधा पुनः जम कर खड़ा हो गया।[1] फिर भगवान् 'कूर्मग्राम'[2] आये। वहाँ गाँव के बाहर 'वैश्यायन' नाम का तापस प्राणायाम-प्रव्रज्या से सूर्यमंडल के सम्मुख दृष्टि रख कर दोनों हाथ ऊपर उठाये आतापना ले रहा था। धूप से संतप्त हो कर उसकी बड़ी बड़ी जटाओं से यूकाएं नीचे गिर रही थीं और वह उन्हें उठा कर पुनः जटाओं में रख रहा था। गोशालक ने देखा तो कुतूहलवश वह भगवान् के पास से उठकर तपस्वी के पास आया और बोला—"अरे! तू कोई तपस्वी है या जूंओं का शय्यातर (घर)?" तपस्वी चुप रहा। जब गोशालक बार बार इस बात को दुहराता रहा तो तपस्वी को क्रोध आ गया। आतापना भूमि से सात आठ पग पीछे जाकर उसने जोश में तपोबल से प्राप्त अपनी तेजो-लब्धि गोशालक को भस्म करने के लिये छोड़ दी। अब क्या था! गोशालक मारे भय के भागा और प्रभु के चरणों में आकर छिप गया। दयालु प्रभु ने उस समय गोशालक की अनुकम्पा के लिये शीतल लेश्या से उस तेजो लेश्या को शान्त किया। गोशालक को सुरक्षित देखकर तापस ने महावीर की शक्ति का रहस्य समझा और विनम्र शब्दों में बोला—"भगवन्! मैं इसे आपका शिष्य नहीं जानता था, क्षमा कीजिये।"[3]

कुछ समय पश्चात् भगवान् ने पुनः 'सिद्धार्थपुर' की ओर प्रयाण किया। तिल के खेत के पास आते ही गोशालक को पुरानी बात याद आ गई। उसने महावीर से कहा—"भगवन्! आपकी वह भविष्यवाणी कहाँ गई?" प्रभु बोले—"बात ठीक है। वह बाजू में लगा हुआ पौधा ही पहले वाला तिल का पौधा है, जिसको तूने उखाड़ फेंका था।" गोशालक को इस पर विश्वास नहीं हुआ। वह तिल के पौधे के पास गया और फली को तोड़ कर देखा तो महावीर के कथनानुसार सात ही तिल निकले। इस घटना से वह नियतिवाद का पक्का समर्थक बन गया। उस दिन से उसकी दृढ़ मान्यता हो गई कि सभी जीव मरकर पुनः अपनी ही योनि में उत्पन्न होते हैं। वहां से गोशालक ने भगवान् का साथ छोड़ दिया और वह अपना मत चलाने की बात सोचने लगा।

सिद्धार्थपुर से भगवान् वैशाली पधारे। नगर के बाहर भगवान् को ध्यान-मुद्रा में देख कर अबोध बालकों ने उन्हें पिशाच समझा और अनेक प्रकार की यातनाएं दीं। सहसा उस मार्ग से राजा सिद्धार्थ के स्नेही मित्र शंख भूपति

---

१ तेण असद्दहंतेण अवक्कमित्ता सलेट्ठुओ उप्पाड़ितो एगंते य एडिओ.........बुट्ठं।.........

[आव. चू., पृ. २६७]

२ भगवती में कूर्मग्राम के स्थान पर कुंडग्राम लिखा है।

३ भ. श. श. १५, उ. १, सू. ५४३ समिति।

निकले। उन्होंने उन उपद्रवी बालकों को हटाया और स्वयं प्रभु की वंदन कर आगे बढ़े।[1]

वैशाली से भगवान् 'वाणियगाम' की ओर चले। मार्ग में गंडकी नदी पार करने के लिए उन्हें नाव में बैठना पड़ा। पार पहुँचने पर नाविक ने किराया माँगा पर भगवान् मौनस्थ रहे। नाविक ने क्रुद्ध होकर किराया न देने के कारण भगवान् को तवे सी तपी हुई रेत पर खड़ा कर दिया। संयोगवश उस समय 'शंख' राजा का भगिनी-पुत्र 'चित्र' वहाँ आ पहुँचा। उसने समझा कर नाविक से प्रभु को मुक्त करवाया।[2]

आगे चलते हुए भगवान् 'वाणियग्राम' पहुंचे। वहाँ 'आनन्द' नामक श्रमणोपासक को अवधिज्ञान की उपलब्धि हुई थी। वह बेले-बेले की तपस्या के साथ आतापना करता था। उसने तीर्थंकर महावीर को देख कर वंदन किया और बोला—"आपका शरीर और मन वज्र सा दृढ़ है, इसलिए आप कठोर से कठोर कष्टों को भी मुस्कुराते हुए सहन कर लेते हैं। आपको शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है।" यह उपासक 'आनन्द' पार्श्वनाथ की परम्परा का था, भगवान् महावीर का अन्तेवासी 'आनन्द' नहीं।

'वाणियग्राम' से विहार कर भगवान् 'सावत्थी' पधारे और विविध प्रकार की तपस्या एवं योग-साधना से आत्मा को भावित करते हुए वहाँ पर दशवाँ चातुर्मास पूर्ण किया।[3]

साधना का ग्यारहवाँ वर्ष

'सावत्थी' से भगवान् ने 'सानुलट्ठिय' सन्निवेश की ओर विहार किया। वहाँ सोलह दिन के निरन्तर उपवास किये और भद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा एवं सर्वतोभद्र प्रतिमाओं द्वारा विविध प्रकार से ध्यान की साधना करते रहे। भद्र आदि प्रतिमाओं में प्रभु ने निम्न प्रकार से ध्यान की साधना की।

भद्र प्रतिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में चार-चार प्रहर ध्यान करते रहे। दो दिन की तपस्या का बिना पारणा किये प्रभु ने महाभद्र प्रतिमा अंगीकार की। इसमें प्रति दिशा में एक-एक अहोरात्र पर्यंत ध्यान किया। फिर इसका बिना पारणा किये ही सर्वतोभद्र प्रतिमा की आराधना प्रारम्भ की। इसमें दश दिशाओं के क्रम से एक-एक अहोरात्र ध्यान करने से दस दिन हो

१ आव. चू., २६६

२ आव. चू., पृ० २६६

३ आव. चू. पृ० ३००

गये। इस प्रकार सोलह दिन के उपवासों में तीनों प्रतिमाओं की ध्यान-साधना भगवान् ने पूर्ण की।

प्रतिमाएं पूर्ण होने पर प्रभु 'आनन्द' गाथापति के यहाँ पहुंचे। उस समय आनन्द की 'बहुला' दासी रसोईघर के बर्तनों को खाली करने के लिए रात्रि का अवशेष दोषीण अन्न डालने को बाहर आयी थी। उसने स्वामी को देख कर पूछा—"क्या चाहिए महाराज!" महावीर ने हाथ फैलाया तो दासी ने बड़ी श्रद्धा से अवशेष बासी भोजन भगवान् को दे डाला। भगवान् ने निर्दोष जान-कर उसी बासी भोजन से सहज भाव से पारण किया। देवों ने पंच-दिव्य प्रकटाये और दान की महिमा से दासी को दासीत्व से मुक्त कर दिया।[1]

संगम देव के उपसर्ग

वहाँ से प्रभु ने 'दृढ़ भूमि' की ओर प्रयाण किया। नगरी के बाहर 'पैढ़ाल' नाम के उद्यान में 'पोलास' नाम का एक चैत्य था। वहां अष्टम तप कर भगवान् ने थोड़ा सा देह को झुकाया और एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित कर ध्यानस्थ हो गये। फिर सब इन्द्रियों का गोपन कर दोनों पैरों को संकोच कर हाथ लटकाये, एक रात की पड़िमा में स्थित हुए। उस समय देव-देवियों के विशाल समूह के बीच सभा में बैठे हुए देवराज शक्र ने भगवान् को अवधिज्ञान से ध्यानस्थ देख कर नमस्कार किया और बोले—"भगवान् महावीर का धैर्य और साहस इतना अनूठा है कि मानव तो क्या, शक्तिशाली देव और दानव भी उनको साधना से विचलित नहीं कर सकते।"

सब देवों ने इन्द्र की बात का अनुमोदन किया किन्तु संगम नामक एक देव के गले यह बात नहीं उतरी। उसने सोचा—"शक्र यों ही झूठी-मूठी प्रशंसा कर रहे हैं। मैं अभी जाकर उनको विचलित कर देता हूँ।" ऐसा सोच कर वह जहाँ भगवान् ध्यानस्थ खड़े थे, वहां आया। आते ही उसने एक-से एक बढ़ कर उपसर्गों का जाल बिछा दिया। शरीर के रोम-रोम में वेदना उत्पन्न कर दी। फिर भी जब भगवान् प्रतिकूल उपसर्गों से किंचिन्मात्र भी चलायमान नहीं हुए तो उसने अनुकूल उपसर्ग आरम्भ किये। प्रलोभन के मनमोहक दृश्य उपस्थित किये। गगनमंडल से तरुणी व सुन्दर अप्सराएं उतरीं और हाव-भाव आदि करती हुई प्रभु से काम-याचना करने लगीं। पर महावीर पर उनका कोई असर नहीं हुआ, वे सुमेरु की तरह ध्यान में अडोल खड़े रहे।

संगम ने एक रात में निम्नलिखित बीस भयंकर उपसर्ग उपस्थित किये—

(१) प्रलयकारी धूल की वर्षा की।

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३०१।

(२) वज्रमुखी चींटियाँ उत्पन्न कीं, जिन्होंने काट-काट कर महावीर के शरीर को खोखला कर दिया।

(३) डाँस और मच्छर छोड़े, जो प्रभु के शरीर का खून पीने लगे।

(४) दीमक उत्पन्न कीं- जो शरीर को काटने लगीं।

(५) बिच्छुओं द्वारा डंक लगवाये।

(६) नेवले उत्पन्न किये जो भगवान् के मांस-खण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

(७) भीमकाय सर्प उत्पन्न कर प्रभु को उन सर्पों से कटवाया।

(८) चूहे उत्पन्न किये, जो शरीर को काट-काट कर ऊपर पेशाब कर जाते।

(९-१०) हाथी और हथिनी प्रकट कर उनको सूंडों से भगवान् के शरीर को उछलवाया और उनके दाँतों से प्रभु पर प्रहार करवाये।

(११) पिशाच बन कर भगवान् को डराया धमकाया और बर्छी मारने लगा।

(१२) बाघ बन कर प्रभु को नखों से विदारण किया।

(१३) सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप बना कर करुणाविलाप करते दिखाया।

(१४) शिविर की रचना कर भगवान् के पैरों के बीच आग जला कर भोजन पकाने की चेष्टा की।

(१५) चाण्डाल का रूप बना कर भगवान् के शरीर पर पक्षियों के पिंजर लटकाये जो चोंचों और नखों से प्रहार करने लगे।

(१६) आँधी का रूप खड़ा कर कई बार भगवान् के शरीर को उठाया।

(१७) कलंकलिका वायु उत्पन्न कर उससे भगवान् को चक्र की तरह घुमाया।

(१८) कालचक्र चलाया जिससे भगवान् घुटनों तक जमीन में धँस गये।

(१९) देव रूप से विमान में बैठ कर आया और बोला—"कहो तुमको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग (मोक्ष)? और

(२०) एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत किया, किन्तु उसके रागपूर्ण हाव-भाव से भी भगवान् विचलित नहीं हुए।

रात भर के इन भयंकर उपसर्गों से भी जब भगवान् विचलित नहीं हुए तो संगम कुछ और उपाय सोचने लगा। महावीर ने भी ध्यान पूर्ण कर

'वालुका' की ओर विहार किया ।[1] भगवान् की मेरुतुल्य धीरता और सागरवत् गम्भीरता को देख कर संगम लज्जित हुआ । उसे स्वर्ग में जाते लज्जा आने लगी । इतने पर भी उसका जोश ठंडा नहीं हुआ । उसने पाँच सौ चोरों को मार्ग में खड़ा करके प्रभु को भयभीत करना चाहा । 'वालुका' से भगवान् 'सुयोग', 'सुच्छेत्ता', 'मलभ' और हस्तिशीर्ष आदि गाँवों में जहाँ भी पधारे वहाँ संगम अपने उपद्रवी स्वभाव का परिचय देता रहा ।[2]

एक बार भगवान् 'तोसलि गाँव' के उद्यान में ध्यानस्थ-विराजमान-थे, तब संगम साधु-वेष बना कर गाँव के घरों में सेंध लगाने लगा । लोगों ने चोर समझ कर जब उसको पकड़ा और पीटा तो वह बोला—"मुझे क्यों पीटते हो ? मैंने तो गुरु की आज्ञा का पालन किया है । यदि तुम्हें असली चोर को पकड़ना है तो उद्यान में जाओ, जहाँ मेरे गुरु कपट रूप में ध्यान किये खड़े हैं और उनको पकड़ो ।" उसकी बात पर विश्वास कर तत्क्षण लोग उद्यान में पहुँचे और ध्यानस्थ महावीर को पकड़ कर रस्सियों से जकड़ कर गाँव की ओर ले जाने लगे । उस समय 'महाभूतिल' नाम के ऐन्द्रजालिक ने भगवान् को पहचान लिया, क्योंकि उसने पहले 'कुंडग्राम' में भगवान् महावीर को देखा था । उसने लोगों को समझा कर महावीर को छुड़ाया और कहा—"यह सिद्धार्थ राजा के पुत्र हैं, चोर नहीं ।" ऐन्द्रजालिक की बात सुन कर लोगों ने प्रभु से क्षमायाचना की । झूठ बोल कर साधु को चोर कहने वाले संगम को लोग खोजने लगे तो उसका कहीं पता नहीं चला । इस पर लोगों ने समझा कि यह कोई देवकृत उपसर्ग है ।[3]

इसके पश्चात् भगवान् 'मोसलि ग्राम' पधारे । संगम ने वहाँ पर भी उन पर चोरी का आरोप लगाया । भगवान् को पकड़-कर राज्य-सभा में ले जाया गया । वहाँ 'सुमागध' नामक प्रान्ताधिकारी, जो सिद्धार्थ राजा का मित्र था, उसने महावीर को पहचान कर छुड़ा दिया । यहाँ भी संगम लोगों की पकड़ में नहीं आया और भाग गया । फिर भगवान् लौट कर 'तोसलि' आये और गाँव के बाहर ध्यानावस्थित हो गये । संगम ने यहाँ भी चोरी करके भारी शस्त्रास्त्र महावीर के पास, उन्हें फँसाने की भावना से ला रखे और स्वयं कहीं जाकर सेंध लगाने लगा । पकड़े जाने पर उसने धर्माचार्य का नाम बता कर भगवान् को पकड़वा दिया । अधिकारियों ने उनके पास शस्त्र देखे तो नामी चोर समझ कर फाँसी की सजा सुना दी । ज्योंहीं प्रभु को फाँसी के तख्ते पर चढ़ा कर उनकी गर्दन में फंदा डाला और नीचे तख्ती हटाई कि गले का फंदा टूट गया । पुनः फंदा लगाया और वह भी टूट गया । इस प्रकार सात बार फाँसी पर चढ़ाने पर

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११ ।

२ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११ ।

३ आवश्यक चूर्णि, पृ. ३१२

भी फाँसी का फंदा टूटता ही रहा तो दर्शक एवं अधिकारी चकित हो गये। अधिकारी पुरुषों ने प्रभु को महापुरुष समझ कर मुक्त कर दिया।[1]

यहाँ से भगवान् सिद्धार्थपुर पधारे। वहाँ भी संगम देव ने महावीर पर चोरी का आरोप लगा कर उन्हें पकड़वाया, किन्तु कौशिक नाम के एक अश्व-व्यापारी ने पहचान कर भगवान को मुक्त करवा दिया।[2]

भगवान् वहाँ से व्रजगाँव पधारे, वहाँ पर उस दिन कोई महोत्सव था। अतः सब घरों में खीर पकाई गई थी। भगवान् भिक्षा के लिए पधारे तो संगम ने सर्वत्र 'अनेषणा' कर दी। भगवान् इसे संगमकृत उपसर्ग समझ कर लौट आये और ग्राम के बाहर ध्यानावस्थित हो गये।

इस प्रकार लगातार छः मास तक अगणित कष्ट देने पर भी जब संगम ने देखा कि महावीर अपनी साधना से विचलित नहीं हुए बल्कि वे पूर्ववत् ही विशुद्ध भाव से जीवमात्र का हित सोच रहे हैं, तो परीक्षा करने का उसका धैर्य टूट गया, वह हताश हो गया। पराजित होकर वह भगवान् के पास आया और बोला—"भगवन्! देवेन्द्र ने आपके विषय में जो प्रशंसा की है, वह सत्य है। प्रभो! मेरे अपराध क्षमा करो। सचमुच आपकी प्रतिज्ञा सच्ची है और आप उसके पारगामी हैं। अब आप भिक्षा के लिए जायें, किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होगा।"

संगम की बात सुन कर महावीर बोले—"संगम! मैं इच्छा से ही तप या भिक्षा—ग्रहण करता हूं। मुझे किसी के आश्वासन की अपेक्षा नहीं है।" दूसरे दिन छह मास की तपस्या पूर्ण कर भगवान् उसी गाँव में भिक्षार्थ पधारे और 'वस्सपालक' वुढ़िया के यहाँ परमान्न से पारणा किया। दान की महिमा से वहाँ पर पंच-दिव्य प्रकट हुए। यह भगवान् की दीर्घकालीन उपसर्ग सहित तपस्या थी।

संगम देव के सम्बन्ध में आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति और आवश्यक चूर्णि में निम्नलिखित उल्लेख किये हैं :—

"छम्मासे अणुवद्धं, देवो कासी य सो उ उवसग्गं।
दट्ठूण वयग्गामे वंदिय वीरं पडिनियत्तो ॥५१२॥

एवं सोऽभविकः संगमक नामा देवः षण्मासान् अनुवद्धं—सन्ततं उपसर्गमकार्षीत् इति दृष्ट्वा च व्रजग्रामे गोकुले गो परिणाममभग्नं उपशान्तो वीरं—महावीरं वन्दित्वा प्रतिनिवृत्तः।

१ आवश्यक चूर्णि, पृ. ३१३
२ आवश्यक चू., पृ० ३१३

इतो य—सोहम्मे कप्पे सव्वे देवा तद्दिवसं उविग्गमणा अच्छंति, संगमतो य सोहम्मं गतो, तत्थ सवको तं दट्ठूण परम्मुहो ठितो भणइ—देवे भो। सुणह, एस दुरप्पा, न एएण ममवि चित्तरक्खा कया, नवि अन्नेसिं देवाणं, जतो तित्थगरो आसातितो, न एएण अम्हं कज्जं, असंभासो, निव्विसतो उ की रउ। ततो निच्छूढो सह देवीहिं, सेसा देवा इंदेण वारिया।

देवो चुतो पहिड्ढी, सो मंदरचूलियाए सिहरंमि।
परिवारितो सुरबहूहिं, तस्स य अयरोवमं सेसं ।।५१३।।

स संगमकनामा महर्द्धिको देवः स्वर्गात् च्युतः—भ्रष्टः सन् परिवारितः सुरवधूभिर्गृहीताभिर्मन्दरचूलिकायाः शिखरे—उपरितनविभागे यानकेन विमानेनागत्य स्थितः. तस्य एकमतरोपमं आयुषः शेषम्।"[1]

अर्थात्—छह मास तक निरन्तर भ० महावीर को घोरतर उपसर्ग देने के पश्चात् भी संगम देव ने देखा कि प्रभु किसी भी दशा में, किसी भी उपाय द्वारा ध्यान से विचलित नहीं किये जा सकते तो भ० महावीर से व्रजग्राम में क्षमा मांग कर और उन्हें वन्दन कर वह सौधर्म देवलोक में लौट गया। सौधर्म-कल्प में सभी देव उस दिन उद्विग्नावस्था में बैठे थे। संगम देव को देखते ही देवराज शक्र ने उसकी ओर से अपना मुख मोड़ लिया और देवों को सम्बोधित करते हुए कहा—हे देवो। सुनो, यह संगम देव बड़ा दुरात्मा-दुष्ट है। इसने तीर्थंकर प्रभु की आसातना कर मेरे मन को भी गहरी चोट पहुँचाई है और अन्य सब देवों के चित्त को भी। अब यह अपने काम का नहीं है। वस्तुतः यह संगम संभाषण करने योग्य भी नहीं है। अतः देवलोक से इसे निष्कासित किया जाय। उसे तत्काल उसकी देवियों के साथ सौधर्मकल्प से जीवन भर के लिये निष्कासित कर दिया गया। उसके आभियोगिक शेष देवों को शक्र ने उसके साथ जाने से रोक कर सौधर्मकल्प में ही रखा। सौधर्मकल्प से भ्रष्ट हो वह संगम अपनी देवियों के साथ एक विमान में बैठ मन्दरगिरि के शिखर पर आया और वहां रहने लगा। उस समय उसकी एक सागर आयु शेष थी।

निखिल विश्वैकबन्धु भ० महावीर को निरन्तर घोर उपसर्ग दे कर संगम देव ने प्रगाढ़ दुष्कर्मों का बन्ध किया। उन दुष्कर्मों का अति कटु फल भवान्तर में ही तो उसे मिलेगा ही परन्तु अपने वर्तमान के देवभव में भी वह शक्र द्वारा सौधर्म देवलोक से निष्कासित कर दिया गया। दिव्य सुखों से ओतप्रोत सौधर्म स्वर्ग से मक्खी की तरह फेंका जाकर मर्त्यलोक के मन्दरगिरि पर रहने के लिये बाध्य कर दिया गया।

इन्द्र के सामानिक देव को भी, उसके द्वारा केवल परीक्षा के लिये किये

१ आवश्यक मलय वृत्ति, पूर्वभाग, पत्र २६३

गये दुष्कार्यों का इस प्रकार का कटु फल भोगना पड़ रहा है तो जान बूझ कर किसी के अहित की भावना से किये गये पापों का कितना तीव्रतम कटु फल भोगना पड़ेगा, उसका संगम के उदाहरण से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

व्रज गाँव से 'आलंभिया', 'श्वेताम्बिका', 'सावत्थी', 'काशाम्बी,, 'वाराणसी', 'राजगृह' और मिथिला आदि को पावन करते हुए भगवान् वैशाली पधारे और नगर के बाहर समरोद्यान में बलदेव के मन्दिर में चातुर्मासिक तप अंगीकार कर ध्यानस्थ हुए। इस वर्ष का वर्षाकाल वहीं पूर्ण हुआ।

जीर्ण सेठ की भावना

वैशाली में जिनदत्त नामक एक भावुक एवं श्रद्धालु श्रावक रहता था। आर्थिक स्थिति क्षीण होने से उसका घर पुराना हो गया और लोग उसको जीर्ण सेठ कहने लगे। वह सामुद्रिक शास्त्र का भी ज्ञाता था। भगवान् की पद-रेखाओं के अनुसंधान में वह उस उद्यान में गया और प्रभु को ध्यानस्थ देख कर परम प्रसन्न हुआ।

प्रीतिवश वह प्रतिदिन भगवान् को नमस्कार करने आता और आहारादि के लिए भावना करता। इस तरह निरन्तर चार मास तक चातक की तरह चाह करने पर भी उसकी भव्य भावना पूर्ण नहीं हो सकी।

चातुर्मास पूर्ण होने पर भगवान् भिक्षा के लिए निकले और अपने संकल्प के अनुसार गवेषणा करते हुए 'अभिनव' श्रेष्ठी के द्वार पर खड़े रहे। यह नया धनी था, इसका मूल नाम पूर्ण था। प्रभु को देख कर सेठ ने लापरवाही से दासी को आदेश दिया और चम्मच भर कुलत्थ बहराये। भगवान् ने उसी से चार मास की तपस्या का पारणा किया। पंच-दिव्य वृष्टि के साथ देव-दुन्दुभि बजी। उधर जीर्ण सेठ भगवान् के पधारने की प्रतिक्षा में उत्कट भावना के साथ प्रभु को पारणा कराने की प्रतीक्षा में खड़ा रहा, वह भावना की अत्यन्त उच्चतम स्थिति पर पहुँच चुका था। इसी समय देव दुन्दुभि का दिव्य घोष उसके कर्णरन्ध्रों में पड़ा और इस प्रकार उसकी प्रतीक्षा केवल प्रतीक्षा ही बनी रही। इस उत्कट-उज्ज्वल भावना से जीर्ण सेठ ने बारहवें स्वर्ग का बन्ध किया। कहा जाता है कि यदि दो घड़ी देव-दुन्दुभि वह नहीं सुन पाता तो भावना के बल पर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता।

साधना का बारहवाँ वर्ष : चमरेन्द्र द्वारा शरण-ग्रहण

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वहाँ से 'सुंसुमार' पधारे। यहाँ 'भूतानन्द' ने आकर प्रभु से कुशल पूछा और सूचित किया—"कुछ समय में आपको केवल-

ज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होगी। भूतानन्द की बात सुन कर प्रभु मौन ही रहे।

'सुंसुमारपुर' में चमरेन्द्र के उत्पात की घटना और शरण-ग्रहण का भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन है, जो इस प्रकार है :—

भगवान् ने कहा—"जिस समय मैं छद्मस्थचर्या के ग्यारह वर्ष बिता चुका था उस समय की बात है कि छट्ठ-छट्ठ तप के निरन्तर पारणा करते हुए मैं सुंसुमारपुर के वनखण्ड में आया और अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला-पट्ट पर ध्यानावस्थित हो गया। उस समय चमरचंचा में 'पूरण' बाल तपस्वी का जीव इन्द्र रूप से उत्पन्न हुआ। उसने अवधिज्ञान से अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य भोग भोगते देखा। यह देख कर उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ—"यह मृत्यु को चाहने वाला लज्जारहित कौन है जो मेरे ऊपर पैर किये इस तरह दिव्य भोग भोग रहा है?" चमरेन्द्र को सामानिक, देवों ने परिचय दिया कि यह देवराज शक्रेन्द्र हैं, सदा से ये अपने स्थान को भोग रहे हैं। चमरेन्द्र को इससे संतोष नहीं हुआ। वह शक्रेन्द्र की शोभा को नष्ट करने के विचार से निकला और मेरे पास आकर बोला—"भगवन्! मैं आपकी शरण लेकर स्वयं ही देवेन्द्र शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।" इसके बाद वह वैक्रिय रूप बना कर सौधर्म देवलोक में गया और हुंकार करते हुए बोला—कहाँ है? देवराज शक्रेन्द्र कहाँ है? चौरासी हजार सामानिक देव और करोड़ों अप्सरायें कहाँ हैं, उन सब को मैं अभी नष्ट करता हूँ।"

चमरेन्द्र के रोषभरे अप्रिय शब्द सुन कर देवपति शक्रेन्द्र को क्रोध आया और वे भृकुटि चढ़ाकर बोले—"अरे हीन-पुण्य! असुरेन्द्र! असुरराज! तू आज ही मर जायेगा।" ऐसा कह कर शक्रेन्द्र ने सिंहासन पर बैठे-बैठे ही वज्र हाथ में ग्रहण किया और चमरेन्द्र पर दे मारा। हजारों उल्काओं को छोड़ता हुआ वह वज्र चमरेन्द्र की ओर बढ़ा। उसे देख कर असुरराज चमरेन्द्र भयभीत हो गया और सिर नीचा व पद ऊपर कर के भागते हुए तेज गति से मेरे पास आया एवं अवरुद्ध कण्ठ से बोला—"भगवन्! आप ही शरणाधार हो" और यह कहते हुए वह मेरे पाँवों के बीच गिर पड़ा।

उस समय शक्रेन्द्र को विचार हुआ कि चमर अपने बल से तो इतना साहस नहीं कर सकता, इसके पीछे कोई पीठ-बल होना चाहिए। विचार करते हुए उसने अवधिज्ञान से मुझे देखा और जान लिया कि भगवान् महावीर की

---

१ ममं च णं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ।

[भगवती शतक, ३।२।सू. १४५।३०२]

शरण लेकर यह यहाँ आया है। अतः ऐसा न हो कि मेरे छोड़े हुए वज्र से भगवान् को पीड़ा हो जाय। यह सोच कर इन्द्र तीव्र गति से दौड़ा और मुझ से चार अंगुल दूर स्थित वज्र को उसने पकड़ लिया।

गवान्भ की चरण-शरण में होने से शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र को अभय प्रदान किया, और स्वयं प्रभु से क्षमायाचना कर चला गया।

सुन्सुमारपुर से भगवान् 'भोगपुर', 'नंदिग्राम' होते हुए 'मेढ़ियाग्राम' पधारे। वहाँ ग्वालों ने उन्हें अनेक प्रकार के उपसर्ग दिये।

कठोर अभिग्रह

मेढ़िया ग्राम से भगवान् कोशाम्बी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन उन्होंने एक विकट-अभिग्रह धारण किया, जो इस प्रकार है :—

"द्रव्य से उड़द के बाकले[1] सूप के कोने में हों[2], क्षेत्र से देहली के बीच खड़ी हो[3], काल से भिक्षा समय बीत चुका हो[4], भाव से राजकुमारी दासी बनी हो[5], हाथ में हथकड़ी[6] और पैरों में बेड़ी हो[7], मुंडित हो[8], आँखों में आँसू[9] और तेले की तपस्या किये हुए[10] हो, इस प्रकार के व्यक्ति के हाथ से यदि भिक्षा मिले तो लेना, अन्यथा नहीं।"[1]

उपर्युक्त कठोरतम प्रतिज्ञा को ग्रहण कर महावीर प्रतिदिन भिक्षार्थ कोशाम्बी में पर्यटन करते। वैभव, प्रतिष्ठा और भवन की दृष्टि से उच्च, नीच एवं मध्यम सब प्रकार के कुलों में जाते और भक्तजन भी भिक्षा देने को लालायित रहते, पर कठोर अभिग्रहधारी महावीर बिना कुछ लिए ही उल्टे पैरों लौट आते। जन-समुदाय इस रहस्य को समझ नहीं पाता कि ये प्रतिदिन भिक्षा के लिए आकर यों ही लौट क्यों जाते हैं। इस तरह भिक्षा के लिए घूमते हुए प्रभु को चार महीने बीत गये, किन्तु अभिग्रह पूर्ण नहीं होने के कारण भिक्षा-ग्रहण का संयोग प्राप्त नहीं हुआ। नगर भर में यह चर्चा फैल गई कि भगवान् इस नगर की भिक्षा ग्रहण करना नहीं चाहते। सर्वत्र आश्चर्य प्रकट किया जाने लगा कि आखिर इस नगर में कौनसी ऐसी बुराई या कमी है, जिससे भगवान् बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं।

उपासिका नन्दा को चिन्ता

एक दिन भगवान् कोशाम्बी के अमात्य 'सुगुप्त' के घर पधारे। अमात्य-पत्नी 'नन्दा' जो कि उपासिका थी, बड़ी श्रद्धा से भिक्षा देने उठी, किन्तु पूर्ववत् महावीर बिना कुछ ग्रहण किये ही लौट गये। नन्दा को इससे बड़ा दुःख हुआ।

---

१ आव. चू., प्रथम भाग, पृ. ३१६–३१७

उस समय दासियों ने कहा—"देवार्य तो प्रतिदिन ऐसे ही आकर लौट जाते हैं।" तब नन्दा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् ने कोई अभिग्रह ले रखा होगा। नन्दा ने मन्त्री सुगुप्त के सम्मुख अपनी चिन्ता व्यक्त की और बोली—"भगवान् महावीर चार महीनों से इस नगर में बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं, फिर आपका प्रधान पद किस काम का और किस काम की आपकी बुद्धि, जो आप प्रभु के अभिग्रह का पता भी न लगा सकें?" सुगुप्त ने आश्वासन दिया कि वह इसके लिए प्रयत्न करेगा। इस प्रसंग पर राजा की प्रतिहारी 'विजया' भी उपस्थित थी, उसने राजभवन में जाकर महारानी मृगावती को सूचित किया। रानी मृगावती भी इस बात को सुन कर बहुत दुःखी हुई और राजा से बोली—"महाराज! भगवान् महावीर बिना भिक्षा लिए इस नगर से लौट जाते हैं और अभी तक आप उनके अभिग्रह का पता नहीं लगा सके।" राजा शतानीक ने रानी को आश्वस्त किया और कहा कि शीघ्र ही इसका पता लगाने का यत्न किया जायगा। उसने 'तथ्यवादी' नाम के उपाध्याय से भगवान् के अभिग्रह की बात पूछी, मगर वह बता नहीं सका। फिर राजा ने मंत्री सुगुप्त से पूछा तो उसने कहा—"राजन्! अभिग्रह अनेक प्रकार के होते हैं, पर किसके मन में क्या है, यह कहना कठिन है।" उन्होंने साधुओं के आहार-पानी लेने-देने के नियमों की जानकारी प्रजाजनों को करा दी, किन्तु भगवान् ने फिर भी भिक्षा नहीं ली।

भगवान् को अभिग्रह धारण किये पाँच महीने पच्चीस दिन हो गये थे। संयोगवश एक दिन भिक्षा के लिए प्रभु 'धन्ना' श्रेष्ठी के घर गये, जहाँ राजकुमारी चन्दना तीन दिन की भूखी-प्यासी, सूप में उड़द के बाकले लिए हुए अपने धर्मपिता के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। सेठानी मूला ने उसको, सिर मुंडित कर, हथकड़ी पहनाये तलघर में बन्द कर रखा था। भगवान् को आया देख कर वह प्रसन्न हो उठी। उसका हृदय-कमल खिल गया, किन्तु भगवान् अभिग्रह की पूर्णता में कुछ न्यूनता देख कर वहाँ से लौटने लगे, तो चन्दना के नयनों से नीर बह चला। भगवान् ने अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान कर राजकुमारी चन्दना के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर ली। चन्दना की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ टूट कर बहुमूल्य आभूषणों में बदल गई। आकाश में देव-दुन्दुभि बजी, पंच-दिव्य प्रकट हुए। चन्दना का चिन्तातुर चित्त और अपमान-प्रपीड़ित-मलिन मुख सहसा चमक उठा। पाँच महिने पच्चीस दिन के बाद भगवान् का पारणा हुआ।

भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर यही चन्दना भगवान् की प्रथम शिष्या और साध्वी-संघ की प्रथम सदस्या बनी।

जनपद में विहार

'कोशाम्बी' से विहार कर प्रभु सुमंगल, सुछेत्ता, पालक प्रभृति गाँवों में

होते हुए चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप करके उन्होंने वहीं 'स्वातिदत्त' ब्राह्मण की यज्ञशाला में बारहवाँ चातुर्मास पूर्ण किया ।[1]

स्वातिदत्त के तात्त्विक प्रश्न

भगवान् की साधना से प्रभावित होकर 'पूर्णभद्र' और 'मणिभद्र' नाम के दो यक्ष रात को प्रभु की सेवा में आया करते थे । यह देख कर स्वातिदत्त ने सोचा कि ये कोई विशिष्ट ज्ञानी हैं, जो देव इनकी सेवा में आते हैं । ऐसा सोच-कर वह महावीर के पास आया और बोला कि शरीर में आत्मा क्या है ?[2] भगवान् ने कहा—"'मैं' शब्द का जो वाच्यार्थ है, वही आत्मा है ।" स्वातिदत्त ने कहा—"'मैं' शब्द का वाच्यार्थ किसको कहते हैं ? आत्मा का स्वरूप क्या है ?" प्रभु बोले—"आत्मा इन अग-उपांगों से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है, उपयोग-चेतना ही उसका लक्षण है । अरूपी होने के कारण इन्द्रियाँ आत्मा को ग्रहण नहीं कर पातीं । अतः शब्द, रूप, प्रकाश और किरण से भी आत्मा सूक्ष्मतम है ।" फिर स्वातिदत्त ने कहा—"क्या ज्ञान का ही नाम आत्मा है ?" भगवान् बोले—"ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है और आत्मा ज्ञान का आधार है । गुणी होने से आत्मा को ज्ञानी कहते हैं ।"

इसी तरह स्वातिदत्त ने प्रदेशन और प्रत्याख्यान[3] के स्वरूप तथा भेद के बारे में भी प्रभु से पूछा, जिसका समाधानकारक उत्तर पाकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ।

ग्वाले द्वारा कानों में कील ठोकना

वहाँ से विहार कर प्रभु 'जंभियग्राम'[4] पधारे । वहाँ कुछ समय रहने के पश्चात् प्रभु मेढ़ियाग्राम होते हुए 'छम्माणि'[5] ग्राम गये और गाँव के बाहर ध्यान में स्थिर हो गये । संध्या के समय एक ग्वाला वहाँ आया और प्रभु के पास अपने बैल छोड़ कर कार्य हेतु गाँव में चला गया । लौटने पर उसे बैल नहीं मिले तो उसने महावीर से पूछा, किन्तु महावीर मौन थे । उनके उत्तर नहीं देने से क्रुद्ध होकर उसने महावीर के दोनों कानों में कांस नामक घास की शलाकाएँ डालीं और पत्थर से ठोक कर कान के बराबर कर दीं । भगवान् को इस

१ आव० चू०, पृ० ३२० ।

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६१० ।

३ आव० चू०, पृ० ३२०-३२१

४ आव० चू०, पृ० ३२१ ।

५ छम्माणि मगध देश में था, बौद्ध ग्रन्थों में इसका नाम खाणुमत प्रसिद्ध है ।
[वीर विहार मीमांसा हिन्दी, पृ० २८]

शलाका-बेधन से अति वेदना हो रही थी, तदुपरान्त भी वे इस वेदना को पूर्व-संचित कर्म का फल समझ कर, शान्त और प्रसन्न मन से सहते रहे।

'छम्माणि' से विहार कर प्रभु 'मध्यम पावा'[1] पधारे और भिक्षा के लिए 'सिद्धार्थ' नामक वणिक् के घर गये। उस समय सिद्धार्थ अपने मित्र 'खरक' वैद्य से बातें कर रहा था। वन्दना के पश्चात् खरक ने भगवान् की मुखाकृति देखते ही समझ लिया कि इनके शरीर में कोई शल्य है और उसको निकालना उसका कर्त्तव्य है। उसने सिद्धार्थ से कहा और उन दोनों मित्रों ने भगवान् से ठहरने की प्रार्थना की किन्तु प्रभु रुके नहीं। वे वहाँ से चल कर गाँव के बाहर उद्यान में आये और ध्यानारूढ़ हो गये।

इधर सिद्धार्थ और खरक दवा आदि लेकर उद्यान में पहुँचे। उन्होंने भगवान् के शरीर की तेल से खूब मालिश की और फिर संडासी से कानों की शलाकाएँ खींच कर बाहर निकालीं। रुधिरयुक्त शलाका के निकलते ही भगवान् के मुख से एक ऐसी चीख निकली, जिससे कि सारा उद्यान गूँज उठा। फिर वैद्य खरक ने संरोहण औषधि घाव पर लगा कर प्रभु की वन्दना की और दोनों मित्र घर की ओर चल पड़े।

उपसर्ग और सहिष्णुता

कहा जाता है कि दीर्घकाल की तपस्या में भगवान् को जो अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहने पड़े, उन सबमें कानों से कील निकालने[2] का उपसर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद रहा। इस भयंकर उपसर्ग के सामने 'कटपूतना' का शैत्यवर्धक उपसर्ग जघन्य और संगम के कालचक्र का उपसर्ग मध्यम कहा जा सकता है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन सभी उपसर्गों में भगवान् ने समभाव से रहकर महती कर्म-निर्जरा की। आश्चर्य की बात है कि भगवान् का पहला उपसर्ग कुमार ग्राम में एक ग्वाले से प्रारम्भ हुआ और अन्तिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा उपस्थित किया गया।

छद्मस्थकालीन तप

छद्मस्थकाल के साधिक साढ़े बारह वर्ष जितने दीर्घकाल में भगवान् महावीर ने केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार ग्रहण किया, शेष सभी दिन निर्जल तपस्या में व्यतीत किये।

कल्पसूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर दीक्षित होकर १२ वर्ष से कुछ अधिक काल तक निर्मोह भाव से साधना में तत्पर रहे। उन्होंने शरीर की

---

१ आ० मलय नि०, गा० ५२४ की टीका। पृ० १९८।

२ कल्पसूत्र, ११६।

होते हुए चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप करके उन्होंने वहीं 'स्वातिदत्त' ब्राह्मण की यज्ञशाला में बारहवाँ चातुर्मास पूर्ण किया ।[1]

स्वातिदत्त के तात्त्विक प्रश्न

भगवान् की साधना से प्रभावित होकर 'पूर्णभद्र' और 'मणिभद्र' नाम के दो यक्ष रात को प्रभु की सेवा में आया करते थे । यह देख कर स्वातिदत्त ने सोचा कि ये कोई विशिष्ट ज्ञानी हैं, जो देव इनकी सेवा में आते हैं । ऐसा सोच-कर वह महावीर के पास आया और बोला कि शरीर में आत्मा क्या है ?[2] भगवान् ने कहा—"'मैं' शब्द का जो वाच्यार्थ है, वही आत्मा है ।" स्वातिदत्त ने कहा—"'मैं' शब्द का वाच्यार्थ किसको कहते हैं ? आत्मा का स्वरूप क्या है ?" प्रभु बोले—"आत्मा इन अंग-उपांगों से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है, उपयोग-चेतना ही उसका लक्षण है । अरूपी होने के कारण इन्द्रियाँ आत्मा को ग्रहण नहीं कर पातीं । अतः शब्द, रूप, प्रकाश और किरण से भी आत्मा सूक्ष्मतम है ।" फिर स्वातिदत्त ने कहा—"क्या ज्ञान का ही नाम आत्मा है ?" भगवान् बोले—"ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है और आत्मा ज्ञान का आधार है । गुणी होने से आत्मा को ज्ञानी कहते हैं ।"

इसी तरह स्वातिदत्त ने प्रदेशन और प्रत्याख्यान[3] के स्वरूप तथा भेद के बारे में भी प्रभु से पूछा, जिसका समाधानकारक उत्तर पाकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ।

ग्वाले द्वारा कानों में कील ठोकना

वहाँ से विहार कर प्रभु 'जंभियग्राम'[4] पधारे । वहाँ कुछ समय रहने के पश्चात् प्रभु मेढ़ियाग्राम होते हुए 'छम्माणि'[5] ग्राम गये और गाँव के बाहर ध्यान में स्थिर हो गये । संध्या के समय एक ग्वाला वहाँ आया और प्रभु के पास अपने बैल छोड़ कर कार्य हेतु गाँव में चला गया । लौटने पर उसे बैल नहीं मिले तो उसने महावीर से पूछा, किन्तु महावीर मौन थे । उनके उत्तर नहीं देने से क्रुद्ध होकर उसने महावीर के दोनों कानों में कांस नामक घास की शलाकाएँ डालीं और पत्थर से ठोक कर कान के बराबर कर दीं । भगवान् को इस

---

१ आव० चू०, पृ० ३२० ।

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६१० ।

३ आव० चू०, पृ० ३२०–३२१

४ आव० चू०, पृ० ३२१ ।

५ छम्माणि मगध देश में था, बौद्ध ग्रन्थों में इसका नाम खाणुमत प्रसिद्ध है ।
[वीर विहार मीमांसा हिन्दी, पृ० २८]

शलाका-बेधन से अति वेदना हो रही थी, तदुपरान्त भी वे इस वेदना को पूर्व-संचित कर्म का फल समझ कर, शान्त और प्रसन्न मन से सहते रहे।

'छम्माणि' से विहार कर प्रभु 'मध्यम पावा'[1] पधारे और भिक्षा के लिए 'सिद्धार्थ' नामक वणिक् के घर गये। उस समय सिद्धार्थ अपने मित्र 'खरक' वैद्य से बातें कर रहा था। वन्दना के पश्चात् खरक ने भगवान् की मुखाकृति देखते ही समझ लिया कि इनके शरीर में कोई शल्य है और उसको निकालना उसका कर्त्तव्य है। उसने सिद्धार्थ से कहा और उन दोनों मित्रों ने भगवान् से ठहरने की प्रार्थना की किन्तु प्रभु रुके नहीं। वे वहाँ से चल कर गाँव के बाहर उद्यान में आये और ध्यानारूढ़ हो गये।

इधर सिद्धार्थ और खरक दवा आदि लेकर उद्यान में पहुँचे। उन्होंने भगवान् के शरीर की तेल से खूब मालिश की और फिर संडासी से कानों की शलाकाएँ खींच कर बाहर निकालीं। रुधिरयुक्त शलाका के निकलते ही भगवान् के मुख से एक ऐसी चीख निकली, जिससे कि सारा उद्यान गूँज उठा। फिर वैद्य खरक ने संरोहण औषधि घाव पर लगा कर प्रभु की वन्दना की और दोनों मित्र घर की ओर चल पड़े।

उपसर्ग और सहिष्णुता

कहा जाता है कि दीर्घकाल की तपस्या में भगवान् को जो अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहने पड़े, उन सबमें कानों से कील निकालने[2] का उपसर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद रहा। इस भयंकर उपसर्ग के सामने 'कटपूतना' का शैत्यवर्धक उपसर्ग जघन्य और संगम के कालचक्र का उपसर्ग मध्यम कहा जा सकता है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन सभी उपसर्गों में भगवान् ने समभाव से रहकर महती कर्म-निर्जरा की। आश्चर्य की बात है कि भगवान् का पहला उपसर्ग कुर्मार ग्राम में एक ग्वाले से प्रारम्भ हुआ और अन्तिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा उपस्थित किया गया।

छद्मस्थकालीन तप

छद्मस्थकाल के साधिक साढ़े बारह वर्ष जितने दीर्घकाल में भगवान् महावीर ने केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार ग्रहण किया, शेष सभी दिन निर्जल तपस्या में व्यतीत किये।

कल्पसूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर दीक्षित होकर १२ वर्ष से कुछ अधिक काल तक निर्मोह भाव से साधना में तत्पर रहे। उन्होंने शरीर की

१ आ० मलय नि०, गा० ५२४ की टीका। पृ० १६८।

२ कल्पसूत्र, ११६।

ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। जो भी उपसर्ग, चाहे वे देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यंच सम्बन्धी उत्पन्न हुए, उन अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी उपसर्गों को महावीर ने निर्भय होकर समभावपूर्वक सहन किया। उनकी कठोर साधना और उग्र तपस्या बेजोड़ थी।

भगवान् महावीर ने अपनी तपःसाधना में कई बार पन्द्रह-पन्द्रह दिन और महीने-महीने तक जल भी ग्रहण नहीं किया। कभी वे दो-दो महीने और अधिक छै-छै महीने तक पानी नहीं पीते हुए रात दिन निःस्पृह होकर विचरते रहे। पारणे में भी वे नीरस आहार पाकर सन्तोष मानते। उनकी छद्मस्थकालीन तपस्या इस प्रकार है:—

(१) एक छमासी तप।
(२) एक पाँच दिन कम छमासी तप।
(३) नौ [९] चातुर्मासिक तप।
(४) दो त्रैमासिक तप।
(५) दो [२] सार्धद्वैमासिक तप।
(६) छै [६] द्वैमासिक तप।
(७) दो [२] सार्धमासिक तप।
(८) बारह [१२] मासिक तप।
(९) बहत्तर पाक्षिक तप।
(१०) एक भद्र प्रतिमा दो दिन की।
(११) एक महाभद्र प्रतिमा चार दिन की।
(१२) एक सर्वतोभद्र प्रतिमा दस दिन की।
(१३) दो सौ उनतीस छट्ठ भक्त।
(१४) बारह अष्टम भक्त।
(१५) तीन सौ उनचास दिन पारणा।
(१६) एक दिन दीक्षा का।[1]

आचारांग सूत्र के अनुसार दशमभक्त आदि तपस्यायें भी प्रभु ने की थीं। इस प्रकार की कठोर साधना और उग्र तपस्या के कारण ही अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर की तपःसाधना उत्कृष्ट मानी गई है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के अनुसार महावीर की तपस्या सबसे अधिक उग्र थी। कहा जाता है कि उनके संचित कर्म भी अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक थे।

महावीर की उपमा

भगवान् महावीर की विशिष्टता शास्त्र में निम्न उपमाओं से बताई गई है। वे:—

[१] कांस्य-पात्र की तरह निर्लेप,
[२] शंख की तरह निरंजन राग-रहित,
[३] जीव की तरह अप्रतिहत गति,
[४] गगन की तरह आलम्बन रहित,
[५] वायु की तरह अप्रतिबद्ध,
[६] शरद् ऋतु के स्वच्छ जल के समान निर्मल,
[७] कमलपत्र के समान भोग में निर्लेप,

---

१ कल्पसूत्र, ११७।

[८] कच्छप के समान जितेन्द्रिय,
[९] गेंडे की तरह राग-द्वेष से रहित-एकाकी,
[१०] पक्षी की तरह अनियत विहारी,
[११] भारण्ड की तरह अप्रमत्त,
[१२] उच्च जातीय गजेन्द्र के समान शूर,
[१३] वृषभ के समान पराक्रमी,
[१४] सिंह के समान दुर्द्धर्ष,
[१५] सुमेरु की तरह परीषहों के बीच अचल,
[१६] सागर की तरह गंभीर,
[१७] चन्द्रवत् सौम्य।
[१८] सूर्यवत् तेजस्वी,
[१९] स्वर्ण की तरह कान्तिमान,
[२०] पृथ्वी के समान सहिष्णु और
[२१] अग्नि की तरह जाज्वल्यमान-तेजस्वी थे।

केवलज्ञान

अनुत्तर ज्ञान, अनुत्तर दर्शन और अनुत्तर चारित्र आदि गुणों से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् महावीर को साढ़े बारह वर्ष पूर्ण हो गये। तेरहवें वर्ष के मध्य में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास एवं चतुर्थ पक्ष में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जिस समय छाया पूर्व की ओर बढ़ रही थी, दिन के उस पिछले प्रहर में, जृंभिकाग्राम नगर के बाहर, ऋजुवालुका नदी के किनारे, जीर्ण उद्यान के पास, श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में, शाल वृक्ष के नीचे, गोदोहिका आसन से प्रभु आतापना ले रहे थे। उस समय छट्ठ भक्त की निर्जल तपस्या से उन्होंने क्षपक श्रेणी का आरोहण कर, शुक्ल-ध्यान के द्वितीय चरण में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय किया और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में केवलज्ञान एवं केवल दर्शन की उपलब्धि की। अब भगवान् भाव अर्हन्त कहलाये और देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यंच, चराचर, सहित सम्पूर्ण लोक की त्रिकालवर्ती पर्याय को जानने तथा देखने वाले, सब जीवों के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह के मनोगत भावों को जानने वाले, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी बन गये।

प्रथम देशना

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही देवगण पंचदिव्यों की वृष्टि करते हुए ज्ञान की महिमा करने आये। देवताओं ने सुन्दर और विराट् समवशरण की रचना की। यह जानते हुए भी कि यहाँ सर्वविरति व्रत ग्रहण करने योग्य कोई नहीं है, भगवान् ने कल्प समझ कर कुछ काल उपदेश दिया। वहाँ मनुष्यों की उपस्थिति नहीं होने से किसी ने विरति रूप चारित्र-धर्म स्वीकार नहीं किया। तीर्थंकर का उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जाता, किन्तु महावीर

की प्रथम देशना का परिणाम विरति-ग्रहण की दृष्टि से शून्य रहा, जो कि अभूतपूर्व होने के कारण आश्चर्य माना गया।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम साहित्य में, और शीलांकाचार्य के 'चउवन्न महापुरिस चरिउं' को छोड़कर प्रायः सभी आगमेतर साहित्य में भी यह सर्व-सम्मत मान्यता दृष्टिगोचर होती है कि भगवान् महावीर की प्रथम देशना अभाविता परिषद् के समक्ष हुई। उसके परिणामस्वरूप जिस प्रकार भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों की प्रथम देशना से प्रभावित होकर अनेक भव्यात्माओं ने सर्वविरति महाव्रत अंगीकार किये, उस प्रकार भगवान् महावीर की प्रथम देशना से एक भी व्यक्ति ने सर्वविरति महाव्रत धारण नहीं किये।

इस सन्दर्भ में श्री हेमचन्द्र आदि प्रायः सभी आचार्यों का यह अभिमत ध्वनित होता है कि भगवान् की प्रथम देशना के अवसर पर समवशरण में एक भी भव्य मानव उपस्थित नहीं हो सका था।

पर आचार्य गुणचन्द्र ने अपने 'महावीर चरियम्' में भगवान् महावीर के प्रथम समवशरण की परिषद् को अभाविता-परिषद् स्वीकार करते हुए भी यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि उस परिषद् में मनुष्य भी उपस्थित हुए थे।[1]

शीलांक जैसे उच्च कोटि के विद्वान् और प्राचीन आचार्य ने अपने 'चउवन्न महापुरिस चरियम्' में 'अभाविता-परिषद्' का उल्लेख तक भी नहीं करते हुए 'ऋजुबालुका' नदी के तट पर हुई भगवान् महावीर की प्रथम देशना में ही इन्द्र-भूति आदि ग्यारह विद्वानों के अपने-अपने शिष्यों सहित उपस्थित होने, उनकी मनोगत शंकाओं का भगवान् द्वारा निवारण करने एवं प्रभुचरणों में दीक्षित हो गणधर-पद प्राप्त करने आदि का विवरण दिया है।[2]

मध्यमापावा में समवशरण

यहाँ से भगवान् 'मध्यमापावा' पधारे। वहाँ पर 'आर्य सोमिल' द्वारा एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया जा रहा था जिसमें कि उच्च कोटि के अनेक विद्वान् निमन्त्रित थे। भगवान् ने वहाँ के विहार को बड़ा लाभ का कारण समझा। जब 'जंभिय गाँव' से आप पावापुरी पधारे तब देवों ने अशोक वृक्ष

---

१ ताहे तिलोयनाहो थुव्वन्तो देवनरनरिंदेहिं।
सिंहासणे निसीयइ, तित्थपणामं पकाऊण ॥४॥
जइविहु एरिसनाणेण जिणवरो मुणइ जोग्गयारहियं।
कप्पोत्ति तहवि साहइ, खणमेत्तं धम्मपरमत्थं ॥५॥
[महावीर चरियम् (आचार्य गुणचन्द्र), प्रस्ताव ७]

२ चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, पृ० २९९ से ३०३।

आदि महाप्रातिहार्यों[1] से प्रभु की महती महिमा की। देवों द्वारा एक भव्य और विराट् समवशरण की रचना की गई। वहाँ देव-दानव और मानवों आदि की विशाल सभा में भगवान् उच्च सिंहासन पर विराजमान हुए।[2] मेघ-सम गम्भीर ध्वनि में महावीर ने अर्धमागधी भाषा में देशना प्रारम्भ की। भव्य भक्तों के मनमयूर इस अलौकिक उपदेश को सुनकर भावविभोर हो उठे।

इन्द्रभूति का आगमन

समवशरण में आकाश-मार्ग से देव-देवियों के समुदाय आने लगे। यज्ञ-स्थल के पण्डितों ने देवगण को बिना रुके सीधे ही आगे निकलते देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ। प्रमुख पण्डित इन्द्रभूति को जब मालूम हुआ कि नगर के बाहर सर्वज्ञ महावीर आये हैं और उन्हीं के समवशरण में ये देवगण जा रहे हैं, तो उनके मन में अपने पाण्डित्य का दर्प जागृत हुआ। वे भगवान् महावीर के अलौकिक ज्ञान की परख करने और उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित करने की भावना से समवशरण में आये। उनके साथ पाँच सौ छात्र और अन्य विद्वान् भी थे।

समवशरण में आकर इन्द्रभूति ने ज्योंही महावीर के तेजस्वी मुख-मण्डल एवं छत्रादि अतिशयों को देखा तो अत्यन्त प्रभावित हुए और महावीर ने जब उन्हें "इन्द्रभूति गौतम" कहकर सम्बोधित्त किया तो वे चकित हो गये। इन्द्रभूति ने मन ही मन सोचा—"मेरी ज्ञान विषयक सर्वत्र प्रसिद्धि के कारण इन्होंने नाम से पुकार लिया है। पर जब तक ये मेरे अंतरंग संशयों का छेदन नहीं कर दें, मैं इन्हें सर्वज्ञ नहीं मानूँगा।"

इन्द्रभूति का शंका-समाधान

गौतम के मनोगत भावों को समझकर महावीर ने कहा—"गौतम! मालूम होता है, तुम चिरकाल से आत्मा के विषय में शंकाशील हो।" इन्द्रभूति अपने अन्तर्मन के निगूढ़ प्रश्न को सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने कहा—"हाँ मुझे यह शंका है। 'श्रुतियों में', विज्ञान-घन आत्मा भूत-समुदाय से ही उत्पन्न होती है और उसी में पुनः तिरोहित हो जाती है, अतः परलोक की संज्ञा नहीं, ऐसा कहा गया है। जैसे—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति।' इसके अनुसार पृथ्वी आदि भूतों से पृथक् पुरुष-का अस्तित्व कैसे संभव हो सकता है?"

---

१ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वरस्य॥

२ आवश्यक, गा० ५३९।

इन्द्रभूति का प्रश्न सुनकर प्रभु महावीर ने शान्तभाव से उत्तर देते हुए—कहा—।'इन्द्रभूति ! तुम विज्ञानघन.....' इस श्रुतिवाक्य का जिस रूप में अर्थ समझ रहे हो, वस्तुतः उसका वैसा अर्थ नहीं है। तुम्हारे मतानुसार विज्ञानघन का अर्थ भूत समुदायोत्पन्न चेतनापिण्ड है, पर उसका सही अर्थ विविध ज्ञान-पर्यायों से है। आत्मा में प्रतिपल नवीन ज्ञानपर्यायों का आविर्भाव और पूर्व-कालीन ज्ञानपर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जैसे कि कोई व्यक्ति एक घट को देख रहा है, उस पर विचार कर रहा है, उस समय उसकी आत्मा में घट विषयक ज्ञानोपयोग समुत्पन्न होता है। इस स्थिति को घट विषयक ज्ञानपर्याय कहेंगे। कुछ समय के बाद वही मनुष्य जब घट को छोड़कर पट आदि पदार्थों को देखने लगता है तब उसे पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है और पहले का घट-सम्बन्धी ज्ञान-पर्याय सत्ताहीन हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि विविध पदार्थ विषयक ज्ञान के पर्याय ही विज्ञानघन हैं। यहाँ भूत शब्द का अर्थ पृथ्वी आदि पंच महाभूत से न होकर जड़-चेतन रूप समस्त ज्ञेय पदार्थ से है। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्य का अर्थ परलोक का अभाव नहीं, पर पूर्व पर्याय की सत्ता नहीं, यह समझना चाहिये। इस प्रकार जब पुरुष में उत्तरकालीन ज्ञानपर्याय उत्पन्न होता है, तब पूर्वकालीन ज्ञानपर्याय सत्ताहीन हो जाता है। क्योंकि किसी भी द्रव्य या गुण की उत्तर पर्याय के समय पूर्व पर्याय की सत्ता नहीं रह सकती। अतः 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' कहा गया है।"

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इस तर्क-प्रधान विवेचना को सुनकर इन्द्रभूति के हृदय का संशय नष्ट हो गया और उन्होंने अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया। ये ही इन्द्रभूति आगे चलकर भगवान महावीर के शासन में गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

दिगम्बर-परम्परा की मान्यता

इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि भगवान् महावीर को केवलज्ञान की उपलब्धि होने पर देवों ने पंच-दिव्यों की वृष्टि की और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने वैशाख शुक्ला १० के दिन ही समवशरण की रचना कर दी। भगवान् महावीर ने पूर्वद्वार से समवशरण में प्रवेश किया और वे सिंहासन पर विराजमान हुए।

भगवान् का उपदेश सुनने के लिये उत्सुक देवेन्द्र अन्य देवों के साथ हाथ जोड़े अपने प्रकोष्ठ में प्रभु के समक्ष बैठ गये। पर प्रभु के मुखारविन्द से दिव्य ध्वनि प्रस्फुटित नहीं हुई। निरन्तर कई दिनों की प्रतीक्षा के बाद भी जब प्रभु ने उपदेश नहीं दिया तो इन्द्र ने चिन्तित हो सोचा कि आखिर भगवान् के उपदेश न देने का कारण क्या है।

अवधिज्ञान से इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि गणधर के अभाव में भगवान् का उपदेश नहीं हो रहा है, तो वे उपयुक्त पात्र की खोज में लगे और विचार करते करते उन्हें उस समय के प्रकाण्ड पण्डित इन्द्रभूति का ध्यान आया।

देवराज शक्र तत्काल शिष्य का छद्मवेश बना कर इन्द्रभूति के पास पहुँचे और सादर अभिवादन के पश्चात् बोले—"विद्वन् ! मेरे गुरु ने मुझे एक गाथा सिखाई थी। उस गाथा का अर्थ मेरी समझ में अच्छी तरह नहीं आ रहा है। मेरे गुरु इस समय मौन धारण किये हुए हैं, अतः आप कृपा कर मुझे उस गाथा का अर्थ समझा दीजिये।"

उत्तर में इन्द्रभूति ने कहा—"मैं तुम्हें गाथा का अर्थ इस शर्त पर समझा सकता हूँ कि उस गाथा का अर्थ समझ में आ जाने पर तुम मेरे शिष्य बन जाने की प्रतिज्ञा करो।"

छद्मवेशधारी इन्द्र ने इन्द्रभूति की शर्त सहर्ष स्वीकार करते हुए उनके सम्मुख यह गाथा प्रस्तुत की :—

पंचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पंच ।
अट्ठ य पवयणमादा, सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

[षट्खण्डागम, पु० ६, पृ० १२६]

इन्द्रभूति उक्त गाथा को पढ़ते ही असमंजस में पड़ गये। उनकी समझ में नहीं आया कि पंच अस्तिकाय, षड्जीवनिकाय और अष्ट प्रवचन मात्राएँ कौन-कौन सी हैं। गाथा में उल्लिखित 'छज्जीवणिकाया' इस शब्द से तो इन्द्रभूति एकदम चकरा गये, क्योंकि जीव के अस्तित्व के विषय में उनके मन में शंका घर किये हुए थी। उनके मन में विचारों का प्रवाह उमड़ पड़ा।

हठात् अपने विचार-प्रवाह को रोकते हुए इन्द्रभूति ने आगन्तुक से कहा—"तुम मुझे तुम्हारे गुरु के पास ले चलो। उनके सामने ही मैं इस गाथा का अर्थ समझाऊँगा।"

अपने अभीसिप्त कार्य को सिद्ध होता देख इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और वह इन्द्रभूति को अपने साथ लिये भगवान् के समवशरण में पहुँचा।

गौतम के वहाँ पहुँचते ही भगवान् महावीर ने उन्हें नाम-गोत्र के साथ सम्बोधित करते हुए कहा—"अहो गौतम इन्द्रभूति ! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के विषय में शंका है कि वास्तव में जीव है या नहीं। तुम्हारे अन्तर में जो इस प्रकार का विचार करता रहा है, वही निश्चित रूप से जीव है। उस जीव का सर्वदा अभाव न तो कभी हुआ है और न कभी होगा ही।"

भगवान् के मुखारविन्द से कभी किसी के सम्मुख प्रकट नहीं की हुई अपने मन की शंका एवं उस शंका का समाधान सुन कर इन्द्रभूति श्रद्धा तथा भक्ति के उद्रेक से प्रभुचरणों पर अवनत हो प्रभु के पास प्रथम शिष्य के रूप से दीक्षित हो गये। इस प्रकार गौतम इन्द्रभूति का निमित्त पाकर केवलज्ञान होने के ६६ दिन पश्चात् श्रावण-कृष्णा प्रतिपदा के दिन भगवान् महावीर ने प्रथम उपदेश दिया। यथा :—

वासस्स पढममासे, सावणणामम्मि बहुल पडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य, उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥

[तिलोयपण्णत्ती, १६८]

तीर्थ स्थापना

इन्द्रभूति के पश्चात् अग्निभूति आदि अन्य दस पण्डित भी क्रमशः आये और भगवान् महावीर से अपनी शंकाओं का समाधान पा कर शिष्य मण्डली सहित दीक्षित हो गये। भगवान् महावीर ने उनको "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा, धुवेइ वा" इस प्रकार त्रिपदी का ज्ञान दिया। इसी त्रिपदी से इन्द्रभूति आदि विद्वानों ने द्वादशांग और दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्व की रचना की[1] और वे गणधर कहलाये।

महावीर की वीतरागमयी वाणी श्रवण कर एक ही दिन में उनके इन्द्रभूति आदि चार हजार चार सौ शिष्य हुए। प्रथम पाँच के पाँच-पाँच सौ, छठे और सातवें के साढ़े तीन तीन सौ, और शेष अन्तिम चार पण्डितों के तीन-तीन सौ छात्र थे। इस तरह कुल मिलाकर चार हजार चार सौ हुए। भगवान् के धर्म संघ में राजकुमारी चन्दनबाला प्रथम साध्वी बनी। शंख शतक आदि ने श्रावक धर्म और सुलसा आदि ने श्राविका धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार 'मध्यमपावा' का वह 'महासेन वन' और वैशाख शुक्ला एकादशी का दिन धन्य हो गया जब भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की शिक्षा दे कर साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और स्वयं भावतीर्थंकर कहलाये।

महावीर की भाषा

भगवान् महावीर ने अपना प्रवचन अर्धमागधी भाषा में किया था।[2] भगवान् की भाषा को आर्य-अनार्य सभी सरलता से समझ लेते थे।[3] जर्मन

---

१ उप्पन्न विगम धुअपय तियम्मि कहिए जणेण तो तेहिं।
सव्वेहिं विय वुद्धीहिं बारस अंगाइं रइयाइं॥ १५६४, महावीर चरित्र, (नेमिचन्द्र रचित)

२ (क) समवा०, पृ० ५७। (ख) औपपातिक सूत्र, सू० ३४, पृ० १४६।

३ (क) समवायांग, पृ० ५७। (ख) औपपातिक सूत्र, पृ० १४६

विद्वान् रिचार्ड पिशल ने इसके अनेक प्राचीन रूपों का उल्लेख किया है।[1] निशीथ चूर्णि में मगध के अर्द्ध भाग में बोली जाने वाली अठारह देशी भाषाओं[2] में नियत भाषा को अर्धमागधी[3] कहा है। नवांगी टीकाकार अभयदेव के मतानुसार इस भाषा को अर्धमागधी कहने का कारण यह है कि इसमें कुछ लक्षण मागधी के और कुछ लक्षण प्राकृत के पाये जाते हैं।[4]

तीर्थ-स्थापना के पश्चात् पुनः भगवान् 'मध्यमापावा' से राजगृही को पधारे और इस वर्ष का वर्षावास वहीं पूर्ण किया।

केवलीचर्या का प्रथम वर्ष

मध्यमपावा से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् साधु परिवार के साथ 'राजगृह' पधारे। राजगृह में उस समय पार्श्वनाथ की परम्परा के बहुत से श्रावक और श्राविकाएँ रहती थीं। भगवान् नगर के बाहर गुणशील चैत्य में विराजे। राजा श्रेणिक को भगवान् के पधारने की सूचना मिली तो वे राजसी शोभा में अपने अधिकारियों, अनुचरों और पुत्रों आदि के साथ भगवान् की वन्दना करने को निकले और विधिपूर्वक वन्दन कर सेवा करने लगे। उपस्थित सभा को लक्ष्य कर प्रभु ने धर्म-देशना सुनाई। श्रेणिक ने धर्म सुन कर सम्यक्त्व स्वीकार किया और अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया।[5]

---

१ हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ३३।

२ (क) बृहत्कल्प भाष्य १ प्र० की वृत्ति १२३१ में मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, गौड़, विदर्भ आदि देशों की भाषाओं को देशी भाषा कहा है।

(ख) उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला में, गोल्ल, मगध, कर्णाटक, अन्तरवेदी, कीर, ढक्क, सिंधु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ठ और आन्ध्र प्रदेशों की भाषाओं का देशी भाषा के रूप से सोदाहरण उल्लेख किया है।

[डॉ० जगदीशचन्द्र जैन—प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७–४२८]

३ मगहद्ध विसय भासा, निबद्धं अद्धमागहं अहवा अट्ठारह देसी भासा णियतं अद्धमागहं ११, ३६१८ निशीथ चूर्णि

४ (क) व्याख्या प्र० ५।४ सूत्र १६१ की टीका, पृ० २२१

(ख) औपपातिक, सू० ५६ टी०, पृ० १४८

५ (क) एमाइ धम्मकहं सोउं सेणिय निवाइया भव्वा।
संमत्तं पडिवन्ना केई पुण देस विरयाई॥ १२६४

[नेमिचन्द्र कृत महावीर चरियं]

(ख) श्रुत्वा तां देशना भर्तुः सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत्।
श्रावकधर्मं त्वभय-कुमाराद्याः प्रपेदिरे।३७६

[त्रि० श०, प० १०, स० ६]

नन्दिषेण की दीक्षा

राजकुमार मेघकुमार और नन्दिषेण ने धर्मदेशना सुन कर उस दिन भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की थी, जिसका वर्णन इस प्रकार है :—

महावीर प्रभु की वाणी सुनकर नन्दिषेण ने माता-पिता से दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति चाही। श्रेणिक ने भी धर्मकार्य समझकर उसको अनुमति प्रदान की। अनुमति प्राप्त कर ज्योंही नन्दिषेण घर से चला कि आकाश से एक देवता ने कहा—"वत्स! अभी तुम्हारे चारित्रावरण का प्राबल्य है, अतः कुछ काल घर में ही रहो, फिर कर्मों के हल्का हो जाने पर दीक्षित हो जाना।" नन्दिषेण भावना के प्रवाह में बह रहा था, अतः वह बोला—"अजी! मेरे भाव पक्के हैं तथा मैं संयम में लीन हूँ फिर मेरा चारित्रवरण क्या करेगा?" इस प्रकार कह कर वह भगवान् के पास आया और प्रभु-चरणों में उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। स्थविरों के पास ज्ञान सीखा और विविध प्रकार की तपस्या के साथ आतापना आदि से वह आत्मा को भावित करता रहा। कुछ काल के पश्चात् जब देव ने मुनि को विकट तप करते हुए देखा तो उसने फिर कहा—"नन्दिषेण! तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो, सोच लो, बिना भोग-कर्म को चुकाये संसार से त्राण नहीं होगा, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करो।"

देव के बार-बार कहने पर भी नन्दिषेण ने उस पर ध्यान नहीं दिया। एक बार बेले की तपस्या के पारण के दिन वे अकेले भिक्षार्थ क ले और कर्म-दोष से वेश्या के घर पहुँच गये। ज्यों ही उन्होंने धर्मलाभ की बात कही तो वेश्या ने कहा—"यहाँ तो अर्थ-लाभ की बात है" और फिर हँस पड़ी। उसका हँसना मुनि को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने एक तृण खींच कर रत्नों का ढेर कर दिया और "ले यह अर्थ लाभ" कहते हुए घर से बाहर निकल पड़े। रत्न-राशि देख आश्चर्याभिभूत हुई वेश्या, मुनि नन्दिषेण के पीछे-पीछे दौड़ी और बोली—"प्राणनाथ! जाते कहाँ हो? मेरे साथ रहो, अन्यथा मैं अभी प्राण-विसर्जन कर दूंगी।" उसके अतिशय अनुरोध एवं प्रेमपूर्ण आग्रह को कर्माधीन नन्दिषेण ने स्वीकार कर लिया, किन्तु उन्होंने एक शर्त रखी—"प्रतिदिन दस मनुष्यों को प्रतिबोध दूंगा तब भोजन करूंगा और जिस दिन ऐसा नहीं कर सकूंगा, उस दिन मैं पुनः गुरु-चरणों में दीक्षित हो जाऊंगा।"

देव-वाणी का स्मरण करते हुए और वेश्या के साथ रहते हुए भी मुनि प्रतिदिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण करने के लिये भेजने के पश्चात् भोजन करते। अन्ततोगत्वा एक दिन भोग्य-कर्म क्षीण हुए। नन्दिषेण ने नौ व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर तैयार किया, परन्तु दसवां सोनी प्रतिबोध पा कर भी दीक्षार्थ तैयार नहीं हुआ। भोजन का समय आ गया। अतः वेश्या बार-बार भोजन के लिये बुलावा भेज रही थी। पर अभिग्रह

पूर्ण नहीं होने के कारण नंदिषेण नहीं उठे। कुछ देर बाद वेश्या स्वयं आयी और भोजन के लिये आग्रहपूर्वक कहने लगी। पर नन्दिषेण ने कहा—"दसवाँ तैयार नहीं हुआ, तो अब मैं ही दसवाँ होता हूँ।" ऐसा कह कर वे वेश्यालय से बाहर निकल पड़े और भगवच्चरणों में पुनः दीक्षा ले कर विशुद्ध रूप से संयम-साधना में तत्पर हो गये।[1]

इस प्रकार अनेक भव्य-जीवों का कल्याण करते हुए प्रभु ने तेरहवाँ वर्षाकाल राजगृह में ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का द्वितीय वर्ष

राजगृही में वर्षाकाल पूर्ण कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु ने विदेह की ओर प्रस्थान किया। वे 'ब्राह्मण कुण्ड' पहुँचे और पास में 'बहुशाल' चैत्य में विराजमान हुए। भगवान् के आने का शुभ समाचार सुन कर पण्डित ऋषभदत्त देवानन्दा ब्राह्मणी के साथ वन्दनार्थ समवसरण की ओर प्रस्थित हुआ और पाँच नियमों के साथ भगवान् की सेवा में पहुँचा।

ऋषभदत्त और देवानन्दा को प्रतिबोध

भगवान् को देखते ही देवानन्दा का मन पूर्वस्नेह से भर आया। वह आनन्दमग्न एवं पुलकित हो गई। उसके स्तनों से दूध की धारा निकल पड़ी। नेत्र हर्षाश्रु से डब-डबा आये। गौतम के पूछने पर भगवान् ने कहा—"यह मेरी माता हैं, पुत्र-स्नेह के कारण इसे रोमाञ्च हो उठा है।"[2] भगवान् की वाणी सुन कर ऋषभदत्त और देवानन्दा ने भी प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और दोनों ने ११ अंगों का अध्ययन किया एवं विचित्र प्रकार के तप, व्रतों से वर्षों तक संयम की साधना कर मुक्ति प्राप्त की।[3]

राजकुमार जमालि की दीक्षा

ब्राह्मणकुण्ड के पश्चिम में क्षत्रियकुण्ड नगर था। वहाँ के राजकुमार जमालि ने भी भगवान् के चरणों में उपस्थित पाँच सौ क्षत्रिय-कुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की और ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वे विविध प्रकार के

---

१ त्रिषष्टि श० पु० च०, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ४०८ से ४३६।

२ गोयमा! देवाणंदा माहणी ममं अम्मगा, अहं णं देवाणंदाए माहणीए उत्तए, तए णं सा देवाणंदा माहणी तेणं पुव्वपुत्तसिणेहाणुरागेणं आगयपण्हया जाव समूसवियरोमकूवा [भ., श. ६, अ.. ३३, सू. ३८०]

३ जाव तमट्ठं आसहेत्ता जाव सव्वदुक्खप्पहीणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणा।
[भ., श. ६, उ. ६, सू. ३८२]

तप:कर्मों से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।[1] राजकुमार जमालि की पत्नी प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण की ।[2] इस प्रकार जन-गण का विविध उपकार करते हुए भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल वैशाली में पूर्ण किया ।

केवलीचर्या का तृतीय वर्ष

वैशाली से विहार कर भगवान् वत्सदेश की राजधानी 'कौशाम्बी' पधारे और 'चन्द्रावतरण' चैत्य में विराजमान हुए । कोशाम्बी में राजा सहस्रानीक का पौत्र और शतानीक तथा वैशाली के गण-राज चेटक की पुत्री मृगावती का पुत्र 'उदयन' राज्य करता था । यहाँ उदयन की बुआ एवं शतानीक की बहिन जयंती श्रमणोपासिका थीं । भगवान् के पधारने की बात सुन कर 'मृगावती' राजा उदयन और जयंती के साथ भगवान् को वन्दना करने गयी । जयंती श्राविका ने प्रभु की देशना सुनकर भगवान् से कई प्रश्नोत्तर किये, जो पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं ।

जयंती विवाहिता थी या अविवाहिता—साधार विचार ।

जयंती के धार्मिक प्रश्न

जयन्ती ने पूछा—"भगवन् ! जीव हल्का कैसे होता और भारी कैसे होता है ? उत्तर में प्रभु ने कहा—'जयंती ! अठारह पाप—(१) हिंसा, (२) मृषावाद-झूठ, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर परवाद-निन्दा, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा कपटपूर्वक झूठ और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य के सेवन से जीव भारी होता है तथा चतुर्गतिक संसार में भ्रमण करता है और इन प्राणातिपात आदि १८ पापों की विरति-निवृत्ति से ही जीव संसार को घटाता है, अर्थात् हल्का होकर संसार-सागर को पार करता है ।"

"भगवन् ! भव्यपन अर्थात् मोक्ष की योग्यता, जीव में स्वभावत: होती है या परिणाम से ?" जयंती ने दूसरा प्रश्न पूछा ।

भगवान् ने इसके उत्तर में कहा—"मोक्ष पाने की योग्यता स्वभाव से होती है, परिणाम से नहीं ।"

---

१ भ., श. ९, उ. ३३, सू. ३८४

२ भगवती—श. ९, ३।६

(क) त्रिप., १०।८ श्लो. ३९

(ख) [illegible] २ प. २६२

"क्या सब भव-सिद्धिक मोक्ष जाने वाले हैं ?" यह तीसरा प्रश्न जयंती ने किया ।

भगवान् ने उत्तर में कहा—हाँ, भव-सिद्धिक सब मोक्ष जाने वाले हैं ।"

जयन्ती ने चौथा प्रश्न किया—"भगवन् ! यदि सब भव-सिद्धिक जीवों की मुक्ति होना माना जाय तो क्या संसार कभी भव्य जीवों से खाली, शून्य हो जायेगा ?"

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—"जयंती ! नहीं, जैसे सर्व आकाश की श्रेणी जो अन्य श्रेणियों से घिरी हो, एक परमाणु जितना खंड प्रति समय निकालते हुए अनन्त काल में भी खाली नहीं होती, वैसे ही भव-सिद्धिक जीवों में से निरन्तर मुक्त होते रहें, तब भी संसार के भव्य कभी खत्म नहीं होंगे, वे अनन्त हैं ।"

टीकाकार ने एक अन्य उदाहरण भी यहाँ दिया है । यथा—मिट्टी में घड़े बनने की और अच्छे पाषाण में मूर्ति बनने की योग्यता है, फिर भी कभी ऐसा नहीं हो सकता कि सबके घड़े और मूर्तियां बन जायं और पीछे वैसी मिट्टी और पाषाण न रहें । बीज में पकने की योग्यता है फिर भी कभी ऐसा नहीं होता कि कोई भी बीज सीझे बिना न रहे । वैसा ही भव्यों के बारे में भी समझना चाहिए ।

जयन्ती ने जीवन से सम्बन्धित कुछ और प्रश्न किये जो इस प्रकार हैं :–

"भगवन् ! जीव सोता हुआ अच्छा या जगता हुआ अच्छा ?"

इस पर भगवान् ने कहा—"कुछ जीव सोये हुए अच्छे और कुछ जागते अच्छे । जो लोग अधर्म के प्रेमी, अधर्म के प्रचारक और अधर्माचरण में ही रँगे रहते हैं, उनका सोया रहना अच्छा । वे सोने की स्थिति में बहुत से प्राणभूत जीव और सत्वों के लिए शोक एवं परिताप के कारण नहीं बनते । उनके द्वारा स्व-पर की अधर्मवृत्ति नहीं बढ़ पाती, अतः उनका सोना ही अच्छा है । किन्तु जो जीव धार्मिक, धर्मानुसारी और धर्मयुक्त विचार, प्रचार एवं आचार में रत रहने वाले हैं, उनका जगना अच्छा है । ऐसे लोग जगते हुए किसी के दुःख और परिताप के कारण नहीं होते । उनका जगना स्व-पर को सत्कार्य में लगाने का कारण होता है ।"

इसी प्रकार सबल-निर्बल और दक्ष एवं आलसी के प्रश्नों पर भी अधिकारी भेद से अच्छा और बुरा बताया गया । इससे प्रमाणित हुआ कि शक्ति, सम्पत्ति और साधनों का अच्छापन एवं बुरापन सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है ।

तपःकर्मों से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।[1] राजकुमार जमालि की पत्नी प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण की ।[2] इस प्रकार जन-गण का विविध उपकार करते हुए भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल वैशाली में पूर्ण किया ।

केवलीचर्या का तृतीय वष

वैशाली से विहार कर भगवान् वत्सदेश की राजधानी 'कौशाम्बी' पधारे और 'चन्द्रावतरण' चैत्य में विराजमान हुए । कोशाम्बी में राजा सहस्रानीक का पौत्र और शतानीक तथा वैशाली के गण-राज चेटक की पुत्री मृगावती का पुत्र 'उदयन' राज्य करता था । यहाँ उदयन की बुआ एवं शतानीक की बहिन जयंती श्रमणोपासिका थीं । भगवान् के पधारने की बात सुन कर 'मृगावती' राजा उदयन और जयंती के साथ भगवान् को वन्दना करने गयी । जयंती श्राविका ने प्रभु की देशना सुनकर भगवान् से कई प्रश्नोत्तर किये, जो पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं ।

जयंती विवाहिता थी या अविवाहिता—साधार विचार ।

जयंती के धार्मिक प्रश्न

जयन्ती ने पूछा—"भगवन् ! जीव हल्का कैसे होता और भारी कैसे होता है ? उत्तर में प्रभु ने कहा—'जयंती ! अठारह पाप—(१) हिंसा, (२) मृषावाद-झूठ, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर परवाद-निन्दा, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा कपटपूर्वक झूठ और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य के सेवन से जीव भारी होता है तथा चतुर्गतिक संसार में भ्रमण करता है और इन प्राणातिपात आदि १८ पापों की विरति-निवृत्ति से ही जीव संसार को घटाता है, अर्थात् हल्का होकर संसार-सागर को पार करता है ।"

"भगवन् ! भव्यपन अर्थात् मोक्ष की योग्यता, जीव में स्वभावतः होती है या परिणाम से ?" जयंती ने दूसरा प्रश्न पूछा ।

भगवान् ने इसके उत्तर में कहा—"मोक्ष पाने की योग्यता स्वभाव से होती है, परिणाम से नहीं ।"

---

१ भ., श. ९, उ. ३३, सू. ३८४

२ भगवती—श. ९, ३।६

(क) त्रिष., १०।८ श्लो. ३९

(ख) महावीर च., ८ प्र. प. २६२

"क्या सब भव-सिद्धिक मोक्ष जाने वाले हैं ?" यह तीसरा प्रश्न जयंती ने किया ।

भगवान् ने उत्तर में कहा—हाँ, भव-सिद्धिक सब मोक्ष जाने वाले हैं ।"

जयन्ती ने चौथा प्रश्न किया—"भगवन् ! यदि सब भव-सिद्धिक जीवों की मुक्ति होना माना जाय तो क्या संसार कभी भव्य जीवों से खाली, शून्य हो जायेगा ?"

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—"जयंती ! नहीं, जैसे सर्व आकाश की श्रेणी जो अन्य श्रेणियों से घिरी हो, एक परमाणु जितना खंड प्रति समय निकालते हुए अनन्त काल में भी खाली नहीं होती, वैसे ही भव-सिद्धिक जीवों में से निरन्तर मुक्त होते रहें, तब भी संसार के भव्य कभी खत्म नहीं होंगे, वे अनन्त हैं ।"

टीकाकार ने एक अन्य उदाहरण भी यहाँ दिया है । यथा—मिट्टी में घड़े बनने की और अच्छे पाषाण में मूर्ति बनने की योग्यता है, फिर भी कभी ऐसा नहीं हो सकता कि सबके घड़े और मूर्तियां बन जायं और पीछे वैसी मिट्टी और पाषाण न रहें । बीज में पकने की योग्यता है फिर भी कभी ऐसा नहीं होता कि कोई भी बीज सीझे बिना न रहे । वैसा ही भव्यों के बारे में भी समझना चाहिए ।

जयन्ती ने जीवन से सम्बन्धित कुछ और प्रश्न किये जो इस प्रकार हैं :-

"भगवन् ! जीव सोता हुआ अच्छा या जगता हुआ अच्छा ?"

इस पर भगवान् ने कहा—"कुछ जीव सोये हुए अच्छे और कुछ जागते अच्छे । जो लोग अधर्म के प्रेमी, अधर्म के प्रचारक और अधर्माचरण में ही रँगे रहते हैं, उनका सोया रहना अच्छा । वे सोने की स्थिति में बहुत से प्राणभूत जीव और सत्वों के लिए शोक एवं परिताप के कारण नहीं बनते । उनके द्वारा स्व-पर की अधर्मवृत्ति नहीं बढ़ पाती, अतः उनका सोना ही अच्छा है । किन्तु जो जीव धार्मिक, धर्मानुसारी और धर्मयुक्त विचार, प्रचार एवं आचार में रत रहने वाले हैं, उनका जगना अच्छा है । ऐसे लोग जगते हुए किसी के दुःख और परिताप के कारण नहीं होते । उनका जगना स्व-पर को सत्कार्य में लगाने का कारण होता है ।"

इसी प्रकार सबल-निर्बल और दक्ष एवं आलसी के प्रश्नों पर भी अधिकारी भेद से अच्छा और बुरा बताया गया । इससे प्रमाणित हुआ कि शक्ति, सम्पत्ति और साधनों का अच्छापन एवं बुरापन सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है ।

भगवान् के युक्तियुक्त उत्तरों से संतुष्ट होकर उपासिका जयन्ती ने भी संयम-ग्रहण कर आत्म-कल्याण कर लिया।[1]

भगवान् का विहार और उपकार

कोशाम्बी से विहार कर भगवान् श्रावस्ती आए। यहाँ 'सुमनोभद्र' और 'सुप्रतिष्ठ' ने दीक्षा ग्रहण की। वर्षों संयम का पालन कर अन्त समय में 'सुमनोभद्र' ने 'राजगृह' के विपुलाचल पर अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्ति की। इसी प्रकार सुप्रतिष्ठित मुनि ने भी सत्ताईस वर्ष संयम का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धि प्राप्त की।[2]

तदनन्तर विचरते हुए प्रभु 'वाणियगाँव' पधारे और 'आनन्द' गाथापति को प्रतिबोध देकर उन्हें श्रावक-धर्म में दीक्षित किया। फिर इस वर्ष का वर्षावास 'वाणियग्राम' में ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का चतुर्थ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणियग्राम से मगध की ओर विहार किया। ग्रामानुग्राम उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह के 'गुण शील' चैत्य में पधारे। प्रभु ने वहां के जिज्ञासुजनों को शालि आदि धान्यों की योनि एवं उनकी स्थिति-अवधि का परिचय दिया। वहाँ के प्रमुख श्रेष्ठी 'गोभद्र' के पुत्र शालिभद्र ने भगवान् का उपदेश सुनकर ३२ रमणियों और भव्य भोगों को छोड़कर दीक्षा ग्रहण की।

शालिभद्र का वैराग्य

कहा जाता है कि शालिभद्र के पिता 'गोभद्र', जो प्रभु के पास दीक्षित होकर देवलोकवासी हुए थे[3] वे स्नेहवश स्वर्ग से शालिभद्र और अपनी पुत्र-वधुओं को नित नये वस्त्राभूषण एवं भोजन पहुँचाया करते थे। शालिभद्र की माता भद्रा भी इतनी उदारमना थी कि व्यापारी से जिन रत्न-कम्बलों को राजा श्रेणिक भी नहीं खरीद सके, नगरी का गौरव रखने हेतु वे सारी रत्न-कम्बलें उन्होंने खरीद लीं और उनके टुकड़े कर, वधुओं को पैर पोंछने को दे दिये।

भद्रा के वैभव और औदार्य से महाराज श्रेणिक भी दंग थे। शालिभद्र के घर का आमन्त्रण पाकर जब राजा वहाँ पहुँचा, तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चकित हो गया। राज-दर्शन के लिये भद्रा ने जब शालिभद्र कुमार को बुलाया

---

१ भग., श. १२, उ. २, सू. ४४३।

२ अंत० अणुत्तरो, एन. वी. वैद्य सम्पादित।

३ त्रि० श० पु०, १६ प०, १० स०, ८४ श्लो०

(ख) उ० माला, गा० २० भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति।

तो वह अपने अलबेलेपन में बोला—"माता ! मेरे आने की क्या जरूरत है, जो भी मूल्य हो, देकर भंडार में रख लो।" इस पर भद्रा बोली—"पुत्र ! कोई किराणा नहीं, यह तो अपना नाथ है, आओ, शीघ्र दर्शन करके चले जाना।" नाथ शब्द सुनते ही शालिभद्र चौंका और सोचने लगा—"अहो, मेरे ऊपर भी कोई नाथ है। अवश्य ही मेरी करणी में कसर है। अब ऐसी करणी करूं कि सदा के लिये यह पराधीनता छूट जाय।"

शालिभद्र माता के परामर्शानुसार धीरे-धीरे त्याग की साधना करने लगा और इसके लिये उसने प्रतिदिन एक-एक स्त्री छोड़ने की प्रतिज्ञा की। धन्ना सेठ को जब शालिभद्र की बहिन सुभद्रा से पता चला कि उसका भाई एक-एक स्त्री प्रतिदिन छोड़ते हुए दीक्षित होना चाहता है, तो उसने कहा, छोड़ना है तो एक-एक क्या छोड़ता है ? यह तो कायरपन है। सुभद्रा अपने भाई की न्यूनता-कमजोरी की बात सुनकर बोल उठी—"पतिदेव ! कहना जितना सरल है, उतना करना नहीं।" बस, इतना सुनते ही चाबुक की मार खाये उच्च जातीय अश्व की तरह धन्ना स्नान-पीठ से उठ बैठे। नारियों का अनुनय विनय सब व्यर्थ रहा, उन्होंने तत्काल जाकर शालिभद्र को साथ लिया और साला-बहनोई दोनों भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गये। विभिन्न प्रकार की तपःसाधना करते हुए अन्त में दोनों ने 'वैभव गिरि' पर अनशन करके काल प्राप्त किया और सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।[1]

इस प्रकार सहस्रों नर-नारियों को चारित्र-धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते हुए प्रभु ने इस वर्ष का वर्षावास राजगृह में पूर्ण किया।

केवलीचर्या का पंचम वर्ष

राजगृह का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और 'पूर्णभद्र यक्षायतन' में विराजमान हुए। भगवान् के आगमन की बात सुन कर नगर का अधिपति महाराज 'दत्त' सपरिवार वन्दन को आया। भगवान् की अमोघ देशना सुनकर राजकुमार 'महाचन्द्र' प्रतिबुद्ध हुआ। उसने प्रथम श्रावकधर्म ग्रहण किया और कुछ काल पश्चात् भगवान् के पुनः पधारने पर राज-ऋद्धि और पाँच सौ रानियों को त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।[2] सार बन गया।

संकटकाल में भी कल्परक्षार्थ कल्पनीय तक का परित्याग

कुछ समय के पश्चात् भगवान् चम्पा से 'वीतभया' नगरी की ओर पधारे। वहाँ का राजा 'उद्रायण' जो व्रती श्रावक था, पौषधशाला में बैठकर

१ त्रि० श०, १० प० १० स०, श्लो० १४६ से १८१।
२ विपाक सू०, २ श्रु० ६ अध्याय।

धर्म-जागरण किया करता था। उद्रायण के मनोगत भावों को जानकर भगवान् ने 'वीतभय' नगर की ओर प्रस्थान किया। गर्मी के कारण मार्ग में साधुओं को बड़े कष्ट झेलने पड़े। कोसों दूर-दूर तक बस्ती का अभाव था। जब भगवान् भूखे-प्यासे शिष्यों के संग विहार कर रहे थे, तब उनको तिलों से लदी गाड़ियाँ नजर आयीं। साधु-समुदाय को देखकर गाड़ी वालों ने कहा—"इनको खाकर क्षुधा शान्त कर लीजिये।" पर भगवान् ने साधुओं को लेने की अनुमति नहीं दी। भगवान् को ज्ञात था कि तिल अचित्त हो चुके हैं। पास के ह्रद का पानी भी अचित्त था फिर भी भगवान् ने साधुओं को उससे प्यास मिटाने की अनुमति नहीं दी। कारण कि स्थिति क्षय से निर्जीव बने हुए धान्य और जल को सहज स्थिति में लिया जाने लगा तो कालान्तर में अग्राह्य-ग्रहण में भी प्रवृत्ति होने लगेगी और इस प्रकार मुनि धर्म की व्यवस्था में नियन्त्रण नहीं रहेगा। अतः छद्मस्थ के लिए कहा है कि निश्चय में निर्दोष होने पर भी लोकविरुद्ध वस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहिये।[१] वीतभय नगरी में भगवान् के विराजने के समय वहाँ के राजा उद्रायण ने प्रभु की सेवा का लाभ लिया और कइयों ने त्यागमार्ग ग्रहण किया। फिर वहाँ से विहार कर भगवान् वाणियग्राम पधारे और यहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का छठा वर्ष

वाणियग्राम में वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वाराणसी की ओर पधारे और वहाँ के 'कोष्ठक चैत्य' में विराजमान हुए। भगवान् का आगमन सुनकर महाराज जितशत्रु वंदन करने आये। भगवान् ने उपस्थित जन-समुदाय को धर्म-देशना फरमाई। उपदेश से प्रभावित होकर चुल्लिनी-पिता, उनकी भार्या श्यामा तथा सुरादेव और उसकी पत्नी धन्या ने भी श्रावक-धर्म ग्रहण किया, जो कि भगवान् के प्रमुख श्रावकों में गिने जाते हैं। इस तरह प्रभु के उपदेशों से उस समय के समाज का अत्यधिक उपकार हुआ।

वाराणसी से भगवान् 'आलंभिया' पधारे और 'शंखनाद' उद्यान में शिष्य-मंडली सहित विराजमान हुए। भगवान् के पधारने की बात सुनकर आलंभिया के राजा जितशत्रु भी वन्दन के लिए प्रभु की सेवा में आये।

पुद्गल परिव्राजक का बोध

शंखवन उद्यान के पास ही 'पुद्गल' नाम के परिव्राजक का स्थान था। वह वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का विशिष्ट ज्ञाता था। निरन्तर छट्ठ-छट्ठ की तपस्या से आतापना लेते हुए उसने विभंग ज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह ब्रह्मलोक तक की देवस्थिति जानने लगा।

---

१ बृहत्कल्प भा० वृ० भा० २, गा० ९९७ से ९९९, पृ० ३१४–१५।

एक बार अज्ञानता के कारण उसके मन में विचार हुआ कि देवों की स्थिति जघन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट दश सागर की है। इससे आगे न देव हैं और न उनकी स्थिति ही। उसने घूम-घूम कर सर्वत्र इस बात का प्रचार किया। फलतः भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने भी सहज में यह चर्चा सुनी। उन्होंने भगवान् के चरणों में आकर पूछा तो प्रभु ने कहा—"गौतम! यह कहना ठीक नहीं। दोनों की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर तक है।" पुद्गल ने कर्ण-परम्परा से भगवान् का निर्णय सुना तो वह शंकित हुआ और महावीर के पास पूछने को आ पहुँचा। वह महावीर की देशना सुन कर प्रसन्न हुआ। भक्तिपूर्वक प्रभु की सेवा में दीक्षित होकर उसने तप-संयम की आराधना करते हुए मुक्ति प्राप्त की।[1] इसी विहार में 'चुलशतक' ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

आलंभिया से विभिन्न स्थानों में विहार करते हुए भगवान् राजगृह पधारे और वहाँ 'मंकाई', 'किंकत', अर्जुनमाली एवं काश्यप को मुनि-धर्म की दीक्षा प्रदान की। गाथापति 'वरदत्त' ने भी यहीं संयम ग्रहण किया और बारह वर्ष तक संयमधर्म की पालना कर, मुक्ति प्राप्त की।[2] इस वर्ष प्रभु का वर्षावास भी राजगृह में व्यतीत हुआ। 'नंदन' मणिकार ने इसी वर्ष श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

केवलीचर्या का सातवाँ वर्ष

वर्षाकाल के बीतने पर भी भगवान् अवसर जानकर राजगृह में विराजे रहे। एक बार श्रेणिक भगवान् के पास बैठा था कि उस समय कोढ़ी के रूप में एक देव भी वहाँ उपस्थित हुआ। भगवान् को छींक आई तो उसने कहा—"जल्दी मरो।" और जब श्रेणिक को छींक आई तो उसने कहा—"चिरकाल तक जीओ।" अभय छींका तो वह बोला—"जीवो या मरो।" 'कालशौकरिक' के छींकने पर उसने कहा—"न जीओ न मरो।" इस तरह कोढ़ी रूप देव ने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के छींकने पर भिन्न-भिन्न शब्द कहे। भगवान् के लिए 'मरो' कहने से महाराज श्रेणिक रुष्ट हुए। उनकी मुखाकृति बदलते ही सेवक पुरुष उस कोढ़ी को मारने उठे किन्तु तब तक वह अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन श्रेणिक ने उस कोढ़ी एवं उसके कहे हुए शब्दों के बारे में भगवान् से पूछा तो प्रभु ने फरमाया—"राजन्! वह कोई कोढ़ी नहीं, देव था। मुझे मरने को कहा, इसका अर्थ जल्दी मोक्ष जा, ऐसा है। तुम जीते हो तब तक सुख है, फिर नर्क में दुःख भोगना होगा, इसलिए तुम्हें कहा—खूब जीओ। अभय का जीवन और मरण दोनों अच्छे हैं और कालशौकरिक के दोनों

१ भगवती शतक ११, उ० १२, सू० ४३६।

२ अंत कृतदशासूत्र, ६।६, ४, ६। पृ. १०४-१०५। (जयपुर)

धर्म-जागरण किया करता था। उद्रायण के मनोगत भावों को जानकर भगवान् ने 'वीतभय' नगर की ओर प्रस्थान किया। गर्मी के कारण मार्ग में साधुओं को बड़े कष्ट झेलने पड़े। कोसों दूर-दूर तक बस्ती का अभाव था। जब भगवान् भूखे-प्यासे शिष्यों के संग विहार कर रहे थे, तब उनको तिलों से लदी गाड़ियाँ नजर आयीं। साधु-समुदाय को देखकर गाड़ी वालों ने कहा—"इनको खाकर क्षुधा शान्त कर लीजिये।" पर भगवान् ने साधुओं को लेने की अनुमति नहीं दी। भगवान् को ज्ञात था कि तिल अचित्त हो चुके हैं। पास के ह्रद का पानी भी अचित्त था फिर भी भगवान् ने साधुओं को उससे प्यास मिटाने की अनुमति नहीं दी। कारण कि स्थिति क्षय से निर्जीव बने हुए धान्य और जल को सहज स्थिति में लिया जाने लगा तो कालान्तर में अग्राह्य-ग्रहण में भी प्रवृत्ति होने लगेगी और इस प्रकार मुनि धर्म की व्यवस्था में नियन्त्रण नहीं रहेगा। अतः छद्मस्थ के लिए कहा है कि निश्चय में निर्दोष होने पर भी लोकविरुद्ध वस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहिये।[1] वीतभय नगरी में भगवान् के विराजने के समय वहाँ के राजा उद्रायण ने प्रभु की सेवा का लाभ लिया और कइयों ने त्यागमार्ग ग्रहण किया। फिर वहाँ से विहार कर भगवान् वाणियग्राम पधारे और यहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का छठा वर्ष

वाणियग्राम में वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वाराणसी की ओर पधारे और वहाँ के 'कोष्ठक चैत्य' में विराजमान हुए। भगवान् का आगमन सुनकर महाराज जितशत्रु वंदन करने आये। भगवान् ने उपस्थित जन-समुदाय को धर्म-देशना फरमाई। उपदेश से प्रभावित होकर चुल्लिनी-पिता, उनकी भार्या श्यामा तथा सुरादेव और उसकी पत्नी धन्या ने भी श्रावक-धर्म ग्रहण किया, जो कि भगवान् के प्रमुख श्रावकों में गिने जाते हैं। इस तरह प्रभु के उपदेशों से उस समय के समाज का अत्यधिक उपकार हुआ।

वाराणसी से भगवान् 'आलंभिया' पधारे और 'शंखनाद' उद्यान में शिष्य-मंडली सहित विराजमान हुए। भगवान् के पधारने की बात सुनकर आलंभिया के राजा जितशत्रु भी वन्दन के लिए प्रभु की सेवा में आये।

पुद्गल परिव्राजक का बोध

शंखवन उद्यान के पास ही 'पुद्गल' नाम के परिव्राजक का स्थान था। वह वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का विशिष्ट ज्ञाता था। निरन्तर छट्ठ-छट्ठ की तपस्या से आतापना लेते हुए उसने विभंग ज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह ब्रह्मलोक तक की देवस्थिति जानने लगा।

---

१ वृहत्कल्प भा० वृ० भा० २, गा० ९९७ से ९९९, पृ० ३१४–१५।

एक बार अज्ञानता के कारण उसके मन में विचार हुआ कि देवों की स्थिति जघन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट दश सागर की है। इससे आगे न देव हैं और न उनकी स्थिति ही। उसने घूम-घूम कर सर्वत्र इस बात का प्रचार किया। फलतः भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने भी सहज में यह चर्चा सुनी। उन्होंने भगवान् के चरणों में आकर पूछा तो प्रभु ने कहा—"गौतम! यह कहना ठीक नहीं। दोनों की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर तक है।" पुद्गल ने कर्ण-परम्परा से भगवान् का निर्णय सुना तो वह शंकित हुआ और महावीर के पास पूछने को आ पहुँचा। वह महावीर की देशना सुन कर प्रसन्न हुआ। भक्तिपूर्वक प्रभु की सेवा में दीक्षित होकर उसने तप-संयम की आराधना करते हुए मुक्ति प्राप्त की।[1] इसी विहार में 'चुलशतक' ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

आलंभिया से विभिन्न स्थानों में विहार करते हुए भगवान् राजगृह पधारे और वहाँ 'मंकाई', 'किंकत', अर्जुनमाली एवं काश्यप को मुनि-धर्म की दीक्षा प्रदान की। गाथापति 'वरदत्त' ने भी यहीं संयम ग्रहण किया और बारह वर्ष तक संयमधर्म की पालना कर, मुक्ति प्राप्त की।[2] इस वर्ष प्रभु का वर्षावास भी राजगृह में व्यतीत हुआ। 'नंदन' मणिकार ने इसी वर्ष श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

केवलीचर्या का सातवाँ वर्ष

वर्षाकाल के बीतने पर भी भगवान् अवसर जानकर राजगृह में विराजे रहे। एक बार श्रेणिक भगवान् के पास बैठा था कि उस समय कोढ़ी के रूप में एक देव भी वहाँ उपस्थित हुआ। भगवान् को छींक आई तो उसने कहा—"जल्दी मरो।" और जब श्रेणिक को छींक आई तो उसने कहा—"चिरकाल तक जीओ।" अभय छींका तो वह बोला—"जीवो या मरो।" 'कालशौकरिक' के छींकने पर उसने कहा—"न जीओ न मरो।" इस तरह कोढ़ी रूप देव ने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के छींकने पर भिन्न-भिन्न शब्द कहे। भगवान् के लिए 'मरो' कहने से महाराज श्रेणिक रुष्ट हुए। उनकी मुखाकृति बदलते ही सेवक पुरुष उस कोढ़ी को मारने उठे किन्तु तब तक वह अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन श्रेणिक ने उस कोढ़ी एवं उसके कहे हुए शब्दों के बारे में भगवान् से पूछा तो प्रभु ने फरमाया—"राजन्! वह कोई कोढ़ी नहीं, देव था। मुझे मरने को कहा, इसका अर्थ जल्दी मोक्ष जा, ऐसा है। तुम जीते हो तब तक सुख है, फिर नर्क में दुःख भोगना होगा, इसलिए तुम्हें कहा—खूब जीओ। अभय का जीवन और मरण दोनों अच्छे हैं और कालशौकरिक के दोनों

१ भगवती शतक ११, उ० १२, सू० ४३६।
२ अंत कृतदशासूत्र, ६।६, ४, ६। पृ. १०४-१०५। (जयपुर)

बुरे, उसके लिए न जीने में लाभ और न मरने में सुख, अतः कहा—न जीओ, न मरो।"[१]

यह सुनकर श्रेणिक ने पूछा—"भगवन्! मैं किस उपाय से नारकीय दुःख से बच सकता हूँ, यह फरमायें।" इस पर प्रभु ने कहा—"यदि कालशौकरिक से हत्या छुड़वा दो या 'कपिला' ब्राह्मणी दान दो तो तुम नरक गति से छूट सकते हो।" श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया, पर न तो कसाई ने हत्या छोड़ी और न 'कपिला' ने ही दान देना स्वीकार किया। इससे श्रेणिक बड़ा दुःखी हुआ, किन्तु प्रभु ने कहा—"चिन्ता मत कर, तू भविष्य में तीर्थंकर होगा।"[२]

समय पाकर राजा श्रेणिक ने यह घोषणा करवाई—"जो कोई भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, मैं उसे यथोचित सहयोग दूँगा, पीछे के परिवार की सँभाल करूँगा।"[३] घोषणा से प्रभावित हो अनेक नागरिकों के साथ—[१] जालि, [२] मयालि, [३] उपालि, [४] पुरुषसेन, [५] वारिषेण, [६] दीर्घदंत, [७] लष्टदंत, [८] वेहल्ल, [९] वेहास, [१०] अभय, [११] दीर्घसेन, [१२] महासेन, [१३] लष्टदंत, [१४] गूढ़दंत, [१५] शुद्धदंत, [१६] हल्ल, [१७] द्रुम, [१८] द्रुमसेन, [१९] महाद्रुमसेन, [२०] सिंह, [२१] सिंहसेन, [२२] महासिंहसेन और [२३] पूर्णसेन इन तेईस[४] राजकुमारों ने तथा [१] नंदा, [२] नंदमती, [३] नंदोत्तरा, [४] नंदिसेणिया, [५] मरुया, [६] सुमरिया, [७] महामरुता, [८] मरुदेवा, [९] भद्रा, [१०] सुभद्रा, [११] सुजाता, [१२] सुमना और [१३] भूतदत्ता, इन तेरह रानियों ने दीक्षित होकर भगवान् के संघ में प्रवेश किया।[५] आर्द्रक मुनि भी भगवान् को वन्दन करने यहीं आये। इस प्रकार इस वर्ष प्रभु ने अनेक उपकार किये। सहस्रों लोगों को सत्पथ पर लगाया और इस वर्ष का चातुर्मास भी राजगृह में व्यतीत किया।

केवलीचर्या का आठवाँ वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् कुछ दिन तक राजगृह में विराजकर भगवान् 'आलंभिया' नगरी में ऋषिभद्रपुत्र श्रावक के उत्कृष्ट व जघन्य देवायुष्य सम्बन्धी विचारों का समर्थन करते हुए कौशाम्बी पधारे और 'मृगावती' को संकटमुक्त किया। क्योंकि मृगावती के रूपलावण्य पर मुग्ध हो चण्डप्रद्योत उसे अपनी

---

१ आवश्यक चू०, उत्तर०, पृ० १६९।

२ महावीर चरियं, गुणचन्द्र, पत्र ३३४।

३ अणुत्तरोववाई।

४ अंतगड़।

५ २३–१३ सा०।

रानी बनाने के लिए कौशाम्बी के चारों ओर घेरा डाले हुए था। उदयन की लघु वय होने के कारण उस समय चंडप्रद्योत को भुलावे में डाल कर रानी मृगावती ही राज्य का संचालन कर रही थी। भगवान् के पधारने की बात सुन कर वह वन्दन करने गई तथा त्याग-विरागपूर्ण उपदेश सुन कर प्रव्रज्या लेने को उत्सुक हुई और बोली—"भगवन्! चण्डप्रद्योत की आज्ञा ले कर मैं श्री चरणों में प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ।" उसने वहीं पर चण्डप्रद्योत से जा कर अनुमति के लिए कहा। प्रद्योत भी सभा में लज्जावश मना नहीं कर सका[1] और उसने अनुमति प्रदान कर सत्कारपूर्वक मृगावती को भगवान् की सेवा में प्रव्रज्या प्रदान करवा दी। भगवत् कृपा से मृगावती पर आया हुआ शील-संकट सदा के लिए टल गया। इस वर्ष भगवान् का वर्षावास वैशाली में व्यतीत हुआ।

केवलीचर्या का नवम वर्ष

वैशाली का वर्षावास पूर्ण कर भगवान् मिथिला होते हुए 'काकंदी' पधारे और सहस्राम्र उद्यान में विराजमान हुए। भगवान् के आगमन का समाचार सुन कर राजा जितशत्रु भी सेवा में वन्दन करने गया। 'भद्रा' सार्थवाहिनी का पुत्र धन्यकुमार भी प्रभु की सेवा में पहुँचा। प्रभु का उपदेश सुन कर काकंदी का धन्यकुमार बड़ा प्रभावित हुआ और माता की अनुमति ले कर विशाल वैभव एवं ३२ कुलीन सुन्दर भार्याओं को छोड़ कर भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गया।

राजा जितशत्रु इतने धर्म प्रेमी थे कि उन्होंने यह घोषणा करवा दी—"जो लोग जन्म-मरण का बन्धन काटने हेतु भगवान् महावीर के पास दीक्षित होना चाहते हों, वे प्रसन्नता से दीक्षा ग्रहण करें, मैं उनके सम्बन्धियों के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर लेता हूँ।" महाराज जितशत्रु ने बड़ी धूम-धाम से धन्यकुमार की दीक्षा करवाई। दीक्षित हो कर धन्यकुमार ने स्थविरों के पास ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

धन्यकुमार ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से प्रभु की अनुमति पा कर उसने प्रतिज्ञा की—"मुझे आजीवन छट्ठ-छट्ठ की तपस्या करते हुए विचरना, दो दिन के छट्ठ तप के पारणे में भी आयंबिल करना एवं उज्झित भोजन ग्रहण करना है।" इस प्रकार की घोर तपश्चर्या करते हुए उनका शरीर सूख कर हड्डियों का ढाँचा मात्र शेष रह गया, फिर भी वे मन में किंचिन्मात्र भी खिन्न नहीं हुए। उनके अध्यवसाय इतने उच्च थे कि भगवान् महावीर ने चौदह हजार साधुओं में धन्यकुमार मुनि को सबसे बढ़ कर दुष्कर करणी करने वाला बतलाया और श्रेणिक के सम्मुख उनकी प्रशंसा की। नव मास की साधु-

१ आव० चू०, प्र० १, पृ० ६१।

पर्याय में धन्य मुनि ने अनशनपूर्वक देहत्याग किया और वे सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए।[1]

'सुनक्षत्रकुमार' भी इसी प्रकार भगवान् के पास दीक्षित हुए और अनशन कर सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हुए।

काकंदी से विहार कर भगवान् कंपिलपुर, पोलासपुर होते हुए वाणिज्य-ग्राम पधारे। कंपिलपुर में कुंडकौलिक ने श्रावकधर्म ग्रहण किया और पोलास-पुर में सद्दालपुत्र ने बारह व्रत स्वीकार किये। इनका विस्तृत विवरण उपासक दशा सूत्र में उपलब्ध होता है। वाणिज्यग्राम भगवान् विहार कर वैशाली पधारे और इस वर्ष का वर्षावास भी वैशाली में पूर्ण किया।

केवलीचर्या का दशम वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् भगवान् मगध की ओर विहार करते हुए राजगृह पहुँचे। वहाँ भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर 'महाशतक' गाथापति ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। पार्श्वापत्य स्थविर भी यहाँ पर भगवान् के सम-वशरण में आये और भगवान् महावीर से अपनी शंका का समाधान पा कर सन्तुष्ट हुए। उन्होंने महावीर को सर्वज्ञ माना और उनकी वन्दना की एवं चतुर्यामिधर्म से पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर विचरने लगे।[2]

उस समय रोहक मुनि ने भगवान् से लोक के विषय में कुछ प्रश्न किये जो उत्तर सहित इस प्रकार हैं :—

(१) लोक और अलोक में पहले पीछे कौन है ?

भगवान् ने कहा—"अपेक्षा से दोनों पहले भी हैं और पीछे भी हैं। इनमें कोई नियत क्रम नहीं है।

(२) जीव पहले है या अजीव पहले ?

भगवान् ने फरमाया—"लोक और अलोक की तरह जीव और अजीव तथा भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक और सिद्ध व असिद्ध में भी पहले पीछे का कोई नियत क्रम नहीं है।"

(३) संसार के आदिकाल की दृष्टि से रोहक ने पूछा—"प्रभो! अंडा पहले हुआ या मुर्गी पहले ?"

---

१ अणुत्तरो०, ३।१०।

भगवान् ने कहा—"अंडा किससे उत्पन्न हुआ ? मुर्गी से। मुर्गी कहाँ से आई ? तो कहना होगा अंडे से उत्पन्न हुई। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन पहले और कौन पीछे। इनमें शाश्वतभाव है, यह अनादि परम्परा है अतः पहले पीछे का क्रम नहीं कह सकते।" इस प्रकार भगवान् ने रोहक की अन्य शंकाओं का भी उचित समाधान किया।[१]

इसी प्रसंग में अधिक स्पष्टीकरण के लिए गौतम ने लोक की स्थिति के बारे में पूछा—"भगवन् ! संसार और पृथ्वी किस पर ठहरी हुई है, इस विषय में विविध कल्पनाएँ प्रचलित हैं, कोई पृथ्वी को शेषनाग पर ठहरी हुई कहता है तो कोई वराह के पृष्ठ पर ठहरी हुई बतलाते हैं। वस्तुस्थिति क्या है, कृपया स्पष्ट कीजिये।"

महावीर ने कहा—"गौतम ! लोक की स्थिति और व्यवस्था आठ प्रकार की है, जो इस प्रकार है—

(१) आकाश पर वायु है।
(२) वायु के आधार पर पानी है।
(३) पानी पर पृथ्वी टिकी हुई है।
(४) पृथ्वी के आधार से त्रस-स्थावर जीव हैं।
(५) अजीव जीव के आश्रित हैं।
(६) जीव कर्म के आधार से विविध पर्यायों में प्रतिष्ठित हैं।
(७) मन-भाषा आदि के अजीव पुद्गल जीवों द्वारा संगृहीत हैं।
(८) जीव कर्म द्वारा संगृहीत हैं।

इसको समझाने के लिए भगवान् ने एक दृष्टान्त बतलाया, जैसे किसी मशक को हवा से भरकर मुँह बन्द कर दिया जाय और फिर बीच से बाँधकर मुँह खोल दिया जाय तो ऊपर खाली हो जायेगी। उसमें पानी भरकर मशक खोल दी जाय तो पानी ऊपर ही तैरता रहेगा। इसी प्रकार हवा के आधार पर पानी समझना चाहिये।

हवा से मशक को भरकर कोई अपनी कमर में बाँधे और जलाशय में घुसे तो वह ऊपर तैरता रहेगा। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी पानी में गिरी हुई सछिद्र नौका जैसा बतलाया। जिस तरह नौका के बाहर-भीतर पानी है, वैसे ही जीव और पुद्गल परस्पर बँधे हुए हैं।[१]

---

१ (क) यथा नौश्च ह्रदोदकं चान्योन्यावगाहेन वर्तते एवं जीवश्च पुद्गलाश्चेति भावना।
—भगवती श०, १।६।सू० ५५। टीका।

(ख) भगवती सूत्र, २।१।सू० ५५।

केवलीचर्या का बारहवाँ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणिय ग्राम से विहार किया और ब्राह्मणकुंड के 'बहुशाल' चैत्य में आकर विराजमान हुए। जमालि अनगार ने यहीं पर भगवान् से अलग विचरने की अनुमति माँगी और उनके मौन रहने पर अपने पाँच सौ अनुयायी साधुओं के साथ वह स्वतन्त्र विहार को निकल पड़ा।

प्रभु भी वहाँ से 'वत्स' देश की ओर विहार करते हुए कौशाम्बी पधारे। यहाँ चन्द्र और सूर्य अपने मूल विमान से वन्दना को आये थे।[1] आचार्य शीलांक ने चन्द्र सूर्य का अपने मूल विमानों से राजगृह में आगमन बताकर इसे आश्चर्य बताया है।[2] कौशाम्बी से महावीर राजगृह पधारे और 'गुणशील' चैत्य में विराजमान हुए। यहां 'तुंगिका' नगरी के श्रावकों की बड़ी ख्याति थी। एक बार तुंगिका में पार्श्वापत्य आनन्दादि स्थविरों ने श्रावकों के प्रश्न का उत्तर दिया। जिसकी चर्चा चल रही थी। भगवान् गौतम ने भिक्षा के समय नगर में सुनी हुई चर्चा का 'निर्णय' प्रभु से चाहा तो भगवान् बोले—"गौतम ! पार्श्वापत्य स्थविरों ने जो तप संयम का फल बताया, वह ठीक है। मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ"[3] फिर भगवान् ने तथारूप श्रमण, माहण की पर्युपासना के फल बताते हुए कहा—"श्रमणों की पर्युपासना का प्रथम फल अपूर्वज्ञान श्रवण, श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से पच्चखाण अर्थात् त्याग, पच्चखाण से संयम, संयम से कर्मास्रव का निरोध, अनास्रव से तप, तप से कर्मनाश, कर्मनाश से अक्रिया और अक्रिया से सिद्धिफल प्राप्त होता है।" इसी वर्ष प्रभु के शिष्य 'वेहास' और 'अभय' आदि ने विपुलाचल पर अनशन कर देवत्व प्राप्त किया। इस बार का वर्षाकाल राजगृह में ही पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का तेरहवाँ वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विहार करते हुए भगवान् फिर चम्पा पधारे और वहां के 'पूर्णभद्र' उद्यान में विराजमान हुए। चम्पा में उस समय 'कौणिक' का राज्य था। भगवान् के आने की बात सुनकर कौणिक बड़ी सज-धज से वन्दन करने को गया। कौणिक ने भगवान् के प्रवृत्ति-वृत्त (कुशल समाचार) जानने की बड़ी व्यवस्था कर रक्खी थी।[4] अपने राजपुरुषों द्वारा भगवान् के विहार-वृत्त सुन कर ही वह प्रतिदिन भोजन करता था। भगवान् ने कौणिक आदि

१ त्रिषिष्टशलाकापुरुष, प० १०, स० ८, श्लोक ३३७-३५३

२ ख: पयट्टा दोवि दिणाहिव तारयाहिवइणो सविमाणा चेव भयवओ समीवं। ओइण्णा णिययप्पएसाओ ।। च० म० पु. च., पृ. ३०५

३ भगवती शतक (घासीलालजी), श०, उ० ५, पृ, सूत्र १४, पृ. ६३७।

४ औपपातिक सूत्र १३ से २१

उपस्थित जनों को धर्म देशना दी। देशना से प्रभावित हो अनेक गृहस्थों ने मुनि धर्म अंगीकार किया। उनमें श्रेणिक के पद्म १, महापद्म २, भद्र ३, सुभद्र ४, महाभद्र ५, पद्मसेन ६, पद्मगुल्म ७, नलिनीगुल्म ८, आनन्द ९ और नन्दन १०, ये दस पौत्र प्रमुख थे।[1] इनके अतिरिक्त जिनपालित आदि ने भी श्रमणधर्म अंगीकार किया। यहीं पर पालित जैसे बड़े व्यापारी ने श्रावकधर्म स्वीकार किया था। इस वर्ष का चातुर्मास चम्पा में ही हुआ।

केवलीचर्या का चौदहवाँ वर्ष

चम्पा से भगवान् ने विदेह की ओर विहार किया। बीच में काकन्दी नगरी में गाथा-पति 'खेमक' और 'धृतिधर' ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की। १६ वर्षों का संयम पाल कर दोनों विपुलाचल पर सिद्ध हुए। विहार करते हुए प्रभु मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

फिर वर्षाकाल के पश्चात् प्रभु विहारक्रम से अंगदेश होकर चम्पानगरी पधारे और 'पूर्णभद्र' नायक चैत्य में समवशरण किया। प्रभु के पधारने का समाचार पाकर नागरिक लोग और राजघराने की राजरानियां वन्दन करने को गईं। उस समय वैशाली में युद्ध चल रहा था। एक ओर १८ गणराजा और दूसरी ओर कौणिक तथा उसके दस भाई अपने दल-बल सहित जूझ रहे थे।

देशना समाप्त होने पर काली आदि रानियों ने अपने पुत्रों के लिए भगवान् से जिज्ञासा की—"भगवन्! हमारे पुत्र युद्ध में गए हैं। उनका क्या होगा? वे कब तक कुशलपूर्वक लौटेंगे?"

काली आदि रानियों को बोध

उत्तर में भगवान् द्वारा पुत्रों का मरण सुनकर काली आदि रानियों को अपार दुःख हुआ।[2] पर प्रभु के वचनों से संसार का विनश्वरशील स्वभाव समझ कर वे विरक्त हुईं और कौणिक की अनुमति से भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गईं।

आर्या चन्दना की सेवा में काली १, सुकाली २, महाकाली ३, कृष्णा ४, सुकृष्णा ५, महाकृष्णा ६, वीरकृष्णा ७, रामकृष्णा ८, पितृसेनकृष्णा ९ और महासेनकृष्णा १०, इन सबने दीक्षित होकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। आर्या चन्दना की अनुमति से काली ने रत्नावली, सुकाली ने कनकावली, महा-

---

१ निरयावलिका २
२ निरयावलिका, अध्ययन १

काली ने लघुसिंह निष्क्रीड़ित, कृष्णा ने महासिंह-निष्क्रीड़ित, सुकृष्णा ने सप्त-सप्तति भिक्षु प्रतिमा, महाकृष्णा ने लघुसर्वतोभद्र, वीरकृष्णा ने महासर्वतोभद्र तप, रामकृष्णा ने भद्रोत्तर प्रतिमा और महासेनकृष्णा ने आयंबिल-वर्धमान तप किया। अन्त में अनशनपूर्वक समाधिभाव से काल कर सब ने सब दुःखों का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया।[1]

कुछ काल तक चम्पा में ठहरकर भगवान् फिर मिथिला नगरी पधारे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलीचर्या का पन्द्रहवाँ वर्ष

फिर चातुर्मास समाप्त कर प्रभु ने वैशाली के पास होकर श्रावस्ती की ओर विहार किया। कौणिक के भाई हल्ल, वेहल्ल, जिनके कारण वैशाली में युद्ध हो रहा था, किसी तरह वहाँ से भगवान् के पास आ पहुँचे और प्रभु चरणों में श्रमण[2] धर्म की दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण एवं आत्मोद्धार में निरत हुए।

श्रावस्ती पहुँचकर भगवान् 'कोष्ठक' चैत्य में विराजमान हुए। मंखलि-पुत्र गोशालक भी उन दिनों श्रावस्ती में ही था। भगवान् महावीर से पृथक् होने के पश्चात् वह अधिकांश समय श्रावस्ती के आसपास ही घूमता रहा। श्रावस्ती में 'हालाहला' कुम्हारिन और अयंपुल गाथापति उसके प्रमुख भक्त थे। गोशालक जब कभी आता, हालाहला की भांडशाला में ठहरता। अब वह 'आजीवक' मत का प्रचारक बनकर अपने को तीर्थंकर बतला रहा था। जब भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम ने नगरी में यह जनप्रवाद सुना कि श्रावस्ती में दो तीर्थंकर विचर रहे हैं, एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलि गोशालक, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने भगवान् के चरणों में पहुँचकर इसकी वास्तविकता जाननी चाही और भगवान् से पूछा—"प्रभो! यह कहाँ तक ठीक है?"

गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने गोशालक का प्रारम्भ से सम्पूर्ण परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा—"गौतम! गोशालक जिन नहीं, पर जिनप्रलापी है।" नगर में सर्वत्र गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर की चर्चा थी।

गोशालक का आनन्द मुनि को भयभीत करना

मंखलिपुत्र गोशालक, जो उस समय नगर के बाहर आतापना ले रहा था,

---

१ अंतगड़ सूत्र, सप्तम व अष्टमवर्ग।

२ (क) तेवि कुमारा सामिस्स सीसत्ति वोसिरन्ति, देवताए हरिता।

[आव. नि. जिनदास, दूसरा भाग, पृ० १७४]

(ख) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पत्र १००

उसने जब लोगों से यह बात सुनी तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। क्रोध से जलता हुआ वह आतापना भूमि से 'हालाहला' कुम्हारिन की भांडशाला में आया और अपने आजीवक संघ के साथ क्रोधावेश में वात करने लगा। उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आनन्द अनगार भिक्षाचर्या में घूमते हुए उधर से जा रहे थे। वे सरल और विनीत थे तथा निरन्तर छट्ठ तप किया करते थे। गोशालक ने उन्हें देखा तो बोला—"आनन्द! इधर आ, जरा मेरी बात तो सुन।" आनन्द के पास आने पर गोशालक ने अपनी वात इस प्रकार कहनी आरम्भ की :—

"पुराने समय की बात है, कुछ व्यवसायी व्यापार के लिए अनेक प्रकार का किराना और विविध सामान गाड़ियों में भरकर यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में ग्राम-रहित, निर्जल, दीर्घ अटवी में प्रविष्ट हुए। कुछ मार्ग पार करने पर उनका साथ में लाया हुआ पानी समाप्त हो गया। तृषा से आकुल लोग परस्पर सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। उनके सामने बड़ी विकट समस्या थी। वे चारों ओर पानी की गवेषणा करते हुए एक घने जंगल में जा पहुँचे। वहां एक विशाल वल्मीक था। उसके चार ऊंचे-ऊंचे शिखर थे। प्यास-पीड़ित लोगों ने उनमें से एक शिखर को फोड़ा। उससे उन्हें स्वच्छ, शीतल, पाचक और उत्तम जल प्राप्त हुआ। प्रसन्न हो उन्होंने पानी पिया, बैलों को पिलाया और मार्ग के लिए बर्तनों में भरकर भी साथ ले लिया। फिर लोभ से दूसरा शिखर भी फोड़ा। उसमें उनको विशाल स्वर्ण-भंडार प्राप्त हुआ। उनका लोभ बढ़ा, उन्होंने तीसरा शिखर फोड़ डाला, उसमें मणि रत्न प्राप्त हुए। अब तो उन्हें और अधिक प्राप्त करने की इच्छा हुई और उन्होंने चौथा शिखर भी फोड़ने का विचार किया। उस समय उनमें एक अनुभवी और सर्वहितैषी वणिक् था। वह बोला—"भाई! हमको चौथा शिखर नहीं फोड़ना चाहिए। हमारी आवश्यकता पूरी हो गई, अब चतुर्थ शिखर का फोड़ना कदाचित् दुःख और संकट का कारण बन जाय, अतः हमको इस लोभ का संवरण करना चाहिए।"

व्यापारियों ने उसकी बात नहीं मानकर चौथा शिखर भी फोड़ डाला। उसमें से महा भयंकर दृष्टिविष कृष्ण सर्प निकला। उसकी विषमय उग्र दृष्टि पड़ते ही सारे व्यापारी सामान सहित जलकर भस्म हो गये। केवल वह एक व्यापारी बचा जो चौथा शिखर फोड़ने को मना कर रहा था। उसको सामान सहित सर्प ने घर पहुँचाया।

आनन्द! तेरे धर्माचार्य और धर्मगुरु श्रमण भगवान् महावीर ने भी इसी तरह श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त की है। देव-मनुष्यों में उनकी प्रशंसा होती है किन्तु वे मेरे सम्बन्ध में यदि कुछ भी कहेंगे तो मैं अपने तेज से उनको व्यापा-

रियों की तरह भस्म कर दूंगा। अतः उनके पास जाकर तू यह बात सुना दे।"

आनन्द मुनि का भ० से समाधान

गोशालक की बात सुनकर आनन्द सरलता के कारण बहुत भयभीत हुए और महावीर के पास आकर सारा वृत्तान्त उन्होंने कह सुनाया तथा पूछा—"क्या गोशालक तीर्थंकर को भस्म कर सकता है?"

महावीर ने कहा—"आनन्द! गोशालक अपने तपस्तेज से किसी को भी एक बार में भस्म कर सकता है, परन्तु अरिहन्त भगवान् को नहीं जला सकता, कारण कि गोशालक में जितना तपस्तेज है, अनगार का उससे अनन्त गुना तेज है। अनगार क्षमा द्वारा उस क्रोध का निरोध करने में समर्थ हैं। अनगार के तपस्तेज से स्थविर का तप अनन्त गुना विशिष्ट है। सामान्य स्थविर के तप से अरिहन्त का तपोबल अनन्त गुना अधिक है क्योंकि उसकी क्षमा अतुल है, अतः कोई उनको नहीं जला सकता। हां, परिताप-कष्ट उत्पन्न कर सकता है। इसलिए तुम जाओ और गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों से यह कह दो कि गोशालक इधर आ रहा है। इस समय वह द्वेषवश म्लेच्छ की तरह दुर्भाव में है। इसलिए उसकी बातों का कोई कुछ भी उत्तर न दे। यहां तक कि उसके साथ कोई धर्मचर्चा भी न करे और न धार्मिक प्रेरणा ही दे।"

गोशालक का आगमन

आनन्द ने प्रभु का सन्देश सबको सुनाया ही था कि इतने में गोशालक अपने आजीवन संघ के साथ महावीर के पास कोष्ठक उद्यान में आ पहुँचा। वह भगवान् से कुछ दूर हटकर खड़ा हो गया और थोड़ी देर के बाद बोला—"काश्यप! तुम कहते हो कि मंखलिपुत्र गोशालक तुम्हारा शिष्य है। बात ठीक है। पर, तुमको पता नहीं कि वह तुम्हारा शिष्य मृत्यु प्राप्त कर देवलोक में देव हो चुका है। मैं मंखलिपुत्र गोशालक से भिन्न कौडिन्यायन गोत्रीय उदायी हूँ। गोशालक का शरीर मैंने इसलिए धारण किया है कि वह परीषह सहने में सक्षम है। यह मेरा सातवाँ शरीरान्तर प्रवेश है।"

"हमारे धर्म सिद्धान्त के अनुसार जो भी मोक्ष गए हैं, जाते हैं और जाएंगे, वे सब चौरासी लाख महाकल्प के उपरांत सात दिव्य संयूथ-निकाय, सात सन्निगर्भ और सात प्रवृत्त परिहार करके पांच लाख साठ हजार छः सौ तीन (५६०६०३) कर्मांशों का अनुक्रम से क्षय करके मोक्ष गए, जाते हैं और जाएंगे।"

महाकल्प का कालमान समझाने हेतु जैन सिद्धान्त के पल्य और सागर के

समान आजीवक मत में सर और महाकल्प का प्रमाण बतलाया है। एक लाख सत्तर हजार छः सौ उनचास (१७०६४९) गंगाओं का एक सर मानकर सौ-सौ वर्ष में एक-एक बालुका निकालते हुए जितने समय में सब खाली हो उसको एक सर माना है। वैसे तीन लाख सर खाली हों तब महाकल्प माना गया है।[1]

गोशालक ने प्रभु को पुनः सम्बोधित करते हुए कहा :—

"आर्य काश्यप ! मैंने कुमार की प्रव्रज्या में बालवय से ही ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने की इच्छा की और प्रव्रज्या स्वीकार की। मैंने निम्न प्रकार से सात प्रवृत्त-परिहार किए, यथा ऐणेयक, मल्लाराम, मंडिक, रोहक, भारद्वाज, अर्जुन गौतम-पुत्र और गौशालक मंखलिपुत्र।"

"प्रथम शरीरान्तरप्रवेश राजगृह के बाहर मंडिकुक्षि चैत्य में उदायन कौडिन्यायन गोत्री के शरीर का त्यागकर ऐणेयक के शरीर में किया। बाईस वर्ष वहां रहा। द्वितीय शरीरान्तरप्रवेश उद्दण्डपुर के बाहर चन्द्रावतरण चैत्य में ऐणेयक के शरीर का त्याग कर मल्लराम के शरीर में किया। २१ वर्ष तक उसमें रह कर चंपानगरी के बाहर अंग मन्दिर चैत्य में मल्लराम का शरीर छोड़ कर मंडिक के देह में तीसरा शरीरान्तर प्रवेश किया। वहां बीस वर्ष तक रहा। फिर वाराणसी नगरी के बाहर काम महावन चैत्य में मंडिक के शरीर का त्याग कर रोहक के शरीर में चतुर्थ शरीरान्तर प्रवेश किया। वहां २९ वर्ष रहा। पाँचवें में आलंभिका नगरी के बाहर प्राप्त-काल चैत्य में रोहक का शरीर छोड़कर भारद्वाज के शरीर में प्रवेश किया। उसमें १८ वर्ष रहा। छठी बार वैशाली के बाहर कुंडियायन चैत्य में भारद्वाज का शरीर छोड़कर गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर में प्रवेश किया। वहां सत्रह वर्ष तक रहा। वहां से इस बार श्रावस्ती में हालाहला कुम्हारिन के कुंभकारापण में गौतमपुत्र का शरीर त्यागकर गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। इस प्रकार आर्य काश्यप ! तुम मुझको अपना शिष्य मंखलिपुत्र बतलाते हो, क्या यह ठीक है ?"

गोशालक की बात सुन कर महावीर बोले—"गोशालक ! जैसे कोई चोर बचाव का साधन नहीं पाकर तृण की आड़ में अपने को छिपाने की चेष्टा करता है, किन्तु वह उससे छिप नहीं सकता, फिर भी अपने को छिपा हुआ मानता है। उसी प्रकार तू भी अपने आपको शब्दजाल से छिपाने का प्रयास कर रहा है। तू गोशालक के सिवाय अन्य नहीं होते हुए भी अपने को अन्य बता रहा है, तेरा ऐसा कहना ठीक नहीं, तू ऐसा मत कह।"

भगवान् की बात सुनकर गोशालक अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और आक्रोशपूर्ण वचनों से गाली बोलने लगा। वह जोर-जोर से चिल्लाते हुए तिरस्कारपूर्ण

१ भग० श० १५, उ० १, सूत्र ५५०

शब्दों में बोला—"काश्यप ! तुम आज ही नष्ट, विनष्ट व भ्रष्ट हो जाओगे। आज तुम्हारा जीवन नहीं रहेगा। अब मुझसे तुमको सुख नहीं मिलेगा।"

सर्वानुभूति के वचन से गोशालक का रोष

भगवान् महावीर वीतराग थे। उन्होंने गोशालक की तिरस्कारपूर्ण बात सुनकर भी रोष प्रकट नहीं किया। अन्य मुनि लोग भी भगवान् के सन्देश से चुप थे। पर भगवान् के एक शिष्य 'सर्वानुभूति' अनगार, जो स्वभाव से सरल एवं विनीत थे, उनसे यह नहीं सहा गया। वे भगवद्भक्ति के राग से उठकर गोशालक के पास आए और बोले—"गोशालक ! जो गुणवान् श्रमण माहण के पास एक भी धार्मिक सुवचन सुनता है, वह उनको वन्दन-नमन और उनकी सेवा करता है। तो क्या, तुम भगवान् से दीक्षा-शिक्षा ग्रहण कर उनके साथ ही मिथ्या एवं अनुचित व्यवहार करते हो ? गोशालक ! तुमको ऐसा करना योग्य नहीं है। आवेश में आकर विवेक मत छोड़ो।"

सर्वानुभूति की बात सुनकर गोशालक तमतमा उठा। उसने क्रोध में भरकर तेजोलेश्या के एक ही प्रहार से सर्वानुभूति अणगार को जलाकर भस्म कर दिया और पुनः भगवान् के बारे में निन्दा वचन बोलने लगा। प्रभु के अन्य अन्तेवासी स्थिति को देखकर मौन थे, किन्तु अयोध्या के 'सुनक्षत्र' मुनि ने, जो उसके अपलाप सुने, तो उनसे भी नहीं रहा गया। उन्होंने गोशालक को कटु-वचन बोलने से मना किया। इससे रुष्ट होकर गोशालक ने सुनक्षत्र मुनि पर भी उसी प्रकार तेजोलेश्या का प्रहार किया। इस बार लेश्या का तेज मन्द हो गया था। पीड़ा की भयंकरता देखकर सुनक्षत्र मुनि श्रमण भगवान् महावीर के पास आए और वन्दना कर भगवान् के चरणों में आलोचनापूर्वक उन्होंने पुनः महाव्रतों में आरोहण किया और फिर श्रमण-श्रमणियों से क्षमा-याचना कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त किया।

गोशालक फिर भी भगवान् महावीर को अनर्गल कटुवचन कहता रहा। कुछ काल के बाद भगवान् महावीर ने सर्वानुभूति की तरह गोशालक को समझाया, पर मूर्खों के प्रति उपदेश क्रोध का कारण होता है, इस उक्ति के अनुसार गोशालक प्रभु की बात से अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और उसने उनको भस्म करने के लिए सात आठ कदम पीछे हटकर तेजोलेश्या का प्रहार किया। किन्तु महावीर के अमित तेज के कारण गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या उन पर असर नहीं कर सकी। वह भगवान् की प्रदक्षिणा करके एक बार ऊपर उछली और गोशालक के शरीर को जलाती हुई, उसी के शरीर में प्रविष्ट हो गई।

गोशालक अपनी ही तेजोलेश्या से पीड़ित होकर श्रमण भगवान् महावीर से बोला—"काश्यप ! यद्यपि अभी तुम बच गए हो किन्तु मेरी इस तेजोलेश्या से

पराभूत होकर तुम छः मास की अवधि में ही दाह-पीड़ा से छद्मस्थ अवस्था में काल प्राप्त करोगे। इस पर भगवान् ने कहा—"गोशालक ! मैं तो अभी सोलह वर्ष तक तीर्थंकर पर्याय से विचरण करूँगा पर तुम अपनी तेजोलेश्या से प्रभावित एवं पीड़ित होकर सात रात्रि के अन्दर ही छद्मस्थ भाव से काल प्राप्त करोगे।"[1]

तेजोलेश्या के पुनः पुनः प्रयोग से गोशालक निस्तेज हो गया और उसका तपस्तेज उसी के लिए घातक सिद्ध हुआ। महावीर ने निर्ग्रन्थों को बुलाकर कहा—"श्रमणो ! जिस प्रकार अग्नि से जलकर तृण या काष्ठ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार गोशालक मेरे वध के लिए तेजोलेश्या निकाल कर अब तेज भ्रष्ट हो गया है। तुम लोग उसके विचारों का खण्डन कर अब प्रश्न और हेतुओं से उसे निरुत्तर कर सकते हो।"

निर्ग्रन्थों ने विविध प्रश्नोत्तरों से उसको निरुत्तर कर दिया। अत्यन्त क्रुद्ध होकर भी गोशालक निर्ग्रन्थों को कुछ भी पीड़ा नहीं दे सका।

इधर श्रावस्ती नगरी के त्रिकमार्ग और राजमार्ग में सर्वत्र यह चर्चा होने लगी कि श्रावस्ती के बाहर कोष्ठक चैत्य में दो जिन परस्पर आलाप-संलाप कर रहे हैं। एक कहता है तुम पहले काल प्राप्त करोगे तो दूसरा कहता है पहले तुम्हारी मृत्यु होगी। इसमें कौन सच्चा और कौन झूठा है ? प्रभु की अलौकिक महिमा से परिचित, नगर के प्रमुख व्यक्ति कहने लगे—"श्रमण भगवान् महावीर सम्यग्वादी हैं और गोशालक मिथ्यावादी।"[2]

गोशालक की अन्तिम चर्या

अपनी अभिलाषा की सिद्धि में असफलता के कारण गोशालक इधर-उधर देखता, दीर्घ निश्वास छोड़ता, दाढ़ी के बालों को नोचता, गर्दन खुजलाता, पाँवों को पछाड़ता, हाय मरा-हाय मरा ! चिल्लाता हुआ आजीवक समूह के साथ 'कोष्ठक-चैत्य' से निकल कर 'हालाहला' कुम्हारिन के कुम्भकारापण में पहुँचा। वहाँ वह अपनी दाह-शान्ति के लिए कभी कच्चा आम चूसता, मद्यपान करता और बार-बार गाता-नाचता एवं कुम्हारिन को हाथ जोड़ता हुआ मिट्टी के भांड में रखे हुए शीतल जल से गात्र का सिंचन करने लगा।

---

१ नो खलु अहं गोसाला। तव तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं जाव कालं करिस्सामि, अहन्नं अन्नाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तुम्हं णं गोसाला ! अप्पणा चेव सयेणं तेएणं अणाइट्ठे समाणे सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्ससि।

२ भग. श. १५, सूत्र ५५३, पृ० ६७८।

भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थों को आमन्त्रित कर कहा—"आर्यो ! मंखलिपुत्र गोशालक ने जिस तेजोलेश्या का मेरे वध हेतु प्रहार किया था, वह (१) अंग, (२) वंग, (३) मगध, (४) मलय, (५) मालव, (६) अच्छ, (७) वत्स, (८) कौत्स, (९) पाठ, (१०) लाट, (११) वज्र, (१२) मौजि, (१३) काशी, (१४) कोशल, (१५) अवाध और (१६) संभुत्तर इन समस्त देशों को जलाने, नष्ट करने तथा भस्म करने में समर्थ थी। अब वह कुम्भकारापण में कच्चा आम चूसता हुआ यावत् ठंडे पानी से शरीर का सिंचन कर रहा है। अपने दोषों को छिपाने के लिए उसने आठ चरम बतलाये हैं, जैसे—(१) चरम-पान, (२) चरम-गान, (३) चरम-नाट्य, (४) चरम-अंजलिकर्म, (५) चरम-पुष्कलसंवर्त मेघ, (६) चरम-सेचनक गंध-हस्ती, (७) चरम-महाशिलाकंटक संग्राम और [८] चरम तीर्थंकर, अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर के रूप में अपना सिद्ध होना।

अपना मृत्यु समय निकट जान कर गोशालक ने आजीवन स्थविरों को बुला कर कहा—"मैं मर जाऊँ तो मेरी देह को सुगन्धित जल से नहलाना, सुगन्धित वस्त्र से देह को पोंछना, चन्दन का लेप करना, बहुमूल्य श्वेत वस्त्र पहिनाना तथा अलंकारों से भूषित करना और शिविका में बिठा कर यह घोषणा करते हुए ले जाना कि चौबीसवें तीर्थंकर गोशालक जिन हुए, सिद्ध हुए आदि।"[1]

किन्तु सातवीं रात्रि में गोशालक का मिथ्यात्व दूर हुआ। उसकी दृष्टि निर्मल और शुद्ध हुई। उसको अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने सोचा—"मैंने जिन नहीं होकर भी अपने को जिन घोषित किया है। श्रमणों का घात और धर्माचार्य का द्वेष करना वास्तव में मेरी भूल है। श्रमण भगवान् महावीर ही वास्तव में सच्चे जिन हैं।"

ऐसा सोच कर उसने स्थविरों को बुलाया और कहा—"स्थविरो ! मैंने अपने आप के लिए जो जिन होने की बात कही है, वह मिथ्या है, ऐसा कह कर मैंने तुम लोगों से वंचना की है। अतः अब मेरी मृत्यु के पश्चात् प्रायश्चित्त-स्वरूप मेरे बाएं पैर में डोरी बाँध कर, तुम मेरे मुँह पर तीन बार थूँकना और श्रावस्ती के राजमार्गों में यह कहते हुए मेरे शव को खींच कर ले जाना कि गोशालक जिन नहीं था, जिन तो महावीर ही हैं।" उसने अपनी इस अन्तिम भावना के पालन के लिए स्थविरों को शपथ दिलायी और सातवीं रात्रि में ही उसकी मृत्यु हो गई।

---

१ भग. श. १५, पृ० ६८२, सू. ५५४।

गोशालक के भक्त और स्थविरों ने सोचा–"आदेशानुसार यदि नगरी में पैर बाँध कर घसीटते हुए निकालेंगे तो अपनी हल्की लगेगी और ऐसा नहीं करने से आज्ञा-भंग होगी। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ?" उन्होंने एक उपाय निकाला–"हालाहला कुम्हारिन के घर में ही द्वार बन्द कर नगरी और राजमार्ग की रचना करें। उसमें घुमा लेने से आज्ञा-भंग और बदनामी दोनों से ही बच जायेंगे। उन्होंने वैसा ही किया। गोशालक के निर्देशानुसार बंद मकान में शव को घुमा कर फिर नगर में धूम-धाम से शव-यात्रा निकाली और सम्मान पूर्वक उसका अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया।

शंका समाधान

गोशालक के द्वारा समवशरण में तेजोलेश्या-प्रहार के प्रसंग से सहज शंका उत्पन्न होती है कि महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में गोशालक की तो तेजोलेश्या से रक्षा की पर समवशरण में गोशालक द्वारा तेजोलेश्या का प्रहार किये जाने पर सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को अपनी शीत-लेश्या के प्रभाव से क्यों नहीं बचाया ? टीकाकार आचार्य ने इस पर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि महावीर वीतराग होने से निज-पर के भेद और रागद्वेष से रहित थे। केवली होने के कारण उनका व्यवहार निश्चयानुगामी होता था, जबकि छद्मस्थ अवस्था में व्यवहार से ही निश्चय द्योतित होता और उसका अनुमान किया जाता था। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि का गोशालक के निमित्त से मरण अवश्यंभावी था, ऐसा प्रभु ने जान रखा था। दूसरी बात यह भी है कि केवली राग और प्रमाद रहित होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करते, इसलिए वे उस अवसर पर तटस्थ रहे। गोशालक के रक्षण के समय में भगवान् का जीवन किसी एक सूक्ष्म हद तक पूर्णतः रागविहीन और व्यवहार निरपेक्ष जीवन नहीं था। उस समय शरणागत का रक्षण नहीं करना अनुकम्पा का प्रत्यनीकपन होता। गोशालक द्वारा तेजोलेश्या के प्रहार किये जाने के समय में प्रभु पूर्ण वीतराग थे। यही कारण है कि सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर गोशालक द्वारा प्रहार किये जाने के समय गोशालक को न समझा कर प्रभु ने उससे पीछे बात की।

कुछ लोग कहते हैं कि गोशालक पर अनुकम्पा दिखा कर भगवान् ने बड़ी भूल की। यदि ऐसा नहीं करते तो कुमत का प्रचार और मुनि-हत्या जैसी अनर्थ-माला नहीं बढ़ पाती, किन्तु उनका ऐसा कहना भूल है। सत्पुरुष अनुकम्पाभाव से विना भेद के हर एक का हित करते हैं। उसका प्रतिफल क्या होगा, यह सौदेबाजी उनमें नहीं होती। वे जीवन भर अप्रमत्तभाव से चलते रहे, उन्होंने कभी कोई पापकर्म एवं प्रमाद नहीं किया, जैसा कि आचारांग सूत्र में स्पष्ट निर्देश है—'छउमत्थोवि परक्कममाणो ण पमायं सइंपि कुव्वित्था।'[1]

---

१ आचा., श्रु. १, अध्ययन ६, उद्देशा ४, गा. १५

भगवान् का विहार

श्रावस्ती के 'कोष्ठक चैत्य' से विहार कर भगवान् महावीर ने जनपद की ओर प्रयाण किया। विचरते हुए प्रभु 'मेढ़ियाग्राम' पहुँचे और ग्राम के बाहर 'सालकोष्ठक चैत्य' में पृथ्वी शिला-पट्ट पर विराजमान हुए। भक्तजन दर्शन-श्रवण एवं वंदन करने आये। भगवान् ने धर्म-देशना सुनाई।

जिस समय भगवान् साल कोष्ठक चैत्य में विराज रहे थे, गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या के निमित्त से भगवान् के शरीर में असाता का उदय हुआ, जिससे उनको दाह-जन्य अत्यन्त पीड़ा होने लगी। साथ ही रक्तातिसार की बाधा भी हो रही थी। पर वीतराग भगवान् इस विकट वेदना में भी शान्तभाव से सब कुछ सहन करते रहे। उनके शरीर की स्थिति देख कर लोग कहने लगे कि गोशालक की तेजोलेश्या से पीड़ित भगवान् महावीर छह माह के भीतर ही छद्मस्थभाव में कहीं मृत्यु न प्राप्त कर जायं। उस समय सालकोष्ठक के पास मालुयाकच्छ में भगवान् का एक शिष्य 'सीहा' मुनि, जो भद्र प्रकृति का था, बेले की तपस्या के साथ ध्यान कर रहा था। ध्यानावस्था में ही उसके मन में यह विचार हुआ कि मेरे धर्माचार्य को विपुल रोग उत्पन्न हुआ है और वे इसी दशा में कहीं काल कर जायेंगे तो लोग कहेंगे कि ये छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर गये और इस तरह हम सब की हँसी होगी। इस विचार से सीहा अनगार फूट-फूट कर रोने लगा।

घट-घट के अन्तर्यामी त्रिकालदर्शी श्रमण भगवान् महावीर ने तत्काल निर्ग्रन्थों को बुला कर कहा—"आर्यो! मेरा अन्तेवासी सीहा अनगार, जो प्रकृति का भद्र है, मालुयाकच्छ में मेरी बाधा-पीड़ा के विचार से तेज स्वर में रुदन कर रहा है, अतः जाकर उसे यहां बुला लाओ।" प्रभु के संदेश से श्रमण-निर्ग्रन्थ मालुयाकच्छ गए और सीहा अनगार को भगवान् द्वारा बुलाये जाने की सूचना दी। सीहा मुनि भी निर्ग्रंथों के साथ भगवान् महावीर के पास आये और वन्दना नमस्कार कर उपासना करने लगे। सीहा मुनि को सम्बोधित कर प्रभु ने कहा—"सीहा! ध्यानान्तरिका में तेरे मन में मेरे अनिष्ट की कल्पना हुई और तुम रोने लगे, क्या यह ठीक है?" सीहा द्वारा इस तथ्य को स्वीकृत किये जाने पर प्रभु ने कहा—"सीहा! गोशालक की तेजोलेश्या से पीड़ित हो कर मैं छह महीने के भीतर मृत्यु प्राप्त करूंगा, ऐसी बात नहीं है। मैं सोलह वर्ष तक जिनचर्या से सुहस्ती की तरह और विचरूंगा। अतः हे आर्य! तुम मेढ़ियाग्राम में "रेवती" गाथापत्नी के घर जाओ और उसके द्वारा मेरे लिये तैयार किया हुआ आहार न लेकर अन्य जो बासी बिजोरा पाक है, वह ले आओ। व्याधि मिटाने के लिये उसका प्रयोजन है।"

भगवान् की आज्ञा पा कर सीहा अनगार बहुत प्रसन्न हुए और प्रभु को

वन्दन कर अचपल एवं असंभ्रान्त भाव से गौतम स्वामी की तरह शाल कोष्ठक चैत्य से निकल कर, मेढ़ियाग्राम के मध्य में होते हुए, रेवती के घर पहुँचे। रेवती ने सीहा अनगार को विनयपूर्वक वन्दना की और आने का कारण पूछा। सीहा मुनि ने कहा—"रेवती! तुम्हारे यहाँ दो औषधियाँ हैं, उनमें से जो तुमने श्रमण भगवान् महावीर के लिये तैयार की हैं, मुझे उससे प्रयोजन नहीं, किन्तु अन्य जो बिजोरापाक है, उसकी आवश्यकता है।"

भगवान् की रोग-मुक्ति

सीहा मुनि की बात सुन कर रेवती आश्चर्य-चकित हुई और बोली—"मुने! ऐसा कौनसा ज्ञानी या तपस्वी है, जो मेरे इस गुप्त रहस्य को जानता है?" सीहा अनगार ने कहा—"श्रमण भगवान् महावीर, जो चराचर के ज्ञाता व दृष्टा हैं, उनसे मैंने यह जाना है।" फिर तो रेवती श्रद्धावनत एवं भाव-विभोर हो भोजनशाला में गई और बिजोरा-पाक लेकर उसने मुनि के पात्र में वह सब पाक बहरा दिया। रेवती के यहाँ से प्राप्त बिजोरापाक रूप आहार के सेवन से भगवान् का शरीर पीड़ारहित हुआ और धीरे-धीरे वह पहले की तरह तेजस्वी होकर चमकने लगा। भगवान् के रोग-निवृत्त होने से श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका वर्ग ही नहीं अपितु स्वर्ग के देवों तक को हर्ष हुआ। सुरासुर और मानव लोक में सर्वत्र प्रसन्नता की लहर सी दौड़ गई।[1]

रेवती ने भी इस अत्यन्त विशिष्ट भावपूर्वक दिये गये उत्तम दान से देव-गति का आयुबन्ध एवं तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर जीवन सफल किया।

कुतर्कपूर्ण भ्रम

सीहा अणगार को भगवान् महावीर ने रेवती के घर औषधि लाने के लिये भेजा, उसका उल्लेख भगवती सूत्र के शतक १५, उद्देशा १ में इस प्रकार किया गया है:

"....अहं णं अण्णाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि, तं गच्छह णं तुमं सीहा। मिंढ़ियागामं णयरं रेवतीए गाहावयणीए गिहे, तत्थ णं रेवतीए गाहावईए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो अत्थि। से अणे पारिवासी मज्जारकड़ए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो। तएणं...."

इस पाठ को लेकर ई० सन् १८८४ से अर्थात् लगभग ८७ वर्ष से पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क चल रहे हैं। जैन परम्परा से अनभिज्ञ कुछ विद्वानों की धारणा कुछ और ही तरह की रही है कि

---

१ भग. श. १५, सू ५५७।

इस पाठ में भगवान् महावीर के मांसभक्षण का संकेत मिलता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। पाठ में आये हुए शब्दों का सही अर्थ समझने के लिये हमें प्रसंग और तत्कालीन परिस्थिति में होने वाले शब्द-प्रयोगों को लक्ष्य में लेकर ही अर्थ करना होगा। उसके लिये सबसे पहले इस बात को ध्यान में रखना होगा कि रेवती श्रमण भगवान् महावीर की परम भक्त श्रमणोपासिका एवं सती जयंती तथा सुश्राविका मृगावती की प्रिय सखी थी। अतः मत्स्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों से उसका कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। रेवती ने परम उत्कृष्ट भावना से इस औषधि का दान देकर देवायु और महामहिम तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था।

भगवती सूत्र के पाठ में आये हुए खास विचारणीय शब्द "कवोयसरीर", "मज्जारकडए कुक्कुडमंसए" शब्द हैं। जिनके लिये भगवती सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि और दानशेखर सूरि ने क्रमशः कुष्मांड फल और मार्जार नामक वायु की निवृत्ति के लिये बिजोरा (बीजपूरक कटाह) अर्थ किया है।

विक्रम संवत् ११२० में अभयदेव ने स्थानांग सूत्र की टीका बनाई। उस टीका में उन्होंने अन्य मत का उल्लेख तक नहीं किया है और उन्होंने स्पष्टतः निश्चित रूप से "कवोयसरीर" का अर्थ कुष्मांडपाक और "मज्जारकडए कुक्कुड-मंसए" का अर्थ मार्जार नामक वायु के निवृत्त्यार्थ बीजपूरक कटाह अर्थात् बिजौरापाक किया है। अभयदेव द्वारा की गई स्थानांग सूत्र की व्याख्या में किंचित्मात्र ध्वनि तक भी प्रतिध्वनित नहीं होती कि इन शब्दों का अर्थ मांसपरक भी हो सकता है। जैसा कि स्थानांग की टीका के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है :

"भगवांश्च स्थविरैस्तमाकार्योक्तवान्—हे सिंह ! यत् त्वया व्यकल्पि न तद्भावि, यत इतोऽहं देशोनानि षोडश वर्षाणि केवलिपर्यायं पूरयिष्यामि, ततो गच्छ त्वं नगरमध्ये, तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या मदर्थं द्वे कुष्मांडफल-शरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनम् तथान्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकं बीजपूरककटाहमित्यर्थः, तदाहर, तेन नः प्रयोजनमित्येवमुक्तोऽसौ तथैव कृतवान्,......."

स्थानांग सूत्र की टीका का निर्माण करने के ८ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ११२८ में अभयदेव सूरि ने भगवती सूत्र की टीका का निर्माण किया। उसमें उन्होंने भगवती सूत्र के पूर्वोक्त मूल पाठ की टीका करते हुए लिखा है :

"दुवेकवोया" इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः—कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते, कुष्मांडे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे अथवा कपोतकशरीरे इव

धूसरवर्णसाधर्म्यादिव कपोतक शरीरे-कुष्मांड फले····"परिआसिए त्ति परिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थः, 'मज्जारकडए' इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः—मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृत-संस्कृतं मार्जारिकृतम्, अपरे त्वाहुः-मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं भावितं यत्तत्तथा किं तत् इति ? आह 'कुकुंटक मांसकं बीजपूरक कटाहम्····।"

[भगवती सूत्र अभयदेवकृत टीका, शतक १५, उ० १]

इसमें अभयदेव ने अन्य मत का उल्लेख किया है पर उनकी निजी निश्चित मान्यता इन शब्दों के लिये मांसपरक अर्थ वाली किसी भी दशा में नहीं कही जा सकती।

अर्थ का अनर्थ करने की कुचेष्टा रखने वाले लोगों को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि सामान्य जैन साधु का जीवन भी 'अमज्झमंसासिणो' विशेषण के अनुसार मद्यमांस का त्यागी होता है, तब महावीर के लिये मांस-भक्षण की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसके साथ ही साथ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी सदा ध्यान में रखना होगा कि भगवान् महावीर ने अपनी देशना में नरक गति के कारणों का प्रतिपादन करते हुए मांसाहार को स्पष्ट शब्दों में नरक गति का कारण बताया है।[1]

आचारांग सूत्र में तो श्रमण को यहां तक निर्देश दिया गया है कि भिक्षार्थ जाते समय साधु को यदि यह ज्ञात हो जाय कि अमुक गृहस्थ के घर पर मद्य-मांसमय भोजन मिलेगा तो उस घर में जाने का साधु को विचार तक नहीं करना चाहिए।[2]

भगवान् महावीर की पित्तज्वर की व्याधि को देखते हुए भी मांस अर्थ अनुकूल नहीं पड़ता किन्तु बिजौरे का गिरभाग जो मांस पद से उपलक्षित है, वही हितकर माना गया है। जैसा कि सुश्रूत से भी प्रमाणित होता है—

---

१ (क) ठाणांग सूत्र, ठा० ४, उ० ४, सू० ३७३

(ख) गोयमा ! महारंभायाए, महापरिग्गहयाए, कुणिमाहारेणं पंचिन्दियवहेणं······ नेरइयाउयकम्मा-सरीर जाव पयोग बंधे।

[भगवती सू०, शतक ८, उ० ६, सू० ३५०]

(ग) चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति·······कुणिमाहारेणं।

[औपपातिक सूत्र, सू० ५६]

२ से भिक्खू वा. जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइं व मच्छाइं मंस खलं व मच्छ खलं वा मच्छी खलं नो अभिसंधारिज्ज गमणाए

·······[आचारांग, श्रु. २, अ. १, उ. ४, सू. २४५]

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुंगमुदाहृतम् ।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातक्रमिकफापहा ।।
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित् ।
मेध्यं शूलानिलर्छादिकफारोचक नाशनम् ।।

निघण्टु में भी बिजौरा के गुण इस प्रकार बताये गये हैं :-

रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम् ।
श्वासकासारुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम् ।।१३२।।
बीजपूरो परः प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी ।
मधुकर्कटिका स्वादी रोचनी शीतला गुरुः ।।१३३।।
रक्तपित्तक्षयश्वासकासहिक्काभ्रमापहा ।।१३४।।

[भावप्रकाश निघण्टु]

वैजयन्ती कोष में बीजपूरक को मधुकुक्कुटी के नाम से उल्लिखित किया गया है । यथा :-

देविकायां महाशल्का वृष्यांगी मधुकुक्कुटी ।
अथात्ममूला मातुलुंगी पूति पुष्पी वृकाम्लिका ।

[वैजयन्ती कोष, भूमिकाण्ड, वनाध्याय, श्लोक ३३-३४]

पित्तज्वर के उपशमन में बीजपूरक ही हितावह होता है, इसलिए यहाँ पर कुक्कुडमंस शब्द से मधुकुक्कुटी अर्थात् बिजौरे का गिर ही समझना चाहिए ।

जिस संस्कृति में जीवन निर्वाह के लिए अत्यावश्यक फल, मूल एवं सचित्त जल का भी भक्ष्याभक्ष्य रूप से विचार किया गया है, वहां पर स्वयं उस संस्कृति के प्रणेता द्वारा मांस जैसे महारम्भी पदार्थ का ग्रहण, कभी मानने योग्य नहीं हो सकता ।

जिन भगवान् महावीर ने कौशाम्बी पधारते समय प्राणान्त संकट की स्थिति में भी क्षुधा एवं तृषा से पीड़त मुनिवर्ग को वन-प्रदेश में सहज अचित्त जल को सम्मुख देख कर भी पीने की अनुमति नहीं दी, वे परम दयालु महामुनि स्वयं की देह-रक्षा के लिए मांस जैसे अग्राह्य पदार्थ का उपयोग करें, यह कभी बुद्धिगम्य नहीं हो सकता । अतः बुद्धिमान् पाठकों को शब्दों के बाहरी कलेवर की ओर दृष्टि न रख कर उनके प्रसंगानुकूल सही अर्थ, अर्थात् बिजोरापाक को ही प्रमाणभूत मानना चाहिए ।

साधु को किस प्रकार का आहार त्याज्य है, इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र के उदाहरणपरक मूल पाठ 'बहु अट्ठिएण मंसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण'

को लेकर सर्वप्रथम डॉक्टर हर्मन जैकोबी को भ्रम उत्पन्न हुआ और उन्होंने आचारांग के अंग्रेजी अनुवाद में यह मत प्रकट करने का प्रयास किया कि इन शब्दों का अर्थ मांस ही प्रतिध्वनित होता है। जैन समाज द्वारा हर्मन जैकोबी की इस मान्यता का डट कर उग्र विरोध किया गया और अनेक शास्त्रीय प्रमाण उनके समक्ष रखे गये। उन प्रमाणों से हर्मन जैकोबी की शंका दूर हुई और उन्होंने अपने दिनांक २४-२-२८ के पत्र में अपनी भूल स्वीकार करते हुए आचारांग सूत्र के उक्त पाठ को उदाहरणपरक माना। श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया ने 'हिस्ट्री आफ कैनानिकल लिटरेचर आव जैनाज' में डॉक्टर जैकोबी के उक्त पत्र का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :—

> There he has said that 'बहु अट्ठिएण मंसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण' has been used In the metaphorical sense as can be seen from the illustration of नान्तरीयकत्व given by Patanjali in discussing a Vartika at Panini (III, 3, 9) and from Vachaspati's com. oh Nyayasutra (iv, 1, 54). He has concluded: "This meaning of the passage is therefore, that a monk should not accept in alms any substance of which only a part can be eaten and a greater part must be rejected,"

जिस भक्ष्य पदार्थ का बहुत बड़ा भाग खाने के काम में न आने के कारण त्याग कर डालना पड़े उसके साथ नान्तरयीकत्व भाव धारण करने वाली वस्तु के रूप में उदाहरणपरक मत्स्य शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि मत्स्य के काँटों को बाहर ही डालना पड़ता है। डॉ० हरमन जैकोबी ने नान्तरीयकत्व भाव के रूप में उपर्युक्त पाठ को माना है।

आचारांग सूत्र के उपर्युक्त पाठ का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए डॉक्टर स्टेन कोनो ने डॉक्टर वाल्थेर शूब्रिंग द्वारा जर्मन भाषा में लिखी गई पुस्तक 'दाई लेह्र देर जैनाज' की आलोचना में लिखा था :—

> "I shall mention only one detail, because the common European view has here been largely resented by the Jainas. The mention of *Bahuasthiyamansa* and *Bahukantaka-machha* 'meat' or 'fish' with many bones in Acharanga has usually been interpreted so as to imply that it was in olden times, allowed to eat meat and fish, and this interpretation is given on p. 137, in the Review of Philosophy and Religion,

१ देखिये-भगवान् महावीर का सिन्धु-सौवीर की राजधानी वीतभया नगरी की ओर विहार।

Vol. IV-2, Poona 1933, pp. 75. Prof. Kapadia has, however, published a letter from Prof. Jacoby on the 14th February, 1928 which in my opinion settles the matter. Fish of which the flesh may be eaten, but scales and bones must be taken *out was a school example of an object* containing the substance which is wanted in intimate conexion with much that must be rejected. The words of the Acharanga are consequently technical terms and do not imply that 'meat' and 'fish' might be eaten."[१]

ओस्ली के विद्वान् डॉक्टर स्टेन कोनो ने जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी को लिखे गये पत्र में डॉ० हर्मन जैकोबी के स्पष्टीकरण की सराहना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि पूर्ण अहिंसावादी और आस्तिक जैनों में कभी मांसाहार का प्रचलन रहा हो, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह पत्र इस प्रकार है :—

"Prof. Jacoby has done a great service to scholars in clearing up the much discussed question about meat eating among Jainas. On the face of which, it has always seemed incredible to me that it had at any time, been allowed in a religion where Ahimsa and also Ascetism *play such a prominent role....*" Prof. Jacoby's short remarks on the other hand make the whole matter clear. My reason for mentioning it was that I wanted to bring his explanation to the *knowledge* of so many scholars as possible. But there will still, no doubt, be people who stick to the *old theory. It is always difficult, to do away with* false ditthi but in the end truth *always* prevails."

इन सब प्रमाणों से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि अहिंसा को सर्वोपरि स्थान देने वाले जैन धर्म में मांस-भक्षण को सर्वथा त्याज्य और नर्क में पतन का कारण माना गया है। इस पर भी जो लोग कुतर्कों से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जैन आगमों में मांस-भक्षण का उल्लेख है, उनके लिए हम इस नीति पद को दोहराना पर्याप्त समझते हैं :—

"ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापितं नरं न रंजयति।"

१ तीर्थंकर महावीर भाग, २, (जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि) पृ० १८२

गौतम की जिज्ञासा का समाधान

एक दिन गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—"भदन्त ! आपका अन्तेवासी सर्वानुभूति अनगार, जो गोशालक की तेजोलेश्या से भस्म कर दिया गया है, यहाँ कालधर्म को प्राप्त कर कहाँ उत्पन्न हुआ और उसकी क्या गति होगी ?"

भगवान् ने उत्तर में कहा—"गौतम ! सर्वानुभूति अनगार आठवें स्वर्ग में अठारह सागर की स्थिति वाले देव के रूप से उत्पन्न हुआ है और वहां से च्यवन होने पर महाविदेह-क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होगा।"

इसी तरह सुनक्षत्र के बारे में भी गौतम द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् ने फरमाया—"सुनक्षत्र अनगार बारहवें अच्युत कल्प में बाईस सागर की देवायु भोग कर महाविदेह-क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहां उत्तम करणी करके सर्व कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा।

गौतम ने फिर पूछा—"भगवन् ! आपका कुशिष्य मंखलिपुत्र गोशालक काल प्राप्त कर कहाँ गया और कहाँ उत्पन्न हुआ !"

प्रभु ने उत्तर में कहा—"गौतम ! गोशालक भी अन्त समय की परिणाम शुद्धि के फलस्वरूप छद्मस्थदशा में काल कर बारहवें स्वर्ग में बाईस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में उत्पन्न हुआ है। वहाँ से पुनः जन्म-जन्मान्तर करते हुए वह सम्यग्दृष्टि प्राप्त करेगा। अन्त समय में दृढ़-प्रतिज्ञ के रूप से वह संयम धर्म का पालन कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा और कर्मक्षय कर सर्व दुःखों का अन्त करेगा।[1]

मेढ़ियग्राम से विहार करते हुए भगवान् महावीर मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया। इसी वर्ष जमालि मुनि का भगवान् महावीर से मतभेद हुआ और साध्वी सुदर्शना ढंक कुम्हार द्वारा प्रतिबोध पाकर फिर भगवान् के संघ में सम्मिलित हो गई।[2]

केवलीचर्या का सोलहवाँ वर्ष

मिथिला का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने हस्तिनापुर की ओर विहार किया। उस समय गौतम स्वामी कुछ साधु समुदाय के साथ विचरते हुए श्रावस्ती

---

१ भग. श., १५, सू. ५६० पृ० ५६५

२ पियदंसणा वि पइणोऽणुरागओ तमायं चिय पवण्णा।
ढंकोवहियागणिदड्ढवत्थ देसा तयं भणइ॥

[विशेषावश्यक, गाथा २३२५ से]

आये और कोष्ठक उद्यान में विराजमान हुए। नगर के बाहर 'तिन्दुक उद्यान' में पार्श्व-संतानीय 'केशिकुमार' भी अपने मुनि-मण्डल के साथ ठहरे हुए थे। कुमारावस्था में ही साधु होने से ये कुमार श्रमण कहलाये। ये ज्ञान तथा क्रिया के पारगामी थे। मति, श्रुति और अवधि रूप तीनों ज्ञानों से वे रूपी द्रव्य के वस्तु-स्वरूप को जानते थे।[1]

श्रावस्ती में केशी और गौतम दोनों के श्रमण समुदाय समाधिपूर्वक विचर रहे थे, किन्तु दोनों के बीच दिखने वाले वेष-भूषा और आचार के भेद से दोनों समुदाय के श्रमणों के मन शंकाशील थे। दोनों श्रमण-समुदायों के मन में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह धर्म कैसा और वह दूसरा कैसा ? हमारी और इनकी आचार-विधि में इतना अन्तर क्यों है ? पार्श्वनाथ ने चातुर्याम रूप और वर्द्धमान-महावीर ने पंच शिक्षा रूप धर्म कहा है। महावीर का धर्म अचेलक और पार्श्वनाथ का धर्म सचेलक है, ऐसा क्यों ? एक लक्ष्य के लिए चलने वालों के आचार में इस विभेद का कारण क्या है ?

केशी-गौतम मिलन

केशी और गौतम दोनों ने अपने-अपने शिष्यों के मनोगत भावों को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया। केशिकुमार के ज्येष्ठकुल का विचार कर मर्यादाशील गौतम अपनी शिष्य-मंडली सहित स्वयं 'तिंदुक वन' की ओर पधारे। केशिकुमार ने जब गौतम को आते देखा तो उन्होंने भी गौतम का यथोचित रूप से सम्यक् सत्कार किया और गौतम को बैठने के लिए प्राशुक पराल आदि तृण आसन रूप से भेंट किये। दोनों एक दूसरे के पास बैठे हुए ऐसी शोभा पा रहे थे मानों सूर्य-चन्द्र की जोड़ी हो।

दोनों स्थविरों के इस अभूतपूर्व संगम के रम्य दृश्य को देखने के लिए बहुत से व्रती, कुतूहली और सहस्रों गृहस्थ भी आ पहुँचे। अदृश्य देवादि का भी बड़ी संख्या में समागम था। सबके समक्ष केशिकुमार ने प्रेमपूर्वक गौतम से कहा—"महाभाग ! आपकी इच्छा हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।" गौतम की अनुमति पा कर केशी बोले—"पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा और महावीर ने पंचशिक्षारूप धर्म, इसका क्या कारण है ?"

उत्तर में गौतम बोले—"महाराज ! धर्म-तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिए जिस समय लोगों की जैसी मति होती है, उसी के अनुसार धर्म-तत्त्व का उपदेश किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय में लोग सरल और जड़ थे तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समय में लोग वक्र और जड़ हैं। पूर्व वर्णित

---

१ उत्तराध्ययन, २३।२

लोगों को समझाना कठिन था और पश्चात् वर्णित लोगों के लिये धर्म का पालन करना कठिन है, अतः भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत रूप धर्म बतलाया। मध्य तीर्थंकरों के समय में लोग सरल प्रकृति और बुद्धिमान् होने के कारण थोड़े में समझ भी लेते और उसे पाल भी लेते थे। अतः पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा है। आशय यह है कि प्रत्येक को सरलता से व्रतों का बोध हो और सभी अच्छी तरह उनको पाल सकें। यही चातुर्याम और पंच-शिक्षा रूप धर्म-भेद का दृष्टिकोण है।"

(२) गौतम के उत्तर से केशी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने दूसरी शंका वेष के विषय में प्रस्तुत की और बोले—"गौतम! वर्द्धमान-महावीर ने अचेलक धर्म बतलाया और पार्श्वनाथ ने उत्तरोत्तर प्रधान वस्त्र वाले धर्म का उपदेश दिया। इस प्रकार दो तरह का लिंग-भेद देख कर क्या आपके मन में विपर्यय नहीं होता?"

गौतम ने कहा—"लोगों के प्रत्ययार्थ यानी जानकारी के लिए नाना प्रकार के वेष की कल्पना होती है। संयम-रक्षा और धर्म-साधना भी लिंग-धारण का लक्ष्य है। वेष से साधु की सरलता से पहिचान हो जाती है, अतः लोक में बाह्य लिंग की आवश्यकता है। वास्तव में सद्भूत मोक्ष की साधना में ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही निश्चय लिंग हैं। बाह्य लिंग बदल सकता है पर अन्तर्लिंग एक और अपरिवर्तनीय है। अतः लिंग-भेद के तत्त्वाभिमुख-गमन में संशय करने की आवश्यकता नहीं रहती।"

(३) फिर केशिकुमार ने पूछा—"गौतम! आप सहस्रों शत्रुओं के मध्य में खड़े हैं, वे आपको जीतने के लिये आ रहे हैं। आप उन शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त करते हैं?"

गौतम स्वामी बोले—"एक शत्रु के जीतने से पाँच जीते गये और पाँच की जीत से दश तथा दश शत्रुओं को जीतने से मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।"

केशिकुमार बोले—"वे शत्रु कौनसे हैं?"

गौतम ने कहा—"हे महामुने! नहीं जीता हुआ अपना आत्मा (मन) शत्रुरूप है, एवं चार कषाय तथा ५ इन्द्रियाँ भी शत्रुरूप हैं। एक आत्मा के जय से ये सभी वश में हो जाते हैं। जिससे मैं इच्छानुसार विचरता हूँ और मुझे ये शत्रु बाधित नहीं करते।"

(४) केशिकुमार ने पुनः पूछा—"गौतम! संसार के बहुत से जीव पाश-बद्ध देखे जाते हैं, परन्तु आप पाशमुक्त लघुभूत होकर कैसे विचरते हैं?"

गौतम स्वामी ने कहा—"महामुने ! राग-द्वेष रूप स्नेह-पाश को मैंने उपाय पूर्वक काट दिया है, अतः मैं मुक्तपाश और लघुभूत हो कर विचरता हूँ।"

(५) केशिकुमार बोले—"गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई एक लता है, जिसका फल प्राणहारी विष के समान है। आपने उसका मूलोच्छेद कैसे किया है ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! भव-तृष्णा रूप लता को मैंने समूल उखाड़ कर फेंक दिया है, अतः मैं निश्शंक होकर विचरता हूँ।"

(६) केशिकुमार बोले—"गौतम ! शरीर-स्थित घोर तथा प्रचण्ड कषायाग्नि, जो शरीर को भस्म करने वाली है, उसको आपने कैसे बुझा रखा है ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! वीतरागदेवरूप महामेघ से ज्ञान-जल को प्राप्त कर मैं इसे निरन्तर सींचता रहता हूँ। अध्यात्म-क्षेत्र में कषाय ही अग्नि और श्रुत-शील एवं तप ही जल है। अतः श्रुत-जल की धारा से परिषिक्त कषाय की अग्नि हमको नहीं जलाती है।"

(७) केशिकुमार बोले—"गौतम ! एक साहसी और दुष्ट घोड़ा दौड़ रहा है, उस पर आरूढ़ होकर भी आप उन्मार्ग में किस कारण नहीं गिरते ?"

गौतम ने कहा—"श्रमणवर ! दौड़ते हुए अश्व का मैं श्रुत की लगाम से निग्रह करता हूँ। अतः वह मुझे उन्मार्ग पर न ले जा कर सुमार्ग पर ही बढ़ाता है। आप पूछेंगे कि वह कौन सा घोड़ा है, जिसको तुम श्रुत की लगाम से निग्रह करते हो। इसका उत्तर यह है कि मन ही साहसी और दुष्ट अश्व है, जिस पर मैं बैठा हूँ। धर्मशिक्षा ही इसकी लगाम है, जिससे कि मैं सम्यग्रूप से मन का निग्रह कर पाता हूँ।"

(८) केशिकुमार ने पूछा—"गौतम ! संसार में बहुत से कुमार्ग हैं जिनमें लोग भटक जाते हैं किन्तु आप मार्ग पर चलते हैं, मार्गच्युत कैसे नहीं होते हैं ?"

गौतम ने कहा—"महाराज ! मैं सन्मार्ग पर चलने वाले और उन्मार्ग पर चलने वाले, दोनों को ही जानता हूँ, इसलिये मार्ग-च्युत नहीं होता। मैंने समझ लिया है कि कुप्रवचन के व्रती सब उन्मार्गगामी हैं, केवल वीतराग जिनेन्द्र-प्रणीत मार्ग ही उत्तम मार्ग है।"

(९) केशिकुमार बोले—"गौतम ! जल के प्रबल वेग में जग के प्राणी

बहे जा रहे हैं, उनके लिए आप शरण गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप किसे मानते हैं ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! उस पानी में एक बहुत बड़ा द्वीप है, जिस पर पानी नहीं पहुँच पाता। इसी प्रकार संसार के जरा-मरण के वेग में बहते हुए जीवों के लिए धर्म रक्षक होने से द्वीप का काम करता है। यही शरण, गति और प्रतिष्ठा है।"

(१०) केशी बोले—"गौतम ! बड़े प्रवाह वाले समुद्र में नाव उत्पथ पर जा रही है, उस पर आरूढ़ होकर आप कैसे पार जा सकेंगे ?"

गौतम ने कहा—"केशी महाराज ! नौका दो तरह की होती है : (१) सच्छिद्र और (२) छिद्ररहित। जो नौका छिद्र वाली है वह पार नहीं करती, किन्तु छिद्ररहित नौका पार पहुँचाती है। आप कहेंगे कि संसार में नाव क्या है, तो उत्तर है—शरीर नौका और जीव नाविक है। आस्रवरहित शरीर से महर्षि संसार-समुद्र को पार कर लेते हैं ?"

(११) फिर केशिकुमार ने पूछा—"गौतम ! संसार के बहुत से प्राणी घोर अंधकार में भटक रहे हैं, लोक में इन सब प्राणियों को प्रकाश देने वाला कौन है ?"

गौतम ने कहा—"लोक में विमल प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय हो गया है, जो सब जीवों को प्रकाश-दान करेगा। सर्वज्ञ जिनेश्वर ही वह भास्कर हैं, जो तमसावृत संसार को ज्ञान का प्रकाश दे सकते हैं।"

(१२) तदनन्तर केशी ने सुख-स्थान की पृच्छा करते हुए प्रश्न किया—"संसार के प्राणी शारीरिक और मानसिक आदि विविध दुःखों से पीड़ित हैं, उनके लिये निर्भय, उपद्रवरहित और शान्तिदायक स्थान कौनसा है ?"

इस पर गौतम ने कहा—"लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है, जहाँ जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि और पीड़ा नहीं होती। वह स्थान सबको सुलभ नहीं है। उस स्थान को निर्वाण, सिद्धि, क्षेम एवं शिवस्थान आदि नाम से कहते हैं। उस शाश्वत स्थान को प्राप्त करने वाले मुनि चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं।"

इस प्रकार गौतम द्वारा अपने प्रत्येक प्रश्न का समुचित समाधान पाकर केशिकुमार बड़े प्रसन्न हुए और गौतम को श्रुतसागर एवं संशयातीत कह, उनका अभिवादन करने लगे। फिर सत्यप्रेमी और गुणग्राही होने से घोर पराक्रमी केशी ने शिर नवा कर गौतम के पास पंच-महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया।

केशी और गौतम की इस ज्ञान-गोष्ठी से श्रावस्ती में ज्ञान और शील धर्म का बड़ा अभ्युदय हुआ। उपस्थित सभी सभासद इस धर्म-चर्चा से सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त हुए। श्रमण भगवान् महावीर भी धर्म-प्रचार करते हुए कुरु जनपद होकर हस्तिनापुर की ओर पधारे और नगर के बाहर सहस्राम्रवन में अनुज्ञा लेकर विराजमान हुए।

शिव राजर्षि

हस्तिनापुर में उस समय राजा शिव का राज्य था। वे स्वभाव से संतोषी, भावनाशील और धर्मप्रेमी थे। एक बार मध्यरात्रि के समय उनकी निद्रा भंग हुई तो वे राज-काज की स्थिति पर विचार करते-करते सोचने लगे—"अहो! इस समय मैं सब तरह से सुखी हूँ। धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, पुत्र, मित्र, यान, वाहन, कोष और कोष्ठागार आदि से बढ़ रहा हूँ। वर्तमान में शुभ कर्मों का फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिए भी कुछ कर लेना चाहिये। भोग और ऐश्वर्य का कीट बनकर जीवन-यापन करना प्रशंसनीय नहीं होता। अच्छा हो, कल सूर्योदय होने पर मैं लोहमय कड़ाह, कड़च्छुल और ताम्रपात्र बनवाकर 'शिव-भद्रकुमार' को राज्याभिषिक्त करूँ और स्वयं गंगातटवासी, दिशापोषक वान-प्रस्थों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ।"

प्रातःकाल संकल्प के अनुसार उन्होंने सेवकजनों को आज्ञा देकर शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक किया। तदनन्तर लोहमय भाण्ड आदि बनवाकर उन्होंने मित्र-ज्ञातिजनों का भोजनादि से उचित सत्कार किया एवं उनके सम्मुख अपने विचार व्यक्त किये। सबकी सम्मति से तापसी-दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की—"मैं निरन्तर छट्ठ-बेले की तपस्या करते हुए दिशा चक्रवाल से दोनों बाहें उठाकर सूर्य के सम्मुख आतापना लेते हुए विचरूँगा।" प्रातःकाल होने पर उन्होंने वैसा ही किया।

अब वह राजर्षि बन गया। प्रथम छट्ठ तप के पारणे में शिव राजर्षि वल्कल पहने तपोभूमि से कुटिया में आये और कठिन संकायिका-बाँस की छाव को लेकर पूर्व दिशा को पोषण करते हुए बोले—"पूर्व दिशा के सोम महाराज प्रस्थान में लगे हुए शिव राजर्षि का रक्षण करें और कंद, मूल, त्वचा, पत्र, फूल, फल आदि के लिए अनुज्ञा प्रदान करें।" ऐसा कहकर वे पूर्व की ओर चले और वहाँ से पत्रादि छाव में भरकर तथा दर्भ, कुश, समिधा आदि हवनीय सामग्री लेकर लौटे। कठिन संयामिका को रखकर प्रथम उन्होंने वेदिका का निर्माण किया और फिर दर्भ सहित कलश लिए गंगा पर गये। वहाँ स्नान किया और देव-पितरों का तर्पण कर भरे कलश के साथ वे कुटिया में पहुँचे। वहाँ विधि-पूर्वक अरणि से अग्नि उत्पन्न की और अग्नि-कुण्ड के दाहिने बाजू सबथा, वल्कल,

स्थान, शय्या-भाण्ड, कमंडलु, दण्ड, काष्ठ और अपने आपको एकत्र कर मधु एवं घृत आदि से आहुति देकर चरु तैयार किया। फिर वैश्वदेव-वलि तथा अतिथि-पूजा करने के पश्चात् स्वयं ने भोजन किया।[1]

इस तरह लम्बे समय तक आतापनापूर्वक तप करते हुए शिव राजर्षि को विभंग ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सात समुद्र और सात द्वीप तक जानने व देखने लगे। इस नवीन ज्ञानोपलब्धि से शिव राजर्षि के मन में प्रसन्नता हुई और वे सोचने लगे—"मुझे तपस्या के फलस्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ है। सात द्वीप और सात समुद्र के आगे कुछ नहीं है।" शिव राजर्षि ने हस्तिनापुर में जाकर अपने ज्ञान की बात सुनाई और कहा—"सात द्वीप और समुद्रों के आगे कुछ नहीं है।"

उस समय श्रमण-भगवान्-महावीर भी हस्तिनापुर आये हुए थे। भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्रभूति (गौतम) हस्तिनापुर में भिक्षार्थ निकले तो उन्होंने लोक-मुख से सात द्वीप और सात समुद्र की बात सुनी। गौतम ने आकर भगवान् से पूछा—"क्या शिव राजर्षि का सात द्वीप और सात समुद्र का कथन ठीक है?"

भगवान् ने सात द्वीप, सात समुद्र सम्वन्धी शिव राजर्षि की बात को मिथ्या बतलाते हुए कहा—"इस धरातल पर जंबूद्वीप आदि असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं।"

लोगों ने गौतम के प्रश्नोत्तर की बात सुनी तो नगर में सर्वत्र चर्चा होने लगी कि भगवान् महावीर कहते हैं कि द्वीप और समुद्र सात ही नहीं, असंख्य हैं।

शिव राजर्षि को यह सुनकर शंका हुई, संकल्प-विकल्प करते हुए उनका वह प्राप्त विभंग-ज्ञान चला गया। शिव राजर्षि ने सोचा—"अवश्य ही मेरे ज्ञान में कमी है, महावीर का कथन सत्य होगा।" वे तापसी-आश्रम से निकलकर नगर के मध्य में होते हुए सहस्राम्रवन पहुँचे और महावीर को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण-भगवान्-महावीर ने जव धर्म-उपदेश दिया तो शिव राजर्षि के सरल व कोमल मन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे विनयपूर्वक बोले—"भगवन्! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा करता हूँ। कृपा कर मुझे निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कीजिये।" उन्होंने तापसी उपकरणों का परित्याग किया और भगवच्चरणों में पंच मुष्टि लोचकर श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

निर्ग्रन्थमार्ग में प्रवेश करने के बाद भी वे विविध तप करते रहे। उन्होंने

१ भग० शतक ११, उ० ६, सू० ४१८।

केशी और गौतम की इस ज्ञान-गोष्ठी से श्रावस्ती में ज्ञान और शील धर्म का बड़ा अभ्युदय हुआ। उपस्थित सभी सभासद इस धर्म-चर्चा से सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त हुए। श्रमण भगवान् महावीर भी धर्म-प्रचार करते हुए कुरु जनपद होकर हस्तिनापुर की ओर पधारे और नगर के बाहर सहस्राम्रवन में अनुज्ञा लेकर विराजमान हुए।

शिव राजर्षि

हस्तिनापुर में उस समय राजा शिव का राज्य था। वे स्वभाव से संतोषी, भावनाशील और धर्मप्रेमी थे। एक बार मध्यरात्रि के समय उनकी निद्रा भंग हुई तो वे राज-काज की स्थिति पर विचार करते-करते सोचने लगे—"अहो! इस समय मैं सब तरह से सुखी हूँ। धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, पुत्र, मित्र, यान, वाहन, कोष और कोष्ठागार आदि से बढ़ रहा हूँ। वर्तमान में शुभ कर्मों का फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिए भी कुछ कर लेना चाहिये। भोग और ऐश्वर्य का कीट बनकर जीवन-यापन करना प्रशंसनीय नहीं होता। अच्छा हो, कल सूर्योदय होने पर मैं लोहमय कड़ाह, कड़च्छुल और ताम्रपात्र बनवाकर 'शिव-भद्रकुमार' को राज्याभिषिक्त करूँ और स्वयं गंगातटवासी, दिशापोषक वान-प्रस्थों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ।"

प्रातःकाल संकल्प के अनुसार उन्होंने सेवकजनों को आज्ञा देकर शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक किया। तदनन्तर लोहमय भाण्ड आदि बनवाकर उन्होंने मित्र-ज्ञातिजनों का भोजनादि से उचित सत्कार किया एवं उनके सम्मुख अपने विचार व्यक्त किये। सबकी सम्मति से तापसी-दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की—"मैं निरन्तर छट्ठ-बेले की तपस्या करते हुए दिशा चक्रवाल से दोनों बाहें उठाकर सूर्य के सम्मुख आतापना लेते हुए विचरूँगा।" प्रातःकाल होने पर उन्होंने वैसा ही किया।

अब वह राजर्षि बन गया। प्रथम छट्ठ तप के पारणे में शिव राजर्षि वल्कल पहने तपोभूमि से कुटिया में आये और कठिन संकायिका-बाँस की छाब को लेकर पूर्व दिशा को पोषण करते हुए बोले—"पूर्व दिशा के सोम महाराज प्रस्थान में लगे हुए शिव राजर्षि का रक्षण करें और कंद, मूल, त्वचा, पत्र, फूल, फल आदि के लिए अनुज्ञा प्रदान करें।" ऐसा कहकर वे पूर्व की ओर चले और वहाँ से पत्रादि छाब में भरकर तथा दर्भ, कुश, समिधा आदि हवनीय सामग्री लेकर लौटे। कठिन संयामिका को रखकर प्रथम उन्होंने वेदिका का निर्माण किया और फिर दर्भ सहित कलश लिए गंगा पर गये। वहाँ स्नान किया और देव-पितरों का तर्पण कर भरे कलश के साथ वे कुटिया में पहुँचे। वहाँ विधि-पूर्वक अरणि से अग्नि उत्पन्न की और अग्नि-कुण्ड के दाहिने बाजू सक्था, वल्कल,

स्थान, शय्या-भाण्ड, कमंडलु, दण्ड, काष्ठ और अपने आपको एकत्र कर मधु एवं घृत आदि से आहुति देकर चरु तैयार किया। फिर वैश्वदेव-वलि तथा अतिथि-पूजा करने के पश्चात् स्वयं ने भोजन किया।[1]

इस तरह लम्बे समय तक आतापनापूर्वक तप करते हुए शिव राजर्षि को विभंग ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सात समुद्र और सात द्वीप तक जानने व देखने लगे। इस नवीन ज्ञानोपलब्धि से शिव राजर्षि के मन में प्रसन्नता हुई और वे सोचने लगे—"मुझे तपस्या के फलस्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ है। सात द्वीप और सात समुद्र के आगे कुछ नहीं है।" शिव राजर्षि ने हस्तिनापुर में जाकर अपने ज्ञान की बात सुनाई और कहा—"सात द्वीप और समुद्रों के आगे कुछ नहीं है।"

उस समय श्रमण-भगवान्-महावीर भी हस्तिनापुर आये हुए थे। भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्रभूति (गौतम) हस्तिनापुर में भिक्षार्थ निकले तो उन्होंने लोक-मुख से सात द्वीप और सात समुद्र की बात सुनी। गौतम ने आकर भगवान् से पूछा—"क्या शिव राजर्षि का सात द्वीप और सात समुद्र का कथन ठीक है?"

भगवान् ने सात द्वीप, सात समुद्र सम्बन्धी शिव राजर्षि की बात को मिथ्या बतलाते हुए कहा—"इस धरातल पर जंबूद्वीप आदि असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं।"

लोगों ने गौतम के प्रश्नोत्तर की बात सुनी तो नगर में सर्वत्र चर्चा होने लगी कि भगवान् महावीर कहते हैं कि द्वीप और समुद्र सात ही नहीं, असंख्य हैं।

शिव राजर्षि को यह सुनकर शंका हुई, संकल्प-विकल्प करते हुए उनका वह प्राप्त विभंग-ज्ञान चला गया। शिव राजर्षि ने सोचा—"अवश्य ही मेरे ज्ञान में कमी है, महावीर का कथन सत्य होगा।" वे तापसी-आश्रम से निकलकर नगर के मध्य में होते हुए सहस्राम्रवन पहुँचे और महावीर को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण-भगवान्-महावीर ने जब धर्म-उपदेश दिया तो शिव राजर्षि के सरल व कोमल मन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे विनयपूर्वक बोले—"भगवन्! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा करता हूँ। कृपा कर मुझे निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कीजिये।" उन्होंने तापसी उपकरणों का परित्याग किया और भगवच्चरणों में पंच मुष्टि लोचकर श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

निर्ग्रन्थमार्ग में प्रवेश करने के बाद भी वे विविध तप करते रहे। उन्होंने

---

१ भग० शतक ११, उ० ६, सू० ४१८।

एकादश अंग का अध्ययन किया और अन्त में सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[1]

भगवान् के पीयूषवर्षी अमोघ उपदेशों से सत्पथ को पहिचान कर यहाँ कई धर्मार्थियों ने मुनि-धर्म की दीक्षा ली, उनमें पोट्टिल अनगार का नाम उल्लेखनीय है। कुछ काल पश्चात् महावीर हस्तिनापुर से 'मोका' नगरी होते हुए फिर वाणिज्यग्राम पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का सत्रहवाँ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होते ही भगवान् विदेह भूमि से मगध की ओर पधारे और विहार करते हुए राजगृह के 'गुणशील' चैत्य में समवशरण किया। राजगृह में उस समय निर्ग्रन्थ प्रवचन को मानने वालों की संख्या बहुत बड़ी थी, फिर भी अन्य मतावलम्बियों का भी अभाव नहीं था। बौद्ध, आजीवक और अन्यान्य सम्प्रदायों के श्रमण एवं गृहस्थ भी अच्छी संख्या में वहाँ रहते थे। वे समय-समय पर एक-दूसरे की मान्यताओं पर विचार-चर्चा भी किया करते थे।

एक समय इन्द्रभूति गौतम ने आजीवक भिक्षुओं के सम्बन्ध में भगवान् से पूछा—"प्रभो ! आजीवक, स्थविरों से पूछते हैं कि यदि तुम्हारे श्रावक का, जब वह सामायिक व्रत में रहा हुआ हो, कोई भाण्ड चोरी चला जाय तो सामायिक पूर्ण कर वह उसकी तलाश करता है या नहीं ? यदि तलाश करता है तो वह अपने भांड की तलाश करता है या पराये की ?"

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—"गौतम ! वह अपने भाण्ड की तलाश करता है, पराये की नहीं। सामायिक और पोषधोपवास से उसका भाण्ड, अभाण्ड नहीं होता है। केवल जब तक वह सामायिक आदि व्रत में रहता है, तब तक उसका भाण्ड उसके लिए अभाण्ड माना जाता है। आगे चलकर प्रभु ने श्रावक के उनचास भंगों का परिचय देते हुए श्रमणोपासक और आजीवक का भेद बतलाया।

आजीवक अरिहन्त को देव मानते और माता-पिता की सेवा करने वाले होते हैं। वे गूलर, बड़, बोर, शहतूत और पीपल—इन पाँच फलों और प्याज-लहसुन आदि कंद के त्यागी होते हैं। वे ऐसे बैलों से काम लेते हैं, जिनको बधिया नहीं किया जाता और न जिनका नाक ही वेधा जाता। जब आजीवक उपासक भी इस प्रकार निर्दोष जीविका चलाते हैं तो श्रमणोपासकों का तो

---

१ भग० श० ११, उ० ६, सूत्र ४१८।

कहना ही क्या ? श्रमणोपासक पन्द्रह कर्मादानों के त्यागी[1] होते हैं, क्योंकि अंगार-कर्म आदि महा हिंसाकारी खरकर्म श्रावक के लिए त्याज्य कहे गये हैं।

इस वर्ष बहुत से साधुओं ने राजगृह के विपुलाचल पर अनशन कर आत्मा का कार्य सिद्ध किया। भगवान् का यह वर्षाकाल भी राजगृही में सम्पन्न हुआ।

केवलीचर्या का अठाहरवाँ वर्ष

राजगृह का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और उसके पश्चिम भाग, पृष्ठचम्पा नामक उपनगर में विराजमान हुए। प्रभु के विराजने की बात सुनकर पृष्ठचम्पा का राजा शाल और उसके छोटे भाई युवराज महाशाल ने भक्तिपूर्वक प्रभु का उपदेश सुना और शालराजा ने संसार से विरक्त होकर प्रभु के चरणों में श्रमणधर्म स्वीकार करना चाहा। जब उसने युवराज महाशाल को राज्य सम्भालने की बात कही तो उसने उत्तर दिया—"जैसे आप संसार से विरक्त हो रहे हैं, वैसे मैं भी प्रभु के उपदेश सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।" इस प्रकार दोनों के विरक्त हो जाने पर शाल ने अपने भानजे 'गांगली' नामक राजकुमार को बुलाया और उसे राज्यारूढ़ कर दोनों ने प्रभु के चरणों में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की।

पृष्ठचम्पा से भगवान् चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। भगवान् महावीर के पदार्पण की शुभसूचना पाकर वहाँ के प्रमुख लोग वन्दन करने को गये। श्रमणोपासक कामदेव, जो उन दिनों अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सँभलाकर विशेष रूप से धर्मसाधना में तल्लीन था, वह भी प्रभु के चरण-वन्दन हेतु पूर्ण-भद्र उद्यान में आया और देशना श्रवण करने लगा।

धर्म-देशना पूर्ण होने पर प्रभु ने कामदेव को सम्बोधित करते हुए कहा—"कामदेव! रात में किसी देव ने तुमको पिशाच, हाथी और सर्प के रूप बनाकर विविध उपसर्ग दिये और तुम अडोल रहे, क्या यह सच है?"

कामदेव ने विनयपूर्वक कहा—"हाँ भगवन्! यह ठीक है।"

भगवान् ने श्रमण निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर कहा—"आर्यो! कामदेव ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए दिव्य मानुषी और पशु सम्बन्धी उपसर्ग समभाव से सहन किये हैं।[2] श्रमण निर्ग्रन्थों को इससे प्रेरणा लेनी चाहिये।" श्रमण-

---

१ भगवती सूत्र, श० ८, उ० ५।

२ उपासक दशा सूत्र, २ अ० सू० ११४।

श्रमणियों ने भगवान् का वचन सविनय स्वीकार किया। चम्पा में इस प्रकार प्रभु ने बहुत उपकार किया।

दशार्णभद्र को प्रतिबोध

चम्पा से विहार कर भगवान् ने दशार्णपुर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ का महाराजा प्रभु महावीर का बड़ा भक्त था। उसने बड़ी धूमधाम से प्रभु-वंदन की तैयारी की और चतुरंग सेना व राज-परिवार सहित सजधज कर वन्दन को निकला। उसके मन में विचार आया कि उसकी तरह उतनी बड़ी ऋद्धि के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए कौन आया होगा? इतने में सहसा गगनमंडल से उतरते हुए देवेन्द्र की ऋद्धि पर दृष्टि पड़ी तो उसका गर्व चूर-चूर हो गया। उसने अपने गौरव की रक्षा के लिये भगवान् के पास तत्क्षण दीक्षा ग्रहण की और श्रमण-संघ में स्थान पा लिया। देवेन्द्र, जो उसके गर्व को नष्ट करने के लिये अद्भुत ऋद्धि से आया हुआ था, दशार्णभद्र के इस साहस को देखकर लज्जित हुआ[1] और उनका अभिवादन कर स्वर्गलोक की ओर चला गया।

सोमिल के प्रश्नोत्तर

दशार्णपुर से विदेह प्रदेश में विचरण करते हुए प्रभु वाणियग्राम पधारे। वहाँ उस समय 'सोमिल' नाम का ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदांग का जानकार और पाँच सौ छात्रों का गुरु था। नगर के 'दूति पलाश' उद्यान में महावीर का आगमन सुनकर उसकी भी इच्छा हुई कि वह महावीर के पास जाकर कुछ पूछे। सौ छात्रों के साथ वह घर से निकला और भगवान् के पास आकर खड़े-खड़े बोला—"भगवन्! आपके विचार से यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार का क्या स्वरूप है? तुम कैसी यात्रा मानते हो?"

महावीर ने कहा—"सोमिल! मेरे मत में यात्रा भी है, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार भी है। हम तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि क्रियाओं में यतनापूर्वक चलने को यात्रा कहते हैं। शुभ योग में यतना ही हमारी यात्रा है।"[2]

सोमिल ने फिर पूछा—"यापनीय क्या है?"

महावीर ने कहा—"सोमिल यापनीय दो प्रकार का है, इन्द्रिय यापनीय और नो इन्द्रिय यापनीय। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय को वश में

१ (क) उत्तराध्ययन १८ अ० की टीका. (ख) त्रिप०, १० प०, १० स०।

२ भगवती सू०, १८ श०, उ० १०, सू० ६४६॥

रखना मेरा इन्द्रिय यापनीय है और क्रोध, मान, माया, लोभ को जागृत नहीं होने देना एवं उन पर नियन्त्रण रखना मेरा नो-इन्द्रिय यापनीय है।"

सोमिल ने फिर पूछा—भगवन्! आपका अव्याबाध क्या है?"

भगवान् बोले—"सोमिल! शरीरस्थ वात, पित्त, कफ और सन्निपात-जन्य विविध रोगातंकों को उपशान्त करना एवं उनको प्रकट नहीं होने देना, यही मेरा अव्याबाध है।"

सोमिल ने फिर प्रासुक विहार के लिये पूछा तो महावीर ने कहा—"सोमिल! आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, प्रपा आदि स्त्री, पशु-पण्डक रहित बस्तियों में प्रासुक एवं कल्पनीय पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक स्वीकार कर विचरना ही मेरा प्रासुक विहार है।"

उपर्युक्त प्रश्नों में प्रभु को निरुत्तर नहीं कर सकने की स्थिति में सोमिल ने भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी कुछ अटपटे प्रश्न पूछे—"भगवन्! सरिसव आपके भक्ष्य है या अभक्ष्य?"

महावीर ने कहा—"सोमिल! सरिसव को मैं भक्ष्य भी मानता हूँ और अभक्ष्य भी। वह ऐसे कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'सरिसव' शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक सदृशवय और दूसरा सर्षप याने सरसों। इनमें से समान वय वाले मित्त-सरिसव श्रमण निर्ग्रन्थों के लिये अभक्ष्य हैं और धान्य सरिसव जिसे सर्षप कहते हैं, उसके भी सचित्त और अचित्त, एषणीय-अनेषणीय याचित-अयाचित और लब्ध-अलब्ध, ऐसे दो-दो प्रकार होते हैं। उनमें हम अचित्त को ही निर्ग्रन्थों के लिये भक्ष्य मानते हैं, वह भी उस दशा में कि यदि वह एषणीय, याचित और लब्ध हो। इसके विपरीत सचित्त, अनेषणीय और अयाचित आदि प्रकार के सरिसव श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं। इसलिये मैंने कहा कि सरिसव को मैं भक्ष्य और अभक्ष्य दोनों मानता हूँ।"

सोमिल ने फिर दूसरा प्रश्न रखा—"मास आपके लिये भक्ष्य है या अभक्ष्य?"

महावीर ने कहा—"सोमिल! सरिसव के समान 'मास' भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी। वह इस तरह कि ब्राह्मण ग्रन्थों में मास दो प्रकार के कहे गये हैं, एक द्रव्य मास और दूसरा काल मास। काल मास जो श्रावण से आषाढ़ पर्यन्त बारह हैं, वे अभक्ष्य हैं। रही द्रव्य मास की बात, वह भी अर्थ मास और धान्य मास के भेद से दो प्रकार का है। अर्थ मास—सुवर्ण मास और रौप्य मास श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं। अब रहा धान्य मास, उसमें भी शस्त्र परिणत-अचित्त, एषणीय, याचित और लब्ध ही श्रमणों के लिये भक्ष्य है। शेष सचित्त आदि विशेषणवाला धान्य मास अभक्ष्य है।"

सरिसव और मास के संतोषजनक उत्तर पाने के वाद सोमिल ने पूछा—"भगवन् ! कुलत्था आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य ?"

महावीर ने कहा—"सोमिल ! कुलत्था भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी। भक्ष्याभक्ष्य उभयरूप कहने का कारण इस प्रकार है–"शास्त्रों में 'कुलत्था' के अर्थ कुलीन स्त्री और कुलथी धान्य दो किये गये हैं। कुल-कन्या, कुल-वधू और कुल-माता ये तीनों 'कुलत्था' अभक्ष्य हैं। धान्य कुलत्था जो अचित्त, एषणीय, निर्दोष, याचित और लब्ध हैं, वे भक्ष्य हैं। शेष सचित्त, सदोष, अयाचित और अलब्ध कुलत्था निर्ग्रन्थों के लिये अभक्ष्य हैं।"

अपने इन अटपटे प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर पा लेने के वाद महावीर की तत्त्वज्ञता को समझने के लिये उसने कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न पूछे–"भगवन् ! आप एक हैं अथवा दो ? अक्षय, अव्यय और अवस्थित हैं अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान के अनेक रूपधारी हैं ?

महावीर ने कहा–"मैं एक भी हूँ और दो भी हूँ। अक्षय हूँ, अव्यय हूँ और अवस्थित भी हूँ। फिर अपेक्षा से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के नाना रूपधारी भी हूँ।"

अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए प्रभु ने कहा–"द्रव्यरूप से मैं एक आत्म-द्रव्य हूँ। उपयोग गुण की दृष्टि से ज्ञान, उपयोग और दर्शन उपयोग रूप चेतना के भेद से दो हूँ। आत्म प्रदेशों में कभी क्षय, व्यय और न्यूनाधिकता नहीं होती इसलिये अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ। पर परिवर्तनशील उपयोग-पर्यायों की अपेक्षा भूत, भविष्य एवं वर्तमान का नाना रूपधारी भी हूँ।"[1]

सोमिल ने अद्वैत, द्वैत, नित्यवाद और क्षणिकवाद जैसे वर्षों चर्चा करने पर भी न सुलझाने वाले दर्शन के प्रश्न रखे, पर महावीर ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त से उनका क्षणभर में समाधान कर दिया, इससे सोमिल बहुत प्रभावित हुआ। उसने श्रद्धापूर्वक भगवान् की देशना सुनी, श्रावकधर्म स्वीकार किया और उनके चरणों में वन्दना कर अपने घर चला गया। सोमिल ने श्रावकधर्म की साधना कर अन्त में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया और स्वर्गगति का अधिकारी बना।

भगवान् का यह चातुर्मास 'वाणियग्राम' में ही पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का उन्नीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भगवान् कौशल देश के साकेत, सावत्थी आदि

---

१ ־ग्म १– शतक १० उ०, सत्र ६४७।

नगरों को पावन करते हुए पांचाल की ओर पधारे और कपिलपुर के बाहर सहस्राम्रवन में विराजमान हुए। कम्पिलपुर में अम्बड़ नाम का एक ब्राह्मण परिव्राजक अपने सात सौ शिष्यों के साथ रहता था। जब उसने महावीर के त्याग-तपोमय जीवन को देखा और वीतरागतामय निर्दोष प्रवचन सुने, तो वह शिष्य-मंडली सहित जैनधर्म का उपासक बन गया। परिव्राजक सम्प्रदाय की वेष-भूषा रखते हुए भी उसने जैन देश-विरति धर्म का अच्छी तरह पालन किया।

एक दिन भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने अम्वड़ के लिये सुना कि अम्वड़ संन्यासी कम्पिलपुर में एक साथ सौ घरों में आहार ग्रहण करता और सौ ही घरों में दिखाई देता है।

गौतम ने जिज्ञासापूर्ण स्वर में विनयपूर्वक भगवान् से पूछा—"भगवन्! अम्वड़ के विषय में लोग कहते है कि वह एक साथ सौ घरों में आहार ग्रहण करता है। क्या यह सच है?" प्रभु ने उत्तर में कहा—"गौतम! अम्बड़ परि-व्राजक विनीत और प्रकृति का भद्र है। निरन्तर छट्ठ तप—बेले-बेले की तपस्या के साथ आतापना करते हुए उसको शुभ-परिणामों से वीर्यलब्धि और वैक्रिय-लब्धि के साथ अवधिज्ञान भी प्राप्त हुआ है। अतः लब्धिबल से वह सौ रूप बना कर सौ घरों में दिखाई देता और सौ घरों में आहार ग्रहण करता है, यह ठीक है।"

"गौतम ने पूछा—"प्रभो! क्या वह आपकी सेवा में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करेगा?"

प्रभु ने उत्तर में कहा—"गौतम! अम्वड़ जीवाजीव का ज्ञाता श्रमणो-पासक है। वह उपासक जीवन में ही आयु पूर्ण करेगा। श्रमणधर्म ग्रहण नहीं करेगा।"

अम्बड़ की चर्या

भगवान् ने अम्वड़ की चर्या के सम्बन्ध में कहा—"गौतम! यह अम्बड़ स्थूल हिंसा, झूठ और अदत्तादान का त्यागी, सर्वथा ब्रह्मचारी और संतोषी होकर विचरता है। वह यात्रा में चलते हुए मार्ग में आए पानी को छोड़कर अन्यत्र किसी नदी, कूप या तालाब आदि में नहीं उतरता। रथ, गाड़ी, पालकी आदि यान अथवा हाथी, घोड़ा आदि वाहनों पर भी नहीं बैठता। मात्र चरण-यात्रा करता है। खेल, तमाशे, नाटक आदि नहीं देखता और न राजकथा, देशकथा आदि कोई विकथा ही करता है। वह हरी वनस्पति का छेदन-भेदन और स्पर्श भी नहीं करता। पात्र में तुम्वा, काष्ठ-पात्र और मृत्तिका-भाजन के

अतिरिक्त तांबा, सोना और चाँदी आदि किसी धातु के पात्र नहीं रखता। गेरुआ चादर के अतिरिक्त किसी अन्य रंग के वस्त्र धारण नहीं करता है। एक ताम्रमय पवित्रक को छोड़ कर किसी प्रकार का आभूषण धारण नहीं करता। एक कर्णपूर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का पुष्पहार आदि का उपयोग भी नहीं करता। शरीर पर केसर, चन्दन आदि का विलेपन नहीं करता, मात्र गंगा की मिट्टी का लेप चढ़ाता है। आहार में वह अपने लिये बनाया हुआ, खरीदा हुआ और अन्य द्वारा लाया हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करता। उसने स्नान और पीने के लिये जल का भी प्रमाण कर रखा है। वह पानी भी छाना हुआ और दिया हुआ ही ग्रहण करता है। बिना दिया पानी स्वयं जलाशय से नहीं लेता।"

अनेक वर्षों तक इस तरह साधना का जीवन व्यतीत कर अम्बड़ संन्यासी अन्त में एक मास के अनशन की आराधना कर ब्रह्मलोक-स्वर्ग में ऋद्धिमान् देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

अम्बड़ के शिष्यों ने भी एक बार जंगल में जल देने वाला नहीं मिलने से तृषा-पीड़ित हो गंगा नदी के तट पर बालुकामय संथारे पर आजीवन अनशन कर प्राणोत्सर्ग कर दिया और ब्रह्मकल्प में बीस सागर की स्थिति वाले देवरूप से उत्पन्न हुए। विशेष जानकारी के लिये औपपातिक सूत्र का अम्बड़ प्रकरण द्रष्टव्य है।

कम्पिलपुर से विचरते हुए भगवान् वैशाली पधारे और यहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलीचर्या का बीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर अनेक भूभागों में विचरण करते हुए प्रभु पुनः एक बार वाणियग्राम पधारे। वाणियग्राम के दूतिपलाश चैत्य में जब भगवान् धर्म-देशना दे रहे थे, उस समय एक दिन पार्श्व सन्तानीय 'गांगेय' मुनि वहाँ आये और दूर खड़े रहकर भगवान् से निम्न प्रकार बोले—

"भगवन्! नारक जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?"

भगवान् ने कहा—"गांगेय! नारक अन्तर से भी उत्पन्न होते हैं और बिना अन्तर के निरन्तर भी उत्पन्न होते हैं।"

इस प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों के भी समुचित उत्तर पाकर गांगेय ने भगवान् को सर्वज्ञ रूप से स्वीकार किया और तीन बार प्रदक्षिणा एवं वन्दना कर उसने चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया। वे महावीर के श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गये।[1]

---

१ भग०, ६ श, ५ उ०।

तदनन्तर अन्यान्य स्थानों में विहार करते हुए भगवान् वैशाली पधारे और वहाँ पर दूसरा चातुर्मास व्यतीत किया।

केवलीचर्या का इक्कीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने वैशाली से मगध की ओर प्रस्थान किया। वे अनेक क्षेत्रों में धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पधारे और गुणशील उपवन में विराजमान हुए। गुणशील उद्यान के पास अन्यतीर्थ के बहुत से साधु रहते थे। उनमें समय-समय पर कई प्रकार के प्रश्नोत्तर होते रहते थे। अधिकांशतः वे स्वमत का मंडन और परमत का खण्डन किया करते। गौतम ने उनकी कुछ बातें सुनीं तो उन्होंने भगवान् के सामने जिज्ञासाएं प्रस्तुत कर शंकाओं का समाधान प्राप्त किया। भगवान् ने, श्रुतसम्पन्न और शीलसम्पन्न में कौन श्रेष्ठ है, यह बतलाया और जीव तथा जीवात्मा को भिन्न मानने की लोक-मान्यता का भी विरोध किया। उन्होंने कहा—"जीव और जीवात्मा भिन्न नहीं, एक ही हैं।"

एक दिन तैर्थिकों में पंचास्तिकाय के विषय में भी चर्चा चली। वे इस पर तर्क-वितर्क कर रहे थे। उस समय भगवान् के आगमन की बात सुनकर राजगृह का श्रद्धाशील श्रावक 'मद्दुक' भी तापसाश्रम के पास से प्रभु-वन्दन के लिये जा रहा था। कालोदायी आदि तैर्थिक, जो पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे, मद्दुक श्रावक को जाते देखकर आपस में बोले—"अहो अर्हद्भक्त मद्दुक इधर से जा रहा है। वह महावीर के सिद्धान्त का अच्छा ज्ञाता है। क्यों नहीं प्रस्तुत विषय पर उसकी भी राय ले ली जाय।"

ऐसा सोचकर वे लोग पास आये और मद्दुक को रोककर बोले—"मद्दुक! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर पंच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं। उनमें एक को जीव और चार को अजीव तथा एक को रूपी और पाँच को अरूपी बतलाते हैं। इस विषय में तुम्हारी क्या राय है तथा अस्तिकायों के विषय में तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं?"

उत्तर देते हुए मद्दुक ने कहा—"अस्तिकाय अपने-अपने कार्य से जाने जाते हैं। संसार में कुछ पदार्थ दृश्य और कुछ अदृश्य होते हैं जो अनुभव, अनुमान एवं कार्य से जाने जाते हैं।

तीर्थिक बोले—"मद्दुक! तू कैसा श्रमणोपासक है, जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए द्रव्यों को जानता-देखता नहीं, फिर उनको मानता कैसे है?"

मद्दुक ने कहा—"तीर्थिको! हवा चलती है, तुम उसका रंग रूप देखते हो?"

तीर्थिकों ने कहा—"सूक्ष्म होने से हवा का रूप देखा नहीं जाता।"

इस पर मद्दुक ने पूछा—"गंध के परमाणु, जो घ्राणेन्द्रिय के तीन विषय होते हैं, क्या तुम सब उनका रूप-रंग देखते हो ?"

"नहीं, गंध के परमाणु भी सूक्ष्म होने से देखे नहीं जाते", तीर्थिकों ने कहा।

मद्दुक ने एक और प्रश्न रखा—"अरणिकाष्ठ में अग्नि रहती है, क्या तुम सब अरणि में रही हुई आग के रंग-रूप को देखते हो ? क्या देवलोक में रहे हुए रूपों को तुम देख पाते हो ? नहीं, तो क्या तुम जिनको नहीं देख सको, वह वस्तु नहीं है ? दृष्टि में प्रत्यक्ष नहीं आने वाली वस्तुओं को यदि अमान्य करोगे तो तुम्हें बहुत से इष्ट पदार्थों का भी निषेध करना होगा। इस प्रकार लोक के अधिकतम भाग और भूतकाल की वंश-परम्परा को भी अमान्य करना होगा।"

मद्दुक की युक्तियों से तैर्थिक अवाक् रह गये और उन्हें मद्दुक की बात माननी पड़ी। अन्य तीर्थियों को निरुत्तर कर जब मद्दुक भगवान् की सेवा में पहुँचा तब प्रभु ने मद्दुक के उत्तरों का समर्थन करते हुए उसकी शासन-प्रीति का अनुमोदन किया। ज्ञातपुत्र भ० महावीर के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर मद्दुक बहुत प्रसन्न हुआ और ज्ञानचर्चा कर अपने स्थान की ओर लौट गया।

गौतम को मद्दुक श्रावक की योग्यता देखकर जिज्ञासा हुई और उन्होंने प्रभु से पूछा—"प्रभो ! क्या मद्दुक श्रावक आगार-धर्म से अनगार-धर्म ग्रहण करेगा ? क्या यह आपका श्रमण शिष्य होगा ?"

प्रभु ने कहा—"गौतम ! मद्दुक प्रव्रज्या ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। यह गृहस्थधर्म में रह कर ही देश-धर्म की आराधना करेगा और अन्तिम समय समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर 'अरुणाभ' विमान में देव होगा और फिर मनुष्य भव में संयमधर्म की साधना कर सिद्ध, बुद्ध मुक्त होगा।"

तत्पश्चात् विविध क्षेत्रों में धर्मोपदेश देते हुए अन्त में राजगृह में ही भगवान् ने वर्षाकाल व्यतीत किया। प्रभु के विराजने से लोगों का बड़ा उपकार हुआ।

केवलीचर्या का बाईसवाँ वर्ष

राजगृह से विहार कर भगवान् हेमन्त ऋतु में विभिन्न स्थानों में विचरण करते एवं धर्मोपदेश देते हुए पुनः राजगृह पधारे तथा गुणशील चैत्य में विराजमान हुए।

एक बार जब इन्द्रभूति राजगृह से भिक्षा लेकर भगवान् के पास गुणशील उद्यान की ओर आ रहे थे, तो मार्ग में कालोदायी शैलोदायी आदि तैर्थिक पंचास्तिकाय की चर्चा कर रहे थे । गौतम को देख कर वे पास आये और बोले—"गौतम ! तुम्हारे धर्माचार्य ज्ञातपुत्र महावीर धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकायों की प्ररूपणा करते हैं, इसका मर्म क्या है और इन रूपी-अरूपी कार्यों के सम्बन्ध में कैसा क्या समझना चाहिये ? तुम उनके मुख्य शिष्य हो, अतः कुछ स्पष्ट कर सको तो बहुत अच्छा हो ।"

गौतम ने संक्षेप में कहा—"हम अस्तित्व में 'नास्तित्व' और 'नास्तित्व' में अस्तित्व नहीं कहते । विशेष इस विषय में तुम स्वयं विचार करो, चिन्तन से रहस्य समझ सकोगे ।"

गौतम तीर्थिकों को निरुत्तर कर भगवान् के पास आये, पर कालोदायी आदि तीर्थिकों का इससे समाधान नहीं हुआ । वे गौतम के पीछे-पीछे भगवान् के पास आये । भगवान् ने भी प्रसंग पाकर कालोदायी को सम्बोधित कर कहा—"कालोदायी ! क्या तुम्हारे साथियों में पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा चली?"

कालोदायी ने स्वीकार करते हुए कहा—"हाँ महाराज ! जब से हमने आपके सिद्धान्त सुने हैं, तब से हम इस पर तर्क-वितर्क किया करते हैं ।

भगवान् ने उत्तर में कहा—"कालोदायी ! यह सच है कि इन पंचास्तिकायों पर कोई सो, बैठ या चल नहीं सकता, केवल पुद्गलास्तिकाय ही ऐसा है जिस पर ये क्रियायें हो सकती हैं ।

कालोदायी ने फिर पूछा—"भगवन् ! जीवों के दुष्ट-विपाक रूप पापकर्म पुद्गलास्तिकाय में किये जाते हैं या जीवास्तिकाय में ?"

महावीर ने कहा—"कालोदायी ! पुद्गलास्तिकाय में जीवों के दुष्ट-विपाक रूप पाप नहीं किये जाते, किन्तु वे जीवास्तिकाय में ही किये जाते हैं । पाप ही नहीं सभी प्रकार के कर्म जीवास्तिकाय में ही होते हैं । जड़ होने से अन्य धर्मास्तिकाय आदि कायों में कर्म नहीं किये जाते ।"

इस प्रकार भगवान् के विस्तृत उत्तरों से कालोदायी की शंका दूर हो गई । उसने भगवान् के चरणों में निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने की अभिलाषा व्यक्त की । अवसर देख कर भगवान् ने भी उपदेश दिया । उसके फलस्वरूप कालोदायी निर्ग्रन्थ मार्ग में दीक्षित हो कर मुनि बन गया । क्रमशः ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वह प्रवचन-रहस्य का कुशल ज्ञाता हुआ ।[१]

---

१ भग० सू०, ७।१०।३०५ ।

उदक पेढ़ाल और गौतम

राजगृह के ईशान कोण में नालंदा नाम का एक उपनगर था। वहाँ 'लेव' नामक गाथापति निर्ग्रन्थ-प्रवचन का अनुयायी और श्रमणों का बड़ा भक्त था। 'लेव' ने नालंदा के ईशान कोण में एक शाला का निर्माण करवाया जिसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। कहा जाता है कि गृहनिर्माण से बचे हुए द्रव्य से वह शाला बनाई गई थी, अतः उसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। उसके निकटवर्ती 'हस्तियाम' उद्यान में एक समय भगवान् महावीर विराजमान थे। वहाँ पेढ़ालपुत्र 'उदक', जो पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण थे, इन्द्रभूति-गौतम से मिले और उनसे बोले—"आयुष्मन् गौतम ! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूं।" गौतम की अनुमति पा कर उदक बोले—"कुमार पुत्र श्रमण ! अपने पास नियम लेने वाले उपासक को ऐसी प्रतिज्ञा कराते हैं—'राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ या चोर को बाँधने के अतिरिक्त किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करूंगा।'[1] ऐसा पच्चखाण दुपच्चखाण है, यानी इस तरह के प्रत्याख्यान करना-कराना प्रतिज्ञा में दूषण रूप हैं। क्योंकि संसारी प्राणी स्थावर मर कर त्रस होते और त्रस मर कर स्थावर रूप से भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जो जीव त्रस रूप में अघात्य थे, वे ही स्थावर रूप में उत्पन्न होने पर घात-योग्य हो जाते हैं। इसलिये प्रत्याख्यान में इस प्रकार का विशेषण जोड़ना चाहिये कि 'त्रसभूत जीवों की हिंसा नहीं करूंगा। भूत विशेषण से यह दोष टल सकता है। हे गौतम ! तुम्हें मेरी यह बात कैसी जँचती है ?"

उत्तर में गौतम ने कहा—"आयुष्मन् उदक ! तुम्हारी बात मेरे ध्यान में ठीक नहीं लगती और मेरी समझ से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा कराने वालों को दुपच्चखाण कराने वाला कहना भी उचित नहीं, क्योंकि यह मिथ्या आरोप लगाने के समान है। वास्तव में त्रस और त्रसभूत का एक ही अर्थ है। हम जिसको त्रस कहते हैं, उस ही को तुम त्रसभूत कहते हो। इसलिये त्रस की हिंसा त्यागने वाले को वर्तमान त्रस पर्याय की हिंसा का त्याग होता है, भूतकाल में चाहे वह स्थावर रूप से रहा हो या त्रस रूप से, इसकी अपेक्षा नहीं है। पर जो वर्तमान में त्रस पर्यायधारी है, उन सबकी हिंसा उसके लिये वर्ज्य होती है।[2]

त्यागी का लक्ष्य वर्तमान पर्याय से है, भूत पर्याय किसी की क्या थी, अथवा भविष्यत् में किसी की क्या पर्याय होने वाली है यह ज्ञानी ही समझ सकते हैं। अतः जो लोग सम्पूर्ण हिंसा त्यागरूप श्रामण्य नहीं स्वीकार कर पाते वे मर्यादित प्रतिज्ञा करते हुए कुशल परिणाम के ही पात्र माने जाते हैं। इस प्रकार त्रस हिंसा के त्यागी श्रमणोपासक का स्थावर-पर्याय की हिंसा से व्रत-भंग नहीं होता।"

---

१ सूत्र कृतांग, २।७।७२ सूत्र, (नालंदीयाध्ययन)

२ सूत्र कृतांग सू०, २।७, सूत्र ७३-७४। (नालंदीयाध्ययन)

गौतम स्वामी और उदक-पेढ़ाल के बीच विचार-चर्चा चल रही थी कि उसी समय पार्श्वापत्य अन्य स्थविर भी वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देख कर गौतम ने कहा—"उदक ! ये पार्श्वापत्य स्थविर आये हैं, लो इन्हीं से पूछ लें।"

गौतम ने स्थविरों से पूछा—"स्थविरो ! कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनको जीवनपर्यन्त अनगार-साधु नहीं मारने की प्रतिज्ञा है। कभी कोई वर्तमान साधु पर्याय में वर्षों रह कर फिर गृहवास में चला जाय और किसी अपरिहार्य कारण से वह साधु की हिंसा त्यागने वाला गृहस्थ उसकी हिंसा कर डाले तो उसे साधु की हिंसा का पाप लगेगा क्या ?"

स्थविरों ने कहा—"नहीं, इससे प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता।"

गौतम ने कहा—"निर्ग्रन्थो ! इसी प्रकार त्रसकाय की हिंसा का त्यागी गृहस्थ भी स्थावर की हिंसा करता हुआ अपने पच्चखाण का भंग नहीं करता।"

इस प्रकार अन्य भी अनेक दृष्टान्तों से गौतम ने उदक-पेढ़ाल मुनि की शंका का निराकरण किया और समझाया कि त्रस मिट कर सब स्थावर हो जायँ या स्थावर सब के सब त्रस हो जायँ, यह संभव नहीं।

गौतम के युक्तिपूर्ण उत्तर और हित-वचनों से मुनि उदक ने समाधान पाया और सरलभाव से बिना वन्दन के ही जाने लगा तो गौतम ने कहा—"आयुष्मन् उदक ! तुम जानते हो, किसी भी श्रमण-माहण से एक भी आर्य-धर्म युक्त वचन सुन कर उससे ज्ञान पाने वाला मनुष्य देव की तरह उसका सत्कार करता है।"

गौतम की इस प्रेरणा से उदक समझ गया और बोला—"गौतम महाराज ! मुझे पहले इसका ज्ञान नहीं था, अतः उस पर विश्वास नहीं हुआ। अब आपसे सुनकर मैंने इसको समझा है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ।"

गौतम द्वारा प्रेरित हो निर्ग्रन्थ उदक ने पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की और भगवान् के चरणों में जाकर विनयपूर्वक चातुर्याम परम्परा से पंच महाव्रत रूप धर्म-परम्परा स्वीकार की। अब ये भगवान् महावीर के श्रमण संघ में सम्मिलित हो गये।[1]

इधर-उधर कई क्षेत्रों में विचरण करने के पश्चात् प्रभु ने इस वर्ष का चातुर्मास भी नालन्दा में व्यतीत किया।

---

१ सूत्र कृ० २।७ नालंदीय, ८१ सू०।

केवलीचर्या का तेईसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् नालन्दा से विहार कर विदेह की राजधानी के पास वाणिज्यग्राम पधारे। उन दिनों वाणिज्यग्राम व्यापार का एक अच्छा केन्द्र था। वहाँ के विभिन्न धनपतियों में सुदर्शन सेठ एक प्रमुख व्यापारी था। जब भगवान् वाणियग्राम के 'दूति पलाश' चैत्य में पधारे तो दर्शनार्थ नगरवासियों का ताँता सा लग गया। हजारों नर-नारी भगवान् को वन्दन करने एवं उनकी अमृतमयी वाणी को सुनने के लिये वहाँ एकत्र हुए। सुदर्शन भी उनके बीच सेवा में पहुँचा। सभाजनों के चले जाने पर सुदर्शन ने वन्दन कर पूछा—"भगवन् ! काल कितने प्रकार का है ?"

प्रभु ने उत्तर में कहा—"सुदर्शन ! काल चार प्रकार का है :

(१) प्रमाणकाल, (२) यथायुष्क-निवृत्तिकाल, (३) मरणकाल और (४) अद्धाकाल।"[1]

सुदर्शन ने फिर पूछा—"प्रभो ! पल्योपम और सागरोपम काल का भी क्षय होता है या नहीं ?"

सुदर्शन को पल्योपम का काल-मान समझाते हुए भगवान् ने उसके पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाया। भगवान् के मुख से अपने बीते जीवन की बात सुनकर सुदर्शन का अन्तर जागृत हुआ और चिन्तन करते हुए उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अपने पूर्वभव के स्वरूप को देखकर वह गद्गद् हो गया। हर्षाश्रु से पुलकित हो उसने द्विगुणित वैराग्य एवं उल्लास से भगवान् को वन्दन किया। श्रद्धावनत हो उसने तत्काल वहीं पर श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। फिर क्रमशः एकादशांगी और चौदह पूर्वों का अध्ययन कर उसने बारह वर्ष तक श्रमण-धर्म का पालन किया और अन्त में कर्मक्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[2]

गौतम और आनन्द श्रावक

एक बार गणधर गौतम भगवान् की आज्ञा से वाणिज्यग्राम में भिक्षा के लिये पधारे। भिक्षा लेकर जब वे 'दूति पलाश' चैत्य की ओर लौट रहे थे तो मार्ग में 'कोल्लाग सन्निवेश' के पास उन्होंने आनन्द श्रावक के अनशन ग्रहण की बात सुनी। गौतम के मन में विचार हुआ कि आनन्द प्रभु का उपासक शिष्य है और उसने अनशन कर रखा है, तो जाकर उसे देखना चाहिये। ऐसा विचार कर वे 'कोल्लाग सन्निवेश' में आनन्द के पास दर्शन देने पधारे।

---

१ भगवती सूत्र, शतक ११, उ० ११, सूत्र ४२४।

२ भग० श०, श० ११, उ० ११, सूत्र ४३२।

गौतम को पास आये देख कर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुए और विनयपूर्वक बोले—"भगवन् ! अब मेरी उठने की शक्ति नहीं है, अतः जरा चरण मेरी ओर बढ़ायें, जिससे कि मैं उनका स्पर्श और वन्दन कर लूँ ।" गौतम के समीप पहुँचने पर आनन्द ने वन्दन किया और वार्तालाप के प्रसंग से वे बोले—"भगवन् ! घर में रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान होता है क्या ?"

गौतम ने कहा—"हाँ"

आनन्द फिर बोले—"मुझे गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है । मैं लवण समुद्र में तीनों ओर ५००-५०० योजन तक, उत्तर में चुल्ल हिमवंत पर्वत तक तथा ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे 'लोलच्चुअ' नरकावास तक के रूपी पदार्थों को जानता और देखता हूँ ।"

इस पर गौतम सहसा बोले—"आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान तो होता है, पर इतनी दूर तक का नहीं होता । अतः तुमको इसकी आलोचना करनी चाहिए ।"

आनन्द बोला—"भगवन् ! जिन-शासन में क्या सच कहने वालों को आलोचना करनी होती है ?"

गौतम ने कहा—"नहीं, सच्चे को आलोचना नहीं करनी पड़ती ।"

यह सुन कर आनन्द बोला—"भगवन् ! फिर आपको ही आलोचना करनी चाहिए ।"

आनन्द की बात से गौतम का मन शंकित हो गया । वे शीघ्र ही भगवान् के पास 'दूति पलाश' चैत्य में आये । भिक्षाचर्या दिखाकर आनन्द की बात सामने रखी और बोले—"भगवन् ! क्या आनन्द को इतना अधिक अवधिज्ञान हो सकता है ? क्या वह आलोचना का पात्र नहीं है ?"

भगवान् ने उत्तर में कहा—"गौतम ! आनन्द श्रावक ने जो कहा, वह ठीक है । उसको इतना अधिक अवधिज्ञान हुआ है यह सही है, अतः तुमको ही आलोचना करनी चाहिये ।"

भगवान् की आज्ञा पाकर बिना पारणा किये ही गौतम आनन्द के पास गये और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार कर, आनन्द से क्षमायाचना की ।[1]

ग्राम नगरादि में विचरते हुए फिर भगवान् वैशाली पधारे और वहीं पर इस वर्ष का वर्षावास पूर्ण किया ।

---

१ उपास० १, गाथा ८४ ।

केवलीचर्या का चौबीसवाँ वर्ष

वैशाली का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् कोशल भूमि के ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते हुए साकेतपुर पधारे। साकेत कोशल देश का प्रसिद्ध नगर था। वहाँ का निवासी जिनदेव श्रावक दिग्यात्रा करता हुआ 'कोटिवर्ष' नगर पहुँचा। उन दिनों वहाँ म्लेच्छ का राज्य था। व्यापार के लिये आये हुए जिनदेव ने 'किरातराज' को बहुमूल्य रत्न आभूषणादि भेंट किये। अदृष्ट पदार्थों को देखकर किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"ऐसे रत्न कहाँ उत्पन्न होते हैं ?"

जिनदेव बोला—"राजन् ! हमारे देश में इनसे भी बढ़िया रत्न उत्पन्न होते हैं।"

किरातराज ने उत्कण्ठा भरे स्वर में कहा—"मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे यहाँ चलकर उन रत्नों को देखूँ, पर तुम्हारे राजा का डर लगता है।"

जिनदेव ने कहा—"महाराज ! राजा से डर की कोई बात नहीं है। फिर भी आपकी शंका मिटाने हेतु मैं उनकी अनुमति प्राप्त कर लेता हूँ।"

ऐसा कह कर जिनदेव ने राजा को पत्र लिखा और उनसे अनुमति प्राप्त कर ली। किरातराज भी अनुमति प्राप्त कर साकेतपुर आये और जिनदेव के यहाँ ठहर गये। संयोगवश उस समय भगवान् महावीर साकेतपुर पधारे हुए थे। नगर में महावीर के पधारने के समाचार पहुँचते ही महाराज शत्रुंजय प्रभु को वन्दन करने निकल पड़े। नागरिक लोग भी हजारों की संख्या में भगवान् की सेवा में पहुँचे। नगर में दर्शनार्थियों की बड़ी हलचल थी।

किरातराज ने जनसमूह को देखकर जिनदेव से पूछा—"सार्थवाह ! ये लोग कहाँ जा रहे हैं ?" जिनदेव ने कहा—"महाराज ! रत्नों का एक बड़ा व्यापारी आया है, जो सर्वोत्तम रत्नों का स्वामी है। उसी के पास ये लोग जा रहे हैं।"

किरातराज ने कहा—"फिर तो हमको भी चलना चाहिये।" यह कह कर वे जिनदेव के साथ धर्म-सभा की ओर चल पड़े। तीर्थंकर के छत्रत्रय और सिंहासन आदि देखकर किरातराज चकित हो गये। किरातराज ने महावीर के चरणों में वन्दन कर रत्नों के भेद और मूल्य के सम्बन्ध में पूछा।

महावीर बोले—"देवानुप्रिय ! रत्न दो प्रकार के हैं, एक द्रव्यरत्न और दूसरा भावरत्न। भावरत्न के मुख्य तीन प्रकार हैं :—(१) दर्शन रत्न, (२) ज्ञान रत्न और (३) चारित्र रत्न।" भावरत्नों का विस्तृत वर्णन करके प्रभु ने कहा—"यह ऐसे प्रभावशाली रत्न हैं, जो धारक की प्रतिष्ठा बढ़ाने के अतिरिक्त

उसके लोक और परलोक दोनों को सुधारते हैं। द्रव्यरत्नों का प्रभाव परिमित है। वे वर्तमान काल में ही सुखदायी होते हैं पर भावरत्न भव-भवान्तर में भी सद्गतिदायक और सुखदायी होते हैं।"

भगवान् का रत्न-विषयक प्रवचन सुनकर किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ। वह हाथ जोड़कर बोला—"भगवन्! मुझे भावरत्न प्रदान कीजिये।" भगवान् ने रजोहरण और मुखवस्त्रिका दिलवाये जिनको किरातराज ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और वे भगवान् के श्रमण-संघ में दीक्षित हो गये।[1]

फिर साकेतपुर से विहार कर भगवान् पांचाल प्रदेश के कम्पिलपुर में पधारे। प्रभु ने वहाँ से सूरसेन देश की ओर प्रस्थान किया। फिर मथुरा, सौरिपुर, नन्दीपुर आदि नगरों में भ्रमण करते हुए प्रभु पुनः विदेह की ओर पधारे और इस वर्ष का वर्षाकाल आपने मिथिला में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का पच्चीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर प्रयाण किया। गाँव-गाँव में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह पधारे और वहाँ के 'गुणशील' चैत्य में विराजमान हुए। गुणशील चैत्य के पास अन्य तीर्थियों के बहुत से आश्रम थे। एक बार धर्म-सभा समाप्त होने पर कुछ तैर्थिक वहाँ आये और स्थविरों से बोले—"आर्यो! तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत हो, अविरत हो, यावत् बाल हो।"

अन्य तीर्थिकों की ओर से इस तरह के आक्षेप सुनकर स्थविरों ने उन्हें शान्तभाव से पूछा—"हम असंयत और बाल कैसे हैं? हम किसी प्रकार भी अदत्त नहीं लेकर दीयमान ही लेते हैं।" इत्यादि प्रकार से तैर्थिकों के आक्षेप का शान्ति के साथ युक्तिपूर्वक उत्तर देकर स्थविरों ने उनको निरुत्तर कर दिया। वहाँ पर गति प्रपात अध्ययन की रचना की गई।[2]

कालोदायी के प्रश्न

कालोदायी श्रमण ने एक बार भगवान् को वन्दना कर प्रश्न किया—"भगवन्! जीव अशुभ फल वाले कर्मों को स्वयं कैसे करता है?"

भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—"कालोदायी! जैसे कोई दूषित पक्वान्न या मादक पदार्थ का भोजन करता है, तब वह बहुत रुचिकर लगता है। खाने

---

१ "कोडीवरिस चिलाए, जिणदेवे रयणपुच्छ कहणाय।" आवश्यक निर्युक्ति, दूसरा भाग, गा०, १३०५ की टीका देखिये।

२ भगवती, श० ८, उ० ७, सूत्र ३३७।

वाला स्वाद में लुब्ध हो तज्जन्य हानि को भूल जाता है किन्तु परिणाम उसका दुखदायी होता है। भक्षक के शरीर पर कालान्तर में उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार जब जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष आदि पापों का सेवन करता है, तब तत्काल ये कार्य सरल व मनोहर प्रतीत होने के कारण अच्छे लगते हैं, परन्तु इनके विपाक परिणाम बड़े अनिष्टकारक होते हैं, जो करने वालों को भोगने पड़ते हैं।"

कालोदायी ने फिर शुभ कर्मों के विषय में पूछा—"भगवन् ! जीव शुभ कर्मों को कैसे करता है ?"

भगवान् महावीर ने कहा—"जैसे औषधिमिश्रित भोजन तीखा और कड़वा होने से खाने में रुचिकर नहीं लगता, तथापि बलवीर्य-वर्द्धक जान कर बिना मन भी खाया एवं खिलाया जाता है और वह लाभदायक होता है। उसी प्रकार अहिंसा, सत्य, शील, क्षमा और अलोभ आदि शुभ कर्मों की प्रवृत्तियाँ मन को मनोहर नहीं लगतीं, प्रारम्भ में वे भारी लगती हैं। वे दूसरे की प्रेरणा से प्राय: बिना मन, की जाती हैं, परन्तु उनका परिणाम सुखदायी होता है।"[१]

कालोदायी ने दूसरा प्रश्न हिंसा के विषय में पूछा—"भगवन् ! समान उपकरण वाले दो पुरुषों में से एक अग्नि को जलाता है और दूसरा बुझाता है तो इन जलाने और बुझाने वालों में अधिक आरम्भ और पाप का भागी कौन होता है ?"

भगवान् ने कहा—कालोदायी ! आग बुझाने वाला अग्नि का आरम्भ तो अधिक करता है, परन्तु पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और त्रस की हिंसा कम करता है, होने वाली हिंसा को घटाता है। इसके विपरीत जलाने वाला पृथ्वी, जल, वायु वनस्पति और त्रस की हिंसा अधिक और अग्नि की कम करता है। अत: आग जलाने वाला अधिक आरम्भ करता है और बुझाने वाला कम। अत: आग जलाने वाले से बुझाने वाला अल्पपापी कहा गया है।"[२]

अचित्त पुद्गलों का प्रकाश

फिर कालोदायी ने अचित्त पुद्गलों के प्रकाश के विषय में पूछा तो प्रभु ने कहा—"अचित्त पुद्गल भी प्रकाश करते हैं। जब कोई तेजोलेश्याधारी मुनि तेजोलेश्या छोड़ता है, तब वे पुद्गल दूर-दूर तक गिरते हैं, वे दूर और समीप प्रकाश फैलाते हैं। पुद्गलों के अचित्त होते हुए भी प्रयोक्ता हिंसा करने वाला

---

१ भग०, श० ७, उ० १०, सू० ३०६।

२ भग० सू०, ७।१०, सू० ३०७।

और प्रयोग हिंसाजनक होता है। पुद्गल मात्र रत्नादि की तरह अचित्त होते हैं।"[1]

प्रभु के उत्तर से संतुष्ट होकर कालोदायी भगवान् को वन्दन करता हुआ और छट्ठ, अट्ठमादि तप करता हुआ अन्त में अनशनपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है।

गणधर प्रभास ने भी एक मास का अनशन कर इसी वर्ष निर्वाण प्राप्त किया।[2] इस प्रकार विविध उपकारों के साथ इस वर्ष भगवान् का चातुर्मास राजगृह में पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का छब्बीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विविध ग्रामों में विचरण कर प्रभु पुनः 'गुणशील' चैत्य में पधारे। गौतम ने यहाँ प्रभु से विविध प्रकार के प्रश्न किये, जिनमें परमाणु का संयोग-वियोग, भाषा का भाषापन और दुःख की अकृत्रिमता आदि प्रश्न मुख्य थे। भगवान् ने अन्य तीर्थ के क्रिया सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"एक समय में जीव एक ही क्रिया करता है ईर्यापथिकी अथवा सांपरायिकी। जिस समय ईर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय सांपरायिकी नहीं और सांपरायिकी क्रिया के समय ईर्यापथिकी नहीं करता।[3] देखना, बोलना जैसी दो क्रियाएँ एक साथ हों, इसमें आपत्ति नहीं है, आपत्ति एक समय में दो उपयोग होने में है।"

इसी वर्ष अचलभ्राता और मेतार्य गणधरों ने भी अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल नालंदा में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का सत्ताईसवाँ वर्ष

नालन्दा से विहार कर भगवान् ने विदेह जनपद की ओर प्रस्थान किया। विदेह के ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते हुए प्रभु मिथिला पधारे। यहाँ राजा जितशत्रु ने प्रभु के आगमन का समाचार सुना तो वे नगरी के बाहर मणिभद्र चैत्य में वन्दन करने को आये। महावीर ने उपस्थित जनसमुदाय को धर्मोपदेश दिया। लोग वन्दन एवं उपदेश-श्रवण कर यथास्थान लौट गये।

अवसर पाकर इन्द्रभूति-गौतम ने विनयपूर्वक सूर्य चन्द्रादि के विषय में प्रभु से प्रश्न किये। जिनमें सूर्य का मंडल-भ्रमण, प्रकाश-क्षेत्र, पौरुषी छाया,

---

१ भग० सू०, ७।१०, सू० ३०८।

२ भगवान् महावीर—कल्याणविजय।

३ भग० श० १, उ० १०, सू० ८१।

संवत्सर का प्रारम्भ, चन्द्र की वृद्धि-हानि, चन्द्रादि ग्रहों का उपपात एवं च्यवन, चन्द्रादि की ऊँचाई एवं चन्द्र-सूर्य की जानकारी आदि प्रश्न मुख्य हैं।

इस वर्ष का वर्षाकाल भी भगवान् ने मिथिला में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का अट्ठाईसवाँ वर्ष

चातुर्मास के पश्चात् भगवान् ने विदेह में विचर कर अनेक श्रद्धालुओं को श्रमण-धर्म में दीक्षित किया और अनेक भव्यों को श्रावकधर्म के पथ पर आरूढ़ किया। संयोगवश इस वर्ष का चातुर्मास भी मिथिला में ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का उनतीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल के बाद भगवान् ने मिथिला से मगध की ओर विहार किया और राजगृह पधार कर गुणशील उद्यान में विराजमान हुए। उन दिनों नगरी में महाशतक श्रावक ने अन्तिम आराधना के लिए अनशन कर रखा था। उसको अनशन में अध्यवसाय की शुद्धि से अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया था। आनन्द के समान वह भी चारों दिशाओं में दूर-दूर तक देख रहा था। उसकी अनेक स्त्रियों में 'रेवती' अभद्र स्वभाव की थी। उसका शील-स्वभाव श्रमणोपासक महाशतक से सर्वथा भिन्न था। महाशतक की धर्म-साधना से उसका मन असंतुष्ट था।

एक दिन वेभान हो कर वह, जहाँ महाशतक धर्म-साधना कर रहा था, वहाँ पहुँची और विविध प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचनों से उसका ध्यान विचलित करने लगी। शान्त होकर महाशतक सब कुछ सुनता रहा, पर जब वह सिर के बाल बिखेर कर अभद्र चेष्टाओं के साथ यद्वा, तद्वा बोलती ही रही तो वे अपने रोष को नहीं सँभाल सके। महाशतक को रेवती के व्यवहार से बहुत लज्जा और खेद हुआ, वह सहसा बोल उठा—"रेवती! तू ऐसी अभद्र और उन्मादभरी चेष्टा क्यों कर रही है? असत्कर्मों का फल ठीक नहीं होता। तू सात दिन के भीतर ही अलस रोग से पीड़ित हो कर असमाधिभाव में आयु पूर्ण कर प्रथम नर्क में जाने वाली है।"

महाशतक के वचन सुन कर रेवती भयभीत हुई और सोचने लगी—"अहो! आज सचमुच ही पतिदेव मुझ ऊपर क्रुद्ध हैं। न जाने मुझे क्या दण्ड देंगे?" वह धीरे-धीरे वहाँ से पीछे की ओर लौट गई। महाशतक का भविष्य कथन अन्ततोगत्वा उसके लिये सत्य सिद्ध हुआ और वह दुर्भाव में मर कर प्रथम नरक की अधिकारिणी बनी।

अन्तर्यामी भगवान् महावीर को महाशतक की विचलित मन:स्थिति तत्काल विदित हो गई। उन्होंने गौतम से कहा—"गौतम! राजगृह में मेरा अन्तेवासी उपासक महाशतक पौषधशाला में अनशन करके विचर रहा है।

उसको रेवती ने दो-तीन बार उन्मादपूर्ण वचन कहे, इससे रुष्ट होकर उसने रेवती को प्रथम नरक में उत्पन्न होने का अप्रिय वचन कहा है। अतः तुम जाकर महाशतक को सूचित करो कि भक्त प्रत्याख्यानी उपासक को सद्भूत भी ऐसे वचन कहना नहीं कल्पता। इसके लिए उसको आलोचना करनी चाहिये।" प्रभु के आदेशानुसार गौतम ने जाकर महाशतक से यथावत् कहा और उसने विनय-पूर्वक प्रभु-वाणी को सुनकर आलोचना के द्वारा आत्मशुद्धि की।[1]

महावीर ने गौतम के पूछने पर 'वैभार गिरि' के 'महा-तपस्तीर प्रभव' जलस्रोत-कुण्ड की भी चर्चा की। उन्होंने कहा—"उसमें उष्ण योनि के जीव जन्मते और मरते रहते हैं तथा उष्ण स्वभाव के जल पुद्गल भी आते रहते हैं, यही जल की उष्णता का कारण है।"[2] फिर भगवान् ने बताया कि एक जीव एक समय में एक ही आयु का भोग करता है। ऐहिक आयु-भोग के समय परभव की आयु नहीं भोगता और परभव की आयु के भोगकाल में वह इह भव की आयु नहीं भोगता। इहभविक या परभविक[3] दोनों आयु सत्ता में रह सकती हैं।"

"सुख-दुःख बताये क्यों नहीं जा सकते"—अन्य तीर्थिकों की इस शंका के समाधानार्थ भगवान् ने कहा—"केवल राजगृह के ही नहीं, अपितु समस्त संसार के सुख-दुःखों को भी यदि एकत्र करके कोई बताना चाहे तो सूक्ष्म प्रमाण से भी नहीं बता सकता।"

प्रसंग को सरलता से समझाने के लिए प्रभु ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया—"जैसे कोई शक्तिशाली देव सुगंध का एक डिब्बा लेकर जम्बूद्वीप के चारों ओर चक्कर काटता हुआ चारों दिशाओं में सुगन्धि बिखेर दे, तो वे गन्ध के पुद्गल जम्बूद्वीप में फैल जायेंगे, किन्तु यदि कोई उन गन्ध-पुद्गलों को फिर से एकत्र कर दिखाना चाहे तो एक लीख के प्रमाण में भी उनको एकत्र कर नहीं दिखा सकता। ऐसे ही सुख-दुःख के लिए भी समझना चाहिये।"[4] इस प्रकार अनेक प्रश्नों का प्रभु ने समाधान किया।

भगवान् के प्रमुख शिष्य अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो गणधरों ने इसी वर्ष राजगृह में अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् का यह चातु-र्मास भी राजगृह में ही पूर्ण हुआ।

---

१ उपासक०, अ० ८, सू० २५७, २६१।

२ भग० २।५ सू० ११३।

३ भग० ५।३ सूत्र १८३।

४ भग० ६।६ सूत्र २५३।

केवलीचर्या का तीसवाँ वर्ष

चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् भी भगवान् महावीर कुछ काल तक राजगृह नगर में विराजे रहे। इसी समय में उनके गणधर 'अव्यक्त', 'मंडित' और 'अकम्पित' गुणशील उद्यान में एक-एक मास का अनशन पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

दुषमा-दुषम काल का वर्णन

एक समय राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—"भगवन्! दुषमा-दुषम काल में जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र की क्या स्थिति होगी?"

छट्ठे आरे के समय में भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रकाश डाला। इसका पूर्ण विवरण 'कालचक्र का वर्णन' शीर्षक में आगे दिया जा रहा है।

इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टयी के अचिन्त्य, अलौकिक आलोक से असंख्य आत्मार्थी भव्य जीवों के अन्तस्तल से अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करते हुए इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में अप्रतिहत विहार कर तीस वर्ष तक देव, मनुष्य और तिर्यंचों को विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। उन्होंने अपने अमोघ उपदेशों के महानाद से जन-जन के कर्णरन्ध्रों में मानवता का महामंत्र फूंक कर जनमानस को जागृत किया और विनाशोन्मुख मानवसमाज को कल्याण के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर किया।

राजगृह से विहार कर भगवान् महावीर पावापुरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में पधारे।[1] प्रभु का अन्तिम चातुर्मास पावा में हुआ। सुरसमूह ने तत्काल सुन्दर समवशरण की महिमा की। अपार जनसमूह के समक्ष धर्मोपदेश देते हुए प्रभु ने फरमाया कि प्रत्येक प्राणी को जीवन, सुख और मधुर व्यवहार प्रिय हैं। मृत्यु, दुःख और अभद्र व्यवहार सब को अप्रिय हैं। अतः प्राणिमात्र का परम कर्त्तव्य है कि जिस व्यवहार को वह अपने लिए प्रतिकूल समझता है, वैसा अप्रीतिकर व्यवहार किसी दूसरे के प्रति नहीं करे। दूसरों से जिस प्रकार के सुन्दर एवं सुखद व्यवहार की वह अपेक्षा करता है, वैसा ही व्यवहार वह प्राणिमात्र के साथ करे। यही मानवता का मूल सिद्धान्त और धर्म की आधारशिला है। इस सनातन-शाश्वत धर्म के सतत समाचरण से ही मानव मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है और इस धर्मपथ से स्खलित हुआ प्राणी दिग्विमूढ़ हो भवाटवी में भटकता फिरता है।

---

१ त्रिषष्टि श. पु. च., १०।१२। श्लोक ४४०।

प्रभु के उपदेशामृत का पान करने के पश्चात् राजा पुण्यपाल ने प्रभु को सविधि वन्दन कर पूछा—"प्रभो ! गत रात्रि के अवसानकाल में मैंने हाथी, बन्दर, क्षीरद्रु, (क्षीरतरु), कौआ, सिंह, पद्म, बीज और कुंभ ये आठ अशुभ स्वप्न देखे हैं। करुणाकर ! मैं बड़ा चिन्तित हूँ कि कहीं ये स्वप्न किसी भावी अमंगल के सूचक तो नहीं हैं।"

भगवान् महावीर ने पुण्यपाल के स्वप्नों का फल सुनाते हुए कहा—"राजन् ! प्रथम स्वप्न में जो तुमने हाथी देखा है, वह इस भावी का सूचक है कि अब भविष्य के विवेकशील श्रमणोपासक भी क्षणिक समृद्धिसम्पन्न गृहस्थ जीवन में हाथी की तरह मदोन्मत्त होकर रहेंगे। भयंकर से भयंकर संकटापन्न स्थिति अथवा पराधीनता की स्थिति में भी वे प्रव्रजित होने का विचार तक भी मन में नहीं लायेंगे। जो गृह त्याग कर संयम ग्रहण करेंगे, उनमें से भी अनेक कुसंगति में फँसकर या तो संयम का परित्याग कर देंगे या अच्छी तरह संयम का पालन नहीं करेंगे। विरले ही संयम का दृढ़ता से पालन कर सकेंगे।"

दूसरे स्वप्न में कपि-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—"स्वप्न में जो तुमने बन्दर देखा है, वह इस अनिष्ट का सूचक है कि भविष्य में बड़े-बड़े संघपति आचार्य भी बन्दर की तरह चंचल प्रकृति के, स्वल्पपराक्रमी और व्रताचरण में प्रमादी होंगे। जो आचार्य या साधु विशुद्ध, निर्दोष संयम एवं व्रतों का पालन करेंगे तथा वास्तविक धर्म का उपदेश करेंगे, उनकी अधिकांश दुराचाररत लोगों द्वारा यत्र-तत्र खिल्ली उड़ाई जा कर धर्मशास्त्रों की उपेक्षा ही नहीं, अपितु घोर अवज्ञा भी की जायगी। इस प्रकार भविष्य में अधिकांश लोग बन्दर के समान अविचारकारी, विवेकशून्य और अतीव अस्थिर एवं चंचल स्वभाव वाले होंगे।"

तीसरे स्वप्न में क्षीरतरु (अश्वत्थ) देखने का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—"राजन् ! कालस्वभाव से अब आगामी काल में क्षुद्र भाव से दान देने वाले श्रावकों को साधु नामधारी पाखण्डी लोग घेरे रहेंगे। पाखण्डियों की प्रवंचना में फँसे हुए दानी सिंह के समान आचारनिष्ठ साधुओं को शृगालों की तरह शिथिलाचारी और शृगालवत् शिथिलाचारी साधुओं को सिंह के समान आचारनिष्ठ समझेंगे। यत्र-तत्र कण्टकाकीर्ण बबूल वृक्ष की तरह पाखण्डियों का पृथ्वी पर बाहुल्य होगा।"

चौथे स्वप्न में काक-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने फरमाया—"भविष्य में अधिकांश साधु अनुशासन का उल्लंघन एवं साधु-मर्यादाओं का परित्याग कर कौवे की तरह विभिन्न पाखण्ड पूर्ण पंथों का आश्रय ले मत परिवर्तन करते रहेंगे। वे लोग कौवे के 'काँव-काँव' शब्द की तरह वितण्डावाद करते हुए सद्धर्म के उपदेशकों का खण्डन करने में ही सदा तत्पर रहेंगे।"

केवलीचर्या का तीसवाँ वर्ष

चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् भी भगवान् महावीर कुछ काल तक राजगृह नगर में विराजे रहे। इसी समय में उनके गणधर 'अव्यक्त', 'मंडित' और 'अकम्पित' गुणशील उद्यान में एक-एक मास का अनशन पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

दुषमा-दुषम काल का वर्णन

एक समय राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—"भगवन्! दुषमा-दुषम काल में जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र की क्या स्थिति होगी?"

छट्ठे आरे के समय में भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रकाश डाला। इसका पूर्ण विवरण 'कालचक्र का वर्णन' शीर्षक में आगे दिया जा रहा है।

इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टयी के अचिन्त्य, अलौकिक आलोक से असंख्य आत्मार्थी भव्य जीवों के अन्तस्तल से अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करते हुए इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में अप्रतिहत विहार कर तीस वर्ष तक देव, मनुष्य और तिर्यंचों को विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। उन्होंने अपने अमोघ उपदेशों के महानाद से जन-जन के कर्णरन्ध्रों में मानवता का महामंत्र फूंक कर जनमानस को जागृत किया और विनाशोन्मुख मानवसमाज को कल्याण के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर किया।

राजगृह से विहार कर भगवान् महावीर पावापुरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में पधारे।[1] प्रभु का अन्तिम चातुर्मास पावा में हुआ। सुरसमूह ने तत्काल सुन्दर समवशरण की महिमा की। अपार जनसमूह के समक्ष धर्मोपदेश देते हुए प्रभु ने फरमाया कि प्रत्येक प्राणी को जीवन, सुख और मधुर व्यवहार प्रिय हैं। मृत्यु, दुःख और अभद्र व्यवहार सब को अप्रिय हैं। अतः प्राणिमात्र का परम कर्त्तव्य है कि जिस व्यवहार को वह अपने लिए प्रतिकूल समझता है, वैसा अप्रीतिकर व्यवहार किसी दूसरे के प्रति नहीं करे। दूसरों से जिस प्रकार के सुन्दर एवं सुखद व्यवहार की वह अपेक्षा करता है, वैसा ही व्यवहार वह प्राणिमात्र के साथ करे। यही मानवता का मूल सिद्धान्त और धर्म की आधारशिला है। इस सनातन-शाश्वत धर्म के सतत समाचरण से ही मानव मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है और इस धर्मपथ से स्खलित हुआ प्राणी दिग्विमूढ़ हो भवाटवी में भटकता फिरता है।

---

१ त्रिषष्टि श. पु. च., १०।१२। श्लोक ४४०।

प्रभु के उपदेशामृत का पान करने के पश्चात् राजा पुण्यपाल ने प्रभु को सविधि वन्दन कर पूछा—"प्रभो ! गत रात्रि के अवसानकाल में मैंने हाथी, बन्दर, क्षीरद्रु, (क्षीरतरु), कौआ, सिंह, पद्म, बीज और कुंभ ये आठ अशुभ स्वप्न देखे हैं। करुणाकर ! मैं बड़ा चिन्तित हूँ कि कहीं ये स्वप्न किसी भावी अमंगल के सूचक तो नहीं हैं।"

भगवान् महावीर ने पुण्यपाल के स्वप्नों का फल सुनाते हुए कहा—"राजन् ! प्रथम स्वप्न में जो तुमने हाथी देखा है, वह इस भावी का सूचक है कि अब भविष्य के विवेकशील श्रमणोपासक भी क्षणिक समृद्धिसम्पन्न गृहस्थ जीवन में हाथी की तरह मदोन्मत्त होकर रहेंगे। भयंकर से भयंकर संकटापन्न स्थिति अथवा पराधीनता की स्थिति में भी वे प्रव्रजित होने का विचार तक भी मन में नहीं लायेंगे। जो गृह त्याग कर संयम ग्रहण करेंगे, उनमें से भी अनेक कुसंगति में फँसकर या तो संयम का परित्याग कर देंगे या अच्छी तरह संयम का पालन नहीं करेंगे। विरले ही संयम का दृढ़ता से पालन कर सकेंगे।"

दूसरे स्वप्न में कपि-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—"स्वप्न में जो तुमने बन्दर देखा है, वह इस अनिष्ट का सूचक है कि भविष्य में बड़े-बड़े संघपति आचार्य भी बन्दर की तरह चंचल प्रकृति के, स्वल्पपराक्रमी और व्रता-चरण में प्रमादी होंगे। जो आचार्य या साधु विशुद्ध, निर्दोष संयम एवं व्रतों का पालन करेंगे तथा वास्तविक धर्म का उपदेश करेंगे, उनकी अधिकांश दुराचाररत लोगों द्वारा यत्र-तत्र खिल्ली उड़ाई जा कर धर्मशास्त्रों की उपेक्षा ही नहीं, अपितु घोर अवज्ञा भी की जायगी। इस प्रकार भविष्य में अधिकांश लोग बन्दर के समान अविचारकारी, विवेकशून्य और अतीव अस्थिर एवं चंचल स्वभाव वाले होंगे।"

तीसरे स्वप्न में क्षीरतरु (अश्वत्थ) देखने का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—"राजन् ! कालस्वभाव से अब आगामी काल में क्षुद्र भाव से दान देने वाले श्रावकों को साधु नामधारी पाखण्डी लोग घेरे रहेंगे। पाखण्डियों की प्रवंचना में फँसे हुए दानी सिंह के समान आचारनिष्ठ साधुओं को शृगालों की तरह शिथिलाचारी और शृगालवत् शिथिलाचारी साधुओं को सिंह के समान आचारनिष्ठ समझेंगे। यत्र-तत्र कण्टकाकीर्ण बबूल वृक्ष की तरह पाखण्डियों का पृथ्वी पर बाहुल्य होगा।"

चौथे स्वप्न में काक-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने फरमाया—"भविष्य में अधिकांश साधु अनुशासन का उल्लंघन एवं साधु-मर्यादाओं का परि-त्याग कर कौवे की तरह विभिन्न पाखण्ड पूर्ण पंथों का आश्रय ले मत परिवर्तन करते रहेंगे। वे लोग कौवे के 'काँव-काँव' शब्द की तरह वितण्डावाद करते हुए सद्धर्म के उपदेशकों का खण्डन करने में ही सदा तत्पर रहेंगे।"

अपने पाँचवें स्वप्न में राजा पुण्यपाल ने जो सिंह को विपन्नावस्था में देखा, उसका फल बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"भविष्य में सिंह के समान तेजस्वी वीतराग-प्ररूपित जैन धर्म निर्बल होगा, धर्म की प्रतिष्ठा से विमुख हो लोग हीन सत्व, साधारण श्वानादि पशुओं के समान मिथ्या मताव-लम्बी साधु वेषधारियों की प्रतिष्ठा करने में तत्पर रहेंगे। आगे चलकर जैन धर्म के स्थान पर विविध मिथ्या-धर्मों का प्रचार-प्रसार एवं सम्मान अधिक होगा।"

छठे स्वप्न में कमलदर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—"समय के प्रभाव से आगामी काल में सुकुलीन व्यक्ति भी कुसंगति में पड़ कर धर्ममार्ग से विमुख हो पापाचार में प्रवृत्त होंगे।"

राजा पुण्यपाल के सातवें स्वप्न का फल सुनाते हुए भगवान् ने फरमाया—"राजन्! तुम्हारा बीज-दर्शन का स्वप्न इस भविष्य का सूचक है कि जिस प्रकार एक अविवेकी किसान अच्छे बीज को ऊसर भूमि में और घुन से बींदे हुए खराब बीज को उपजाऊ भूमि में बो देता है, उसी प्रकार गृहस्थ श्रमणोपासक आगामी काल में सुपात्र को छोड़ कर कुपात्र को दान करेंगे।"

भगवान् महावीर ने राजा पुण्यपाल के आठवें व अन्तिम स्वप्न का फल सुनाते हुए फरमाया—"पुण्यपाल! तुमने अपने अन्तिम स्वप्न में कुंभ देखा है, वह इस आशय का द्योतक है कि भविष्य में तप, त्याग एवं क्षमा आदि गुण-सम्पन्न, आचारनिष्ठ महामुनि विरले ही होंगे। इसके विपरीत शिथिलाचारी, वेषधारी, नाममात्र के साधुओं का बाहुल्य होगा। शिथिलाचारी साधु निर्मल चारित्र वाले साधुओं से द्वेष रखते हुए सदा कलह करने के लिये उद्यत रहेंगे। ग्रह-ग्रस्त की तरह प्रायः सभी गृहस्थ तत्त्वदर्शी साधुओं और वेशधारी साधुओं के भेद से अनभिज्ञ, दोनों को समान समझते हुए व्यवहार करेंगे।"

भगवान् महावीर के मुखारविन्द से अपने स्वप्नों के फल के रूप में भावी विषम स्थिति को सुनकर राजा पुण्यपाल को संसार से विरक्ति हो गई। उसने तत्काल राज्यलक्ष्मी और समस्त वैभव को ठुकरा कर भगवान् की चरण-शरण में श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया और तप-संयम की सम्यक् रूप से आराधना कर वह कालान्तर में समस्त कर्म-बन्धनों से विनिर्मुक्त हो निर्वाण को प्राप्त हुआ।

कालचक्र का वर्णन

कुछ काल पश्चात् भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम ने प्रभु के चरण-कमलों में सिर झुकाकर कालचक्र की पूर्ण जानकारी के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त की।

कालचक्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रभु ने फरमाया—"गौतम ! काल चक्र के मुख्य दो भाग हैं, अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल। क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है और क्रमिक उत्कर्षोन्मुख काल उत्सर्पिणीकाल। इनमें से प्रत्येक दश कोड़ाकोड़ी सागर का होता है और इस तरह अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।

अवसर्पिणी काल के क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल को छः विभागों में बाँटा जाकर उन छः विभागों को षट् आरक की संज्ञा दी गई है। उन छः आरों का निम्नलिखित प्रकार से गुणदोष के आधार पर नामकरण किया गया है—

१. सुषमा—सुषम	२. सुषम
३. सुषमा—दुषम	४. दुषमा—सुषम
५. दुषम	६. दुषमा-दुषम

प्रथम आरक सुषमा-सुषम एकान्ततः सुखपूर्ण होता है। चार कोड़ाकोड़ी सागर की अवस्थिति वाले सुषमा-सुषम नामक इस प्रथम आरे में मानव की आयु तीन पल्योपम की व देह की ऊँचाई तीन कोस की होती है। उस समय के मानव का शरीर २५६ पसलियों से युक्त वज्रऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थानमय होता है। उस समय में माता, पुत्र और पुत्री को युगल रूप में एक साथ जन्म देती है। उस समय के मानव परम दिव्य रूप सम्पन्न, सौम्य भद्र, मृदुभाषी, निर्लिप्त, स्वल्पेच्छा वाले अल्पपरिग्रही, पूर्णरूपेण शान्त, सरल स्वभावी, पृथ्वी-पुष्प-फलाहारी और क्रोध, मान, मोह, मद, मात्सर्य आदि से अल्पता वाले होते हैं। उनका आहार चक्रवर्ती के सुस्वादु पौष्टिक षट्रस भोजन से भी कहीं अधिक सुस्वादु और बल-वीर्यवर्द्धक होता है।

उस समय चारों ओर का वातावरण अत्यन्त मनोरम, मोहक, मधुर, सुखद, तेजोमय, शान्त, परम रमणीय, मनोज्ञ एवं आनन्दमय होता है। उस प्रथम आरक में पृथ्वी का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त सम्मोहक, प्राणिमात्र को आनन्दविभोर करने वाला एवं अत्यन्त सुखप्रद होता है। उस समय पृथ्वी का स्वाद मिश्री से कहीं अधिक मधुर होता है।

भोगयुग होने के कारण उस समय के मानव को जीवनयापन के लिये किंचिन्मात्र भी चिन्ता अथवा परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि दश प्रकार के कल्पवृक्ष उनकी सभी इच्छाएं पूर्ण कर देते हैं। मतंगा नामक कल्पवृक्षों से अमृततुल्य मधुर फल, भिंगा नामक कल्पवृक्षों से स्वर्णरत्नमय भोजनपात्र, तुडियंगा नामक कल्पवृक्षों से उन्हें उनचास प्रकार के ताल-लयपूर्ण मधुर संगीत, जोई नामक कल्पवृक्षों से अद्भुत आनन्दप्रद तेजोमय प्रकाश, जिसके

कारण कि प्रथम आरक से लेकर तृतीय आरक के तृतीय चरण के लम्बे समय तक चन्द्र-सूर्य तक के दर्शन नहीं होते, दीव नामक कल्पवृक्षों से उन्हें प्रकाश-स्तम्भों के समान दिव्य रंगीन रोशनी, चितंगा नामक कल्पवृक्षों से मनमोहक सुगन्धिपूर्ण सुन्दर पुष्पाभरण, चित्तरसा नामक कल्पवृक्षों से अठारह प्रकार के सुस्वादु भोजन, मणियंगा नामक कल्पवृक्षों से स्वर्ण, रत्नादि के दिव्य आभूषण, बयालीस मंजिले भव्य प्रासादों की आकृति वाले गेहागारा नामक कल्पवृक्षों से आवास की स्वर्गोपम सुख-सुविधा और अनिगणा नामक कल्पवृक्षों से उन्हें अनुपम सुन्दर, सुखद, अमूल्य वस्त्रों की प्राप्ति हो जाती है।

जीवनोपयोगी समस्त सामग्री की यथेप्सित रूप से सहज प्राप्ति हो जाने के कारण उस समय के मानव का जीवन परम सुखमय होता है। उस समय के मानव को तीन दिन के अन्तर से भोजन करने की इच्छा होती है।

प्रथम आरक के मानव छै प्रकार के होते हैं :

(१) पद्मगंधा—जिनके शरीर से कमल के समान सुगन्ध निकलती रहती है।
(२) मृगगन्धा—जिनके शरीर से कस्तूरी के समान मादक महक निकलकर चारों ओर फैलती रहती है।
(३) अममा=जो ममतारहित हैं
(४) तेजस्तलिन:=तेजोमय सुन्दर स्वरूप वाले।
(५) सहा=उत्कट साहस करने वाले।
(६) शनैश्चारिण:=उत्सुकता के अभाव में सहज शान्तभाव में चलने वाले।

उनका स्वर अत्यन्त मधुर होता है और उनके श्वासोच्छ्वास से भी कमलपुष्प के समान सुगन्ध निकलती है।

उस समय के युगलिकों की आयु जिस समय छै महीने अवशिष्ट रह जाती है, उस समय युगलिनी पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ४९ दिन प्रतिपालना किये जाने के पश्चात् वे नव-युगल पूर्ण युवा हो दाम्पत्य जीवन का सुखोपभोग करते हुए यथेच्छ विचरण करते हैं।

तीन पल्योपम की आयुष्य पूर्ण होते ही एक को छींक और दूसरे को उबासी आती है और इस तरह युगल दम्पति तत्काल एक साथ बिना किसी प्रकार की व्याधि, पीड़ा अथवा परिताप के जीवनलीला समाप्त कर देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। उनके शवों को क्षेत्राधिष्ठायक देव तत्काल क्षीरसमुद्र में डाल देते हैं।

सुषमा नामक दूसरा आरक तीन कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इसमें प्रथम आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्याय की अनन्त गुनी हीनता हो जाती है। इस आरक के मानव की आयु दो पल्योपम, देहमान दो कोस और पसलियाँ १२८ होती हैं। दो दिन के अन्तर से उनको आहार ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आरक में पृथ्वी का स्वाद घटकर शक्कर तुल्य हो जाता है।

इस दूसरे आरक में भी मानव की सभी इच्छाएं उपर्युक्त १० प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण की जाती हैं, अतः उन्हें किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नहीं होती। जिस समय युगल दम्पति की आयु छै महीने अवशेष रह जाती है, उस समय युगलिनी, पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ६४ दिन तक प्रतिपालित होने के बाद ही नवयुगल, दम्पति के रूप में सुखपूर्वक यथेच्छ विचरण करने लग जाता है।

दूसरे आरे में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। यथा :

(१) एका　　(२) प्रचुरजंघा

(३) कुसुमा　　(४) सुशमना

आयु की समाप्ति के समय इस आरक के युगल को भी छींक एवं उबासी आती है और वह युगल दम्पति एक साथ काल कर देवगति में उत्पन्न होता है।

सुषमा-दुषम नामक तीसरा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागर के काल प्रमाण का होता है। इस तृतीय आरक के प्रथम और मध्यम त्रिभाग में दूसरे आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की अनन्तगुनी अपकर्षता हो जाती है। इस आरे के मानव वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, २००० धनुष की ऊँचाई, एक पल्योपम की आयु और ६४ पसलियों वाले होते हैं। उस समय के मनुष्यों को एक दिन के अन्तर से आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है। उस समय पृथ्वी का स्वाद गुड़ के समान होता है। मृत्यु से ६ मास पूर्व युगलिनी एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल के रूप में जन्म देती है। उन बच्चों का ७६ दिन तक माता-पिता द्वारा पालन-पोषण किया जाता है। तत्पश्चात् वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो दम्पति के रूप में स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक आनन्दमय जीवन बिताते हैं। उनके जीवन की समस्त आवश्यकताएं दश प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण कर दी जाती हैं। अपने जीवन-निर्वाह के लिये उन्हें किसी प्रकार का कार्य अथवा श्रम नहीं करना पड़ता, अतः वह युग भोगयुग कहलाता है। अंत समय में युगल स्त्री-पुरुष को एक साथ एक को छींक और दूसरे को उबासी आती है और उसी समय वे एक साथ आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

यह स्थिति तृतीय आरक के प्रथम त्रिभाग और मध्यम त्रिभाग तक रहती है। उस आरक के अन्तिम त्रिभाग के मनुष्यों का छै प्रकार का संहनन, छै प्रकार का संस्थान, कई सौ धनुष की ऊँचाई, जघन्य संख्यात वर्ष की और उत्कृष्ट असंख्यात वर्ष की आयुष्य होती है। उस समय के मनुष्यों में से अनेक नरक में, अनेक तिर्यंच योनि में, अनेक मनुष्य योनि में, अनेक देव योनि में और अनेक मोक्ष में जाने वाले होते हैं।

उस तीसरे आरे के अन्तिम त्रिभाग के समाप्त होने में जब एक पल्योपम का आठवाँ भाग अवशेष रह जाता है, उस समय भरत क्षेत्र में क्रमशः १५ कुलकर[1] उत्पन्न होते हैं।

उस समय कालदोष से कल्पवृक्ष उस समय के मानवों के लिये जीवनोपयोगी सामग्री अपर्याप्त मात्रा में देना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे उनमें शनैः-शनैः आपसी कलह का सूत्रपात हो जाता है। कुलकर उन लोगों को अनुशासन में रखते हुए मार्गदर्शन करते हैं। प्रथम पाँच कुलकरों के काल में हाकार दण्डनीति, छट्ठे से १०वें कुलकर तथा 'माकार' नीति और ग्यारहवें से १५वें कुलकर तक 'धिक्कार' नीति से लोगों को अनुशासन में रखा जाता है।

तीसरे आरे के समाप्त होने में जिस समय चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष थे, उस समय प्रथम राजा, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। भगवान् ऋषभदेव ने ६३ लाख पूर्व तक सुचारु रूप से राज्यशासन चला कर उस समय के मानव को असि, मसि और कृषि के अन्तर्गत समस्त विद्याएं सिखा कर भोगभूमि को पूर्णरूपेण कर्मभूमि में परिवर्तित कर दिया।

इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम धर्म-तीर्थ की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की। तीसरे आरे में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती हुए। तृतीय आरे के समाप्त होने में तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहे, तब भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण हुआ।

दुषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरक बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है। इस आरे में तृतीय आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की अनन्तगुनी अपकर्षता हो जाती है। इस चतुर्थ आरक में मनुष्यों के छहों प्रकार के संहनन, छहों प्रकार के संस्थान, बहुत से धनुष की ऊँचाई, जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की आयु होती है तथा वे मर कर पाँचों प्रकार की गति में जाते हैं।

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव को पन्द्रहवें कुलकर के रूप में भी माना गया है।

चतुर्थ आरक में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव होते हैं।

"गौतम ! यह भरतक्षेत्र तीर्थंकरों के समय में सुन्दर, समृद्ध, बड़े-बड़े ग्रामों, नगरों तथा जनपदों से संकुल एवं धन-धान्यादिक से परिपूर्ण रहता है। उस समय सम्पूर्ण भरतक्षेत्र साक्षात् स्वर्गतुल्य प्रतीत होता है। उस समय का प्रत्येक ग्राम नगर के समान और नगर अलकापुरी की तरह सुरम्य और सुख-सामग्री से समृद्ध होता है। तीर्थंकरकाल में यहाँ का प्रत्येक नागरिक नृपति के समान ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रत्येक नरेश वैश्रवण के तुल्य राज्यलक्ष्मी का स्वामी होता है। उस समय के आचार्य शरद्पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह अगाध ज्ञान की ज्योत्स्ना से सदा प्रकाशमान होते हैं। उन आचार्यों के दर्शन मात्र से जनगण के नयन अतिशय तृप्ति और वाणी-श्रमण से जन-जन के मन परमाह्लाद का अनुभव करते हैं। उस समय के माता-पिता देवदम्पति तुल्य, श्वसुर पिता तुल्य और सासुएं माता के समान वात्सल्यपूर्ण हृदयवाली होती हैं। तीर्थंकरों के समय के नागरिक सत्यवादी, पवित्र-हृदय, विनीत, धर्म व अधर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को समझने वाले, देव और गुरु की उचित पूजा-सम्मान करने वाले एवं पर-स्त्री को माता तथा बहिन के समान समझने वाले होते हैं। तीर्थंकर काल में विज्ञान, विद्या, कुल-गौरव और सदाचार उत्कृष्ट कोटि के होते हैं। न तीर्थंकरों के समय में डाकुओं, आततायियों और अन्य राजाओं द्वारा आक्रमण का ही किसी प्रकार का भय रहता है और न प्रजा पर करों का भार ही। तीर्थंकरकाल के राजा लोग वीतराग प्रभु के परमोपासक होते है और तीर्थंकरों के समय की प्रजा पाखण्डियों के प्रति किंचित्मात्र भी आदर का भाव प्रकट नहीं करती।"

भगवान् ने पंचम आरक की भीषण स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा—"गौतम ! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुषम नामक पांचवाँ आरा प्रारम्भ होगा जो कि इक्कीस हजार वर्ष का होगा। उस पंचम आरे के अन्तिम दिन तक मेरा धर्म-शासन अविच्छिन्न रूप से चलता रहेगा। लेकिन पाँचवें आरे के प्रारम्भ होते ही पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के ह्रास के साथ ही साथ क्रमशः ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा, त्यों-त्यों लोकों में धर्म, शील, सत्य, शान्ति, शौच, सम्यक्त्व, सद्बुद्धि, सदाचार, शौर्य, ओज, तेज, क्षमा, दम, दान, व्रत, नियम, सरलता आदि गुणों का क्रमिक ह्रास और अधर्म-वृद्धि का क्रमशः अभ्युत्थान होता जायगा। पंचम आरक में ग्राम श्मशान के समान भयावह और नगर प्रेतों की क्रीड़ास्थली तुल्य प्रतीत होंगे। उस समय के नागरिक क्रीतदास तुल्य और राजा लोग यमदूत के समान दुःख-दायी होंगे।"

यह स्थिति तृतीय आरक के प्रथम त्रिभाग और मध्यम त्रिभाग तक रहती है। उस आरक के अन्तिम त्रिभाग के मनुष्यों का छै प्रकार का संहनन, छै प्रकार का संस्थान, कई सौ धनुष की ऊँचाई, जघन्य संख्यात वर्ष की और उत्कृष्ट असंख्यात वर्ष की आयुष्य होती है। उस समय के मनुष्यों में से अनेक नरक में, अनेक तिर्यंच योनि में, अनेक मनुष्य योनि में, अनेक देव योनि में और अनेक मोक्ष में जाने वाले होते हैं।

उस तीसरे आरे के अन्तिम त्रिभाग के समाप्त होने में जब एक पल्योपम का आठवाँ भाग अवशेष रह जाता है, उस समय भरत क्षेत्र में क्रमशः १५ कुलकर[1] उत्पन्न होते हैं।

उस समय कालदोष से कल्पवृक्ष उस समय के मानवों के लिये जीवनोपयोगी सामग्री अपर्याप्त मात्रा में देना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे उनमें शनैः-शनैः आपसी कलह का सूत्रपात हो जाता है। कुलकर उन लोगों को अनुशासन में रखते हुए मार्गदर्शन करते हैं। प्रथम पाँच कुलकरों के काल में हाकार दण्डनीति, छट्ठे से १०वें कुलकर तथा 'माकार' नीति और ग्यारहवें से १५वें कुलकर तक 'धिक्कार' नीति से लोगों को अनुशासन में रखा जाता है।

तीसरे आरे के समाप्त होने में जिस समय चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष थे, उस समय प्रथम राजा, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। भगवान् ऋषभदेव ने ६३ लाख पूर्व तक सुचारु रूप से राज्यशासन चला कर उस समय के मानव को असि, मसि और कृषि के अन्तर्गत समस्त विद्याएं सिखा कर भोगभूमि को पूर्णरूपेण कर्मभूमि में परिवर्तित कर दिया।

इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम धर्म-तीर्थ की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की। तीसरे आरे में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती हुए। तृतीय आरे के समाप्त होने में तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहे, तब भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण हुआ।

दुषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरक बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इस आरे में तृतीय आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की अनन्तगुनी अपकर्षता हो जाती है। इस चतुर्थ आरक में मनुष्यों के छहों प्रकार के संहनन, छहों प्रकार के संस्थान, बहुत से धनुष की ऊँचाई, जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की आयु होती है तथा वे मर कर पाँचों प्रकार की गति में जाते हैं।

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव को पन्द्रहवें कुलकर के रूप में भी माना गया है।

चतुर्थ आरक में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव होते हैं।

"गौतम ! यह भरतक्षेत्र तीर्थंकरों के समय में सुन्दर, समृद्ध, बड़े-बड़े ग्रामों, नगरों तथा जनपदों से संकुल एवं धन-धान्यादिक से परिपूर्ण रहता है। उस समय सम्पूर्ण भरतक्षेत्र साक्षात् स्वर्गतुल्य प्रतीत होता है। उस समय का प्रत्येक ग्राम नगर के समान और नगर अलकापुरी की तरह सुरम्य और सुख-सामग्री से समृद्ध होता है। तीर्थंकरकाल में यहाँ का प्रत्येक नागरिक नृपति के समान ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रत्येक नरेश वैश्रवण के तुल्य राज्यलक्ष्मी का स्वामी होता है। उस समय के आचार्य शरद्पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह अगाध ज्ञान की ज्योत्स्ना से सदा प्रकाशमान होते हैं। उन आचार्यों के दर्शन मात्र से जनगण के नयन अतिशय तृप्ति और वाणी-श्रमण से जन-जन के मन परमाह्लाद का अनुभव करते हैं। उस समय के माता-पिता देवदम्पति तुल्य, श्वसुर पिता तुल्य और सासुएं माता के समान वात्सल्यपूर्ण हृदयवाली होती हैं। तीर्थंकरों के समय के नागरिक सत्यवादी, पवित्र-हृदय, विनीत, धर्म व अधर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को समझने वाले, देव और गुरु की उचित पूजा-सम्मान करने वाले एवं पर-स्त्री को माता तथा बहिन के समान समझने वाले होते हैं। तीर्थंकर काल में विज्ञान, विद्या, कुल-गौरव और सदाचार उत्कृष्ट कोटि के होते हैं। न तीर्थंकरों के समय में डाकुओं, आततायियों और अन्य राजाओं द्वारा आक्रमण का ही किसी प्रकार का भय रहता है और न प्रजा पर करों का भार ही। तीर्थंकरकाल के राजा लोग वीतराग प्रभु के परमोपासक होते है और तीर्थंकरों के समय की प्रजा पाखण्डियों के प्रति किंचित्मात्र भी आदर का भाव प्रकट नहीं करती।"

भगवान् ने पंचम आरक की भीषण स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा—"गौतम ! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुषम नामक पांचवां आरा प्रारम्भ होगा जो कि इक्कीस हजार वर्ष का होगा। उस पंचम आरे के अन्तिम दिन तक मेरा धर्म-शासन अविच्छिन्न रूप से चलता रहेगा। लेकिन पाँचवें आरे के प्रारम्भ होते ही पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के ह्रास के साथ ही साथ क्रमशः ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा, त्यों-त्यों लोकों में धर्म, शील, सत्य, शान्ति, शौच, सम्यक्त्व, सद्बुद्धि, सदाचार, शौर्य, ओज, तेज, क्षमा, दम, दान, व्रत, नियम, सरलता आदि गुणों का क्रमिक ह्रास और अधर्म-वृद्धि का क्रमशः अभ्युत्थान होता जायगा। पंचम आरक में ग्राम श्मशान के समान भयावह और नगर प्रेतों की क्रीड़ास्थली तुल्य प्रतीत होंगे। उस समय के नागरिक क्रीतदास तुल्य और राजा लोग यमदूत के समान दुःख-दायी होंगे।"

पंचम आरक की राजनीति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा—"गौतम ! जिस प्रकार छोटी मछलियों को मध्यम आकार-प्रकार की मछलियाँ और मध्यम स्थिति की मछलियों को बृहदाकार वाली मछलियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार पंचम आरक में सर्वत्र 'मत्स्यन्याय' का बोलबाला होगा, राज्याधिकारी प्रजाजनों को लूटेंगे और राजा लोग राज्याधिकारियों को। उस समय सब प्रकार की व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो जायेंगी। सब देशों की स्थिति भीषण तूफान में फँसी नाव के समान डाँवाडोल हो जायगी।"

उस समय की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए प्रभु ने कहा—"गौतम ! प्रजा को एक ओर तो चोर पीड़ित करेंगे और दूसरी ओर कमरतोड़ करों से राज्य। उस समय में व्यापारीगण प्रजा को दुष्ट ग्रह की तरह पीड़ित कर देंगे और अधिकारीगण बड़ी-बड़ी रिश्वतें लेकर प्रजाजनों का सर्वस्व हरण करेंगे। आत्मीयजनों में परस्पर सदा गृहकलह घर किये रहेगा। प्रजाजन एक दूसरे से द्वेष व शत्रुता का व्यवहार करेंगे। उनमें परोपकार, लज्जा, सत्यनिष्ठा और उदारता का लवलेश भी अवशेष नहीं रहेगा।

शिष्य गुरुभक्ति को भूल कर अपने-अपने गुरुजनों की अवज्ञा करते हुए स्वच्छन्द विहार करेंगे और गुरुजन भी अपने शिष्यों को ज्ञानोपदेश देना बन्द कर देंगे और अन्ततोगत्वा एक दिन गुरुकुलव्यवस्था लुप्त ही हो जायगी। लोगों में धर्म के प्रति रुचि क्रमशः बिल्कुल मन्द हो जायगी। पुत्र अपने पिता का तिरस्कार करेंगे, बहुएँ अपनी सासों के सामने काली नागिनों की तरह हर समय फूत्कार करती रहेंगी और सासें भी अपनी बहुओं के लिये भैरवी के समान भयानक रूप धारण किये रहेंगी। कुलवधुओं में लज्जा का नितान्त अभाव होगा। वे हास-परिहास, विलास-कटाक्ष, वाचालता और वेश-भूषा में वेश्याओं से भी बढ़ी-चढ़ी निकलेंगी। इस सबके परिणामस्वरूप उस समय किसी को साक्षात् देवदर्शन नहीं होगा।"

उस समय की धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए वीर प्रभु ने कहा—"गौतम ! ज्यों-ज्यों पंचम आरे का काल व्यतीत होता जायगा, त्यों-त्यों साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध धर्मसंघ क्रमशः क्षीण होता जायगा। झूठ और कपट का सर्वत्र साम्राज्य होगा। धर्म-कार्यों में भी कूटनीति, कपट और दुष्टता का बोलबाला होगा। दुष्ट और दुर्जन लोग आनन्दपूर्वक यथेच्छ विचरण करेंगे पर सज्जन पुरुषों का जीना भी दूभर हो जायगा।"

पंचम आरक में सर्वतोमुखी ह्रास का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा—"गौतम ! पंचम आरे में रत्न, मणि, माणिक्य, धन-सम्पत्ति, मंत्र, तंत्र, औषधि, ज्ञान, विज्ञान, आयुष्य, पत्र, पुष्प, फल, रस, रूप-सौन्दर्य, बल-वीर्य,

समस्त सुखद-सुन्दर वस्तुओं और शारीरिक शक्ति एवं स्थिति का क्रमशः ह्रास ही ह्रास होता चला जायगा। असमय में वर्षा होगी, समय पर वर्षा नहीं होगी। इस प्रकार के ह्रासोन्मुख, क्षीणपुण्य वाले कालप्रवाह में जिन मनुष्यों की रुचि धर्म में रहेगी, उन्हीं का जीवन सफल होगा।"

भगवान् ने फिर फरमाया—"इस दुषमा नामक पंचम आरे के अन्त में दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका इन चारों का चतुर्विध संघ शेष रहेगा। इस भारतवर्ष का अन्तिम राजा विमल वाहन और अन्तिम मंत्री सुमुख होगा।"

"इस प्रकार पंचम आरे के अन्त में मनुष्य का शरीर दो हाथ की ऊँचाई वाला होगा और मानव की अधिकतम आयु बीस वर्ष की होगी। दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका के समय में बड़े से बड़ा तप बेला (षष्ठभक्त) होगा। उस समय में दशवैकालिक सूत्र को जानने वाला चतुर्दश पूर्वधर के समान ज्ञानवान् समझा जायगा। आचार्य दुःप्रसह अन्तिम समय तक चतुर्विध संघ को प्रतिबोध करते रहेंगे। अन्तिम समय में आचार्य दुःप्रसह संघ को सूचित करेंगे कि अब धर्म नहीं रहा, तो संघ उन्हें संघ से बहिष्कृत कर देगा। दुःप्रसह बारह वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहेंगे और आठ वर्ष तक मुनिधर्म का पालन कर तेले के अनशनपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प में देवरूप से उत्पन्न होंगे।"

पंचम आरक की समाप्ति के दिन गणधर्म, पाखण्डधर्म, राजधर्म, चारित्र-धर्म और अग्नि का विच्छेद हो जायगा। पूर्वाह्न में चारित्र धर्म का, मध्याह्न में राजधर्म का और अपराह्न में अग्नि का इस भरतक्षेत्र की धरा से समूलोच्छेद हो जायगा।"[1]

छट्ठे आरे के समय में भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया[2]—"गौतम ! पंचम आरक की समाप्ति के बाद वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के अनन्त पर्यवों के ह्रास को लिये हुए २१००० वर्ष का दुषमा-दुषम नामक छट्ठा आरक प्रारम्भ होगा। उस छट्ठे आरे में दशों दिशाएँ हाहाकार, भांय-भांय (भंभाकार) और कोलाहल से व्याप्त होंगी। समय के कुप्रभाव के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण, कठोर, धूलिमिश्रित, नितान्त असह्य एवं व्याकुल कर देने वाली भयंकर आँधियाँ एवं तृण काष्ठादि को उड़ा देने वाली संवर्तक हवाएँ चलेंगी। समस्त दिशाएँ निरन्तर

---

१ स्थानांग और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के आधार पर।

२ भ० श०, श० ७, उ० ६।

चलने वाले अन्धड़ों व तूफानों के कारण धूमिल तथा अन्धकारपूर्ण रहेंगी। समय की रूक्षता के कारण चन्द्रमा अत्यधिक शीतलता प्रकट करेगा और सूर्य अत्यधिक उष्णता।"

"तदनन्तर रसरहित--अरस मेघ, विपरीत रस वाले--विरस मेघ, क्षार-मेघ, विष मेघ, अम्ल मेघ, अग्नि मेघ, विद्युत् मेघ, वज्र मेघ, विविध रोग एवं पीड़ाएँ बढ़ाने वाले मेघ प्रचण्ड हवाओं से प्रेरित हो बड़ी तीव्र एवं तीक्ष्ण धाराओं से वर्षा करेंगे। इस प्रकार की तीव्र एवं प्रचुर अतिवृष्टियों के कारण भरतक्षेत्र के ग्राम, नगर, आगर, खेड़े, कव्वड़, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, समग्र जनपद, चतुष्पद, गौ आदि पशु, पक्षी, गाँवों और वनों के अनेक प्रकार के द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणी, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, प्रवाल, अंकुर, तृण-वनस्पति, बादर वनस्पति, सूक्ष्म वनस्पति, औषध और वैताढ्य पर्वत को छोड़-कर सब पर्वत, गिरि, डूंगर, टीबे, गंगा और सिन्धु को छोड़कर सब नदियाँ, झरने, विषम गड्ढे आदि विनष्ट हो जायेंगे। भूमि सम हो जायगी।"

"उस समय समस्त भरतक्षेत्र की भूमि अंगारमय, चिनगारियों के समान, राख तुल्य, अग्नि से तपी हुई बालुका के समान तथा भीषण ताप के कारण अग्नि की ज्वाला के समान दाहक होगी। धूलि, रेणु, पंक एवं धसान वाले दल-दलों के बाहुल्य के कारण पृथ्वी पर चलने वाले प्राणी भूमि पर इधर-उधर बड़ी कठिनाई से चल-फिर सकेंगे।"

छट्ठे आरक में मनुष्य अत्यन्त कुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्धयुक्त, दुखद रस एवं स्पर्श वाले अनिष्ट, चिन्तन मात्र से दुखद, हीन-दीन, कर्णकटु अत्यन्त कर्कश स्वर वाले, अनादेय-अशुभ भाषण करने वाले, निर्लज्ज, झूठ-कपट-कलह, वध-बन्ध और वैरपूर्ण जीवन वाले, मर्यादा का उल्लंघन करने में सदा अग्रणी, कुकर्म करने के लिये सदा उद्यत, आज्ञापालन, विनयादि से रहित, विकलांग, बढ़े हुए रूक्ष नख, केश, दाढ़ी-मूछ व रोमावली वाले, काल के समान काले-कलूटे, फटी हुई दाड़िम के समान ऊबड़-खाबड़ सिर वाले, रूक्ष, पीले पके हुए बालों वाले, मांसपेशियों से रहित व चर्मरोगों के कारण विरूप, प्रथम आयु में ही बुढ़ापे से घिरे हुए, सिकुड़ी हुई सलदार चमड़ी वाले, उड़े हुए बाल और टूटे हुए दांतों के कारण घड़े के समान मुख वाले, विषम आँखों वाले, टेढ़ी नाक, भौंहें व नेत्र आदि के कारण वीभत्स मुख वाले, खुजली कुष्ठ आदि के कारण उधड़ी हुई चमड़ी वाले, कसरे व खसरे के कारण तीखे नखों से निरन्तर शरीर को खुजलाते रहने के कारण घावों से परिपूर्ण विकृत शरीर वाले, ऊबड़-खाबड़ अस्थिसंधियों एवं असम अंगों के कारण विकृत आकृति वाले, दुर्बल, कुसंहनन, कुप्रमाण एवं हीन संस्थान के कारण अत्यन्त कुरूप, कुत्सित स्थान, शय्या और खानपान वाले, अशुचि के भण्डार, अनेक व्याधियों से पीड़ित, स्खलित विह्वल गति वाले,

निरुत्साही, सत्त्वहीन, विकृत चेष्टा वाले, तेजहीन, निरन्तर शीत, ताप और उष्ण, रूक्ष एवं कठोर वायु से पीड़ित, धूलिधूसरित मलिन अंग वाले, अपार क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह वाले, दुखानुबन्धी दुःख के भोगी, अधिकांशतः धर्म-श्रद्धा एवं सम्यक्त्व से भ्रष्ट होंगे।"

"उन मनुष्यों का शरीरमान अधिक से अधिक एक हाथ के बराबर होगा, उनकी अधिक से अधिक आयु १६ अथवा २० वर्ष की होगी, बहुत से पुत्रों, न्यातियों और पौत्रों आदि के परिवार के स्नेहपाश में वे लोग प्रगाढ़ रूप से बँधे रहेंगे।"

"वैताढ्य गिरि के उत्तर-दक्षिण में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ७२ बिलों में, अर्थात् उत्तरार्द्ध भरत में गंगा और सिन्धु नदी के तटवर्ती ३६ बिलों में तथा उसी प्रकार वैताढ्य गिरि के दक्षिण में अर्थात् दक्षिणार्द्ध भरत में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ३६ बिलों में केवल बीज रूप में मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि प्राणी रहेंगे।"

"उस समय गंगा एवं सिन्धु नदियों का प्रवाह केवल रथ-पथ के बराबर रह जायगा और पानी की गहराई रथचक्र की धुरी के बराबर होगी। दोनों नदियों के पानी में मछलियों और कछुओं का बाहुल्य होगा और पानी कम होगा। सूर्योदय और सूर्यास्त वेला में वे लोग बिलों के अन्दर से शीघ्र गति से निकलेंगे। इन नदियों में से मछलियों और कछुओं को पकड़ कर तटवर्ती बालू मिट्टी में गाड़ देंगे। रात्रि की कड़कड़ाती सर्दी और दिन की चिलचिलाती धूप में वे मिट्टी में गाड़ी हुई मछलियाँ और कछुए पक कर उनके खाने योग्य हो जायेंगे।

"इस तरह २१,००० वर्ष के छट्ठे आरे में मनुष्य केवल मछलियों और कछुओं से अपना उदर-भरण करेंगे।"

"उस समय के निश्शील, निर्व्रत, गुणविहीन, मर्यादारहित, प्रत्याख्यान-पौषध-उपवास आदि से रहित व प्रायः मांसभक्षी मनुष्य प्रायः नरक और तिर्यंच योनियों में उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार उस समय के सिंह व्याघ्रादि पशु और ढंक, कंक आदि पक्षी भी प्रायः नरक और तिर्यंच योनियों में उत्पन्न होंगे।"[1]

उत्सर्पिणीकाल

"अवसर्पिणीकाल के दुषमा-दुषम नामक छट्ठे आरे की समाप्ति पर उत्कर्षोन्मुख उत्सर्पिणीकाल प्रारम्भ होगा। उस उत्सर्पिणीकाल में अवसर्पिणी-काल की तरह छै आरे प्रतिलोम रूप से (उलटे क्रम से) होंगे।"

१ भगवती शतक, शतक ७, उद्देशा ६।

"उत्सर्पिणी काल का दुषमा-दुषम नामक प्रथम आरक अवसर्पिणीकाल के छट्ठे आरे की तरह २१ हजार वर्ष का होगा। उसमें सब स्थिति उसी प्रकार की रहेगी जिस प्रकार की कि अवसर्पिणीकाल के छट्ठे आरे में रहती है।"

"उस प्रथम आरक की समाप्ति पर जब २१ हजार वर्ष का दुषम नामक दूसरा आरा प्रारम्भ होगा, तब शुभ समय का श्रीगणेश होगा। पुष्कर संवर्तक नामक मेघ निरन्तर सात दिन तक सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर मूसलाधार रूप में बरस कर पृथ्वी के ताप का हरण करेगा और फिर अन्यान्य मेघों से धान्य एवं औषधियों की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार पुष्करमेघ, क्षीरमेघ, घृतमेघ, अमृतमेघ और रसमेघ सात-सात दिनों के अन्तर से अनवरत बरस कर सूखी धरती की तपन एवं प्यास बुझा कर उसे हरी भरी कर देंगे।"

"भूमि की बदली हुई दशा देखकर गुफावासी मानव गुफाओं से बाहर आयेंगे और हरियाली से लहलहाती सस्यश्यामला धरती को देखकर हर्षविभोर हो उठेंगे। वे लोग आपस में विचार-विमर्श कर मांसाहार का परित्याग कर शाकाहारी बनेंगे। वे लोग अपने समाज का नवगठन करेंगे और नये सिरे से ग्राम, नगर आदि बसायेंगे। शनैः-शनैः ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प आदि की अभिवृद्धि होगी।"[1]

२१ हजार वर्ष की अवधि वाले दुषम नामक द्वितीय आरक की समाप्ति पर दुषमा-सुषम नामक तीसरा आरा प्रारम्भ होगा। वह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का होगा। उस आरक के तीन वर्ष साढ़े आठ मास बीतने पर उत्सर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर का जन्म होगा।

उस तृतीय आरक में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव होंगे। उत्सर्पिणीकाल के इस दुषमा-सुषम नामक आरे में अवसर्पिणीकाल के दुःषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरे के समान सभी स्थिति होगी। अन्तर केवल इतना ही होगा कि अवसर्पिणीकाल में वर्ण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श, आयु, उत्सेध, बल, वीर्य आदि अनुक्रमशः अपकर्षोन्मुख होते हैं और उत्सर्पिणी में उत्कर्षोन्मुख।

उत्सर्पिणीकाल का सुषमा-दुःषम नामक चतुर्थ आरक दो कोड़ाकोड़ी सागर का होगा। इस आरक के आरम्भ में उत्सर्पिणीकाल के चौवीसवें तीर्थंकर और बारहवें चक्रवर्ती होंगे।[2]

---

१ दूसरे आरे में ७ कुलकर होंगे, इस प्रकार का उल्लेख 'विविध तीर्थ कल्प' के '२१ अपापा बृहत्कल्प' में है। स्थानांग में भी प्रथम तीर्थंकर को कुलकर का पुत्र बताया है।

२ एक मान्यता यह भी है कि उत्सर्पिणीकाल के चतुर्थ आरक के प्रारम्भ में कुलकर होते हैं। यथा :
"अण्णे पढंति। तिस्सेणं समाए पढ़मे तिभाये इमे पणरस कुलगरा समुप्पज्जिस्संति.......
[जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष० २, प० १६४, शान्तिचन्द्र गणि]

इस चतुर्थ आरक का एक करोड़ पूर्व से कुछ अधिक समय बीत जाने पर कल्पवृक्ष उत्पन्न होंगे और तब यह भरतभूमि पुनः भोगभूमि बन जायगी।

उत्सर्पिणीकाल के सुषम और सुषमा-सुषम नामक क्रमशः पाँचवें और छट्ठे आरों में अवसर्पिणी के प्रथम दो आरों के समान ही समस्त स्थिति रहेगी।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल के छैः-छैः आरों को मिलाकर कुल बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।

गौतम गणधर ने भगवान् से एक और प्रश्न किया—"भगवन्! आपके निर्वाण के पश्चात् मुख्य-मुख्य घटनाएँ क्या होंगी?"

उत्तर में प्रभु ने फरमाया—"गौतम! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुःषम नामक पाँचवाँ आरा लगेगा। मेरे निर्वाण के चौसठ (६४) वर्ष पश्चात् अन्तिम केवली जम्बू सिद्ध गति को प्राप्त होंगे। उसी समय मनःपर्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान और मुक्तिगमन इन बारह स्थानों का भरतक्षेत्र से विलोप हो जायगा।"

"मेरे निर्वाण के पश्चात् मेरे शासन में पंचम आरे के अन्त तक २००४ युगप्रधान आचार्य होंगे। उनमें प्रथम आर्य सुधर्मा और अन्तिम दुःप्रसह होंगे।"

"मेरे निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के अनन्तर अन्तिम चार वर्ष पूर्व, समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन और महाप्राणध्यान इन चार चीजों का भरतक्षेत्र से उच्छेद हो जायगा।"

"मेरे निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् आचार्य आर्य वज्र के समय में दसवाँ पूर्व और प्रथम संहनन-चतुष्क समाप्त हो जायेंगे।"

"मेरे मोक्षगमन के अनन्तर पालक, नन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओं के अवसान के पश्चात्, अर्थात् मेरे निर्वाण के ४७० वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य नामक राजा होगा। पालक का राज्यकाल ६० वर्ष, (नव) नन्दों का राज्यकाल १५५ वर्ष, मौर्यों का १०८ वर्ष, पुष्यमित्र का ३० वर्ष, बलमित्र व भानुमित्र का राज्यकाल ६० वर्ष, नरवाहन का ४० वर्ष, गर्दभिल्ल का १३ वर्ष, शक का राज्यकाल ४ वर्ष और उसके पश्चात् विक्रमादित्य का शासन होगा। सज्जन और स्वर्णपुरुष विक्रमादित्य पृथ्वी का निष्कंटक राज्य कर अपना संवत् चलायेगा।"

"मेरे निर्वाण के ४५३ वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के राज्य का अन्त करने वाला कालकाचार्य होगा।"[1]

"विशेष क्या कहा जाय, बहुत से साधु भाँडों के समान होंगे, पूर्वाचार्यों से परम्परागत चली आ रही समाचारी का परित्याग कर अपनी कपोलकल्पना के अनुसार समाचारी और चारित्र के नियम बना-बना कर उस समय के अल्पज्ञ मनुष्यों को विमुग्ध कर आगम के विपरीत प्ररूपणा करते हुए आत्मप्रशंसा और परनिन्दा में निरत रहेंगे। विपुल आत्मबल वालों की कोई पूछ नहीं रहेगी और आत्मबलविहीन लोग पूजनीय बनेंगे।"[2]

"इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप इस संसारचक्र में धर्माराधन करने वाले ही वस्तुतः कालचक्र को पार कर सिद्धि प्राप्त कर पायेंगे।"

भगवान् के द्वारा इस तरह संसार-भ्रमण और दुखों की भयंकरता का विवरण सुन हस्तिपाल आदि आदि अनेक भव्य आत्माओं ने निर्ग्रन्थ धर्म की शरण ली।

इस वर्ष निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचुर प्रचार एवं विस्तार हुआ[3] और अनेक भव्यात्माओं ने निर्ग्रन्थ-धर्म की श्रमण-दीक्षाएँ स्वीकार की।

इस प्रकार वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये। चौथे महीने में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल 'रज्जुग सभा'[4] में भगवान् के मुखारविन्द से अन्तिम उपदेशामृत की अनवरत वृष्टि हो रही थी। सभा में काशी, कोशल के नौ लिच्छवी, नौ मल्ल एवं अठारह गणराजा भी उपस्थित थे।

शक्र द्वारा आयुवृद्धि की प्रार्थना

प्रभु के मोक्ष समय को निकट जानकर शक्र वन्दन करने को आया और अंजलि जोड़कर बोला—"भगवन्! आपके जन्मकाल में जो उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, उस पर इस समय भस्मग्रह संक्रान्त होने वाला है, जो कि जन्म-नक्षत्र

---

१ तह गद्दभिल्लरज्जस्सुठायगो कालगायरियो होही।
तेवण्ण चउसएहिं, गुणसवकलिओ सुअपउत्तो॥

२ विविध ती० क०, २० कल्प, अभिधान राजेन्द्र, चौथा भाग, पृ० २६०१।

३ महावीर चरित्र, हेमचन्द्र सूरिकृत।

४ रज्जुगा-लेहगा, तेसिं सभा रज्जुयसभा, अपरिभुज्जमाण करणसाला।
—कल्पसूत्र, सू० १२२। (टीका)

पर दो हजार वर्ष तक रहेगा। अतः उसके संक्रमणकाल तक आप आयु को वढ़ा लें तो वह निष्फल हो जायेगा।"

भगवान् ने कहा—"इन्द्र ! आयु के घटाने-वढ़ाने की किसी में शक्ति नहीं है।[1] ग्रह तो केवल आगामी काल में शासन की जो गति होने वाली है, उसके दिग्दर्शक मात्र हैं।" इस प्रकार इन्द्र की शंका का समाधान कर भगवान् ने उसे संतुष्ट कर दिया।

परिनिर्वाण

भगवान् महावीर का कार्तिक कृष्णा अमावस्या की पिछली रात्रि में निर्वाण हुआ, उस समय तक सोलह प्रहर जितने दीर्घकाल पर्यंत प्रभु अनन्त वली होने के कारण विना खेद के प्रवचन करते रहे। प्रभु ने अपनी इस अन्तिम देशना में पुण्यफल के पचपन अध्ययनों का और पापफल विपाक के पचपन अध्ययनों का कथन किया[2], जो वर्तमान में सुख विपाक और दुःख विपाक नाम से विपाक सूत्र के दो खंडों में प्रसिद्ध हैं। भगवान् महावीर ने इस अन्तिम देशना में अपृष्ट व्याकरण के छत्तीस अध्ययन भी कहे[3], जो वर्तमान में उत्तराध्ययन सूत्र के रूप में प्रख्यात हैं। सैंतीसवाँ प्रधान नामक मरुदेवी का अध्ययन फरमाते-फरमाते भगवान् पर्यंकासन में स्थिर हो गये।[4] भगवान् ने वादर काययोग में स्थित रह क्रमशः वादर मनोयोग और वादर वचनयोग का निरोध किया, फिर सूक्ष्म काययोग में स्थित रह वादर काययोग को रोका, वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। शुक्लध्यान के सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती तीसरे चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काययोग का निरोध किया और समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नाम के चौथे चरण में पहुँच अ, इ, उ, ऋ, और लृ इन पाँच अक्षरों को उच्चारण करें,

---

१ (क) भयवं कुणह पसायं, विगमह एयंपि ताव खणमेक्कं।
जावेस भासरासिस्स, नूणमुदग्रो अवक्कमइ ॥१॥ महावीर च०, प्रस्ता० ८, प० ३३८।

(ख) अह जय गुरुणा भणियं सुरिंद, तीयाइतिविहकालेऽवि।
नो भूयं न भविस्सइ न हवइ नूणं इमं कज्जं।
जं आऊकम्म विगमेऽवि, कोऽवि अच्छेज्ज समयमेत्तमवि।
अच्चंताणंतविसिट्ठसत्तिपब्भारजुत्तोऽवि।

२ (क) समवा०, ५५वाँ समवाय
(ख) कल्पसूत्र, १४७ सू०

३ (क) कल्पसूत्र, १४७ सू०
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २८३।

४ संपलिग्रंकं निसण्णे……। समवायांग।

जितने काल तक शैलेशी–दशा में रहकर चार अघातिकर्मों का क्षय किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गये ।[1]

उस समय वर्षाकाल का चौथा मास और सातवाँ पक्ष अर्थात् कार्तिक कृष्ण पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी ।

निर्वाणकाल में प्रभु महावीर छट्ठभक्त (बेले) की तपस्या से सोलह प्रहर तक देशना करते रहे ।[2] देशना के मध्य में कई प्रश्न और चर्चाएँ भी हुईं ।

प्रभु महावीर ने अपना निर्वाण-समय सन्निकट जान प्रथम गणधर इन्द्रभूति को, देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया । अपने चिर-अन्तेवासी गौतम को दूर भेजने का कारण यह था कि भगवान् के निर्वाण के समय गौतम अधिक स्नेहाकुल न हों । इन्द्रभूति ने भगवान् की आज्ञा के अनुसार देव शर्मा को प्रतिबोध दिया । प्रतिबोध देने के पश्चात् वे प्रभु के पास लौटना चाहते थे पर रात्रि हो जाने के कारण लौट नहीं सके । अर्द्ध रात्रि के पश्चात् उन्हें भगवान् के निर्वाण का संवाद मिला । भगवान् के निर्वाण को सुनते ही इन्द्रभूति अति खिन्न हो गये और स्नेह-विह्वल हो कहने लगे–"भगवन् ! यह क्या ? आपने मुझे इस अन्तिम समय में अपने से दूर क्यों किया ! क्या मैं आपको मोक्ष जाने से रोकता था, क्या मेरा स्नेह सच्चा नहीं था अथवा क्या मैं आपके साथ होकर मुक्ति में आपका स्थान रोकता ? अब मैं किसके चरणों में प्रणाम करूँगा और कहाँ अपनी मनोगत शंकाओं का समाधान प्राप्त करूँगा ? प्रभो ! अब मुझे "गौतम" "गौतम" कौन कहेगा ?" इस प्रकार भावना-प्रवाह में बहते-बहते गौतम ने स्वयं को सम्हाला और विचार किया–"अरे ! यह मेरा कैसा मोह ? भगवान् तो वीतराग हैं, उनमें कैसा स्नेह ! यह तो मेरा एकपक्षीय मोह है । क्यों नहीं मैं भी प्रभु चरणों का अनुगमन करूँ, इस नश्वर जगत् के दृश्यमान पदार्थों में मेरा कौन है ?" इस प्रकार चिन्तन करते हुए गौतम ने उसी रात्रि के अन्त में घाती कर्मों का क्षय कर क्षण भर में केवलज्ञान के अक्षय आलोक को प्राप्त कर लिया ।[3] वे त्रिकालदर्शी हो गये ।

गौतम के लिए कहा जाता है कि एक बार अपने से छोटे साधुओं को केवलज्ञान से विभूषित देखकर उनके मन में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई और वे सोचने लगे कि उन्हें अभी तक केवलज्ञान किस कारण से प्राप्त नहीं हुआ है ।

---

१ कल्पसूत्र, सू० १४७ ।

२ सौभाग्य पंचम्यादि पर्वकथा संग्रह, पृ० १०० । "षोडश प्रहरान् यावद् देशनां दत्तवान् ।"

३ जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्ख पहीणे तं रयणिं च णं जेट्ठस्स गोयमस्स इंदभूइस्स........केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ।

[कल्पसूत्र, सूत्र १२६—सिवाना संस्करण]

घट-घट के अन्तर्यामी प्रभु महावीर ने अपने प्रमुख शिष्य गौतम की उस चिन्ता को समझ कर कहा—"गौतम ! तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ़ स्नेह है। अनेक भवों से हम एक दूसरे के साथ रहे हैं। यहाँ से आयु पूर्ण कर हम दोनों एक ही स्थान पर पहुँचेंगे और फिर कभी एक दूसरे से विलग नहीं होंगे। मेरे प्रति तुम्हारा यह धर्मस्नेह ही तुम्हारे लिये केवलज्ञान की प्राप्ति को रोके हुए हैं। स्नेहराग के क्षीण होने पर तुम्हें केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी।"

प्रभु का अन्तिम निर्णय सुनकर गौतम उस समय अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

भगवान् के निर्वाण के समय समवसरण में उपस्थित गण-राजाओं ने भावभीने हृदय से कहा—"अहो ! आज संसार से वस्तुतः भाव उद्योत उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेंगे।"

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर काल-धर्म को प्राप्त हुए, जन्म, जरा-मरण के सब बन्धनों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए, उस समय चन्द्र नाम का संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन नाम का मास और नन्दिवर्द्धन नाम का पक्ष था। दिन का नाम 'अग्निवेश्म' या 'उपशम' था। देवानन्दा रात्रि और अर्थ नाम का लव था। मुहूर्त नाम का प्राण और सिद्ध नाम का स्तोक था। नागकरण और सर्वार्थसिद्ध मुहूर्त में स्वाति-नक्षत्र के योग में जब भगवान् षष्ठ-भक्त के तप में पर्यंकासन से विराजमान थे, सिद्ध बुद्ध-मुक्त हो गये।

देवादिकृत शरीर-क्रिया

भगवान् का निर्वाण हुआ जान कर स्वर्ग से शक्र आदि इन्द्र, सहस्रों देव-देवियाँ एवं स्थान-स्थान से नरेन्द्रादि सभी वर्गों के अपरिमेय जनौघ उद्वेलित समुद्र के समान पावापुरी में राजा हस्तिपाक की रज्जुग सभा की ओर उमड़ पड़े और अश्रुपूर्ण नयनों से भगवान् के पार्थिव शरीर को शिविका में विराजमान कर चितास्थान पर ले गये। वहाँ देवनिर्मित गोशीर्ष चन्दन की चिता में प्रभु के शरीर को रखा गया। अग्निकुमार द्वारा अग्नि प्रज्वलित की गई और वायुकुमार ने वायु संचारित कर सुगन्धित पदार्थों के साथ प्रभु के शरीर की दाह-क्रिया सम्पन्न की। फिर मेघकुमार ने जल बरसा कर चिता शान्त की।

निर्वाणकाल में उपस्थित अठारह गण-राजाओं ने अमावस्या के दिन पौषध, उपवास किया और प्रभु के निर्वाणान्तर भाव उद्योत के उठ जाने से महावीर के ज्ञान के प्रतीक रूप से संस्मरणार्थ द्रव्य-प्रकाश करने का निश्चय किया, चहुं ओर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर और डगर-डगर में घर-घर दीप जला कर प्रभु द्वारा लोक में केवलज्ञान द्वारा किये गये अनिर्वचनीय उद्योत की स्मृति

में दीप-महोत्सव के रूप में जनगण ने द्रव्योद्योत किया। उस दिन जब दीप जला कर प्रकाश किया गया तभी से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ, जो कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रति वर्ष बड़ी धूम-धाम के साथ आज भी मनाया जाता है।[1]

भगवान् महावीर की आयु

श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहवास में रहे। साधिकद्वादश वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में साधना की और कुछ कम तीस वर्ष केवली रूप से विचरे। इस तरह सम्पूर्ण बयालीस वर्ष का संयम पाल कर बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु में प्रभु मुक्त हुए। समवायांग में भी बहत्तर वर्ष का सब आयु भोग कर सिद्ध होने का उल्लेख है।[2] छद्मस्थ पर्याय का कालमान स्थानांग में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—बारह वर्ष और तेरह पक्ष छद्मस्थ पर्याय का पालन किया और १३ पक्ष कम ३० वर्ष केवली पर्याय में रहे।[3] पूर्ण आयु सब में बहत्तर वर्ष मानी गई है।

भगवान् महावीर के चातुर्मास

श्रमण भगवान् महावीर ने अस्थिग्राम में प्रथम चातुर्मास किया। चम्पा और पृष्ठ चम्पा में तीन (३) चातुर्मास किये। वैशाली नगरी और वाणिज्य ग्राम में प्रभु के बारह (१२) चातुर्मास हुए। राजगृह और उसके उपनगर नालंदा में चौदह (१४) चातुर्मास हुए। मिथिला नगरी में भगवान् ने छै (६) चातुर्मास किये। भद्दिया नगरी में दो, आलंभिका और सावत्थी में एक एक चातुर्मास हुआ। वज्रभूमि (अनार्य) में एक चातुर्मास और पावापुरी में एक अंतिम इस प्रकार कुल बयालीस चातुर्मास किये।

भगवान् महावीर का धर्म-परिवार

भगवान् महावीर ने चतुर्विध संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण—गौतम इन्द्रभूति आदि ग्यारह (११) गणधर और नव (९) गण

१ (क) गते से भावुज्जोये दव्वुज्जोयं करिस्सामो ।। कल्प सू., सू० १२७ (शिवाना सं.)
(ख) ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादराद्, प्रसिद्ध दीपावलिकात्र भारते।
—त्रि०, १० प० १३ स० १४८ श्लो० (हरिवंश)
(ग) एवं सुरगणपहामुज्जयं तस्सि दिणे सयलं महीमंडलं दट्ठूण तहच्चेव कीरमाणे जणवएण 'दीवोसवो' त्ति पासिद्धि गओ। च. म., पृ. ३३४।

२ समवायांग, समवाय ७२

३ स्थानांग, ६ स्था० ३ उ० सू० ६६३। दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्ख छउमत्थ० ।।
(अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित, पृष्ठ ८१६)

केवली	–	सात सौ (७००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	पाँच सौ (५००)
अवधिज्ञानी	–	तेरह सौ (१,३००)
चौदह पूर्वधारी	–	तीन सौ (३००)
वादी	–	चार सौ (४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	सात सौ (७००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	–	आठ सौ (८००)
साधु	–	चौदह हजार (१४,०००)
साध्वियाँ	–	चन्दना आदि छत्तीस हजार (३६,०००)
श्रावक	–	शंख आदि एक लाख उनसठ हजार (१,५६,०००)
श्राविकाएं	–	सुलसा, रेवती प्रभृत्ति तीन लाख अठारह हजार (३,१८,०००)

भगवान् महावीर के शासन में सात सौ साधुओं और चौदह सौ साध्वियों ने निर्वाण प्राप्त किया। यह तो केवल व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त प्रभु के लाखों भक्त थे।

गणधर

श्रमण भगवान् महावीर के धर्म-परिवार में नौ गण और ग्यारह गणधर थे जो इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति, (३) वायुभूति (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मंडित, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचल-भ्राता, (१०) मेतार्य और (११) श्री प्रभास।[1] ये सभी गृहस्थ-जीवन में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी जातिमान् ब्राह्मण थे। मध्यम पावा के सोमिल ब्राह्मण का आमन्त्रण पाकर अपने-अपने छात्रों के साथ ये वहां के यज्ञ में आये हुए थे। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भगवान् भी पावापुरी पधारे और यज्ञ-स्थान के उत्तर भाग में विराजमान हुए। इन्द्रभूति आदि विद्वान् भी समवशरण की महिमा से आकर्षित हो भगवान् की सेवा में आये और अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन अपने शिष्य-मंडल के साथ भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हुए। त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर इन्होंने चतुर्दश पूर्व की रचना की और गणधर कहलाये। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ समवायांग, समवाय ११।

में दीप-महोत्सव के रूप में जनगण ने द्रव्योद्योत किया। उस दिन जब दीप जला कर प्रकाश किया गया तभी से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ, जो कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रति वर्ष बड़ी धूम-धाम के साथ आज भी मनाया जाता है।[1]

भगवान् महावीर की आयु

श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहवास में रहे। साधिकद्वादश वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में साधना की और कुछ कम तीस वर्ष केवली रूप से विचरे। इस तरह सम्पूर्ण बयालीस वर्ष का संयम पाल कर बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु में प्रभु मुक्त हुए। समवायांग में भी बहत्तर वर्ष का सब आयु भोग कर सिद्ध होने का उल्लेख है।[2] छद्मस्थ पर्याय का कालमान स्थानांग में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—बारह वर्ष और तेरह पक्ष छद्मस्थ पर्याय का पालन किया और १३ पक्ष कम ३० वर्ष केवली पर्याय में रहे।[3] पूर्ण आयु सब में बहत्तर वर्ष मानी गई है।

भगवान् महावीर के चातुर्मास

श्रमण भगवान् महावीर ने अस्थिग्राम में प्रथम चातुर्मास किया। चम्पा और पृष्ठ चम्पा में तीन (३) चातुर्मास किये। वैशाली नगरी और वाणिज्य ग्राम में प्रभु के बारह (१२) चातुर्मास हुए। राजगृह और उसके उपनगर नालंदा में चौदह (१४) चातुर्मास हुए। मिथिला नगरी में भगवान् ने छै (६) चातुर्मास किये। भद्दिया नगरी में दो, आलंभिका और सावत्थी में एक एक चातुर्मास हुआ। वज्रभूमि (अनार्य) में एक चातुर्मास और पावापुरी में एक अंतिम इस प्रकार कुल बयालीस चातुर्मास किये।

भगवान् महावीर का धर्म-परिवार

भगवान् महावीर ने चतुर्विध संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण—गौतम इन्द्रभूति आदि ग्यारह (११) गणधर और नव (९) गण

---

१ (क) गते से भावुज्जोये दव्वुज्जोयं करिस्सामो।। कल्प सू., सू० १२७ (शिवाना सं.)

(ख) ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादराद्, प्रसिद्ध दीपावलिकात्र भारते।

—त्रि०, १० प० १३ स० १४८ श्लो० (हरिवंश)

(ग) एवं सुरगणपहामुज्जयं तम्मि दिणे सयलं महीमंडलं दट्ठूण तहच्चेव कीरमाणे जणवएण 'दीवोसवो' त्ति पासिद्धि गओ। च. म., पृ. ३३४।

२ समवायांग, समवाय ७२

३ स्थानांग, ९ स्था० ३ उ० सू० ६९३। दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्ख छउमत्थ०।। (अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित, पृष्ठ ८१६)

केवली	–	सात सौ (७००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	पाँच सौ (५००)
अवधिज्ञानी	–	तेरह सौ (१,३००)
चौदह पूर्वधारी	–	तीन सौ (३००)
वादी	–	चार सौ (४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	सात सौ (७००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	–	आठ सौ (८००)
साधु	–	चौदह हजार (१४,०००)
साध्वियाँ	–	चन्दना आदि छत्तीस हजार (३६,०००)
श्रावक	–	शंख आदि एक लाख उनसठ हजार (१,५६,०००)
श्राविकाएं	–	सुलसा, रेवती प्रभृत्ति तीन लाख अठारह हजार (३,१८,०००)

भगवान् महावीर के शासन में सात सौ साधुओं और चौदह सौ साध्वियों ने निर्वाण प्राप्त किया। यह तो केवल व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त प्रभु के लाखों भक्त थे।

गणधर

श्रमण भगवान् महावीर के धर्म-परिवार में नौ गण और ग्यारह गणधर थे जो इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति, (३) वायुभूति (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मंडित, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचल-भ्राता, (१०) मेतार्य और (११) श्री प्रभास।[1] ये सभी गृहस्थ-जीवन में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी जातिमान् ब्राह्मण थे। मध्यम पावा के सोमिल ब्राह्मण का आमन्त्रण पाकर अपने-अपने छात्रों के साथ ये वहां के यज्ञ में आये हुए थे। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भगवान् भी पावापुरी पधारे और यज्ञ-स्थान के उत्तर भाग में विराजमान हुए। इन्द्रभूति आदि विद्वान् भी समवशरण की महिमा से आकर्षित हो भगवान् की सेवा में आये और अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन अपने शिष्य-मंडल के साथ भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हुए। त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर इन्होंने चतुर्दश पूर्व की रचना की और गणधर कहलाये। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ समवायांग, समवाय ११।

में दीप-महोत्सव के रूप में जनगण ने द्रव्योद्योत किया। उस दिन जब दीप जला कर प्रकाश किया गया तभी से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ, जो कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रति वर्ष बड़ी धूम-धाम के साथ आज भी मनाया जाता है।[1]

भगवान् महावीर की आयु

श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहवास में रहे। साधिकद्वादश वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में साधना की और कुछ कम तीस वर्ष केवली रूप से विचरे। इस तरह सम्पूर्ण बयालीस वर्ष का संयम पाल कर बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु में प्रभु मुक्त हुए। समवायांग में भी बहत्तर वर्ष का सब आयु भोग कर सिद्ध होने का उल्लेख है।[2] छद्मस्थ पर्याय का कालमान स्थानांग में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—बारह वर्ष और तेरह पक्ष छद्मस्थ पर्याय का पालन किया और १३ पक्ष कम ३० वर्ष केवली पर्याय में रहे।[3] पूर्ण आयु सब में बहत्तर वर्ष मानी गई है।

भगवान् महावीर के चातुर्मास

श्रमण भगवान् महावीर ने अस्थिग्राम में प्रथम चातुर्मास किया। चम्पा और पृष्ठ चम्पा में तीन (३) चातुर्मास किये। वैशाली नगरी और वाणिज्य ग्राम में प्रभु के बारह (१२) चातुर्मास हुए। राजगृह और उसके उपनगर नालंदा में चौदह (१४) चातुर्मास हुए। मिथिला नगरी में भगवान् ने छै (६) चातुर्मास किये। भद्दिया नगरी में दो, आलंभिका और सावत्थी में एक एक चातुर्मास हुआ। वज्रभूमि (अनार्य) में एक चातुर्मास और पावापुरी में एक अंतिम इस प्रकार कुल बयालीस चातुर्मास किये।

भगवान् महावीर का धर्म-परिवार

भगवान् महावीर ने चतुर्विध संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण—गौतम इन्द्रभूति आदि ग्यारह (११) गणधर और नव (९) गण

---

१ (क) गते से भावुज्जोये दव्वुज्जोयं करिस्सामो ॥ कल्प सू., सू० १२७ (शिवाना सं.)

(ख) ततस्तु लोक: प्रतिवर्षमादराद्, प्रसिद्ध दीपावलिकात्र भारते।

—त्रि०, १० प० १३ स० १४८ श्लो० (हरिवंश)

(ग) एवं सुरगणपहामुज्जयं तस्सि दिणे सयलं महीमंडलं दट्ठूण तहच्चेव कीरमाणे जणवएण 'दीवोसवो' त्ति पासिद्धिं गओ। च. म., पृ. ३३४।

२ समवायांग, समवाय ७२

३ स्थानांग, ९ स्था० ३ उ० सू० ६९३। दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्ख छउमत्थ० ॥ (अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित, पृष्ठ ८१६)

केवली	—	सात सौ (७००)
मन:पर्यवज्ञानी	—	पाँच सौ (५००)
अवधिज्ञानी	—	तेरह सौ (१,३००)
चौदह पूर्वधारी	—	तीन सौ (३००)
वादी	—	चार सौ (४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	—	सात सौ (७००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—	आठ सौ (८००)
साधु	—	चौदह हजार (१४,०००)
साध्वियाँ	—	चन्दना आदि छत्तीस हजार (३६,०००)
श्रावक	—	शंख आदि एक लाख उनसठ हजार (१,५९,०००)
श्राविकाएं	—	सुलसा, रेवती प्रभृत्ति तीन लाख अठारह हजार (३,१८,०००)

भगवान् महावीर के शासन में सात सौ साधुओं और चौदह सौ साध्वियों ने निर्वाण प्राप्त किया। यह तो केवल व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त प्रभु के लाखों भक्त थे।

गणधर

श्रमण भगवान् महावीर के धर्म-परिवार में नौ गण और ग्यारह गणधर थे जो इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति, (३) वायुभूति (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मंडित, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचल-भ्राता, (१०) मेतार्य और (११) श्री प्रभास।[१] ये सभी गृहस्थ-जीवन में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी जातिमान् ब्राह्मण थे। मध्यम पावा के सोमिल ब्राह्मण का आमन्त्रण पाकर अपने-अपने छात्रों के साथ ये वहां के यज्ञ में आये हुए थे। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भगवान् भी पावापुरी पधारे और यज्ञ-स्थान के उत्तर भाग में विराजमान हुए। इन्द्रभूति आदि विद्वान् भी समवशरण की महिमा से आकर्षित हो भगवान् की सेवा में आये और अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन अपने शिष्य-मंडल के साथ भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हुए। त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर इन्होंने चतुर्दश पूर्व की रचना की और गणधर कहलाये। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ समवायांग, समवाय ११।

१. इन्द्रभूति

प्रथम गणधर इन्द्रभूति मगध देश के अन्तर्गत 'गोवर' ग्रामवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति ब्राह्मण के पुत्र थे। इनकी माता का नाम पृथ्वी था। ये वेद-वेदान्त के पाठी थे। महावीर स्वामी के पास आत्मा विषयक संशय की निवृत्ति पाकर ये पाँच सौ छात्रों के साथ दीक्षित हुए।

दीक्षा के समय इनकी अवस्था ५० वर्ष की थी। इनका शरीर सुन्दर, सुडौल और सुगठित था। महावीर के चौदह हजार साधुओं में मुख्य होकर भी आप बड़े तपस्वी थे। आपका विनय गुण भी अनुपम था। भगवान् के निर्वाण के बाद आपने केवलज्ञान प्राप्त किया। तीस वर्ष तक छद्मस्थ-भाव रहने के पश्चात् फिर बारह वर्ष केवली-पर्याय में विचरे। आयुकाल निकट देखकर अन्त में अपने गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से निर्वाण प्राप्त किया। इनकी पूर्ण आयु बाणवें वर्ष की थी।

२. अग्निभूति

दूसरे गणधर अग्निभूति इन्द्रभूति के मझले सहोदर थे। 'पुरुषाद्वैत' की शंका दूर होने पर इन्होंने भी पाँच सौ छात्रों के साथ ४६ वर्ष की अवस्था में श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में मुनि-धर्म स्वीकार किया और बारह वर्ष तक छद्मस्थ-भाव में रह कर केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रहकर इन्होंने भगवान् के जीवनकाल में ही गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से मुक्ति प्राप्त की। इनकी पूर्ण आयु चौहत्तर वर्ष की थी।[1]

३. वायुभूति

तीसरे गणधर वायुभूति भी इन्द्रभूति तथा अग्निभूति के छोटे सहोदर थे। इन्द्रभूति की तरह इन्होंने भी 'तज्जीव तच्छरीर-वाद' को छोड़ कर भगवान् महावीर से भूतातिरिक्त आत्मा का बोध पाकर पाँच सौ छात्रों के साथ प्रभु की सेवा में दीक्षा ग्रहण की। उस समय इनकी अवस्था बयालीस वर्ष की थी। दश वर्ष छद्मस्थभाव में साधना करके इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और ये अठारह वर्ष तक केवली रूप से विचरते रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पहले एक मास के अनशन से इन्होंने भी सत्तर [७०] वर्ष की अवस्था में गुण-शील चैत्य में सिद्धि प्राप्त की।

४. आर्य व्यक्त

चौथे गणधर आर्य व्यक्त कोल्लाग सन्निवेश के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वारुणी और पिता का नाम धनमित्र था। इन्हें शंका

१ आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६५६, पृ० १२३ (१)

थी कि ब्रह्म के अतिरिक्त सारा जगत् मिथ्या है। भगवान् महावीर से अपनी शंका का सम्यक् समाधान पाकर इन्होंने भी पाँच सौ छात्रों के साथ पचास वर्ष की वय में प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक छद्मस्थ साधना करके इन्होंने भी केवलज्ञान प्राप्त किया और अठारह वर्ष तक केवली-पर्याय में रहकर भगवान् के जीवनकाल में ही एक मास के अनशन से गुणशील चैत्य में अस्सी वर्ष की वय में सकल कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त की।

५. सुधर्मा

पंचम गणधर सुधर्मा 'कोल्लाग' सन्निवेश के अग्नि वेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का नाम धम्मिल था। इन्होंने भी जन्मान्तर विषयक संशय को मिटाकर भगवान् के चरणों में पांच सौ छात्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। ये ही भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी आचार्य हुए। ये वीर निर्वाण के बीस वर्ष बाद तक संघ की सेवा करते रहे। अन्यान्य सभी गणधरों ने दीर्घजीवी समझ कर इनको ही अपने-अपने गण सँभला दिये थे। आप ५० वर्ष गृहवास में एवं ४२ वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में रहे और ७ वर्ष केवली रूप से धर्म का प्रचार कर १०० वर्ष की पूर्ण आयु में राजगृह नगर में मोक्ष पधारे।

६. मंडित

छठे गणधर मंडित मौर्य सन्निवेश के वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजया देवी था। भगवान् महावीर से आत्मा का संसारित्व समझ कर इन्होंने भी गौतम आदि की तरह तीन सौ पचास ३५० छात्रों के साथ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षाकाल में इनकी अवस्था तिरेपन वर्ष की थी। चौदह वर्ष साधना कर सड़सठ [६७] वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के निर्वाण-पूर्व इन्होंने भी सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर तिरासी [८३] वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्त की।

७. मौर्यपुत्र

सातवें गणधर मौर्यपुत्र मौर्य सन्निवेश के काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया देवी था। देव और देवलोक सम्बन्धी शंका की निवृत्ति होने पर इन्होंने भी तीन सौ पचास [३५०] छात्रों के साथ पैंसठ वर्ष की वय में श्रमण दीक्षा स्वीकार की। १४ वर्ष छद्मस्थ भाव में रहकर उन्हासी [७६] वर्ष की अवस्था में इन्होंने तपस्या से केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष तक केवली पर्याय में रहकर भगवान् के सामने ही

पचानवे [९५] वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

८. अकम्पित

आठवें गणधर अकम्पित मिथिला के रहने वाले, गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था। नरक और नारकीय जीव सम्बन्धी संशय-निवृत्ति के बाद इन्होंने भी अड़तालीस वर्ष की अवस्था में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। ६ वर्ष तक छद्मस्थ रहकर सत्तावन वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और इक्कीस वर्ष केवली-पर्याय में रह कर प्रभु के जीवन के अन्तिम वर्ष में गुणशील चैत्य में एक मास का अनशन पूर्ण कर अठहत्तर वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

९. अचलभ्राता

नवें गणधर अचलभ्राता कोशला निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता का नाम नन्दा और पिता का नाम वसु था। पुण्य-पाप सम्बन्धी अपनी शंका निवृत्ति के बाद इन्होंने भी छियालीस वर्ष की अवस्था में तीन सौ छात्रों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण दीक्षा स्वीकार की। बारह वर्ष पर्यन्त तीव्र तप एवं ध्यान कर अट्ठावन वर्ष की अवस्था में आपने केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर बहत्तर वर्ष की वय में एक मास का अनशन कर गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

१०. मेतार्य

दसवें गणधर मेतार्य वत्स देशान्तर्गत तुंगिक सन्निवेश के रहने वाले कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वरुणा देवी और पिता का नाम दत्त था। इनको पुनर्जन्म सम्बन्धी शंका थी। भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर तीन सौ छात्रों के साथ छत्तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने भी श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। दश वर्ष की साधना के बाद छियालीस वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर भगवान् के जीवनकाल में ही बासठ वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

११. प्रभास

ग्यारहवें गणधर प्रभास राजगृह के रहने वाले, कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम 'अतिभद्रा' और पिता का नाम बल था। मुक्ति विषयक शंका का प्रभु महावीर द्वारा समाधान हो जाने पर इन्होंने भी तीन सौ

शिष्यों के साथ सोलह वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया। आठ वर्ष बाद चौवीस वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष तक केवली-पर्याय में रहकर चालीस वर्ष की वय में गुणशील चैत्य में एक मास का अनशन कर इन्होंने भगवान् के जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त किया। सबसे छोटी आयु में दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करने वाले ये ही एक गणधर हैं।

ये सभी गणधर जाति से ब्राह्मण और वेदान्त के पारगामी पण्डित थे व इन सबका संहनन वज्र ऋषभ नाराच तथा समचतुरस्र संस्थान था। दीक्षित होकर सबने द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त किया, अतः सब चतुर्दश पूर्वधारी एवं विशिष्ट लब्धियों के धारक थे।[1]

दिगम्बर परम्परा में गौतम आदि का परिचय

दिगम्बर परम्परा के मंडलाचार्य धर्मचन्द्र ने अपने ग्रन्थ "गौतम चरित्र" में प्रभु महावीर के प्रथम तीन गणधरों का परिचय दिया है, जिसका सारांश इस प्रकार है :—

इन्द्रभूति

मगध प्रदेश के ब्राह्मणनगर ग्राम में शाण्डिल्य नामक एक विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मण रहता था। शाण्डिल्य के स्थंडिला और केसरी नाम की दो धर्मपत्नियाँ थीं, जो रूप-लावण्य-गुणसम्पन्ना एवं पतिपरायणाएं थीं।

एक समय रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखप्रसुप्ता स्थण्डिला ने शुभ स्वप्न देखे और पंचम देवलोक का एक देव देवायु पूर्ण कर उसके गर्भ में आया। गर्भ-काल पूर्ण होने पर माता स्थण्डिला ने एक अति सौम्य एवं प्रियदर्शी पुत्र को जन्म दिया। बालक महान् पुण्यशाली था, उसके जन्म के समय सुखद, शीतल, मन्द-मन्द सुगन्धित पवन प्रवाहित हुआ, दिशाएँ निर्मल एवं प्रकाशपूर्ण हो गईं और दिव्य जयघोषों से गगन गुंजरित हो उठा। विद्वान् ब्राह्मण शाण्डिल्य ने पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में बड़े हर्षोल्लास के साथ मुक्तहस्त हो याचकों को यथेप्सित दान दिया। नवजात शिशु की जन्म-कुण्डली देख भविष्यवाणी की कि यह बालक आगे चल कर चौदह विद्याओं का निधान एवं सकल शास्त्रों का पार-गामी विद्वान् बनेगा और निखिल महीमण्डल में इसका यश प्रसृत होगा। माता-पिता ने उस बालक का नाम इन्द्रभूति रखा।

अग्निभूति

कुछ समय पश्चात् पंचम स्वर्ग का एक और देव अपनी देवायु पूर्ण होने

१ आव. नि., गाथा ६५८–६६०

पर ब्राह्मणी स्थण्डिला के गर्भ में आया। जिस समय बालक इन्द्रभूति था, उस समय माता स्थण्डिला ने गर्भकाल पूर्ण होने पर एक महान् तेजस्वी एवं सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। माता-पिता ने अपने इस द्वितीय पुत्र का नाम गार्ग्य रखा। यही बालक आगे चल कर अग्निभूति के नाम से विख्यात हुआ।

वायुभूति

कालान्तर में शाण्डिल्य की द्वितीय पत्नी केसरी के गर्भ में भी पंचम स्वर्ग से च्युत एक देव उत्पन्न हुआ। समय पर केसरी ने भी पुत्ररत्न को जन्म दिया। शाण्डिल्य ने अपने उस तीसरे पुत्र का नाम भार्गव रखा। वही बालक भार्गव आगे चल कर लोक में वायुभूति के नाम से विश्रुत हुआ।

एक बहुत बड़ा भ्रम

भगवान् महावीर के छठे गणधर मंडित और सातवें गणधर मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में पूर्वकालीन कुछ आचार्यों और वर्तमान काल के कुछ विद्वानों ने यह मान्यता प्रकट की है कि वे दोनों सहोदर थे। उन दोनों की माता एक थी जिसका कि नाम विजयादेवी था। आर्य मण्डित के पिता का नाम धनदेव और आर्य मौर्यपुत्र के पिता का नाम मौर्य था। आर्य मण्डित को जन्म देने के कुछ काल पश्चात् विजयादेवी ने अपने पति धनदेव का निधन हो जाने पर धनदेव के मौसेरे भाई मौर्य के साथ विवाह कर लिया और मौर्य के साथ दाम्पत्य जीवन बिताते हुए विजयादेवी ने दूसरे पुत्र को जन्म दिया। मौर्य का अंगज होने के कारण बालक का नाम मौर्यपुत्र रखा गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने आर्य मण्डित और आर्य मौर्यपुत्र के माता-पिता का परिचय देते हुए 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' में लिखा है :—

> पत्न्यां विजयदेव्यां तु, धनदेवस्य नन्दनः।
> मण्डकोऽभूत्तत्र जाते, धनदेवो व्यपद्यत ।।५३
> लोकाचारो ह्यसौ तत्रेत्यभार्यो मौर्यकोऽकरोत्।
> भार्यां विजयदेवी तां, देशाचारो हि न ह्रिये ।।५४
> क्रमाद् विजयदेव्यां तु मौर्यस्य तनयोऽभवत्।
> स च लोके मौर्यपुत्र इति नाम्नैव पप्रथे ।।५५

[त्रिष. श. पु. च., प. १०, स. ५]

आचार्य जिनदासगणी ने भी 'आवश्यकचूर्णि' में इन दोनों गणधरों के सम्बन्ध में लिखा है :—

"........तंमि चेव मगहा जणयते मोरिय सन्निवेसे मंडिया मोरिया दो भायरो।"........

[आव. चूर्णि, उपोद्घात पृ. ३३७]

मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने Sramana Bhagwan Mahavira, Vol. V Part I Sthaviravali के पृष्ठ १३६ और १३७ पर मंडित एवं मौर्यपुत्र की माता एक और पिता भिन्न-भिन्न बताते हुए यहां तक लिख दिया है कि उस समय मौर्य सन्निवेश में विधवा विवाह निषिद्ध नहीं था। मुनि श्री द्वारा लिखित पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

"Besides Sthavira Mandita and Sthavira Mauyraputra were brothers having one mother Vijayadevi, but have different gotras derived from the gotras of their different fathers—the father of Mandit was Dhanadeva of Vasistha-gotra and the father of Maurya-putra was Maurya of Kasyaqa-gotra, as it was not forbidden for a widowed female in that country, to have a re-marriage with another person, after the death of her former husband.,'

वास्तव में उपर्युक्त दोनों गणधरों की माता का नाम एक होने के कारण ही आचार्यों एवं विद्वानों की इस प्रकार की धारणा बनी कि इनकी माता एक थी और पिता भिन्न।

उपर्युक्त दोनों गणधरों के जीवन के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य समवायांग सूत्र में दिये हुए हैं उनके सम्यग् अवलोकन से आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त की गई उपरोक्त धारणा सत्य सिद्ध नहीं होती।

समवायांग सूत्र की तियासीवीं समवाय में आर्य मंडित की सर्वायु तियासी वर्ष बताई गई है। यथा :

"थेरेणं मंडियपुत्ते तेसीइं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।"

समवायांग सूत्र की तीसवीं समवाय में आर्य मंडित के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है कि वे तीस वर्ष तक श्रमणधर्म का पालन कर सिद्ध हुए। यथा :

"थेरेणं मंडियपुत्ते तीसं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता सिद्धे बुद्धे जाव सव्वदुक्खपहीणे।"

सूत्र के मूल पाठ से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि आर्य मंडित ने ५३ वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

आर्य मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में समवायांग सूत्र की पैंसठवीं समवाय में लिखा है कि उन्होंने ६५ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। यथा :

"थेरेणं मोरियपुत्ते पणसट्ठिवासाइं आगारमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइये।"

सभी ग्यारहों गणधरों ने एक ही दिन भगवान् महावीर के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की, यह तथ्य सर्वविदित है। उस दशा में यह कैसे संभव हो सकता है कि एक ही दिन दीक्षा ग्रहण करते समय बड़ा भाई ५३ वर्ष की अवस्था का हो और छोटा भाई ६५ वर्ष का, अर्थात् बड़े भाई से उम्र में १२ वर्ष बड़ा हो?

स्वयं मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने अपने ग्रंथ Sramana Bhagvan Mahavira, Vol. IV Part I Sthaveravali' के पृष्ठ १२२ और १२० पर दीक्षा के दिन आर्य मंडित की अवस्था ५३ वर्ष और आर्य मौर्यपुत्र की अवस्था ६५ वर्ष होने का अनुमान है। यथा :

"Gandhara Maharaja Mandita was fifty-three years old when he renounced the world........ After a period of fourteen years of, ascetic life, Mandita acquired Kevala Gyana........and he acquired Moksha Pada........when he was eighty three years old." (p. 122)

"Gandhara Maharaja Mauryaputra was sixty-five years old when he renounced the world........After a period of fourteen years of ascetic life, Ganadhara Mauryaputra acquired Kevala Gyana.......at the age of seventynine.

Ganadhara Maharaja Mauryaputra remained a Kevali for sixteen years and he acquired Moksha Pada........when he was ninety-five years old." (p. 124)

इन सब तथ्यों से उपर्युक्त आचार्यों की मान्यता केवल भ्रम सिद्ध होती है। वास्तव में ये सहोदर नहीं थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी आगमीय वयमान को लक्ष्य में नहीं रखते हुए केवल दोनों की माता का नाम एक होने के आधार पर ही दोनों को सहोदर मान लिया और 'लोकाचारो हि न ह्रियै' लिख कर अपनी मान्यता का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया।

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या एवं श्रमणीसंघ की प्रवर्तिनी महासती चन्दनबाला थी।

चन्दनबाला चम्पानगरी के महाराजा दधिवाहन और महारानी धारिणी की प्राणदुलारी पुत्री थी। माता-पिता द्वारा आपका नाम वसुमती रखा गया।

महाराजा दधिवाहन के साथ कौशाम्बी के महाराजा शतानीक की किसी कारण से अनबन हो गई। शतानीक मन ही मन दधिवाहन से शत्रुता रख कर

म्पा नगरी पर आक्रमण करने की टोह में रहने लगा। दधिवाहन बड़े प्रजा-प्रिय नरेश थे, अतः शतानीक ने अप्रत्याशित रूप से चम्पा पर अचानक आक्रमण करने की अभिलाषा से अपने अनेक गुप्तचर चम्पानगरी में नियुक्त किये।

कुछ ही दिनों के पश्चात् शतानीक को अपने गुप्तचरों से ज्ञात हुआ कि चम्पा पर आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर आ गया है, अतः चार-पाँच दिन के अन्दर-अन्दर ही आक्रमण कर दिया जाय। शतानीक तो उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में ही था। उसने तत्काल एक बड़ी सेना के साथ चम्पा पर धावा करने के लिये जलमार्ग से सैनिक अभियान कर दिया। तेज हवाओं के कारण शतानीक के जहाज बड़ी तीव्रगति से चम्पा की ओर बढ़े। एक रात्रि के अल्प समय में ही शतानीक अपनी सेनाओं के साथ चम्पा जा पहुँचा और सूर्योदय से पूर्व ही उसने चम्पा नगरी को चारों ओर से घेर लिया।

इस अनभ्र वज्रपात से चम्पा के नरेश और नागरिक सभी अवाक् रह गये। अपने आप को शत्रु के आकस्मिक आक्रमण का मुकाबला कर सकने की स्थिति में न पाकर दधिवाहन ने मन्त्रिपरिषद् की आपात्कालीन बैठक बुलाकर गुप्त मंत्रणा की। अन्त में मन्त्रियों के प्रबल अनुरोध पर दधिवाहन को गुप्त मार्ग से चम्पा को त्याग कर बीहड़ वनों की राह पकड़नी पड़ी।

शतानीक ने अपने सैनिकों को खुली छूट दे दी कि चम्पा के प्राकारों एव द्वारों को तोड़कर उस को लूट लिया जाय और जिसे जो चाहिये वह अपने घर ले जाय। इस आज्ञा से सैनिकों में उत्साह और प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और वे द्वारों तथा प्राकारों को तोड़कर नगर में प्रविष्ट हो गये।

शतानीक की सेनाओं ने यथेच्छ रूप से नगर को लूटा। महारानी धारिणी राजकुमारी वसुमती सहित शतानीक के एक सैनिक द्वारा पकड़ ली गई। वह उन दोनों को अपने रथ में डालकर कौशाम्बी की ओर द्रुत गति से लौट पड़ा। महारानी धारिणी के देवांगना तुल्य रूप-लावण्य पर मुग्ध हो सैनिक राह में मिलने वाले अपने परिचित लोगों से कहने लगा—"इस लूट में इस त्रैलोक्य सुन्दरी को पाकर मैंने सब कुछ पा लिया है। घर पहुँचते ही मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊँगा।"

इतना सुनते ही महारानी धारिणी क्रोध और घृणा से तिलमिला उठी। महान् प्रतापी राजा की पुत्री और चम्पा के यशस्वी नरेश दधिवाहन की राजमहिषी को एक अकिंचन व्यक्ति के मुंह से इस प्रकार की बात सुनकर वज्र से भी भीषण आघात पहुँचा। अपने सतीत्व पर आँच आने की आशंका से धारिणी सिहर उठी। उसने एक हाथ से अपनी जिह्वा को मुख से बाहर खींच-

कर दूसरे हाथ से अपनी ठुड्डी पर अति वेग से आघात किया। इसके परिणाम-स्वरूप वह तत्क्षण निष्प्राण हो रथ में गिर पड़ी।[1]

धारिणी के मरण का कारण—वचन या बलात्

धारिणी के आकस्मिक अवसान से सैनिक को अपनी भूल पर आत्म-ग्लानि के साथ साथ बड़ा दुःख हुआ। उसे निश्चय हो गया कि किसी अत्युच्च कुल की कुलवधू होने के कारण वह उसके वाग्बाणों से आहत हो मृत्यु की गोद में सदा के लिये सो गई है।

सैनिक ने इस आशंका से कि कहीं अधखिली पारिजात पुष्प की कली के समान यह सुमनोहर बालिका भी अपनी माता का अनुसरण न कर बैठे, उसने वसुमती को मृदु वचनों से आश्वस्त करने का प्रयास किया।

राजकुमारी वसुमती को लिये वह सैनिक कौशाम्बी पहुँचा और उसे विक्रय के लिये बाजार में चौराहे पर खड़ा कर दिया। धार्मिक कृत्य से निवृत्त हो अपने घर की ओर लौटते हुए धनावह नामक एक श्रेष्ठी ने विक्रय के लिये खड़ी बालिका को देखा। उसने कुसुम सी सुकुमार बालिका को देखते ही समझ लिया कि वह कोई बहुत बड़े कुल की कन्या है और दुर्भाग्यवश अपने माता-पिता से बिछुड़ गई है। वह उसकी दयनीय दशा देखकर द्रवित हो गया और उसने सैनिक को मुंहमांगा द्रव्य देकर उसे खरीद लिया। धनावह श्रेष्ठी वसुमती को लेकर अपने घर पहुँचा।

उसने बड़े दुलार से उसके माता-पिता एवं उसका नाम पूछा, पर स्वाभिमानिनी वसुमती ने अपना नाम तक भी नहीं बताया। वह मौन ही रही। अन्त में लाचार हो धनावह ने उसे अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा—"यह बालिका किसी साधारण कुल की प्रतीत नहीं होती। इसे अपनी ही पुत्री समझ कर बड़े दुलार और प्यार से रखना"

श्रेष्ठिपत्नी मूला ने अपने पति की आज्ञानुसार प्रारम्भ में वसुमती को अपनी पुत्री के समान ही रक्खा। वसुमती श्रेष्ठी परिवार में घुल-मिल गई। उसके मृदु सम्भाषण, व्यवहार एवं विनय आदि सद्गुणों ने श्रेष्ठी परिवार एवं भृत्य वर्ग के हृदय में दुलार भरा स्थान प्राप्त कर लिया। उसके चन्दन के समान शीतल सुखद स्वभाव के कारण वसुमती उसे श्रेष्ठी परिवार द्वारा चन्दना के नाम से पुकारी जाने लगी।

---

१ आचार्य हेमचन्द्र ने शोकातिरेक से धारिणी के प्राण निकलने का उल्लेख किया है,
देखिये-[त्रि. श. पु., पर्व १०, सं० ४, श्लो. ५२७]

चन्दना ने जव कुछ समय वाद यौवन में पदार्पण किया तो उसका अनुपम सौन्दर्य शतगुणित हो उठा। उसकी कज्जल से भी अधिक काली केशराशि बढ़कर उसकी पिण्डलियों से अठखेलियां करने लगी। उस अपार रूपराशि को देखकर श्रेष्ठिपत्नी के हृदय का सोता हुआ स्त्री-दौर्बल्य जग पड़ा। उसके अन्तर में कलुषित विचार उत्पन्न हुए और उसने सोचा—"यह अलौकिक रूप-लावण्य की स्वामिनी किसी दिन मेरा स्थान छीन कर गृहस्वामिनी बन सकती है। मेरे पति इसे अपनी पुत्री मानते हैं, पर यदि उन्होंने कहीं इसके अलौकिक रूप-लावण्य पर विमोहित हो इससे विवाह कर लिया तो मेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। अतः फूलने-फलने से पहले ही इस विषलता को मूलतः उखाड़ फेंकना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। दिन-प्रति-दिन मूला के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि प्रचण्ड होती गई और वह चन्दना को अपनी राह से सदा के लिये हटा देने का उपाय सोचने लगी। एक दिन दोपहर के समय ग्रीष्म ऋतु की चिल-चिलाती धूप में चल कर धनावह वाजार से अपने घर लौटा। उसने पैर धुलाने के लिये अपने सेवकों को पुकारा। पर संयोगवश उस समय कोई भी सेवक वहां उपस्थित नहीं था। धूप से श्रान्त धनावह को खड़े देख कर चन्दना जल की झारी ले सेठ के पैर धोने पहुँची। सेठ द्वारा मना करने पर भी वह उसके पैर धोने लगी। उस समय नीचे झुकने के कारण चन्दना का जूड़ा खुल गया और उसकी केशराशि विखर गई। चन्दना के वाल कहीं कीचड़ से न सन जावें इस दृष्टि से सहज सन्ततिवात्सल्य से प्रेरित हो धनावह ने चन्दना की केशराशि को अपने हाथ में रही हुई यष्टि से ऊपर उठा लिया और अपने हाथों से उसका जूड़ा बाँध दिया।

मूला ने संयोगवश जव यह सब देखा तो उसने अपने सन्देह को वास्तविकता का रूप दे डाला और उसने चन्दना का सर्वनाश करने की ठान ली। थोड़ी ही देर पश्चात् श्रेष्ठी धनावह जब किसी कार्यवश दूसरे गाँव चला गया तो मूला ने तत्काल एक नाई को वुलाकर चन्दना के मस्तक को मुंडित करवा दिया। मूला ने बड़ी निर्दयता से चन्दना को जी भर कर पीटा। तदनन्तर उसके हाथों में हथकड़ी एवं पैरों में बेड़ी डालकर उसे एक भँवारे में वन्द कर दिया और अपने दास-दासियों एवं कुटुम्ब के लोगों को सावधान कर दिया कि श्रेष्ठी द्वारा पूछने पर भी यदि किसी ने उन्हें चन्दना के सम्वन्ध में कुछ भी बता दिया तो वह उसका कोपभाजन वनेगा।

चन्दना तीन दिन तक तलघर में भूखी प्यासी बन्द रही। तीसरे दिन जव धनावह घर लौटा तो उसने चन्दना के सम्वन्ध में पूछताछ की। सेवकों को मौन देखकर धनावह को शंका हुई और उसने क्रुद्ध स्वर में चन्दना के सम्वन्ध में सच-सच वात वताने के लिये कड़क कर कहा—"तुम लोग मूक की तरह चुप क्यों हो, वताओ पुत्री चन्दना कहाँ है ?"

कर दूसरे हाथ से अपनी ठुड्डी पर अति वेग से आघात किया। उसके परिणाम-स्वरूप वह तत्क्षण निष्प्राण हो रथ में गिर पड़ी।[1]

धारिणी के मरण का कारण—वचन या बलात्

धारिणी के आकस्मिक अवसान से सैनिक को अपनी भूल पर आत्म-ग्लानि के साथ साथ बड़ा दुःख हुआ। उसे निश्चय हो गया कि किसी अत्युच्च कुल की कुलवधू होने के कारण वह उसके वाग्बाणों से आहत हो मृत्यु की गोद में सदा के लिये सो गई है।

सैनिक ने इस आशंका से कि कहीं अधखिली पारिजात पुष्प की कली के समान यह सुमनोहर बालिका भी अपनी माता का अनुसरण न कर बैठे, उसने वसुमती को मृदु वचनों से आश्वस्त करने का प्रयास किया।

राजकुमारी वसुमती को लिये वह सैनिक कौशाम्बी पहुँचा और उसे विक्रय के लिये बाजार में चौराहे पर खड़ा कर दिया। धार्मिक कृत्य से निवृत्त हो अपने घर की ओर लौटते हुए धनावह नामक एक श्रेष्ठी ने विक्रय के लिये खड़ी बालिका को देखा। उसने कुसुम सी सुकुमार बालिका को देखते ही समझ लिया कि वह कोई बहुत बड़े कुल की कन्या है और दुर्भाग्यवश अपने माता-पिता से बिछुड़ गई है। वह उसकी दयनीय दशा देखकर द्रवित हो गया और उसने सैनिक को मुंहमांगा द्रव्य देकर उसे खरीद लिया। धनावह श्रेष्ठी वसु-मती को लेकर अपने घर पहुँचा।

उसने बड़े दुलार से उसके माता-पिता एवं उसका नाम पूछा, पर स्वाभि-मानिनी वसुमती ने अपना नाम तक भी नहीं बताया। वह मौन ही रही। अन्त में लाचार हो धनावह ने उसे अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा—"यह बालिका किसी साधारण कुल की प्रतीत नहीं होती। इसे अपनी ही पुत्री समझ कर बड़ लार और प्यार से रखना"

श्रेष्ठिपत्नी मूला ने अपने पति की आज्ञानुसार प्रारम्भ में वसुमती को अपनी पुत्री के समान ही रक्खा। वसुमती श्रेष्ठी परिवार में घुल-मिल गई। उसके मृदु सम्भाषण, व्यवहार एवं विनय आदि सद्गुणों ने श्रेष्ठी परिवार एवं भृत्य वर्ग के हृदय में दुलार भरा स्थान प्राप्त कर लिया। उसके चन्दन के समान शीतल सुखद स्वभाव के कारण वसुमती उसे श्रेष्ठी परिवार द्वारा चन्दना के नाम से पुकारी जाने लगी।

---

१ आचार्य हेमचन्द्र ने शोकातिरेक से धारिणी के प्राण निकलने का उल्लेख किया है।
देखिये—[त्रि. श. पु., पर्व १०, सं० ४, श्लो. ५२७]

चन्दना ने जब कुछ समय बाद यौवन में पदार्पण किया तो उसका अनुपम सौन्दर्य शतगुणित हो उठा। उसकी कज्जल से भी अधिक काली केशराशि बढ़कर उसकी पिण्डलियों से अठखेलियां करने लगी। उस अपार रूपराशि को देखकर श्रेष्ठिपत्नी के हृदय का सोता हुआ स्त्री-दौर्बल्य जग पड़ा। उसके अन्तर में कलुषित विचार उत्पन्न हुए और उसने सोचा—"यह अलौकिक रूप-लावण्य की स्वामिनी किसी दिन मेरा स्थान छीन कर गृहस्वामिनी बन सकती है। मेरे पति इसे अपनी पुत्री मानते हैं, पर यदि उन्होंने कहीं इसके अलौकिक रूप-लावण्य पर विमोहित हो इससे विवाह कर लिया तो मेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। अतः फूलने-फलने से पहले ही इस विषलता को मूलतः उखाड़ फेंकना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। दिन-प्रति-दिन मूला के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि प्रचण्ड होती गई और वह चन्दना को अपनी राह से सदा के लिये हटा देने का उपाय सोचने लगी। एक दिन दोपहर के समय ग्रीष्म ऋतु की चिल-चिलाती धूप में चल कर धनावह बाजार से अपने घर लौटा। उसने पैर धुलाने के लिये अपने सेवकों को पुकारा। पर संयोगवश उस समय कोई भी सेवक वहां उपस्थित नहीं था। धूप से श्रान्त धनावह को खड़े देख कर चन्दना जल की झारी ले सेठ के पैर धोने पहुँची। सेठ द्वारा मना करने पर भी वह उसके पैर धोने लगी। उस समय नीचे झुकने के कारण चन्दना का जूड़ा खुल गया और उसकी केशराशि बिखर गई। चन्दना के बाल कहीं कीचड़ से न सन जावें इस दृष्टि से सहज सन्ततिवात्सल्य से प्रेरित हो धनावह ने चन्दना की केशराशि को अपने हाथ में रही हुई यष्टि से ऊपर उठा लिया और अपने हाथों से उसका जूड़ा बाँध दिया।

मूला ने संयोगवश जब यह सब देखा तो उसने अपने सन्देह को वास्तविकता का रूप दे डाला और उसने चन्दना का सर्वनाश करने की ठान ली। थोड़ी ही देर पश्चात् श्रेष्ठी धनावह जब किसी कार्यवश दूसरे गाँव चला गया तो मूला ने तत्काल एक नाई को बुलाकर चन्दना के मस्तक को मुंडित करवा दिया। मूला ने बड़ी निर्दयता से चन्दना को जी भर कर पीटा। तदनन्तर उसके हाथों में हथकड़ी एवं पैरों में बेड़ी डालकर उसे एक भँवारे में बन्द कर दिया और अपने दास-दासियों एवं कुटुम्ब के लोगों को सावधान कर दिया कि श्रेष्ठी द्वारा पूछने पर भी यदि किसी ने उन्हें चन्दना के सम्बन्ध में कुछ भी बता दिया तो वह उसका कोपभाजन बनेगा।

चन्दना तीन दिन तक तलघर में भूखी प्यासी बन्द रही। तीसरे दिन जब धनावह घर लौटा तो उसने चन्दना के सम्बन्ध में पूछताछ की। सेवकों को मौन देखकर धनावह को शंका हुई और उसने क्रुद्ध स्वर में चन्दना के सम्बन्ध में सच-सच बात बताने के लिये कड़क कर कहा—"तुम लोग मूक की तरह चुप क्यों हो, बताओ पुत्री चन्दना कहाँ है ?"

इस पर एक वृद्धा दासी ने चन्दना की दुर्दशा से द्रवित हो साहस बटोर कर सारा हाल कह सुनाया। तलघर के कपाट खोलकर धनावह ने ज्यों ही चन्दना को उस दुर्दशा में देखा तो रो पड़ा। चन्दना के भूख और प्यास से मुर्झाये हुए मुख को देखकर वह रसोईघर की ओर लपका। उसे सूप में कुछ उड़द के बाकलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। वह उसी को उठाकर चन्दना के पास पहुँचा और सूप चन्दना के समक्ष रखते हुए अवरुद्ध कण्ठ से बोला—"पुत्री, अभी तुम इन उड़द के बाकलों से ही अपनी भूख की ज्वाला को कुछ शान्त करो, मैं अभी किसी लोहार को लेकर आता हूँ।"

यह कह कर धनावह किसी लोहार की तलाश में तेजी से बाजार की ओर निकला।

भूख से पीड़ित होते हुए भी चन्दना ने मन में विचार किया—"क्या मुझ हतभागिनी को इस अति दयनीय विषम अवस्था में आज बिना अतिथि को खिलाये ही खाना पड़ेगा ? मध्याकाश से अब सूर्य पश्चिम की ओर ढल चुका है, इस वेला में अतिथि कहाँ ?"

अपने दुर्भाग्य पर विचार करते-करते उसकी आँखों से अश्रुओं की अविरल धारा फूट पड़ी। उसने अतिथि की तलाश में द्वार की ओर देखा। सहसा उसने देखा कि कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान मुखमण्डल वाले अति कमनीय, गौर, सुन्दर, सुडौल दिव्य तपस्वी द्वार में प्रवेश कर उसकी ओर बढ़ रहे हैं। हर्षातिरेक से उसके शोकाश्रुओं का सागर निमेषार्द्ध में ही सूख गया। उसके मुखमण्डल पर शरद्पूर्णिमा की चन्द्रिका से उद्वेलित समुद्र के समान हर्ष का सागर हिलोरें लेने लगा। चन्दना सहसा सूप को हाथ में लेकर उठी। बेड़ियों से जकड़े अपने एक पैर को बड़ी कठिनाई से देहली से बाहर निकाल कर उसने हर्षगद्गद स्वर में अतिथि से प्रार्थना की—"प्रभो ! यद्यपि ये उड़द के बाकले आपके खाने योग्य नहीं हैं, फिर भी मुझ अबला पर अनुग्रह कर इन्हें ग्रहण कीजिये।"

अपने अभिग्रह की पूर्ति में कुछ कमी देखकर वह अतिथि लौटने लगा। इससे अति दुखित हो चन्दना के मुँह से सहसा ही ये शब्द निकल पड़े—"हाय रे दुर्दैव ! इससे बढ़कर मेरा और क्या दुर्भाग्य हो सकता है कि आँगन में आया हुआ कल्पतरु लौट रहा है ?" इस शोक के आघात से चन्दना की आँखों से पुनः अश्रुओं की धारा बह चली। अतिथि ने यह देख कर कि उनके अभिग्रह की सभी शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं, चन्दना के सम्मुख अपना करपात्र बढ़ा दिया। चन्दना ने हर्ष विभोर होकर अत्युत्कट श्रद्धा से सूप में रक्खे उड़द के बाकलों को अतिथि के करपात्र में उंडेल दिया।

यह अतिथि और कोई नहीं, श्रमण भगवान् महावीर ही थे। तत्क्षण "महा दानं, महा दानं" के दिव्य घोष और देव दुन्दुभियों के निश्वन से गगन गूंज उठा। गन्धोदक, पुष्प और दिव्य वस्त्रों की आकाश से देवगण वर्षा करने लगे। चन्दना के दान की महिमा करते हुए देवों ने धनावह सेठ के घर पर १२॥ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की। सुगन्धित-मन्द-मधुर मलयानिल से सारा वातावरण सुरभित हो उठा। यह अद्भुत दृश्य देखकर कौशाम्बी के सहस्रों नर-नारी वहाँ एकत्रित हो गये और चन्दना के भाग्य की सराहना करने लगे।

उस महान् दान के प्रभाव से तत्क्षण चन्दना के मुण्डित शीश पर पूर्ववत् लम्बी सुन्दर केशराशि पुनः उद्भूत हो गई। चन्दना के पैरों में पड़ी लोहे की बेड़ियां सोने के नूपुरों में और हाथों की हथकड़ियां करकंकणों के रूप में परिणत हो गईं। देवियों ने उसे दिव्य आभूषणों से अलंकृत किया। सूर्य के समान चमचमाती हुई मणियों से जड़े मुकुट को धारण किये हुए स्वयं देवेन्द्र वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् चन्दना का अभिवादन किया।

कौशाम्बीपति शतानीक भी महारानी मृगावती एवं पुरजन-परिजन आदि के साथ धनावह के घर आ पहुँचे। उनके साथ बन्दी के रूप में आये हुए दधिवाहन के अंगरक्षक ने चन्दना को देखते ही पहचान लिया और वह चन्दना के पैरों पर गिर कर रोने लगा। जब शतानीक और मृगावती को उस अंगरक्षक के द्वारा यह विदित हुआ कि चन्दना महाराजा दधिवाहन की पुत्री है तो मृगावती ने अपनी भानजी को अंक में भर लिया।

चन्दना की इच्छानुसार धनावह उन १२॥ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी बना।[1]

इन्द्र ने शतानीक से कहा कि यह चन्दनबाला भगवान् को केवलज्ञान होने पर उनकी पट्ट शिष्या बनेगी और इसी शरीर से निर्वाण प्राप्त करेगी, अतः इसकी बड़ी सावधानी से सार-संभाल की जाय। यह भोगों से नितान्त विरक्त है इसलिये इसका विवाह करने का प्रयास नहीं किया जाय। तत्पश्चात् देवेन्द्र एवं देवगण अपने-अपने स्थान की ओर लौट गये और महाराजा शतानीक, महारानी मृगावती व चन्दनबाला के साथ राजमहलों में लौट आये।

चन्दनबाला राजप्रासादों में रहते हुए भी साध्वी के समान विरक्त जीवन व्यतीत करने लगी। आठों प्रहर यही लगन उसे लगी रहती कि वह दिन शीघ्र आये जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हो और वह उनके पास दीक्षित

---

१ चउवन्न महापुरिस चरियं

होकर संसार सागर को पार करने के लिये तप-संयम की पूर्ण साधना में तत्परता से लग जावे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भगवान् को केवलज्ञान होने पर चन्दनबाला ने प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और भगवान् के श्रमणी संघ का समीचीन रूप से संचालन करते हुए अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याओं से अपने समस्त कर्मों को क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर का शासन-भेद

प्रागैतिहासिक काल में भगवान् ऋषभदेव ने पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया और उनके पश्चाद्वर्ती अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम रूप धर्म की शिक्षा दी। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिस्तात्-आदान-विरमण अर्थात् बिना दी हुई बाह्य वस्तुओं के ग्रहण का त्याग रूप चार याम वाला धर्म बतलाया।[1]

पार्श्वनाथ के बाद जब महावीर का धर्मयुग आया तो उन्होंने फिर पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया। पाँच महाव्रत इस प्रकार हैं:—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इस तरह दोनों के व्रत-विधान में संख्या का अन्तर होने से यह प्रश्न सहज ही उठता है कि ऐसा क्यों ?

यही प्रश्न केशिकुमार ने गौतम से भी किया था। इसका उत्तर देते हुए गौतम ने बतलाया कि स्वभाव से प्रथम तीर्थंकर के साधु, ऋजु और जड़ होते हैं, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र एवं-जड़ तथा मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। इस कारण प्रथम तीर्थंकर के साधुओं के लिये जहाँ मुनि-धर्म के आचार का यथावत् ज्ञान करना कठिन होता है वहां चरम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओं के लिये मुनि-धर्म का यथावत् पालन करना कठिन होता है। पर मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासनवर्ती साधु व्रतों को यथावत् ग्रहण और सम्यक् रीत्या पालन भी कर लेते हैं। इसी आधार पर इन तीर्थंकरों के शासन में व्रत-निर्धारण में संख्या-भेद पाया जाता है।

---

१ भरत ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड़ कर मध्य के बाईस अरिहन्त भगवान् चातुर्याम-धर्म का प्रज्ञापन करते हैं। यथा :

सर्वथा प्राणातिपात विरमण, सर्वथा मृषावाद विरमण, सर्वथा अदत्तादान विरमण और सर्वथा बहिद्धादान विरमण।

[स्था०, स्था० ४, उ० १, सूत्र २६६, पत्र २०१ (१)]

उपर्युक्त समाधान से ध्वनित होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने मैथुन को भी परिग्रह के अन्तर्गत माना था ।[1]

कुछ लेखकों ने चातुर्याम का सम्बन्ध महाव्रत से न बताकर चारित्र से बतलाया है पर ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।

बाईस तीर्थंकरों के समय में सामायिक, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र में से कोई एक होता है । किन्तु महावीर के समय में पाँच में से कोई भी एक चारित्र एक साधक को हो सकता है । सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र के समय अन्य चार नहीं रहते । अतः चातुर्याम का अर्थ 'चारित्र' करना ठीक नहीं ।

योगाचार्य पतञ्जलि ऋषि ने भी याम का अर्थ अहिंसा आदि व्रत ही लिया है ।[2] डॉ० महेन्द्रकुमार ने स्पष्ट लिखा है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ जी थे ।[3]

श्वेताम्बर आगमों की दृष्टि से भी स्त्री को परिग्रह की कोटि में ही शामिल किया गया है । भगवान् द्वारा व्रत-संख्या में परिवर्तन का कारण समय और बुद्धि का प्रभाव हो सकता है । भगवान् पार्श्व के परिनिर्वाण के पश्चात् और महावीर के तीर्थंकर होने से कुछ पूर्व संभव है, इस प्रकार के तर्क का सहारा लेकर साधक विचलित होने लगा हो और भगवान् पार्श्व की परम्परा में उस पर पूर्ण व दृढ़ अनुशासन नहीं रखा जा सका हो । वैसी स्थिति में भगवान् महावीर ने वक्र स्वभाव के लोग अपनी रुचि के अनुकूल परिग्रह या स्त्री का त्याग कर दूसरे का उपयोग प्रारम्भ न करें, इस भावी हित को ध्यान में रख कर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का स्पष्टतः पृथक् विधान कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । संख्या का अन्तर होने पर भी दोनों परम्पराओं के मौलिक आशय में भेद नहीं है । केवल स्पष्टता के लिये पृथक्करण किया गया है ।

चारित्र

भगवान् पार्श्वनाथ के समय में श्रमणवर्ग को सामायिक चारित्र दिया जाता था जब कि भगवान् महावीर ने सामायिक के साथ छेदोपस्थापनीय

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गाथा २६–२७ ।

(ख) मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यते । स्था० वृ०, ४ उ० सू० २६६ । पत्र २०२ (१)

२ अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः । पतंजलि (योगसूत्र) सू० २०

३ डॉ० महेन्द्रकुमार-जैन दर्शन-पृ० ६०

चारित्र का भी प्रवर्तन किया। चारित्र के मुख्यार्थ समता की आराधना को ध्यान में लेकर भगवान् पार्श्वनाथ ने चारित्र का विभाग नहीं किया। फिर उन्हें वैसी आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु महावीर भगवान् के सामने एक विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ, एतदर्थ साधकों की विशेष शुद्धि के लिये उन्होंने सामायिक के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र का उपदेश दिया।

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के निर्विभाग सामायिक चारित्र को विभागात्मक सामायिक के रूप में प्रस्तुत किया। छेदोपस्थापनीय में जो चारित्र पर्याय का छेद किया जाता है, पार्श्वनाथ की परम्परा में सजग साधकों के लिये उसकी आवश्यकता ही नहीं थी, अतः उन्होंने निर्विभाग सामायिक चारित्र का विधान किया।

भगवती सूत्र के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि जो मुनि चातुर्याम धर्म का पालन करते, उनका चारित्र सामायिक कहा जाता और जब इस परम्परा को बदल कर पंच याम धर्म में प्रवेश किया, तब उनका चारित्र छेदोपस्थापनीय कहलाया।[1]

भगवान् महावीर के समय में दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं चलती थीं। उन्होंने अल्पकालीन निर्विभाग में सामायिक चारित्र को और दीर्घकाल के लिये छेदोपस्थापनीय चारित्र को मान्यता प्रदान की।

महावीर ने इसके अतिरिक्त व्रतों में रात्रिभोजन-विरमण को भी अलग व्रत के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने स्थानांग सूत्र में स्पष्ट कहा है—"आर्यो! मैंने श्रमण-निर्ग्रंथों को स्थविरकल्प, जिनकल्प, मुंडभाव, अस्नान, अदंतधावन, अछत्र, उपानत् त्याग, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्य-वास, भिक्षार्थ परगृहप्रवेश तथा लब्धालब्ध वृत्ति की प्ररूपणा की है। जैसे मैंने श्रमणों को पंचमहाव्रतयुक्त सप्रतिक्रमण अचेलक धर्म कहा गया है, वैसे महापद्म भी कथन करेंगे।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के शासन में दूसरा अन्तर सचेल-अचेल का है, जो इस प्रकार है :—

पार्श्वनाथ की परम्परा में सचेल-धर्म माना जाता था, किन्तु महावीर ने अचेल धर्म की शिक्षा दी। कल्पसमर्थन में कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर

---

१ सामाइयंमि उ कए, चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं।
तिविहेण फासयंतो, सामाइयं संजओ स खलु।
छेत्तूण उ परियागं, पोराणं जो ठवेई अप्पाणं।
धम्मंमि पंचजामे, छेदोवट्ठाणो स खलु ॥भग०, श० २५, उ. ७।७८६।गा० १।२

२ स्थानांग, स्थान ६

का धर्म अचेलक है और बाईस तीर्थंकरों का धर्म सचेलक एवं अचेलक दोनों प्रकार का है।[1]

अभिप्राय यह है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिये यह विधान है कि वे श्वेत और मानोपेत वस्त्र रखें पर बाईस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिये ऐसा विधान नहीं है। वे विवेकनिष्ठ और जागरूक होने से चमकीले, रंग-बिरंगे और प्रमाण से अधिक भी वस्त्र रख सकते थे, क्योंकि उनके मन में उत्तम वस्त्रों के प्रति आसक्ति नहीं होती थी।

"अचेलक" पद का सीधा अर्थ वस्त्राभाव होता है किन्तु यहाँ "अ" का अर्थ सर्वथा अभाव न मान कर अल्प मानना चाहिये। व्यवहार में भी सम्पदा-हीन को "अधन" कहते हैं। साधारण द्रव्य होने पर भी व्यक्ति व्यवहार-जगत् में "अधन" कहलाता है। आचारांग सूत्र की टीका में यही अल्प अर्थ मानकर अचेलक का अर्थ "अल्प वस्त्र" किया है।[2] उत्तराध्ययन सूत्र और कल्प की टीका में भी मानप्रमाण सहित जीर्णप्राय[3] और श्वेतवस्त्र को अचेल में माना गया है।

जैन श्रमणों के लिये दो प्रकार के कल्प बताये गये हैं—जिनकल्प और स्थाविरकल्प। निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह हो सकता है जो वज्रऋषभ नाराच संहनन वाला हो, कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दश पूर्व तक का श्रुतपाठी हो। जिनकल्पी भी पहले स्थविरकल्पी होता है।[4]

जिनकल्प के भी दो प्रकार हैं—(१) पाणिपात्र और (२) पात्रधारी। पाणिपात्र के भी चार भेद बतलाये हैं। जिनकल्पी श्रमण नग्न और निष्प्रति-कर्म शरीरी होने से आँख का मल भी नहीं निकालते। वे रोग-परीषहों को

---

१ आचेलुक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं, होई सचेलो अचेलो य॥ [कल्प समर्थन, गा० ३, पृ० १]

२ अचेलः—अल्पचेलः। [आचा० टी०, पत्र २२१]

३ लघुत्व जीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राण्यस्येत्येवमचेलकः।
[उत्तरा० वृहद् वृत्ति, प० ३५९]

(ख) "अचेलत्वं श्री आदिनाथ—महावीर साधूनां वस्त्रं मानप्रमाण सहितं जीर्णप्रायं धवलं च कल्पते। श्री अजितादि द्वाविंशती तीर्थंकर साधूनां तु पंचवर्णम्॥
[कल्प सूत्र कल्पलता, प० २।१। समयसुन्दर]

४ जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु।
[विशेषा० वृहद् वृत्ति, पृष्ठ १३, गा० ७ की टीका]

सहन करते, कभी किसी प्रकार की चिकित्सा नहीं कराते।[1] पात्रधारी हों या पात्र-रहित, दोनों प्रकार के जिनकल्पी रजोहरण और मुखवस्त्रिका, ये दो उपकरण तो रखते ही हैं। अतः यहाँ पर अचेलक का अर्थ सम्पूर्ण वस्त्रों का त्यागी नहीं, किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्र-धारी समझना चाहिये।

इसीलिये भाष्यकार ने कहा है कि अचेलक दो प्रकार के होते हैं—सदचेल और असदचेल। तीर्थंकर असद्-चेल होते हैं। वे देवदूष्य वस्त्र गिर जाने पर सर्वदा वस्त्ररहित रहते हैं। शेष सभी जिनकल्पिक आदि साधु सदचेल कहे गये हैं।[2] कम से कम भी रजोहरण और मुखवस्त्रिका का तो उनको सद्भाव रहता ही है।

वस्त्र रखने वाले साधु भी मूर्च्छारहित होने के कारण अचेल कहे गये हैं, क्योंकि वे जिन वस्त्रों का उपयोग करते हैं वे दोषरहित, पुराने, सारहीन और अल्प प्रमाण में होते हैं। इसके अतिरिक्त उनका उपयोग भी कदाचित् का होता है जैसे भिक्षार्थ जाते समय देह पर वस्त्र डाला जाता है, उसे भिक्षा से लौटने पर हटा दिया जाता है। इस प्रकार कटि-वस्त्र भी रात्रि में अलग कर दिया जाता है।

लोकोक्ति में जीर्ण-शीर्ण-तार-तार फटे वस्त्र को धारण करने वाला नग्न ही कहा जाता है। जैसे कोई बुढ़िया जिसके शरीर पर पुरानी व अनेक स्थानों से फटी हुई साड़ी लिपटी है, तन्तुवाय से कहती है—"भाई! मेरी साड़ी जल्दी तैयार कर देना। मैं नंगी फिरती हूँ।"[3]

तो यह फटा पुराना कपड़ा होने पर भी नग्नपन कहा गया है। इसी प्रकार अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि अचेल माना गया है।

---

१ निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलंपि न अ अवणिंति।
विसहंति जिणा रोगं, कारिंति कयाइ न तिगिच्छं॥
[विशेषावश्यक प्रथम भाग, प्रथम अंश. पृ० १४, गाथा ७ की टीका की गाथा ३]

२ (क) बृह० भा० १ उ०—दुविहो होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलोय तित्थगर असंत चेला, संताचेता भवे सेसा॥

(ख) सदसंतचेलगोऽचेलगो य जं लोग—समयसंसिद्धो।
तेणाचेला मुणओ संतेहिं, जिणा असंतेहिं॥
[विशेषावश्यक भाष्य, गा० २५९८]

३ तह थोव-जुन्न-कुच्छिय चेलेहिं वि भन्नए अचेलोत्ति।
जहन्तरसालिय लहुं दो पोत्ति नग्गिया मोत्ति॥ [वि० २६०१, पृ० १०३५]

मूल बात यह है कि परिग्रह मूर्च्छाभाव में है। मूर्च्छाभाव रहित मुनियों को वस्त्रों के रहते हुए भी मूर्च्छाभाव नहीं होने से अचेलक कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—"न सो परिग्गहो वुत्तो" वह परिग्रह नहीं है। परिग्रह मूर्च्छाभाव है—"मूच्छा परिग्गहो वुत्तो।"

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के सचेल धर्म का साधुओं में दुरुपयोग समझा और निमित्त से प्रभावित मंदमति साधक-मोह-मूर्च्छा न गिरे, इस हेतु अचेल धर्म के उपदेश से साधुवर्ग को वस्त्र-ग्रहण में नियन्त्रित रखा। उत्तराध्ययन सूत्र में केशी श्रमण की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि भगवान् ने वेष धारण के पीछे एक प्रयोजन धर्म-साधना को निभाना और दूसरा साधु रूप को अभिव्यक्त करना कहा है।[1]

डॉ० हर्मन जेकोबी ने भगवान् महावीर की अचेलता पर आजीवक गोशालक का प्रभाव माना है, किन्तु यह निराधार जँचता है, क्योंकि गोशालक से प्रथम ही भगवान् देवदूष्य वस्त्र गिरने से नग्नत्व धारण कर चुके थे। फिर भगवती सूत्र में स्पष्ट लिखा है—

"साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य पाहणाओय
चित्तफलगं च माहणे आयामेति आयामेत्ता स उत्तरोट्ठं मुंडं करोति।"

इस पाठ से यह सिद्ध होता है कि गोशालक ने भगवान् महावीर का अनुसरण करते हुए उनके साधना के द्वितीय वर्ष में नग्नत्व स्वीकार किया।

सप्रतिक्रमण धर्म

अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों के समय में प्रतिक्रमण दोनों समय करना नियत नहीं था। कुछ आचार्यों का ऐसा अभिमत है कि इन बाईस तीर्थंकरों के समय में दैवसिक और राइय ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे शेष नहीं[2], किन्तु जिनदास महत्तर का स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में नियमित रूप में उभयकाल प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोष के समय में भी ईर्यापथ और भिक्षा आदि के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियम रूप से प्रतिक्रमण का उनके लिये

---

१ विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं। उ० २३

२ देसिय, राइय, पक्खिय चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्हं पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाणं तु दो पढ़मा।
[सप्ततिशतस्थान प्र०। गा० २९६]

विधान नहीं था ।[१] स्थानांग सूत्र में कहा है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों का धर्म सप्रतिक्रमण है ।[२] इस प्रकार भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों के लिये दोष लगे या न लगे, प्रतिदिन दोनों संध्या प्रतिक्रमण करना अनिवार्य बताया है ।[३]

स्थित कल्प

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में सभी (१) अचेलक्य, (२) उद्देशिक, (३) शय्यातर पिंड, (४) राजपिंड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प और (१०) पर्युषणकल्प अनिवार्य होते हैं । अतः इन्हें स्थितकल्प कहा जाता है । अजितादि बाईस तीर्थंकरों के लिये चार कल्प—(१) शय्यातर, (२) चातुर्याम धर्म का पालन, (३) ज्येष्ठ पर्याय-वृद्ध का वंदन और (४) कृतिकर्म, ये चार स्थित और छै कल्प (१) अचेलक, (२) औद्देशिक, (३) प्रतिक्रमण, (४) राजपिंड, (५) मासकल्प एवं (६) पर्युषणा ये अस्थित माने गये हैं ।[४]

भगवान् महावीर के श्रमणों के लिये मासकल्प आदि नियत हैं । बाईस तीर्थंकरों के साधु चाहें तो दीर्घकाल तक भी रह सकते हैं, पर महावीर के साधु-साध्वी मासकल्प से अधिक विना कारण न रहें, यह स्थितकल्प है । आज जो साधु-साध्वी विना खास कारण एक ही ग्राम-नगर आदि में धर्म-प्रचार के नाम से बैठे रहते हैं, यह शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल नहीं है ।

भगवान् महावीर से निन्हव

भगवान् महावीर के शासन में सात निन्हव हुए हैं, जिनमें से दो भगवान् महावीर के सामने हुए, प्रथम जमालि और दूसरा तिष्यगुप्त । जो इस प्रकार है :—

---

१ पुरिम पच्छिमएहिं उभओ कालं पडिक्कमितव्वं इरियावहियमागतेहिं उच्चार पासवण आहारादीण वा विवेगं कातूण पदोस पूच्चूसेसु, अतियारो होतु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव ठाणेहिं । मज्झिमगाणं तित्थे जदि अतियारो अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो, अवरण्हो, मज्झण्हो, पुव्वरत्तोवरत्तं वा, अड्ढरत्तो वा ताहेचेव पडिक्कमंति । नत्थि तो न पडिक्कमंति । जेण ते असढा पण्णवंता परिणामगा न य पमादोबहुलो, तेण तेसिं एवं भवति, पुरिमा उज्जुजडा, पच्छिमा वक्कजडा नीसाराणि मग्गंति पमादबहुला य, तेण तेहिं अवस्सं पडिकमितव्वं ।

[आव० चू०, उत्तर भाग, पृ० ९६]

२ (क) मए समणाणं निग्गंथाणं पंचमहव्वइए सपडिकम्मणे.... [स्थानांग, स्था. ९]
(ख) सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्सय पच्छिमस्स य जिणाणं ।। [आव०नि०गा० १२४१]

३ आचेलक्कुद्देसिय पडिक्कमण रायपिंड मासेसु ।
पज्जुसणाकप्पाम्म य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ।। [अभिधान राजेन्द्र, गाथा १]

४ मूलाचार–७।१२५–१२६ ।

जमालि

जमालि महावीर का भानेज और उनकी एकमात्र पुत्री प्रियदर्शना का पति होने से जामाता भी था। श्रमण भगवान् महावीर के पास इसने भी भावपूर्वक श्रमण दीक्षा ली और भगवान् के केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर चौदह वर्ष के बाद प्रथम निन्हव के रूप में प्रख्यात हुआ।

जमालि के प्रवचन-निन्हव होने का इतिहास इस प्रकार है :—

दीक्षा के कुछ वर्ष बाद जमालि ने भगवान् से स्वतन्त्र विहार करने की आज्ञा माँगी। भगवान् ने उसके पूछने पर कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उसने दुहरा-तिहरा कर अपनी बात प्रभु के सामने रखी, किन्तु भगवान् मौन ही विराजे रहे। प्रभु के मौन को ही स्वीकृति समझ कर पाँच सौ साधुओं के साथ जमालि अनगार महावीर से पृथक् हो कर जनपद की ओर विहार कर गया।

अनेक ग्राम-नगरों में विचरण करते हुए वह 'सावत्थी' आया और वहाँ के कोष्ठक उद्यान में अनुमति लेकर स्थित हुआ। विहार के अन्त, प्रान्त, रूक्ष एवं प्रतिकूल आहार के सेवन से जमालि को तीव्र रोगातंक उत्पन्न हो गया। उसके शरीर में जलन होने लगी। भयंकर दाह-पीड़ा के कारण उसके लिये बैठे रहना भी संभव नहीं था। उसने अपने श्रमणों से कहा—"आर्यो! मेरे लिये संथारा कर दो जिससे मैं उस पर लेट जाऊँ। मुझसे अब बैठा नहीं जाता।" साधुओं ने "तथास्तु" कह कर संथारा-आसन करना प्रारम्भ किया। जमालि पीड़ा से अत्यंत व्याकुल था। उसे एक क्षण का भी विलम्ब असह्य था। अतः उसने पूछा—"क्या आसन हो गया?" विनयपूर्वक साधुओं ने कहा—"महाराज! कर रहे हैं, अभी हुआ नहीं है।"

साधुओं के इस उत्तर को सुन कर जमालि को विचार हुआ—"श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित एवं क्रियमाण को कृत कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं कि क्रियमाण शय्या संस्तारक अकृत है। फिर तो चलमान को भी अचलित ही कहना चाहिये। ठीक है, जब तक शय्या-संस्तारक पूरा नहीं हो जाता तब तक उसको कृत कैसे कहा जाय?" उसने अपनी इस नवीन उपलब्धि के बारे में अपने साधुओं को बुला कर कहा—"आर्यो! श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित और क्रियमाण को कृत आदि कहते हैं, वह ठीक नहीं है। चलमान आदि को पूर्ण होने तक अचलित कहना चाहिये।"

बहुत से साधु, जो जमालि के अनुरागी थे, उसकी बात पर श्रद्धा करने

१ पियदंसणा वि पइणोऽणुरागओ तम्मयं चिय पवण्णा। विशे. २३२५

लगे और जो भगवद्वाणी पर श्रद्धाशील थे, उन्होंने युक्तिपूर्वक जमालि को समझाने का प्रयत्न किया, पर जब यह बात उसकी समझ में नहीं आई तो वे उसे छोड़कर पुनः भगवान् महावीर की शरण में चले गये।

जमालि की अस्वस्थता की बात सुनकर साध्वी प्रियदर्शना भी वहाँ आई। वह भगवान् महावीर के परमभक्त ढंक कुम्हार के यहाँ ठहरी हुई थी। जमालि के अनुराग से प्रियदर्शना ने भी उसका नवीन मत स्वीकार कर लिया और ढंक को भी स्वमतानुरागी बनाने के लिये समझाने लगी। ढंक ने प्रियदर्शना को मिथ्यात्व के उदय से आक्रान्त जान कर कहा—"आर्ये ! हम सिद्धान्त की बात नहीं जानते, हम तो केवल अपने कर्म-सिद्धान्त को समझते हैं और यह जानते हैं कि भगवान् वीतराग ने जो कहा है, वह मिथ्या नहीं हो सकता।" उसने प्रियदर्शना को उसकी भूल समझाने का मन में पक्का निश्चय किया।

एक दिन प्रियदर्शना साध्वी ढंक की शाला में जब स्वाध्यायमग्न थी, ढंक ने अवसर देखकर उसके वस्त्रांचल पर एक अंगार का कण डाल दिया। शाटकांचल जलने से साध्वी बोल उठी—"श्रावक ! तुमने मेरी साड़ी जला दी।" उसने कहा—"महाराज ! साड़ी तो अभी आपके शरीर पर है, जली कहाँ है ? साड़ी का कोण जलने से यदि उसका जलना कहती हैं तो ठीक नहीं। आपके मन्तव्यानुसार तो दह्यमान वस्तु अदग्ध कही गई है। अतः कोण के जलने से साड़ी को जली कहना आपकी परम्परानुसार मिथ्या है। ऐसी बात तो भगवान् महावीर के अनुयायी कहें तो ठीक हो सकती है। जमालि के मत से ऐसी बात ठीक नहीं होती।" ढंक की युक्तिपूर्ण बातें सुन कर साध्वी प्रियदर्शना प्रतिबुद्ध हो गई।

प्रियदर्शना ने अपनी भूल के लिये "मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु" कहकर प्रायश्चित्त किया और जमालि को समझाने का प्रयत्न किया तथा जमालि के न मानने पर वह अपनी शिष्याओं के संग भगवान् के पास चली गई। शेष साधु भी धीरे-धीरे जमालि को अकेला छोड़कर प्रभु की सेवा में चले गये। अन्तिम समय तक भी जमालि अपने दुराग्रह पर डटा रहा।[1]

जमालि का मन्तव्य था कि कोई भी कार्य लंबे समय तक चलने के बाद ही पूर्ण होता है, अतः किसी भी कार्य को 'क्रियाकाल' में किया कहना ठीक नहीं है। भगवान् महावीर का 'करेमाणे कडे' वाला सिद्धान्त 'ऋजुसूत्र' नय की दृष्टि से है। ऋजुसूत्र-नय केवल वर्तमान को ही मानता है। इसमें किसी भी कार्य का वर्तमान ही साधक माना गया है। इस विचार से कोई भी क्रिया अपने वर्तमान समय में कार्यकारी हो कर दूसरे समय में नष्ट हो जाती है।

१ विशेष गा० २३०७, पृ० ६३४ से ६३६।

प्रथम समय की क्रिया प्रथम समय में और दूसरे समय की क्रिया दूसरे समय में ही कार्य करेगी। इस प्रकार प्रति-समय भावी क्रियाएं प्रति समय होने वाले पर्यायों का कारण हो सकती हैं, उत्तरकाल भावी कार्य के लिये नहीं, अतः महावीर का 'करमाणे कडे' सिद्धान्त सत्य है।

जमालि इस भाव को नहीं समझ सका। उसने सोचा कि पूर्ववर्ती क्रियाओं में जो समय लगता है, वह सब उत्तरकालभावी कार्य का ही समय है। पट-निर्माण के प्रथम समय में प्रथम तन्तु, फिर दूसरा, तीसरा आदि, इस प्रकार प्रत्येक का समय अलग-अलग है। जिस समय जो क्रिया हुई, उसका फल उसी समय हो गया। विशेषावश्यक भाष्य में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

जमालि को जिस समय 'बहुरत दृष्टि' उत्पन्न हुई, उस समय भगवान् महावीर चंपा में विराजमान थे। जमालि भी कुछ काल के बाद जब रोग से मुक्त हुआ, तब सावत्थी के कोष्ठक चैत्य से विहार कर चम्पा नगरी आया और पूर्णभद्र उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर के पास उपस्थित होकर बोला—"देवानुप्रिय! जैसे आपके बहुत से शिष्य छद्मस्थ विहार से विचरते हैं, मैं वैसे छद्मस्थ विहार से विचरने वाला नहीं हूँ। मैं केवलज्ञान को धारण करने वाला अरहा, जिन केवली होकर विचरता हूँ।"

जमालि की असंगत बात सुन कर गौतम ने कहा—"जमालि! केवली का ज्ञान पर्वत, स्तूप, भित्ति आदि में कहीं रुकता नहीं, तुम्हें यदि केवलज्ञान हुआ है तो मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दो :—

"(१) लोक शाश्वत है या अशाश्वत? (२) जीव शाश्वत है या अशाश्वत?"

जमालि इन प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं दे सका और शंका, कांक्षा से मन में विचलित हो गया।[१]

भगवान् महावीर ने जमालि को सम्बोधित कर कहा—"जमालि! मेरे बहुत से अन्तेवासी छद्मस्थ हो कर भी इन प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं, फिर भी वे अपने को तुम्हारी तरह केवली नहीं कहते।" बाद में गौतम ने जमालि को लोक का शाश्वतपन और अशाश्वतपन किस अपेक्षा से है, विस्तार से समझाया। बहुत सम्भव है, जमालि का यह 'बहुरत' सम्प्रदाय उसके पश्चात् नहीं रहा हो क्योंकि उसके अनुयायी उसकी विद्यमानता में ही साथ छोड़ कर चले गये थे। अतः अपने मत को मानने वाला वह अकेला ही रह गया था।[२]

---

१ भग०, श० ९, उ ३३।

२ इच्छामो संबोहणमज्जो, पियदंसणादओ ढंकं।
वोत्तुं जमालिमेक्कं, मोत्तूण गया जिणसगासं॥ वि. २३३२।

बहुत कुछ समझाने पर भी जमालि की भगवान् के वचनों पर श्रद्धा, प्रतीति नहीं हुई और वह भगवान् के पास से चला गया। मिथ्यात्व के अभिनिवेश से उसने स्व-पर को उन्मार्गगामी बनाया और बिना आलोचना के मरण प्राप्त कर किल्विषी देव हुआ।

२. (निन्हव) तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर के केवलज्ञान के सोलह वर्ष बाद दूसरा निन्हव तिष्यगुप्त हुआ। वह आचार्य वसु का, जो कि चतुर्दश पूर्वविद् थे, शिष्य था। एक बार आचार्य वसु राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे हुए थे। उनके पास आत्मप्रवाद का आलापक.पढ़ते हुए तिष्यगुप्त को यह दृष्टि पैदा हुई कि जीव का एक प्रदेश जीव नहीं, वैसे दो, तीन, संख्यात आदि भी जीव नहीं—किन्तु असंख्यात प्रदेश होने पर ही उसे जीव कहना चाहिये। इसमें एक प्रदेश भी कम हो तो जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव लोकाकाश-प्रदेश तुल्य है[१], ऐसा शास्त्र में कहा है।

इस आलापक को पढ़ते हुए तिष्यगुप्त को नय-दृष्टि का ध्यान नहीं होने से विपर्यास हो गया। उसने समझा कि अन्ति प्रदेश में ही जीवत्व है। गुरु द्वारा विविध प्रकार से समझाने पर भी तिष्यगुप्त की धारणा जब नहीं बदली तो गुरु ने उसे संघ से बाहर कर दिया।

स्वच्छन्द विचरता हुआ तिष्यगुप्त 'आमलकल्पा' नगरी में जाकर 'आम्रसालवन में ठहरा। वहाँ 'मित्रश्री' नाम का एक श्रावक था। उसने तिष्यगुप्त को निन्हव जानकर समझाने का उपाय सोचा। उसने सेवक-पुरुषों द्वारा भिक्षा जाते हुए तिष्यगुप्त को कहलाया 'आज आप कृपा कर मेरे घर पधारें।" तिष्यगुप्त भी भावना समझ कर चला गया। मित्रश्री ने तिष्यगुप्त को बैठा कर बड़े आदर से विविध प्रकार के अन्न-पान-व्यञ्जन और वस्त्रादि लाकर देने को रखे और उनमें से सबके अन्तिम भाग का एक-एक कण लेकर मुनि को प्रतिलाभ दिया। तिष्यगुप्त यह देखकर बोले—"श्रावक! क्या तुम हँसी कर रहे हो या हमको विधर्मी समझ रहे हो?"

श्रावक ने कहा—"महाराज! आपका ही सिद्धान्त है कि अन्तिम प्रदेश जीव है, फिर मैंने गलती क्या की है? यदि एक कण में भोजन नहीं मानते तो आपका सिद्धान्त मिथ्या होगा।"

मित्रश्री की प्रेरणा से तिष्यगुप्त समझ गये और श्रावक मित्रश्री ने भी

१ विशेषावश्यक, गा. २३३३ से २३३६।

विधिपूर्वक प्रतिलाभ देकर तिष्यगुप्त को प्रसन्न किया एवं सादर उन्हें गुरु-सेवा में भेज कर उनकी संयम शुद्धि में सहायता प्रदान की।

महावीर और गोशालक

भगवान् महावीर और गोशालक का वर्षों निकटतम सम्बन्ध रहा है। जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक प्रभु का शिष्य हो कर भी प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में रहा है। भगवती सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। भगवान् ने गोशालक को अपना कुशिष्य कह कर, परिचय दिया है। यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से गोशालक पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

डॉ० विमलचन्द्र ला ने गोशालक को चित्रकार अथवा चित्रविक्रेता का पुत्र बतलाया है।[1] कुछ इतिहास लेखकों ने मंखलि का अर्थ बांस की लाठी ले कर चलने वाला साधु किया है, पर उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में प्रस्तुत कथन प्रमाणित नहीं होता। वास्तव में गोशालक का पिता मंखलि-मंख था, मंख का अर्थ चित्रकार या चित्रविक्रेता नहीं होता। मंख केवल शिव का चित्र दिखला कर अपना जीवनयापन करता था।[2] कारपेंटियर ने भी अपना यही मत प्रकट किया है।[3]

जैन सूत्रों में गोशालक के साथ मंखलि-पुत्र शब्द का भी प्रयोग मिलता है जो गोशालक के विशेषण रूप से प्रयुक्त है। टीकाकार अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की टीका में कहा—"चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा"। इसके अनुसार मंख का अर्थ चित्र-पट्ट हाथ में रख कर जीविका चलाने वाला होता है। पूर्व समय में मंख एक जाति थी, जिसके लोग शिव या किसी देव का चित्रपट्ट हाथ में रखकर अपनी जीविका चलाते थे। आज भी 'डाकोत' जाति के लोग शनि देव की मूर्ति या चित्र दिखा कर जीविका चलाते हैं।

गोशालक का नामकरण

गोशालक के नामकरण के सम्बन्ध में भगवती सूत्र में स्पष्ट निर्देश मिलता है। वहां कहा गया है कि 'मंख' जातीय मंखली गोशालक का पिता था और भद्रा माता थी। मंखली की गर्भवती भार्या भद्र ने 'सरवण' ग्राम के गोवहुल ब्राह्मण की गोशाला में, जहां कि मंखली जीविका के प्रसंग से चलते

---

१ इन्डोलोजिकल स्टडीज सैकिंड, पेज २४५।।

२ डिक्श० आफ पेटी प्रोपर नेम्न पार्ट १ पेज ४०।

३ (क) केदारपट्टिक, पृ० २४।१,
(ख) हरिभद्रीय आव० वृ०, पृ० २४१।

चलते पहुँच गया था, बालक को जन्म दिया। इसलिए उसका नाम 'गोशालक' रखा गया। मंखलि का पुत्र होने से वह मंखलि-पुत्र और गोशाला में जन्म लेने के कारण गोशालक[1] कहलाया। बड़ा होने पर चित्रफलक हाथ में लेकर गोशालक मंखपने से विचरने लगा।

त्रिपिटक में आजीवक नेता को मंखलि गोशालक कहा गया है। उसके मंखलि नामकरण पर बौद्ध परम्परा में एक विचित्र कथा प्रचलित है। उसके अनुसार गोशालक एक दास था। एक बार वह तेल का घड़ा उठाये आगे आगे चल रहा था और पीछे पीछे उसका मालिक। मार्ग में आगे फिसलन होने से मालिक ने कहा— 'तात मंखलि ! तात मंखलि ! अरे स्खलित मत होना, देख कर चलना' किन्तु मालिक के द्वारा इतना सावधान करने पर भी गोशालक गिर गया, जिससे घड़े का तेल भूमि पर बह चला। गोशालक स्वामी के डर से भागने लगा तो स्वामी ने उसका वस्त्र पकड लिया। फिर भी वह वस्त्र छोड़ कर नंगा ही भाग चला। तब से वह नग्न साधु के रूप में रहने लगा और लोग उसे[2] मांखलि कहने लगे।

व्याकरणकार 'पाणिनि' और भाष्यकार पतंजलि ने 'मंखलि' का शुद्ध रूप 'मस्करी माना है। "मस्कर मस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयोः" ६।१।२५४ में मस्करी का सामान्य अर्थ परिव्राजक किया है। भाष्यकार का कहना है कि मस्करी वह साधु नहीं जो हाथ में मस्कर या बांस की लाठी ले कर चलता है, किन्तु मस्करी वह है जो 'कर्म मत करो' का उपदेश देता है और कहता है— "शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।"[3]

यहाँ गोशालक का नाम स्पष्ट नहीं होने पर भी दोनों का अभिमत उसी ओर संकेत करता है। लगता है, गोशालक जब समाज में एक धर्माचार्य के रूप से विख्यात हो चुका, तब 'कर्म मत करो' की व्याख्या प्रचलित हुई, जो उसके नियतिवाद की ओर इशारा करती है।

आचार्य गुणचन्द्र रचित 'महावीर चरियं' में गोशालक की उत्पत्ति विषयक सहज ही विश्वास कर लेने और मानने योग्य रोचक एवं सुसंगत विवरण मिलता है। उसमें गोशालक के जीवनचरित्र का भी पूर्णरूपेण परिचय उपलब्ध होता है, इस दृष्टि से आचार्य गुणचन्द्र द्वारा दिये गये गोशालक के विवरण का अविकल अनुवाद यहां दिया जा रहा है :—

---

१ भगवती सूत्र, श० १५।१।

२ (क) आचार्य बुद्धघोष, धम्मपद अट्ठकथा १।१४३
(ख) मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, १।४२२।

३ न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः॥ [पातञ्जल महाभाष्य ६-१-१५४]

"उत्तरापथ में सिलिन्ध नाम का सन्निवेश था। वहां केशव नाम के एक ग्रामरक्षक की शिवा नाम की प्राणप्रिया एवं विनीता पत्नी की कुक्षि से मंख नामक एक पुत्र का जन्म हुआ। क्रमशः वह मंख युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन मंख अपने पिता के साथ स्नानार्थ एक सरोवर पर गया और स्नान करने के पश्चात् एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहां बैठे-बैठे मंख ने देखा कि एक चक्रवाक-युगल परस्पर प्रगाढ़ प्रेम से लबालब भरे हृदय से अनेक प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाएं कर रहा है। कभी तो वह चक्रवाक-मिथुन अपनी चंचुओं से कुतरे गये नवीन ताजे पद्मनाल के टुकड़े की छीना-झपटी करके एक दूसरे के प्रति अपने प्रणय को प्रकट करता था तो कभी सूर्य के अस्त हो जाने की आशंका से दूसरे को अपने प्रगाढ़ आलिंगन में जकड़ लेता था तो कभी जल में अपने प्रतिबिम्ब को देख कर विरह की आशंका से त्रस्त हो निष्कपट भाव से एक दूसरे को अपना सर्वस्व समर्पण करते हुए मधुर प्रेमालाप में आत्मविभोर हो जाता था।

चक्रवाक-युगल को इस प्रकार प्रेमकेलि में खोये हुए जानकर काल की तरह चुपके से सरकते हुए शिकारी ने आकर्णान्त धनुष की प्रत्यंचा खींचकर उन पर तीर चला दिया। दैव संयोग से वह तीर चकवे के लगा और वह उस प्रहार से मर्माहत हो छटपटाने लगा। चक्रवाक की तथाविध व्यथा को देखकर चकवी ने क्षणभर विलाप कर प्राण त्याग दिये। मुहूर्त भर बाद चकवा भी कालधर्म को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार चकवे और चकवी की यह दशा देखकर मंख की आँखें मुँद गईं और मूच्छित होकर धरणितल पर गिर पड़ा। जब केशव ने यह देखा तो वह विस्मित हो सोचने लगा कि यह अकल्पित घटना कैसे घटी। उसने शीतलोपचारों से मंख को आश्वस्त किया और थोड़ी देर पश्चात् मंख की मूर्च्छा दूर होने पर केशव ने उससे पूछा—"पुत्र ! क्या किसी वात दोष से, पित्त दोष से अथवा और किसी शारीरिक दुर्बलता के कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है जिससे कि तुम चेष्टा-रहित हो बड़ी देर तक मूच्छित पड़े रहे? क्या कारण है, सच सच बताओ?"

मंख ने भी अपने पिता की बात सुनकर दीर्घ विश्वास छोड़ते हुए कहा—"तात ! इस प्रकार के चक्रवाक-युगल को देखकर मुझे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। मैंने पूर्वजन्म में मानसरोवर पर इसी प्रकार चक्रवाक के मिथुन रूप से रहते हुए एक भील द्वारा छोड़े गये बाण से अभिहत हो विरह-व्याकुला चकवी के साथ मरण प्राप्त किया था और तत्पश्चात् मैं आपके यहाँ पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ हूं। इस समय मैं स्मृतिवश अपनी उस चिरप्रणयिनी चकवी के विरह को सहने में असमर्थ होने के कारण बड़ा दुखी हूं।"

केशव ने कहा—"वत्स ! अतीत दुःख के स्मरण से क्या लाभ? कराल

काल का यही स्वभाव है, वह किसी को भी चिरकाल तक प्रिय-संयोग से सुखी नहीं देख सकता। जैसे कि कहा भी है :—

"स्वर्ग के देवगण भी अपनी प्रणयिनी के विरहजन्य दुःख से संतप्त होकर मूर्च्छित की तरह किसी न किसी तरह अपना समय-यापन करते हैं, फिर तुम्हारे जैसे प्राणी, जिनका चर्म से मंढ़ा हुआ शरीर सभी आपत्तियों का घर है, उनके दुःखों की गणना ही क्या है? इसलिये पूर्वभव के स्मरण को भूलकर वर्तमान को ध्यान में रखकर यथोचित व्यवहार करो। क्योंकि भूत-भविष्यत् की चिन्ता से शरीर क्षीण होता है। इससे यह और भी निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि, यह संसार असार है, जहां जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक आदि बड़े-बड़े दुःख हैं।"

इस प्रकार विविध हेतुओं और युक्तियों से मंख को समझाकर केशव किसी तरह उसे घर ले गया। घर पहुँच कर भी मंख बिना अन्नजल ग्रहण किये शून्य मन से धरणितल की ओर निगाह गड़ाये, किसी बड़े योगी की तरह निष्क्रिय होकर, निरन्तर चिन्तामग्न हो, अपने जीवन को तृण की तरह तुच्छ मानता हुआ रहने लगा।

मंख की ऐसी दशा देखकर चिन्तित स्वजनवर्ग ने, कहीं कोई छलना-विकार तो नहीं है, इस विचार से तान्त्रिक लोगों को बुलाकर उन्हें उसे दिखाया। मंख का अनेक प्रकार से उपचार किया गया, पर सब निरर्थक।

एक दिन देशान्तर से एक वृद्ध पुरुष आया और केशव के घर पर ठहरा। उसने जब मंख को देखा तो वह केशव से पूछ बैठा—"भद्र! यह तरुण रोगादि से रहित होते हुए भी रोगी की तरह क्यों दिख रहा है?"

केशव ने उस वृद्ध पुरुष को सारी स्थिति से अवगत किया। वृद्ध पुरुष ने पूछा—"क्या तुमने इस प्रकार के दोष का कोई प्रतिकार किया है?"

केशव ने उत्तर दिया—"इसे बड़े-बड़े निष्णात मान्त्रिकों और तान्त्रिकों को दिखाया है।"

वृद्ध ने कहा—"यह सभी उपक्रम व्यर्थ है, प्रेम के ग्रह से ग्रस्त का वे बेचारे क्या प्रतिकार करेंगे?" कहा भी है :—

"भयंकर विषधर के डस लेने से उत्पन्न वेदना को शान्त करने में कुशल, सिंह, दुष्ट हाथी और राक्षसी का स्तंभन करने में प्रवीण और प्रेतबाधा से उत्पन्न उपद्रव को शान्त करने में सक्षम उच्चकोटि के मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक भी प्रेमपरवश हृदय वाले व्यक्ति को स्वस्थ करने में समर्थ नहीं होते।"

केशव ने पूछा—"तो फिर अब इसका क्या किया जाय?"

वृद्ध ने उत्तर दिया—"यदि तुम मुझ से पूछते हो तो जब तक कि यह दशवीं दशा (विक्षिप्तावस्था) प्राप्त न कर ले उससे पहले-पहले इसके पूर्वजन्म के वृत्तान्त को एक चित्रपट पर अंकित करवालो, जिसमें यह दृश्य अंकित हो कि भील ने बाण से चकवे पर प्रहार किया, चकवा घायल हो गिर पड़ा, चकवी उस चकवे की इस दशा को देखकर मर गई और उसके पश्चात् वह चकवा भी मर गया।"

"इस प्रकार का चित्रफलक तैयार करवा कर मंख को दो जिसे लिये-लिये यह मंख ग्राम-नगरादि में परिभ्रमण करे। कदाचित् ऐसा करने पर किसी तरह विधिवशात् इसकी पूर्वभव की भार्या भी मानवी भव को पाई हुई उस चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन के उस प्रकार के दृश्य को देखकर पूर्वभव की स्मृति से इसके साथ लग जाय।"

"प्राचीन शास्त्रों में इस प्रकार के वृत्तान्त सुने भी जाते हैं। इस उपाय से आशा का सहारा पाकर यह भी कुछ दिन जीवित रह सकेगा।"

वृद्ध की बात सुनकर केशव ने कहा—"आपकी बुद्धि की पहुँच बहुत ठीक है। आप जैसे परिणत बुद्धि वाले पुरुषों को छोड़कर इस प्रकार के विषम अर्थ का निर्णय कौन जान सकता है?"

इस प्रकार वृद्ध की प्रशंसा कर केशव ने मंख से सब हाल कहा। मंख बोला—"तात! इसमें क्या अनुचित है? शीघ्र ही चित्रपट को तैयार करवा दीजिये। कुविकल्पों की कल्लोलमाला से आकुल चित्त वाले के समाधानार्थ यही उपक्रम उचित है।"

मंख के अभिप्राय को जानकर केशव ने भी यथावस्थित चक्रवाक-मिथुन का चित्रपट पर आलेखन करवाया और वह चित्रफलक और मार्ग में जीवन-निर्वाह हेतु संबल के रूप में द्रव्य मंख को प्रदान किया।

मंख उस चित्रफलक और एक सहायक को साथ लेकर ग्राम, नगर सन्निवेशादि में बिना किसी प्रकार का विश्राम किये आशापिशाचिनी के वशीभूत हो घूमने लगा। मंख उस चित्रफलक को घर-घर और नगर के त्रिक-चतुष्क एवं चौराहों पर ऊंचा करके दिखाता और कुतूहल से जो भी चित्रपट के विषय में उससे पूछता उसे सारी वास्तविक स्थिति समझाता। निरन्तर विस्तार के साथ अपनी आत्मकथा कहकर यह लोगों को चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन की ओर इंगित कर कहता—"देखो, मानसरोवर के तट पर परस्पर प्रेमकेलि में निमग्न यह चकवा-चकवी का जोड़ा किसी शिकारी द्वारा छोड़े गये बाण से शरीर त्याग कर एक दूसरे से बिछुड़ गया। इस समय यह प्रियमिलन के लिये छटपटा रहा है।"

मंख के मुख से इस प्रकार की कथा सुनकर कुछ लोग उसकी खिल्ली उड़ाते, कुछ भला बुरा कहते तो कुछ उस पर दयार्द्र हो अनुकम्पा करते।

इस प्रकार मंख भी अपने कार्यसाधन में दत्तचित्त हो घूमता हुआ चम्पा नगरी पहुँचा। उसका पाथेय समाप्त हो चुका था, अतः जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन न देख मंख उसी चित्रफलक को अपनी वृत्ति का आधार बनाकर गाने गाता हुआ भिक्षार्थ घूमने लगा और उस भिक्षाटन के कार्य से क्षुधा-शान्ति एवं अपनी प्रेयसी की तलाश, ये दोनों कार्य करने लगा।

उसी नगर में मंखली नाम का एक गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। वह वाणिज्य कला से नितान्त अनभिज्ञ, नरेन्द्र सेवा के कार्य में अकुशल, कृषि कार्यों में सामर्थ्यहीन एवं आलसी तथा अन्य प्रकार के प्रायः सभी सामान्य कष्टसाध्य कार्यों को करने में भी अविचक्षण था। सारांश यह कि वह केवल भोजन का भाण्ड था। वह निरन्तर इसी उपाय की टोह में रहता था कि किस प्रकार वह आसानी से अपना निर्वाह करे। एक दिन उसने मंख को देखा कि वह केवल चित्रपट को दिखाकर प्रतिदिन भिक्षावृत्ति से सुखपूर्वक निर्वाह कर रहा है।

उसे देखकर मंखली ने सोचा—"अहो! इसकी यह वृत्ति कितनी अच्छी है जिसे कभी कोई चुरा नहीं सकता। नित्यप्रति दूध देने वाली कामधेनु के समान, बिना पानी के धान्यनिष्पत्ति की तरह यह एक क्लेशरहित महानिधि है। चिरकाल से जिस वस्तु की मैं चाह कर रहा था उसकी प्राप्ति से मैं जीवन पा चुका हूं। यह बहुत ही अच्छा उपाय है।"

ऐसा सोचकर वह मंख के पास गया और उसकी सेवा करने लगा। उसने उससे कुछ गाने सीखे और अपने पूर्वभव की भार्या के विरह-वज्र से जर्जरित हृदय वाले उस मंख की मृत्यु के पश्चात् मंखली अपने आपको सारभूत तत्त्व का ज्ञाता समझते हुए बड़े विस्तृत विवरण के साथ वैसा चित्रफलक तैयार करवाकर अपने घर पहुंचा।

मंखली ने अपनी गृहिणी से कहा—"प्रिये! अब भूख के सिर पर वज्र मारो और विहार-यात्रा के लिये स्वस्थ हो जाओ।"

मंखली की पत्नी ने उत्तर दिया—"मैं तो तैयार ही हूं, जहाँ आपकी रुचि हो वहीं चलिये।"

चित्रफलक लेकर मंखली अपनी पत्नी के साथ नगर से निकल पड़ा और मंखवृत्ति से देशांतर में भ्रमण करने लगा। लोग भी उसे आया देखकर पहले देखे हुए मंख के खयाल से "मंख आ गया, यह मंख आ गया" इस तरह कहने लगे।

इस प्रकार मंख द्वारा उपदिष्ट पासंड व्रत से संबद्ध होने के कारण वह मंखली मंख कहलाया।

अन्यदा मंख परिभ्रमण करते हुए सरवण ग्राम में पहुँचा और गोवहुल बाह्मण की गोशाला में ठहरा। गोशाला में रहते हुए उसकी पत्नी सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम गोशालक रखा गया।

अनुक्रम से बढ़ता हुआ गोशालक बाल्यवय को पूर्ण कर तरुण हुआ। वह स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति का था, अतः सहज में ही विविध प्रकार के अनर्थ कर डालता, माता-पिता की आज्ञा में नहीं चलता और सीख देने पर द्वेष करता। सम्मानदान से संतुष्ट किये जाने पर क्षण भर सरल रहता और फिर कुत्ते की पूँछ की तरह कुटिलता प्रदर्शित करता। विना थके बोलते ही रहने वाले, कूड़-कपट के भण्डार और परम मर्मवेधी उस वैताल के समान गोशालक को देखकर सभी सशंक हो जाते।

माँ के द्वारा यह कहने पर—"हे पाप! मैंने नव मास तक तुझे गर्भ में वहन किया और बड़े लाड़ प्यार से पाला है, फिर भी तू मेरी एक भी बात क्यों नहीं मानता?" गोशालक उत्तर में यह कहता—"अम्ब! तू मेरे उदर में प्रविष्ट हो जा मैं दुगुने समय तक तुझे धारण कर रखूँगा।"

जब तक गोशालक अपने पिता के साथ कलह नहीं कर लेता तब तक उसे खुलकर भोजन करने की इच्छा नहीं होती। निश्चित रूप से सारे दोष समूहों से उसका निर्माण हुआ था जिससे कि सम्पूर्ण जगत् में उसके समान कोई और दूसरा दृष्टिगोचर नहीं होता था।

इस प्रकार की दुष्ट प्रकृति के कारण उसने सब लोगों को अपने से पराङ्मुख कर लिया था। लोग उसको दुष्टजनों में प्रथम स्थान देने लगे। विष-वृक्ष और दृष्टि-विष वाले विषधर की तरह वह प्रथम उद्गमकाल में ही दर्शनमात्र से भयंकर प्रतीत होने लगा।

किसी समय पिता के साथ खूब लड़-झगड़कर उसने वैसा ही चित्रफलक तैयार करवाया और एकाकी भ्रमण करते हुए उस शाला में चला आया, जहां भगवान् महावीर विराजमान थे।

[महावीर चरियं (गुणचन्द्र रचित) प्रस्ताव ६, पत्र १८३-१८६]

जैनागमों की मौलिकता

इस विषय में जैनागमों का कथन इसलिये मौलिक है कि उसे मंखलि का पुत्र बतलाने के साथ गोशाला में उत्पन्न होना भी कहा है। पाणिनि कृत-

"गोशालायां जातो गोशाल:" इस व्युत्पत्ति से भी इस कथन की पुष्टि होती है। बौद्ध आचार्य बुद्धघोष ने 'सामञ्ञ फलसुत्त' की टीका में गोशालक का जन्म गोशाला में हुआ माना है।[1] इतिहास लेखकों ने पाणिनि का काल ई० पूर्व ४०० से ई० पूर्व ४१० माना है।[2] गोशालक के निधन और पाणिनि के रचनाकाल में लगभग एक सौ बयालीस वर्ष का अन्तर है। संभव है, गोशालक-मत के उत्कर्ष-काल में यह व्याख्या की गई हो।

गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय में प्रमुख स्थान रहा है। कुछ विद्वानों ने उसे आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी बताया है। पर सही बात यह है कि आजीवक सम्प्रदाय गोशालक के पूर्व से ही चला आ रहा था। जैनागम एवं त्रिपिटक में गोशालक की परम्परा को आजीवक या आजीविक कहा है। दोनों का अर्थ एक ही है। प्रतिपक्ष द्वारा निर्धारित इस नाम की तरह वे स्वयं इसका क्या अर्थ करते होंगे, यह स्पष्ट नहीं होता। हो सकता है, उन्होंने इसका शुभरूप स्वीकार किया हो।

डॉ० बरुआ ने आजीविक के सम्बन्ध में लिखा है कि यह ऐसे संन्यासियों की एक श्रेणी है, जिनके जीवन का आधार भिक्षावृत्ति है, जो नग्नता को अपनी स्वच्छता एवं त्याग का बाह्य चिह्न बनाये हुए हैं, जिनका सिर मुंडा हुआ रहता है और जो हाथ में बांस के डंडे रखते हैं। इनकी मान्यता है कि जीवन-मरण, सुख-दु:ख और हानि-लाभ यह सब अनतिक्रमणीय हैं, जिन्हें टाला नहीं जा सकता। जिसके भाग्य में जो लिखा है, वह होकर ही रहता है।

गोशालक से महावीर का सम्पर्क

साधना के दूसरे वर्षावास में जब भगवान् महावीर राजगृह के बाहर नालन्दा में मासिक तप के साथ चातुर्मास कर रहे थे, उस समय गोशालक भी हाथ में परम्परानुकूल चित्रपट लेकर ग्राम-ग्राम घूमता हुआ प्रभु के पास तन्तुवाय शाला में आया। अन्य योग्य स्थान न मिलने के कारण उसने भी उसी तन्तुवाय शाला में चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया।

भगवान् महावीर ने प्रथम मास का पारणा 'विजय' गाथापति के यहां किया। विजय ने बड़े भक्तिभाव से प्रभु का सत्कार किया और उत्कृष्ट अशन-पान आदि से प्रतिलाभ दिया। त्रिविध-त्रिकरण शुद्धि से दिये गये उसके पारणा-दान की देवों ने महिमा की, उसके यहां पंच-दिव्य प्रकट हुए। क्षणभर में यह अद्भुत समाचार अनायास नगर भर में फैल गया और दृश्य देखने को जन-समूह उमड़ पड़ा। मंखलिपुत्र गोशालक भी भीड़ के साथ चला आया और द्रव्य-वृष्टि आदि आश्चर्यजनक दृश्य देखकर दंग रह गया। वह वहाँ से लौटकर भगवान्

---

१ सुमंगल विलासिनी (दीर्घनिकाम अट्ठकहा) पृ० १४३-४४

२ वासुदेवशरण अग्रवाल। पाणिनीकालीन भारतवर्ष।

महावीर के पास आया और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन करके बोला—"भगवन् ! आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूं। मैंने मन में भली-भाँति सोचकर ऐसा निश्चय किया है। मुझे अपनी चरण-शरण में लेकर सेवा का अवसर दें।" प्रभु ने सहज में उसकी बात सुन ली और कुछ उत्तर नहीं दिया।

भगवान् महावीर के चतुर्थ मासिक तप का पारणा नालन्दा के पास 'कोल्लाग' गांव में 'बहुल' ब्राह्मण के यहां हुआ था। गोशालक की अनुपस्थिति में भगवान् गोचरी के लिये बाहर निकले थे, अतः गोशालक जब पुनः तन्तुवाय-शाला में आया तो वहां प्रभु को न देखकर उसने सारी राजगृही छान डाली मगर प्रभु का कुछ पता नहीं लगा। अन्त में हार कर उदास मन से वह तन्तुवाय-शाला में लौट आया और अपने वस्त्र, पात्र, जूते आदि ब्राह्मणों को बाँटकर स्वयं दाढ़ी मूंछ मुंडवा कर प्रभु की खोज में कोल्लाग सन्निवेश की ओर चल दिया।

शिष्यत्व की ओर

मार्ग में जन-समुदाय के द्वारा 'बहुल' के यहां हुई दिव्य-वृष्टि के समाचार सुनकर गोशालक को पक्का विश्वास हो गया कि निश्चय ही भगवान् यहाँ विराजमान हैं, क्योंकि उनके जैसे तपस्तेज की ऋद्धि वाले अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके चरण-स्पर्श के बिना इस प्रकार की द्रव्य-वृष्टि संभव नहीं है। इस तरह अनु-मान के आधार पर पता लगाते हुए वह महावीर के पास पहुँच गया।

गोशालक ने प्रभु को सविधि वन्दन कर कहा—"प्रभो ! मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया जो इस तरह बिना बताये आप यहाँ चले आये ? मैं आपके बिना अब एक क्षण भी अन्यत्र नहीं रह सकता। मैंने अपना जीवन आपके चरणों में समर्पित कर दिया है। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूं कि आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूं।"

प्रभु ने जब गोशालक के विनयावनत अन्तःकरण को देखा तो उसकी प्रार्थना पर "तथास्तु" की मुहर लगा दी। प्रभु के द्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होने पर वह छः वर्ष से अधिक काल तक शिष्य रूप में भगवान् के साथ विभिन्न स्थानों में विचरता रहा, जिसका उल्लेख महावीर-चर्या के प्रसंग में यथास्थान किया जा चुका है।

विरुद्धाचरण

प्रभु के साथ विहार करते हुए गोशालक ने कई बार भगवान् की बात को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे कहीं भी सफलता नहीं मिली। दुराग्रह के कारण उसके मन में प्रभु के प्रति श्रद्धा में कमी आयी किन्तु वह प्रभु से तेजोलेश्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था, अतः उस अवधि

तक वह मन मसोस कर भी जैसे-तैसे उनके साथ चलता रहा। अन्ततः एक दिन भगवान् से तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि जानकर वह उनसे अलग हो गया और नियतिवाद का प्रबल प्रचारक एवं समर्थक बन गया। कुछ दिनों के बाद उसे कुछ मत-समर्थक साथी या शिष्य भी मिल गये, तब से वह अपने को जिन और केवली भी घोषित करने लगा।

भगवान् जिस समय श्रावस्ती में विराजमान थे, उस समय गोशालक का जिन रूप से प्रचार जोरों से चल रहा था। गोशालक के जिनत्व के सम्बन्ध में गौतम द्वारा जिज्ञासा करने पर प्रभु ने कहा—"गौतम ! गोशालक जिन नहीं, जिन-प्रलापी है।" प्रभु की यह वाणी श्रावस्ती नगरी में फैल गई। गोशालक ने जब यह बात सुनी तो वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर भला-बुरा कहा और स्वयं आवेश में प्रभु के पास पहुँचकर रोषपूर्ण भाषा बोलने लगा।

महावीर ने पहले से ही अपने श्रमणों को सूचित कर रखा था कि गोशालक यहाँ आने वाला है और वह अभद्र वचन बोलेगा, अतः कोई भी मुनि उससे संभाषण नहीं करे। प्रभु द्वारा इस प्रकार सावचेत करने के उपरान्त भी गोशालक के अनर्गल प्रलाप और अपमानजनक शब्दों को सुनकर भावावेश में दो मुनि उससे बोल गये। गोशालक ने क्रुद्ध हो उन पर तेजोलेश्या फेंकी, जिससे वे दोनों मुनि काल कर गये। भगवान् द्वारा उद्बोधित किये जाने पर उसने भगवान् को भी तेजोलेश्या से पीड़ित किया। वास्तव में मूढ़मति पर किये गये उपदेश का ऐसा ही कुपरिणाम होता है, जैसा कि कहा है—"पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्।" विशेष जानकारी के लिये साधनाकालीन विहारचर्या द्रष्टव्य है।

आजीवक नाम की सार्थकता

गोशालक-परम्परा का आजीवक नाम केवल आजीविका का साधन होने से ही पड़ा हो, ऐसी बात नहीं है। इस मत के अनुयायी भी विविध प्रकार के तप और ध्यान करते थे। जैसे कि जैनागम स्थानांग में आजीवकों के चार प्रकार के तप बतलाये हैं। कल्प चूर्णि आदि ग्रन्थों में पाँच प्रकार के श्रमणों का उल्लेख है, जिसमें एक औष्ट्रिका श्रमण का भी उल्लेख है। ये मिट्टी के बड़े बर्तन में ही बैठ कर तप करते थे।

उपर्युक्त निर्देशों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जाना कठिन है कि आजीवकमति केवल उदरार्थी होते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे आत्मवादी, निर्वाणवादी और कष्टवादी होकर भी कट्टर नियतिवादी थे। उनके मत में पुरुषार्थ कुछ भी कार्यसाधक नहीं था, फिर भी अनेक प्रकार के तप और

आतापनायें किया करते थे। मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार वे अपनी इस विरोधात्मक प्रवृत्ति के कारण ही विरोधी लोगों के आक्षेप के पात्र बने। लोग कहने लगे कि ये जो कुछ भी करते हैं, आजीविका के लिये करते हैं, अन्यथा नियतिवादी को इसकी क्या आवश्यकता है ?

आजीवक नाम प्रचलित होने के मूल में चाहे जो अन्य कारण रहे हों पर इस नाम के सर्वमान्य होने का एक प्रमुख कारण आजीविका भी है।

जैनागम भगवती के अनुसार गोशालक निमित्त-शास्त्र का भी अभ्यासी था। वह समस्त लोगों के हानि-लाभ, सुख-दुःख एवं जीवन-मरण विषयक भविष्य बताने में कुशल और सिद्धहस्थ माना जाता था। अपने प्रत्येक कार्य में वह उस ज्ञान की सहायता लेता था। आजीवक लोग इस विद्या के बल से अपनी सुख-सामग्री जुटाया करते थे। इसके द्वारा वे सरलता से अपनी आजीविका चलाते। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में इस मत को आजीवक और लिंग-जीवी कहा है।

इस तरह नियतिवादी होकर भी विविध क्रियाओं के करने और आजी-विका के लिये निमित्त विद्या का उपयोग करने से वे विरोधियों, खासकर जैनों द्वारा 'आजीवक' नाम से प्रसिद्ध हुए हों, यह संगत प्रतीत होता है।

आजीवक-चर्या

'मज्झिमनिकाय' के अनुसार निर्ग्रन्थों के समान आजीविकों की जीवन-चर्या के नियम भी कठोर बताये गये हैं। 'मज्झिमनिकाय' में आजीवकों की भिक्षाचरी का प्रशंसात्मक उल्लेख करते हुए एक स्थान पर लिखा है—"गाँवों, नगरों में आजीवक साधु होते हैं, उनमें से कुछ एक दो घरों के अन्तर से, कुछ एक तीन घरों के अन्तर से, यावत् सात घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करते हैं। संसार-शुद्धि की दृष्टि से जैनों के चौरासी लाख जीव-योनि के सिद्धान्त की तरह वे चौरासी लाख महाकल्प का परिमाण मानते हैं। छः लेश्याओं की तरह गोशालक ने छः अभिजातियों का निरूपण किया है, जिनके कृष्ण, नील आदि नाम भी बराबर मिलते हैं।"

भगवती में आजीवक उपासकों के आचार-विचार का संक्षिप्त परिचय मिलता है, जो इस प्रकार है :—

"गोशालक के उपासक अरिहन्त को देव मानते, माता-पिता की सेवा करते, गूलर, बड़, बेर, अंजीर, एवं पिलंखु इन पाँच फलों का भक्षण नहीं करते,

बैलों को लांछित नहीं करते, उनके नाक, कान का छेदन नहीं करते एवं जिससे त्रस प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा व्यापार नहीं करते थे ।[1]

आजीवक मत का प्रवर्तक

अभी तक बहुत से जैन-अजैन विद्वान् गोशालक को आजीवक मत का संस्थापक मानते आ रहे हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक नियतिवाद का समर्थक और आजीवक मत का प्रमुख आचार्य रहा है, किन्तु कहीं भी उसका इस मत के संस्थापक के रूप में नामोल्लेख नहीं मिलता।

जैन शास्त्रों में जो अन्य तीर्थों के चार प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें नियतिवाद का स्थान चौथा है। इससे महावीर के समय में "नियतिवादी" संघ पूर्व से ही प्रचलित होना प्रमाणित होता है। बौद्धागम 'विनयपिटक' में बुद्ध के साथ एक 'उपक' नाम के आजीवक भिक्षु के मिलने की बात आती है। यदि आजीवक मत की स्थापना गोशालक से मानी जाय तो उसका मिलना संभव नहीं होता, क्योंकि महावीर की बत्तीस वर्ष की वय में जब पहले पहल गोशालक उनसे मिला तब वह किशोरावस्था में पन्द्रह-सोलह वर्ष का था। जिस समय वह महावीर के साथ हुआ, उस समय प्रव्रज्या के दो वर्ष हो चुके थे। इसके बाद उसने नौवें वर्ष में पृथक् हो, श्रावस्ती में छैः माह तक आतापना लेकर तेजोलेश्या प्राप्त की। फिर निमित्त शास्त्र का अध्ययन कर वह आजीवक संघ का नेता बन गया। निमित्त ज्ञान के लिये कम से कम तीन-चार वर्ष का समय माना जाय तो गोशालक द्वारा आजीवक संघ का नेतृत्व ग्रहण करना लगभग महावीर के तीर्थंकरपद-प्राप्ति के समय हो सकता है। ऐसी स्थिति में बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होने के समय गोशालक के मिलने की बात ठीक नहीं लगती। फिर बौद्ध ग्रन्थ "दीर्घ निकाय" और "मज्झिम निकाय" में मंखलि गोशालक के अतिरिक्त "किस्स संकिच्च" और "नन्दवच्छ" नाम के दो और आजीवक नेताओं के नाम मिलते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि गोशालक से पूर्व ये दोनों आजीवक भिक्षु थे। इन्होंने आजीवक मत स्वीकार करने के बाद गोशालक को लब्धिधारी और निमित्त शास्त्र का ज्ञाता जान कर संघ का नायक बना दिया हो, यह संभव है।

आजीवक मत की स्थापना का स्पष्ट निर्देश नहीं होने पर भी गोशालक के शरीरान्तर प्रवेश के सिद्धान्त से यह अनुमान लगाया जाता है कि उदायी

---

१ इच्चेए दुवालस आजीविओवासगा अरिहंत देवयागा अम्मापिउसुस्सूसगा पंचफल-पडिक्कन्ता तं० उडंबरेहिं वडेहिं बोरेहिं, सतरेहिं, पिलक्खूहिं, पलंडुल्हसूणकन्दमूलविवज्जगा अणिल्लंछिएहिं अणक्कभिण्णेहिं तसपाण विवज्जिएहिं चित्तेहिं वित्ति कप्पेमाणा विहरंति।
[भगवती सूत्र, शतक ८, उ० ५, सू० ३३०, अभयदेवीयावृत्ति, प० ३७०(१)]

कुंडियायन आजीवक संघ का आदिप्रवर्तक हो, जो गोशालक के स्वर्गवास से १३३ वर्ष पूर्व हो चुका था। गोशालक के सम्वन्ध में इन वर्षों में काफी गवेषणा हुई है। पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने भी बहुत कुछ नयी शोध की है, फिर भी यह निश्चित है कि गोशालक विषयक जो सामग्री जैन और बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ विद्वान् इस बात को भूल कर मूल से ही विपरीत सोचते हैं। उनका कहना है कि जैन दृष्टि गोशालक को महावीर के ढोंगी शिष्यों में से एक मानती है, पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। डॉ० वरुआ ने अपनी इस धारणा की पृष्ठभूमि में माना है कि—महावीर पहले तो पार्श्वनाथ के पंथ में थे, किन्तु एक वर्ष बाद वे अचेलक हुए, तब अचेलक पंथ में चले गये।[1] इन्होंने यह भी माना कि गोशालक को महावीर से दो वर्ष पूर्व ही जिनत्व प्राप्त हो गया। उनके ये सब विचार कल्पनाश्रित हैं, फिर भी साधारण विचारकों पर उनका प्रभाव होना सहज है। जैसा कि गोपालदास जीवाभाई पटेल ने वरुआजी के ग्रन्थ से प्रभावित हो कर लिखा—"जैन सूत्रों में गोशालक के विषय में जो परिचय मिलता है, उसमें उसको चरित्र-भ्रष्ट तथा महावीर का शिष्य ठहराने का इतना अधिक प्रयत्न किया गया है कि उन लेखों को आधारभूत मानने को ही मन नहीं मानता।[2]

वास्तव में गोपालदास ने जैन सूत्रों के भाव को नहीं समझा, वे पश्चिमी विचार के प्रभाव में ऐसा लिख गये। असल में जैन और बौद्ध परम्पराओं से हट-कर यदि इसका अन्वेषण किया जाय तो संभव है कि गोशालक नाम का कोई व्यक्ति ही हमें न मिले। जब हम कुछ आधारों को सही मानते हैं, तब किसी कारण से कुछ अन्य को असत्य मान लें, यह उचित प्रतीत नहीं होता। भले ही जैन और बौद्ध आधार किसी अन्य भाव या भाषा में लिखे गये हों, फिर भी वे हमें मान्य होने चाहियें। क्योंकि वे निर्हेतुक नहीं हैं, निर्हेतुक होते तो दो भिन्न परम्पराओं के उल्लेख में एक दूसरे का समर्थन एवं साम्य नहीं होता। यदि जैन आगम उसे शिष्य वतलाते और बौद्ध व आजीवक शास्त्र उसे गुरु लिखते तो यह शंका उचित हो सकती थी, पर वैसी कोई स्थिति नहीं है।

जैन शास्त्र की प्रामाणिकता

जैन आगमों के एतद्विषयक वर्णनों को सर्वथा आपेक्षात्मक समझ बैठना भी भूल होगा। जैन शास्त्र जहाँ गोशालक एवं आजीवक मत की हीनता व्यक्त करते हैं, वहाँ वे गोशालक को अच्युत स्वर्ग तक पहुँचा कर मोक्षगामी भी वतलाते हैं, साथ ही उनके अनुयायी भिक्षुओं को अच्युत स्वर्ग तक पहुँचने की

---

१ महावीर नो संयम धर्म (सूत्र कृतांग का गुजराती संस्करण), पृ० ३४।
२ आगम और त्रिपिटक—एक अनुशीलन, पृ० ४४-४५।

क्षमता देकर गौरव प्रदान करते हैं।[1] एकांगी विरोध की ही दृष्टि होती तो उस में ऐसा कभी संभव नहीं होता।

आजीवक वेष

विभिन्न मतावलम्बियों के विभिन्न प्रकार के वेष होते हैं। कोई धातु रक्ताम्बर धारण करता है तो कोई पीताम्बर, किन्तु आजीवक के किसी विशेष वेष का उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध शास्त्रों में भी आजीवक भिक्षुओं को नग्न ही बताया गया है, वहाँ उनके लिये अचेलक शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके लिंग-धारण पर महावीर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि वह जब नालन्दा की तन्तुवायशाला में भगवान् महावीर से प्रथम बार मिला तब उसके पास वस्त्र थे। पर चातुर्मास के बाद जब भगवान् महावीर नालन्दा से विहार कर गये तब वह भी वस्त्रादि ब्राह्मणों को देकर मुंडित हो कर महावीर की खोज में निकला और कोल्लाग सन्निवेश में उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

आजीवकों के आचार के सम्बन्ध का वर्णन "मज्झिम निकाय" में मिलता है। वहाँ छत्तीसवें प्रकरण में निर्ग्रन्थ संघ के साधु "सच्चक" के मुख से यह बात निम्न प्रकार से कहलायी गयी है :—

"वे सब वस्त्रों का परित्याग करते हैं, शिष्टाचारों को दूर रख कर चलते हैं, अपने हाथों में भोजन करते हैं, आदि।" "दीर्घ निकाय" में भी कश्यप के मुख से ऐसा स्पष्ट कहलाया गया है।

महावीर का प्रभाव

गोशालक की वेष-भूषा और आचार-विचार से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस पर भगवान् महावीर के आचार का पूर्ण प्रभाव था। "मज्झिम निकाय" में आजीवकों के आचार का निम्नांकित परिचय मिलता है :—

"वे भिक्षा के लिये अपने आने अथवा राह देखने सम्बन्धी किसी की बात नहीं सुनते, अपने लिये बनवाया आहार नहीं लेते, जिस बर्तन में आहार पकाया गया हो, उसमें से उसे नहीं लेते, देहली के बीच रखा हुआ, ओखली में कूटा हुआ और चूल्हे पर पकता हुआ भोजन ग्रहण नहीं करते। एक साथ भोजन करने वाले युगल से तथा सगर्भा और दुधमुँहे बच्चे वाली स्त्री से आहार नहीं लेते। जहाँ आहार कम हो, जहाँ कुत्ता खड़ा हो और जहाँ मक्खियां भिन-भिनाती हों, वहाँ से आहार नहीं लेते। मत्स्य, मांस, मदिरा, मैरेय और खट्टी कांजी को वे स्वीकार नहीं करते....। कोई दिन में एक बार, कोई दो-दो दिन

---

१ भगवती श०, श० १५। सू० ५५६, पत्र ५८८ (१)।

बाद एक बार, कोई सात-सात दिन बाद एक बार और कोई पन्द्रह-पन्द्रह दिन बाद एक बार आहार करते हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के वे उपवास करते हैं।"

इस प्रकार का आचार निग्रन्थ परम्परा के अतिरिक्त नहीं पाया जाता। इस उल्लेख से गोशालक पर महावीर के आचार का स्पष्ट प्रभाव कहे बिना नहीं रहा जा सकता।

निग्रन्थों के भेद

आजीवक और निग्रन्थों के आचार की आंशिक समानता देखकर कुछ विद्वान् सोचते हैं कि इन दोनों के आचार एक हैं, परन्तु वास्तव में दोनों परम्पराओं के आचार में मौलिक अन्तर भी है। "मज्झिम निकाय" में जो भिक्षा के नियम बतलाये हैं, संभव है, वे सभी आजीवकों द्वारा नहीं पाले जा कर कुछ विशिष्ट आजीवक भिक्षुओं द्वारा ही पाले जाते हों। मूल में निग्रन्थ और आजीवकों के आचार में पहला भेद सचित्त-अचित्त सम्बन्धी है। जहाँ निग्रन्थ परम्परा में सचित्त का स्पर्श तक भी निषिद्ध माना जाता है, वहाँ आजीवक परम्परा में सचित्त फल, बीज और शीतल जल ग्राह्य बताया गया है। अतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उनमें उग्र तप करने वाले थे, वैसे शिथिलता का प्रवेश भी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

आर्द्रक कुमार के प्रकरण में आजीवक भिक्षुओं के अब्रह्म सेवन का भी उल्लेख है। इसे केवल आक्षेप कहना भूल होगा, क्योंकि जैनागम के अतिरिक्त बौद्ध शास्त्र से भी आजीवकों के अब्रह्म-सेवन की पुष्टि होती है।[1] वहाँ पर निग्रन्थ ब्रह्मचर्यवास में और आजीवक अब्रह्मचर्यवास में गिनाये गये हैं।[2]

गोशालक ने बुद्ध, मुक्त और न बद्ध न मुक्त ऐसी तीन अवस्थाएँ बतलायी हैं। वे स्वयं को मुक्त–कर्मलेप से परे मानते थे। उनका कहना था कि मुक्त पुरुष स्त्री-सहवास करे तो उसे भय नहीं।[3] इन लेखों से स्पष्ट होता है कि आजीवकों में अब्रह्म-सेवन को दोष नहीं माना जाता था।

आजीवक का सिद्धान्त

आजीवक परम्परा के धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में कुछ जानकारी जैन

---

१ (क) मज्झिम निकाय, भाग १, पृ० ५१४।
(ख) एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, डॉ० हार्नले, पृ० २६१।

२ मज्झिमम निकाय, संदक सुत्त, पृ० २३६।

३ (क) महावीर कथा, गोपालदास पटेल, पृ० १७७।
(ख) श्रीचन्द रामपुरिया, तीर्थंकर वर्द्धमान, पृ० ८३।

और बौद्ध सूत्रों से प्राप्त होती है। गोशालक ने अपने धार्मिक सिद्धान्त के विषय में भगवान् महावीर के समक्ष जो विचार प्रकट किये, उनका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आजीवकों के नियतिवाद का भी विभिन्न सूत्रों में उल्लेख मिलता है। उपासक दशांग सूत्र के छठे और सातवें अध्ययन में नियतिवाद की चर्चा है। वहाँ कहा गया है कि गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति इसलिये सुन्दर है कि उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम आदि आवश्यक नहीं, क्योंकि उसके मत में सब भाव नियत हैं और महावीर के मत में सब भाव अनियत होने से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम की आवश्यकता मानी गई है। बौद्ध सूत्र दीर्घ निकाय में भी इससे मिलता जुलता सिद्धान्त बतलाया गया है, यथा–प्राणियों की भ्रष्टता के लिये निकट अथवा दूर का कोई कारण नहीं है। वे बिना निमित्त या कारण के ही पवित्र होते हैं। कोई भी अपने या पर के प्रयत्नों पर आधार नहीं रखता। यहाँ कुछ भी पुरुष-प्रयास पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि इस मान्यता में शक्ति, पौरुष अथवा मनुष्य-बल जैसी कोई वस्तु नहीं है।" प्रत्येक सविचार उच्चतर प्राणी, प्रत्येक सेन्द्रिय-वस्तु, अधमतर प्राणी, प्रत्येक प्रजनित वस्तु (प्राणिमात्र) और प्रत्येक सजीव वस्तु–सर्व वनस्पति बलहीन, प्रभावहीन एवं शक्तिहीन है। इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं विधिवश या स्वभाववश होती हैं और षड्वर्गों में से एक अथवा दूसरे की स्थिति के अनुसार मनुष्य सुख दुःख के भोक्ता बनते हैं।

दिगम्बर परम्परा में गोशालक

श्वेताम्बर परम्परा में गोशालक को भगवान् महावीर का शिष्य बताया गया है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में गोशालक का परिचय अन्य प्रकार से मिलता है। यहाँ पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि रूप में गोशालक का चित्रण किया गया है। कहा जाता है कि मस्करी गोशालक और पूर्ण काश्यप (ऋषि) महावीर के प्रथम समवशरण में उपस्थित हुए, किन्तु महावीर की देशना नहीं होने से गोशालक रुष्ट होकर चला गया। कोई कहते हैं कि वह गणधर होना चाहता था, किन्तु उसे गणधर पद पर नियुक्त नहीं करने से वह पृथक् हो गया। पृथक् हो कर वह सावत्थी में आजीवक सम्प्रदाय का नेता बना और अपने को तीर्थंकर कहने लगा। उसने कहा–"ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, अज्ञान ही श्रेष्ठ है, उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। देव या ईश्वर कोई नहीं है। अतः स्वेच्छापूर्वक

शून्य का ध्यान करना चाहिये।"[1]

आजीवक और पासत्थ

आजीवक संप्रदाय का मूल स्रोत श्रमण परम्परा में निहित है।[2] आजीवकों और श्रमणों में मुख्य अन्तर इस बात का है कि वे आजीविकोपार्जन करने के लिये अपनी विद्या का प्रयोग करते हैं, जब कि जैन श्रमण इसका सर्वथा निषेध करते हैं।[3] आजीवक मूलत: पार्श्वनाथ परम्परा से सम्बन्धित माने गये हैं। सूत्र कृतांग में नियतिवादी को "पासत्थ" कहा गया है।[4] इस पर भी कुछ विद्वान् आजीवक को पार्श्वनाथ की परम्परा में मानने का विचार करते हैं। "पासत्थ" का संस्कृत रूप पार्श्वस्थ होता है, पर उसका अर्थ पार्श्वनाथ की परम्परा करना संगत प्रतीत नहीं होता। भगवान् महावीर द्वारा तीर्थस्थापन कर लेने पर शिथिलतावश जो उनके तीर्थ में नहीं आये, उनके लिये चारित्रिक शिथिलता के कारण पार्श्वस्थ शब्द का प्रयोग हो सकता है। संभव है, महावीर के समय में कुछ साधुओं ने पार्श्वनाथ की परम्परा का अतिक्रमण कर स्वच्छन्द विहार करना स्वीकार किया हो।

पर पार्श्व शब्द केवल पार्श्व-परम्परा के साधुओं के लिये ही नहीं, किन्तु जो भी स्नेह-बन्धन में बद्ध हो या ज्ञानादि के बाजू (पार्श्व–सान्निध्य) में रहता हो, वह चाहे महावीर परम्परा का हो या पार्श्वनाथ परम्परा का हो, उसे "पासत्थ" कह सकते हैं। टीकाकार ने इसका अर्थ "सदनुष्ठानाद् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था"[5] अच्छे अनुष्ठान के बाजू–पार्श्व में रहने वाले। अथवा "साधु: गुणानां पार्श्वे तिष्ठति" किया है।

---

१ मयसरि–पूरणारिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीर समवसरणे, अगहिय भुणिणा नियत्तेण॥
बहिणिग्गएण उत्तं मज्झं, एयार सांगधारिस्स।
णिग्गइ झुणीण अरुहो, णिग्गय विस्सास सीसस्स॥
ण मुणइ जिणकहिय सुयं, संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा, मोक्खं ण णाणाओ॥
अण्णाणाओ मोक्खं, एवं लोयाण पयड़माणो हु।
देवो अ णत्थि कोई, सुण्णं झाएह इच्छाए॥

[भावसंग्रह, गाथा १७६ से १७८]

२ हिस्ट्री एण्ड डोक्टराइन्स आफ आजीवकाज, पृ० ९८।

३ उत्तराध्ययन सूत्र, ८।१३, १५।७।

४ सूत्र कृतांग, १।१।२ गा० ४ व ५।

५ सूत्र कृतांग १ श्रु० ३ अ० ४ उ०

"पासत्थ" साधुओं की दो श्रेणियाँ की गई हैं-सर्वत: पार्श्वस्थ और देशत: पार्श्वस्थ, भगवान् महावीर के तीर्थ प्रवर्तन के पश्चात् भी जो ज्ञानादि रत्नत्रयी से विमुख हो कर मिथ्या दृष्टि का प्रचार करने में लगे रहे, उनको सर्वत: पासत्थ कहा गया है[1] और जो शय्यातर पिंड, अभिहृत पिंड, राजपिंड, नित्यपिंड, अग्रपिंड आदि आहार का उपयोग करते हों वे देशत: पासत्थ कहलाये।[2]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार "पासत्थ" का अर्थ पार्श्व-परम्परा के साधु ही करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि "पासत्थ" को शास्त्रों में अवन्दनीय कहा है। जैसा कि-"जे भिक्खू पासत्थं पसंसति, पसंतं वा साइज्जइ" के अनुसार उनके लिये वंदन-प्रशंसन भी वर्जित किया गया है, किन्तु पार्श्वनाथ की परम्परा का साधु वन्दनीय रहा है। भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों ने आनन्द आदि पार्श्व परम्परा के स्थविरों का वन्दन-सत्कार आदि भक्तिपूर्वक किया है।[3] वे गांगेय मुनि आदि की तरह भ० महावीर की परम्परा में प्रव्रजित भी नहीं हुए थे। यदि पार्श्वनाथ के सन्तानीय श्रमण आजीवक की तरह "पासत्थ" होते तो जैसे सद्दाल-पुत्त श्रावक ने गोशालक के वन्दन-नमन का परिहार किया, उसी तरह पार्श्वनाथ के साधु तुंगिका के श्रावकों द्वारा अवंदनीय माने जाते, पर ऐसा नहीं है। अत: "पासत्थ" का अर्थ पार्श्वस्थ (पार्श्व परम्परा के साधु) करना ठीक नहीं। आजीवक को पासत्थ इसलिये कहा है कि वे ज्ञानादि-त्रय को पार्श्व में रखे रहते हैं। इसलिये पासत्था कहे जाने से आजीवक गोशालक को पार्श्व-परम्परा में मानना ठीक नहीं जँचता।

जैनागमों से प्राप्त सामग्री के अनुसार गोशालक को महावीर की परम्परा से सम्बन्धित मानना ही अधिक युक्तियुक्त एवं उचित प्रतीत होता है।

---

१ दुविहो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होई नायव्वो।
सव्वे तिन्नि विकप्पा, देसे सेज्जायर कुलादी ।।२२६।
दंसण णाणचरित्ते, सत्थो अत्थति तहिं न उज्जमति।
एएणं पासत्थो एसो अन्नो वि पज्जाओ ।।२२८।
पासो त्ति बंधणं ति य, एगट्ठं बंधहेयओ पासा।
पासत्थिओ पासत्थो, अण्णो वि य एस पज्जाओ ।।२२६।
[अभिधान राजेन्द्र, पृ० ६११ (व्य० भा०)]

२ सेज्जायर कुलनिस्सिय, ठवणकल पलोयणा अभिहडेय।
पुव्वि पच्छा संथव, निइअग्गपिंड, भोइ पासत्थो।२३०।।अभि रा० ६११।

३ तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति। भग० सू०, सूत्र १०६।।

महावीरकालीन धर्म परम्पराएँ

भगवान् महावीर के समय में इस देश में किन धर्म-परम्पराओं का किस रूप में अस्तित्व था, इसको जानने के लिये जैन साहित्य और आगम पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। मूल में धर्म-परम्परा चार भागों में बाँटी गई थी—(१) क्रियावादी, (२) अक्रियावादी, (३) अज्ञानवादी और (४) विनयवादी।[1] स्थानांग और भगवती में इन्हीं को चार समोसरण के नाम से बताया गया है। इनकी शाखा-प्रशाखाओं के भेदों-प्रभेदों का शास्त्रों में विशद वर्णन उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :

क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२। इस तरह कुल मिलाकर पाषंडी-व्रतियों के ३६३ भेद होते हैं।[2]

१. क्रियावादी

क्रियावादी आत्मा के साथ क्रिया का समवाय सम्बन्ध मानते हैं। इनका मत है कि कर्त्ता के बिना पुण्य-पाप आदि क्रियायें नहीं होतीं। वे जीव आदि नव पदार्थों को एकान्त अस्ति रूप से मानते हैं। क्रियावाद के १८० भेद इस प्रकार हैं :—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) बंध, (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष—ये नव पदार्थ हैं। इनमें से प्रत्येक के स्वतः, परतः और नित्य, अनित्य, काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव रूप भेद करने से १८० भेद होते हैं।

२. अक्रियावादी

इनकी मान्यता है कि क्रिया-पुण्यादि रूप नहीं है, क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है और उत्पन्न होते ही विनाश होने से संसार में कोई भी स्थिर पदार्थ नहीं है। ये आत्मा को भी नहीं मानते। इनके ८४ प्रकार हैं :

[१] जीव, [२] अजीव, [३] आस्रव, [४] संवर, [५] निर्जरा, [६] बंध और [७] मोक्ष रूप सप्त पदार्थ, स्व और पर एवं उनके [१] काल, [२] ईश्वर, [३] आत्मा, [४] नियति, [५] स्वभाव और [६] यदृच्छा-इन

---

१ [क] सूत्र कृता०, गा० ३०, ३१, ३२।
[ख] स्था० ४।४।३४५ सू०।
[ग] भग०, ३० श०, १ उ०, सू० ८२४।

२ समवायांग, सू० १३७।

छ: भेदों से गुणन करने पर चौरासी [८४] होते हैं। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करने से इनके मत में नित्य-अनित्य भेद नहीं माने जाते।[1]

३. अज्ञानवादी

इनके मत से ज्ञान में झगड़ा होता है, क्योंकि पूर्ण ज्ञान तो किसी को होता नहीं और अधूरे ज्ञान से भिन्न-भिन्न मतों की उत्पत्ति होती है। अत: ज्ञानोपार्जन व्यर्थ है। अज्ञान से ही जगत् का कल्याण है।

इनके ६७ भेद बताये गये हैं। जीवादि ९ पदार्थों के [१] सत्व, [२] असत्व, [३] सदसत्व, [४] अवाच्यत्व, [५] सदवाच्यत्व, [६] असदवाच्यत्व और [७] सदसदवाच्यत्व रूप सात भेद करने से ६३ तथा उत्पत्ति के सत्त्वादि चार विकल्प जोड़ने से कुल ६७ भेद होते हैं।[2]

४. विनयवादी

विनयपूर्वक चलने वाला विनयवादी कहलाता है। इनके लिंग और शास्त्र पृथक् नहीं होते। ये केवल मोक्ष को मानते हैं। इनके ३२ भेद हैं—[१] सुर [२] राजा [३] यति [४] ज्ञाति [५] स्थविर [६] अधम [७] माता और [८] पिता। इन सब के प्रति मन, वचन, काया से देश-कालानुसार उचित

---

१ इह जीवाइपयाइं पुन्नं पावं विणा उविज्जंति।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्द दुगं ॥९४
                    १   २
तस्सवि अहो लिहिज्जई काल जहिच्छा य पयदुगसमेयं
   १   २   ३   ४
नियइ स्सहाव ईसर अप्पत्ति इमं पय चउक्कं ॥९५॥
[प्रवचन सारोद्धार उत्तरार्द्ध सटीक, पत्र ३४४-२]

२ संत १ मसंत २ संतासंत ३ भवत्तव्व ४ सयअवत्तव्वं। ५
असय अवत्तव्वं ६ सयवत्तव्वं ७ च सत्तपया ॥९९
जीवाइ नवपयाणं अहोकमेणं इमाइं ठविऊणं।
जइ कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१००
संतो जीवो को जाणइ अहवा किं व तेण नाएणं।
सेसपएहिवि भंगा इय जाया सत्त जीवस्स।
एवमजीवाईणऽवि पत्तेयं सत्त मिलिय ते सट्ठी।
तह अन्नेऽवि हु भंगा चत्तारि इमे उ इह हुंति।
संती भावुप्पत्ती को जाणइ किं च तीए नायाए।
[वही]

दान देकर विनय करे।[1] इस प्रकार ८ को चार से गुणा करने पर ३२ होते हैं। आचारांग में भी चार वादों का उल्लेख है, यथा—"आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी।"[2] इसके अतिरिक्त सभाष्य निशीथ चूर्णि में उस समय के निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिकों का भी उल्लेख है :—

[१] आजीवक [२] ईसरमत [३] उलूग [४] कपिलमत [५] कबिल [६] कावाल [७] कावालिय [८] चरग [९] तच्चन्निय [१०] परिव्वायग [११] पंडरंग [१२] बोड़ित [१३] भिच्छुग [१४] भिक्खू [१५] रत्तपड़ [१६] वेद [१७] सक्क [१८] सरक्ख [१९] सुतिवादी [२०] सेयवड़ [२१] सेय भिक्खू [२२] शाक्यमत [२३] हदुसरक्ख।[3]

बिम्बसार-श्रेणिक

महाराज श्रेणिक अपर नाम बिम्बसार अथवा भम्भासार इतिहास-प्रसिद्ध शिशुनाग वंश के एक महान् यशस्वी और प्रतापी राजा थे। वाहीक प्रदेश के मूल निवासी होने के कारण इनको वाहीक कुल का कहा गया है।

मगधाधिपति महाराज श्रेणिक भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में एक प्रमुख महाराजा थे। इनके पिता महाराज प्रसेनजित पार्श्वनाथ परम्परा के उपासक सम्यग्दृष्टि श्रावक थे।[4] उन दिनों मगध की राजधानी राजगृह नगर में थी और मगध राज्य की गणना भारत के शक्तिशाली राज्यों में की जाती थी। श्रेणिक-बिम्बसार जन्म से जैन धर्मावलम्वी होकर भी अपने निर्वासन काल में जैनधर्म के सम्पर्क से हट गये हों ऐसा जैन साहित्य के कुछ कथा-ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है। इसका प्रमाण है। महारानी चेलना से महाराज श्रेणिक का धार्मिक संघर्ष। यदि महाराज श्रेणिक सिंहासनारूढ़ होने के समय स ही जैन धर्म के उपासक होते तो महारानी चेलना के साथ उनका धार्मिक संघर्ष नहीं होता।

अनाथी मुनि के साथ हुए महाराज श्रेणिक के प्रश्नोत्तर एवं उनके द्वारा अनाथी मुनि को दिये गये भोग-निमन्त्रण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उस समय

---

१ सुर १ निवइ २ जइ ३ नाई ४ थविराड ५ वम ६ माई ७ पहसु ८ एएसिं मण १ वयण २ काय ३ दाणेहिं ४ चउव्विहो कीरए विणओ।५७।
अट्ठवि चउक्कगुणिया, बत्तीसा हवंति देणइय भेया।
सव्वेहिं पिंडिएहिं, तिन्नि सया हुंति ते सट्ठा॥
[प्रव० सारो० सटीक, उत्तरार्व, पत्र ३४४ (२)]

२ आचा० सटीक, श्रु० १, अ० १, उ० १, पत्र २०।

३........निशथी सूत्र० चू० भा० १, पृ० १५।

४ श्रीमत्पार्श्वजिनाधीशशासनांभोजषट्पद:।
सम्यग्दर्शन पुण्यात्मा, सोऽणुव्रतधरोऽभवत्॥　　[त्रिप, १० प, ६ स० श्लोक ८]

तक जैन धर्मानुयायी नहीं थे अन्यथा मुनि को भोग के लिये निमंत्रित नहीं करते। अनाथी मुनि के त्याग, विराग एवं उपदेश से प्रभावित होकर श्रेणिक निर्मल चित्त से जैन धर्म में अनुरक्त हुए।[1] यहीं से श्रेणिक को जैन धर्म का बोध मिला, यह कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। जैनागम-दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तब कौटुम्बिक पुरुषों ने आकर श्रेणिक को भगवान् के शुभागमन का शुभ-संवाद सुनाया। महाराज श्रेणिक इस संवाद को सुनकर बड़े संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए और सिंहासन से उठकर जिस दिशा में प्रभु विराजमान थे उस दिशा में सात-आठ पैर (पद) सामने जाकर उन्होंने प्रभु को वन्दन किया। तदनन्तर वे महारानी चेलना के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने गये और भगवान के उपदेशामृत का पान कर बड़े प्रमुदित हुए। उस समय महाराज श्रेणिक एवं महारानी चेलना के अलौकिक सौंदर्य को देखकर कई साधु-साध्वियों ने नियाणा (निदान) कर लिया। महावीर प्रभु ने साधु-साध्वियों के निदान को जाना और उन्हें निदान के कुफल से परिचित कर पतन से बचा लिया।

श्रेणिक और चेलना को देखकर त्यागी वर्ग का चकित होना इस बात को सूचित करता है कि वे साधु-साध्वियों के साक्षात्कार में पहले-पहल उसी समय आये हों।

श्रेणिक की धर्मनिष्ठा

महाराज श्रेणिक की निर्ग्रन्थ धर्म पर बड़ी निष्ठा थी। मेघकुमार की दीक्षा के प्रसंग में उन्होंने कहा कि निर्ग्रन्थ धर्म सत्य है, श्रेष्ठ है, परिपूर्ण है, मुक्तिमार्ग है, तर्कसिद्ध और उपमा-रहित है।[2] भगवान् महावीर के चरणों में महाराज श्रेणिक की ऐसी प्रगाढ़ भक्ति थी कि उन्होंने एक बार अपने परिवार, सामन्तों और मन्त्रियों के बीच यह घोषणा की—"कोई भी पारिवारिक व्यक्ति भगवान् महावीर के पास यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो मैं उसे नहीं रोकूंगा।"[3] इस घोषणा से प्रेरित हो श्रेणिक के जालि, मयालि आदि २३ (तेईस) पुत्र दीक्षित हुए[4] और नन्दा आदि तेईस रानियां भी साध्वियाँ बनीं।[5] केवलज्ञान के प्रथम वर्ष में भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो उस

---

१ धम्माणुरत्तो विमलेण चेअसा ॥ उत्तराध्ययन २०

२ ज्ञाताधर्म कथा १।१

३ गुणचन्द्र कृत महावीर चरियं, पृ. ३३४

४ अनुत्तरोववाइय, १।१–१० अ। २–१–१३।

५ अंतगड दसा, ७ व., ८ व.

समय श्रेणिक ने सम्यक्त्व-धर्म तथा अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया।[1] मेघकुमार और नन्दिसेन की दीक्षा भी इसी वर्ष होती है।[2]

श्रेणिक के परिवार में त्याग-वैराग्य के प्रति अभिरुचि की अभिवृद्धि उनके देहावसान के पश्चात् भी चलती रही। भगवान् महावीर जब चम्पा नगरी पधारे तो श्रेणिक से पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म आनन्द और नन्दन नामक १० पौत्रों ने भी श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और अन्त समय में संलेखना के साथ काल कर क्रमशः सौधर्म आदि देवलोकों में वे देवरूप से उत्पन्न हुए। इस प्रकार महाराज श्रेणिक की तीसरी पीढ़ी तक श्रमण धर्म की आराधना होती रही। नेमिनाथ के शासनकाल में कृष्ण की तरह भगवान् महावीर के शासन में श्रेणिक की शासन-सेवा व भक्ति उत्कृष्ट कोटि की मानी जाकर वीर-शासन के मूर्धन्य सेवकों में उनकी गणना की जाती है।

महाराज श्रेणिक ने अपने शासनकाल में ही उस समय का सर्वश्रेष्ठ सेचनक हाथी और देवता द्वारा प्रदत्त अमूल्य हार चेलना के कूणिक से छोटे दो पुत्रों हल्ल और विहल्लकुमार को दिये थे, जिनका मूल्य पूरे मगध राज्य के बराबर आँका जाता था। वीर निर्वाण से १७ वर्ष पूर्व कूणिक ने अपने काल, महाकाल आदि दश भाइयों को अपनी ओर मिलाकर महाराज श्रेणिक को कारागृह में बन्द कर दिया और स्वयं मगध के सिंहासन पर आसीन हो गया। कूणिक ने अपने पिता श्रेणिक को विविध प्रकार की यातनाएं दीं।

एक दिन कूणिक की माता चेलना ने जब उसे श्रेणिक द्वारा उसके प्रति किये गये महान् उपकार और अनुपम प्यार की घटना सुनाई तो उसको अपने दुष्कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। कूणिक के हृदय में पिता के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा और वह एक कुल्हाड़ी ले पिता के बन्धन काटने के लिये बड़ी तेजी से कारागार की ओर बढ़ा।

श्रेणिक ने समझा कि कूणिक उन्हें मार डालने के लिये कुल्हाड़ी लेकर आ रहा है। अपने पुत्र को पितृहत्या के घोर पापपूर्ण कलंक से बचाने के लिये महाराज श्रेणिक ने अपनी अंगूठी में रखा कालकूट विष निगल लिया। कूणिक के वहाँ पहुँचने से पहले ही आशुविष के प्रभाव से श्रेणिक का प्राणान्त हो गया और पूर्वोपार्जित निकाचित कर्मबन्ध के कारण वे प्रथम नरक में उत्पन्न हुए।

---

१ (क) श्रुत्वा तां देशनां भर्तुः, सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत्।
श्रावकधर्मं त्वभयकुमाराद्याः प्रपेदिरे ॥
[त्रिप. श., १० प., ६ स०, ३१६ श्लोक]

(ख) एमाई धम्मकहं, सोउं सेणिय निवाइया भव्वा।
समत्तं पडिवन्ना, केइ पुण देस विरयाइ ॥
[नेमिचन्द्रकृत महावीर चरियम् गा. १२९४]

२ तीर्थंकर महावीर दूसरा भाग।

जैनेतर विद्वानों ने भी श्रेणिक का जैन होना स्वीकार किया है। डॉ० वी.ए. स्मिथ ने लिखा है—"वह अपने आप में जैन धर्मावलम्वी प्रतीत होता है। जैन परम्परा उसे संप्रति के समान जैन धर्म का प्रभावक मानती है।

श्रेणिक ने महावीर के धर्मशासन की बड़ी प्रभावना की थी। अव्रती होकर भी उन्होंने शासन-सेवा के फलस्वरूप तीर्थंकर-गोत्र उपार्जित किया। प्रथम नारक भूमि से निकलकर वह पद्मनाभ नाम के अगली चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर रूप से उत्पन्न होंगे। वहाँ भगवान् महावीर की तरह वे भी पंच-महाव्रत रूप सप्रतिक्रमण धर्म की देशना करेंगे।

भगवान् महावीर के शासन में श्रेणिक और उसके परिवार का धर्म-प्रभावना में जितना योग रहा उतना किसी अन्य राजा का नहीं रहा।

राजा चेटक

श्रेणिक की तरह राजा चेटक भी जैन परम्परा में दृढ़धर्मी उपासक माने गये हैं, वह भगवान् महावीर के परम भक्त थे। आवश्यक चूर्णि में इनको व्रतधारी[1] श्रावक बताया (माना) गया है। महाराजा चेटक की सात कन्याएँ थीं, वे उस समय के प्रख्यात राजाओं को ब्याही गई थीं। इनकी पुत्री प्रभावती वीतभय के राजा उदायन को, पद्मावती अंग देश के राजा दधिवाहन को, मृगावती वत्सदेश के राजा शतानीक को, शिवा उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत को, सुज्येष्ठा भगवान् महावीर के भाई नन्दिवर्धन को और चेलना मगधराज बिम्बसार को ब्याही गई थीं। इनमें से सुज्येष्ठा ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

चेटक वैशाली के गणतंत्र के अध्यक्ष थे। वैशाली गणतन्त्र क ७७०७ सदस्य थे[2] जो राजा कहलाते थे। भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ भी इनमें से एक थे।[3] डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार चेटक के दस पुत्र थे, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जिगण का प्रसिद्ध सेनापति था।[4]

महाराज चेटक हैहयवंशी राजा थे। भगवान् महावीर के परम भक्त श्रावक होने के साथ-साथ अपने समय के महान् योद्धा, कुशल शासक और न्याय के कट्टर पक्षपाती थे। उन्होंने अपने राज्य, कुटुम्ब और प्राणों पर संकट आ पड़ने पर भी अन्तिम दम तक अन्याय के समक्ष सिर नहीं झुकाया। अपनी शरण में आये हुए हल्ल एवं विहल्ल कुमार को उन्होंने न केवल रक्षा ही की अपितु

१ सो चेडओ सावओ। आ० चू, पृ० २४५।

२ जातक अट्ठकथा।

३ तीर्थंकर महावीर भाग १।

४ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि—पृ० ५६।

उनके न्यायपूर्ण पक्ष का बड़ी निर्भीकता के साथ समर्थन किया। अपनी शरणागतवत्सलता और न्यायप्रियता के कारण महाराज चेटक को चम्पाधिपति कूणिक के आक्रमण का विरोध करने के लिए बड़ा भयंकर युद्ध करना पड़ा और अन्त में वैशाली पतन से निर्वेद प्राप्त कर उन्होंने अनशन कर समाधिपूर्वक काल कर देवत्व प्राप्त किया।

कूणिक के साथ चेटक के युद्ध का और वैशाली के पतन आदि का विवरण आगे कूणिक के प्रसंग में दिया जा रहा है।

यहां पर अब कुछ ऐतिहासिक तथ्य समक्ष आ रहे हैं जिनसे इतिहास-प्रसिद्ध कलिंग नरेश चण्डराय, क्षेमराज (जिनके साथ भीषण युद्ध कर अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की) और महामेघवाहन-खारवेल आदि का महाराज चेटक के वंशधर होने का आभास मिलता है। इन तथ्यों पर इस पुस्तक के दूसरे भाग में यथासंभव विस्तृत विवेचन किया जायगा। आशा की जाती है कि उन तथ्यों से भारत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा और एक लम्बी अवधि का भारत का धूमिल इतिहास सुस्पष्ट हो जायगा।

अजातशत्रु कूणिक

भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में कूणिक का भी प्रमुख स्थान है। महाराज श्रेणिक इनके पिता और महारानी चेलना माता थीं। माता ने सिंह का स्वप्न देखा। गर्भकाल में उसको दोहद उत्पन्न हुआ कि श्रेणिक राजा के कलेजे का मांस खाऊं। बौद्ध परम्परानुसार बाहु का रक्तपान करना माना गया है। राजा ने अभयकुमार के बुद्धि कौशल से दोहद की पूर्ति की। गर्भकाल में बालक की ऐसी दुर्भावना देखकर माता को दुःख हुआ। उसने गर्भस्थ बालक को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया पर बालक का कुछ नहीं बिगड़ा। जन्म के पश्चात् चेलना ने उसको कचरे की ढेरी पर डलवा दिया। एक मुर्गे ने वहां उसकी कनिष्ठा अंगुली काटली जिसके कारण अँगुली में मवाद पड़ गई। अंगुली की पीड़ा से बालक क्रंदन करने लगा। उसकी चीत्कार सुनकर श्रेणिक ने पता लगाया और पुत्र-मोह से व्याकुल हो उसे उठाकर फिर महल में लाया गया। बालक की वेदना से खिन्न हो श्रेणिक ने चूस-चूसकर अंगुली का मवाद निकाला और उसे स्वस्थ किया। अंगुली के घाव के कारण उसका नाम कूणिक रक्खा गया।

कूणिक के जन्मान्तर का वैर अभी उपशान्त नहीं हुआ था, अतः बड़े होकर कूणिक के मन में राज्य करने की इच्छा हुई। उसने अन्य दश भाइयों को साथ लेकर अपना राज्याभिषेक कराया और महाराज श्रेणिक को कारावास में डलवा दिया।

एक दिन कूणिक माता के चरण-वंदन को गया तो माता ने उसका चरण-

वन्दन स्वीकार नहीं किया। कूणिक ने कारण पूछा तो बोली—"जो अपने उपकारी पिता को कारावास में बंद कर स्वयं राज्य करे ऐसे पुत्र का मुंह देखना भी पाप है।" उपकार की बात सुनकर कूणिक का पितृ-प्रेम जागृत हुआ और वह तत्काल हाथ में परशु लेकर पिता के बन्धन काटने कारागृह की ओर बढ़ा। श्रेणिक ने परशु हाथ में लिये कूणिक को आते देखकर अनिष्ट की आशंका से सोचा—"यह मुझे मारे इसकी अपेक्षा मैं स्वयं अपना प्राणान्त करलूं तो यह मेरा पुत्र पितृहत्या के कलंक से बच जायगा।" यह सोचकर श्रेणिक ने तालपुट विष खाकर तत्काल प्राण त्याग दिये।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक को बड़ा अनुताप हुआ। वह मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ा। क्षणभर बाद सचेत हुआ और आर्त स्वर में रुदन करने लगा—"अहो! मैं कितना अभागा एवं अधन्य हूं कि मेरे निमित्त से देवतुल्य पिता श्रेणिक कालगत हुए। शोकाकुल हो कूणिक ने राजगृह छोड़कर चम्पा में मगध की राजधानी बसायी और वहीं रहने लगा।

कूणिक की रानियों में पद्मावती,[1] धारिणी,[2] और सुभद्रा[3] प्रमुख थीं। आवश्यक चूर्णि में आठ राजकन्याओं से विवाह करने का भी उल्लेख है।[4] पर उनके नाम उपलब्ध नहीं होते। महारानी पद्मावती का पुत्र उदाई था[5] जो कूणिक के बाद मगध के राज-सिंहासन पर बैठा। इसी ने चम्पा से अपनी राजधानी हटाकर पाटलिपुत्र में स्थापित की।[6]

चेलना के संग और संस्कारों ने कूणिक के मन में भगवान् महावीर के प्रति अटूट भक्ति भरदी थी।

आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि जैन ग्रन्थों में महाराज कूणिक का एक दूसरा नाम अशोकचन्द्र भी उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर के प्रति उसके हृदय में कितनी प्रगाढ़ भक्ति और अनुपम श्रद्धा थी, इसका अनुमान औपपातिक सूत्र के अधोलिखित पाठ से सहज ही में लगाया जा सकता है :—

तस्स णं कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकय-वित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवओ तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेएइ, तस्स णं पुरिसस्स बहवे अण्णे

---

१ तस्सणं कुणियस्स रण्णो पउमावई नामं देवी होत्था। [निरयावली, सूत्र ८]

२ उववाई सूत्र ७।

३ उववाई सूत्र २३।

४ कुणियस्स अट्ठहिं रायवर कन्नाहिं समं विवाहो कतो। [आव० चूर्णि उत्त० पत्र १६७]

५ आवश्यक चूर्णि, पत्र १७१।

६ आवश्यक चूर्णि, पत्र १७७।

पुरिसा दिण्णभत्तिभत्तवेअणा भगवओ पवित्तिवाउआ भगवओ तद्देवसियं पवित्तिं णिवेदेंति।"

[औपपातिक सूत्र, सूत्र ८]

सूत्र के इस पाठ से स्पष्ट है कि कूणिक ने भगवान् महावीर की दैनिक विहारचर्या आदि की सूचनाएं प्रतिदिन प्राप्त करते रहने की दृष्टि से एक कुशल अधिकारी के अधीन अलग स्वतंत्र रूप से एक विभाग ही खोल रखा था और इस पर वह पर्याप्त धनराशि व्यय करता था।

एक समय भगवान् महावीर का चम्पा नगरी के उपवन में शुभागमन हुआ। प्रवृत्ति-वार्ता निवेदक (संवाददाता) से जब भंभसार (बिम्बसार) के पुत्र कूणिक ने यह शुभ समाचार सुना तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ। उसके नयन-नीरज खिल उठे। प्रसन्नता की प्रभा से उसका मुखमंडल प्रदीप्त हो गया। वह शीघ्रता-पूर्वक राज्य सिंहासन से उठा। उसने पादुकाएं खोलीं और खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानत् एवं चामर रूप सभी राज्यचिह्न उतार दिये। वह एक साटिक उत्तरासंग किये अंजलिबद्ध होकर भगवान् महावीर के पधारने की दिशा में सात-आठ कदम आगे गया। उसने बायें पैर को संकुचित कर, दायें पैर को मोड़ कर धरती पर रखा। फिर थोड़ा ऊपर उठकर हाथ जोड़, अंजलि को मस्तक पर लगाकर "णमोत्थुणं" से अभिवादन करते हुए वह बोला—"तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर, जो सिद्ध गति के अभिलाषी और मेरे धर्माचार्य तथा उपदेशक हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो। मैं तत्र विराजित प्रभु को यहीं से वन्दन करता हूं और वे वहीं से मुझे देखते हैं।"[१]

इस प्रकार श्रद्धा सहित वन्दन कर राजा पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने संवाददाता को एक लाख आठ हजार रजत मुद्राओं का प्रीतिदान दिया और कहा—"जब भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारें तो मुझे पुनः सूचना देना।"

प्रातःकाल जब भगवान् नगरी में पधारे और संवाददाता ने कूणिक को यह हर्षवर्द्धक समाचार सुनाया तो कूणिक ने हर्षातिरेक से तत्काल साढ़े बारह लाख रजत-मुद्राओं का प्रीतिदान किया।

तदनन्तर कूणिक ने अपने नगर में घोषणा करवा कर नागरिकों को प्रभु के शुभागमन के सुसंवाद से अवगत कराया और अपने समस्त अन्तःपुर, परिजन, पुरजन, अधिकारी-वर्ग एवं चतुरंगिणी सेना के साथ प्रभु-दर्शन के लिये प्रस्थान किया।

---

१ उववाई और महावस्तु।

दूर से ही प्रभु के छत्रादि अतिशय देखकर कूणिक अपने हस्तिरत्न से नीचे उतरा और समस्त राजचिह्न उतार कर प्रभु के समवशरण में पहुँचा। उसने आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ बड़ी भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दन किया और त्रिविध उपासना करने लगा।[1] भगवान् की अमृततुल्य दिव्यध्वनि को सुनकर कूणिक आनन्दविभोर हो बोला—"भगवन् ! जो धर्म आपने कहा है, वैसा अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं कह सकता।"

तत्पश्चात् कूणिक भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने परिवार सहित राजप्रासाद की ओर लौट गया।

कूणिक प्रारम्भ से ही बड़ा तेजस्वी और शौर्यशाली था। उसने अपने शासनकाल में अनेक शक्तिशाली और दुर्जेय शत्रुओं को परास्त कर उन पर विजय प्राप्त की, अतः वह अजातशत्रु के नाम से कहा जाने लगा और इतिहास में आज इसी नाम से विख्यात है।

कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण

कूणिक का वैशाली गणतन्त्र के शक्तिशाली महाराजा चेटक के साथ बड़ा भीषण युद्ध हुआ। उस युद्ध के कारण हुए भयंकर नरसंहार में मृतकों की संख्या एक करोड़, अस्सी लाख बतायी गयी है।

इस युद्ध का उल्लेख गोशालक ने चरम रथ-मूसल संग्राम के रूप में किया है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस युद्ध का कुछ विवरण दिया गया है, पर जैन आगम 'भगवती सूत्र' में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख उपलब्ध होता है।

यह तो पहले बताया जा चुका है कि श्रेणिक की महारानी चेलना महाराज चेटक की पुत्री थी और कूणिक महाराज चेटक का दौहित्र। अपने नाना चेटक के साथ कूणिक के युद्ध के कारण जैन साहित्य में यह बताया गया है कि श्रेणिक द्वारा जो हाथी एवं हार हल्ल और विहल्ल कुमार को दिये गये थे, उनके कारण वे दोनों राजकुमार बड़े सौभाग्यशाली और समृद्ध समझे जाते थे। हल्ल और विहल्ल कुमार अपनी रानियों के साथ उस हस्ती-रत्न पर आरूढ़ हो प्रतिदिन गंगानदी के तट पर जलक्रीड़ा करने जाते। देवप्रदत्त देदीप्यमान हार धारण किये उनको उस सुन्दर गजराज पर बैठे देख कर नागरिक मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते और कहते कि राज्य-श्री से भी बढ़ कर देवोपम वैभव का उपभोग तो ये दोनों कुमार कर रहे हैं।

हल्ल-विहल्ल के सौभाग्य की सराहना सुनकर कूणिक की महारानी

---

१ उववाई सूत्र।

पद्मावती ने हल्ल-विहल्ल से हार और हाथी हथियाने का कूणिक के सम्मुख हठ किया। प्रारम्भ में तो कूणिक ने यह कह कर टालना चाहा कि पिता द्वारा उन्हें प्रदत्त हार तथा हाथी उनसे लेना किसी तरह न्यायसंगत नहीं होगा पर अन्त में नारीहठ के समक्ष कूणिक को झुकना पड़ा।

कूणिक ने हल्ल और विहल्ल कुमार के सामने सेचनक हाथी और देवदिन्न हार उसे देने की बात रखी।

हल्ल और विहल्ल ने उत्तर में कहा कि पिताजी द्वारा दिये गये हार और हाथी पर उन दोनों भाइयों का वैधानिक अधिकार है। इस पर भी चम्पा-नरेश लेना चाहते हैं तो उनके बदले में आधा राज्य देदें।

कूणिक ने अपने भाइयों की न्यायोचित माँग को अस्वीकार कर दिया। इस पर हल्ल और विहल्ल बल-प्रयोग की आशंका से अपने परिवार सहित सेचनक पर सवार हो, हार लेकर वैशाली नगर में अपने नाना चेटक के पास चले गये।

हल्ल-विहल्ल के सपरिवार वैशाली चले जाने की सूचना पा कर कूणिक बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराज चेटक के पास दूत भेज कर कहलवाया कि हार एवं हाथी के साथ हल्ल और विहल्ल कुमार को उसके पास भेज दिया जाय।

महाराज चेटक ने दूत के साथ कूणिक के पास सन्देश भेजा कि दोनों कुमार उनके शरणागत हैं। एक क्षत्रिय से कभी यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपनी शरण में आये हुए को अन्याय में पिलने के लिये असहाय के रूप में छोड़ दे। चम्पाधीश यदि हार और हाथी चाहते हैं तो उनके बदले में चम्पा का आधा राज्य दोनों कुमारों को दे दें।

महाराज चेटक के उत्तर से क्रुद्ध हो अपनी और अपने दस भाइयों की प्रबल सेनाओं के साथ कूणिक ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। महाराज चेटक भी अपनी, काशी तथा कोशल के नौ लिच्छवी और नौ मल्ली गणराजाओं की विशाल वाहिनी के साथ रणांगण में आ डटे। अपने भाई काल कुमार को कूणिक ने सेनापतिपद पर अभिषिक्त किया। काल कुमार ने गरुड़व्यूह की रचना की और महाराज चेटक ने शकटव्यूह की। रणवाद्यों के तुमुलघोष से आकाश को आलोडित करती हुई दोनों सेनाएं आपस में भिड़ गईं। दोनों ओर के अगणित योद्धा रणक्षेत्र में जूझते हुए धराशायी हो गये, पर दोनों सेनाओं की व्यूह रचना अभेद्य बनी रही।

दूर से ही प्रभु के छत्रादि अतिशय देखकर कूरिणक अपने हस्तिरत्न से नीचे उतरा और समस्त राजचिह्न उतार कर प्रभु के समवशरण में पहुँचा। उसने आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ बड़ी भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दन किया और त्रिविध उपासना करने लगा।[1] भगवान् की अमृततुल्य दिव्यध्वनि को सुनकर कूरिणक आनन्दविभोर हो बोला—"भगवन्! जो धर्म आपने कहा है, वैसा अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं कह सकता।"

तत्पश्चात् कूरिणक भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने परिवार सहित राजप्रासाद की ओर लौट गया।

कूणिक प्रारम्भ से ही बड़ा तेजस्वी और शौर्यशाली था। उसने अपने शासनकाल में अनेक शक्तिशाली और दुर्जय शत्रुओं को परास्त कर उन पर विजय प्राप्त की, अतः वह अजातशत्रु के नाम से कहा जाने लगा और इतिहास में आज इसी नाम मे विख्यात है।

कूरिणक द्वारा वैशाली पर आक्रमण

कूणिक का वैशाली गणतन्त्र के शक्तिशाली महाराजा चेटक के साथ बड़ा भीषण युद्ध हुआ। उस युद्ध के कारण हुए भयंकर नरसंहार में मृतकों की संख्या एक करोड़, अस्सी लाख बतायी गयी है।

इस युद्ध का उल्लेख गोशालक ने चरम रथ-मूसल संग्राम के रूप में किया है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस युद्ध का कुछ विवरण दिया गया है, पर जैन आगम 'भगवती सूत्र' में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख उपलब्ध होता है।

यह तो पहले बताया जा चुका है कि श्रेरिणक की महारानी चेलना महाराज चेटक की पुत्री थी और कूरिणक महाराज चेटक का दौहित्र। अपने नाना चेटक के साथ कूरिणक के युद्ध के कारण जैन साहित्य में यह बताया गया है कि श्रेरिणक द्वारा जो हाथी एवं हार हल्ल और विहल्ल कुमार को दिये गये थे, उनके कारण वे दोनों राजकुमार बड़े सौभाग्यशाली और समृद्ध समझे जाते थे। हल्ल और विहल्ल कुमार अपनी रानियों के साथ उस हस्ती-रत्न पर आरूढ़ हो प्रतिदिन गंगानदी के तट सर जलक्रीड़ा करने जाते। देवप्रदत्त देदीप्यमान हार धारण किये उनको उस सुन्दर गजराज पर बैठे देख कर नागरिक मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते और कहते कि राज्य-श्री से भी बढ़ कर देवोपम वैभव का उपभोग तो ये दोनों कुमार कर रहे हैं।

हल्ल-विहल्ल के सौभाग्य की सराहना सुनकर कूरिणक की महारानी

---

१ उववाई सूत्र।

कूणिक के सेनापति के देहावसान के साथ ही दिवस का भी अवसान हो गया, मानो काल कुमार की अकाल मृत्यु से अवसन्न हो अंशुमाली अस्ताचल की ओट में हो गए। उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। कूणिक की सेनाएँ शोक-सागर में डूबी हुई और वैशाली की सेनायें हर्ष सागर में हिलोरें लेती हुई अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं।

काल कुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेष ६ भाई भी प्रतिदिन एक के बाद एक क्रमशः कूणिक द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त किये जाकर वैशाली गणराज्य की सेना से युद्ध करने के लिए रण क्षेत्र में जाते रहे और महाराज चेटक द्वारा ६ ही भाई प्रतिदिन एक एक शर के प्रहार से ६ दिनों में यमधाम पहुँचा दिये गए।

इन दिनों में ही अपने दुर्द्धर्ष योद्धा दस भाइयों और सेना का संहार देख कर कूणिक की जयाशा निराशा में परिणत होने लगी। वह अगाध शोक सागर में निमग्न हो गया। अन्त में उसने दैवीशक्ति का सहारा लेने का निश्चय किया। उसने दो दिन उपोषित रह कर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र का चिन्तन किया। पूर्वजन्म की मैत्री और तप के प्रभाव से दोनों इन्द्र कूणिक के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उससे उन्हें याद करने का कारण पूछा।

कूणिक ने आशान्वित हो कहा—"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर चेटक को मौत के घाट उतार दीजिए। क्योंकि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो वैशाली को पूर्णतः विनष्ट करके वैशाली की भूमि पर गधों से हल चलवाऊँगा, अन्यथा उत्तुंग शैलशिखर से गिर कर प्राणान्त कर लूंगा। इस चेटक ने अपने अमोघ बाणों से मेरे दस भाइयों को मार डाला है।"

देवराज शक्र ने कहा—"प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक और मेरे स्वधर्मी बन्धु चेटक को मैं मार तो नहीं सकता पर उसके अमोघ बाण से तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा।"

यह कह कर कूणिक के साथ अपने पूर्वभव की मित्रता का निर्वाह करते हुए शक्र ने कूणिक को वज्रोपम एक अभेद्य कवच दिया।

चमरेन्द्र पूरण तापस के अपने पूर्वभव में कूणिक के पूर्वभवीय तापस-जीवन का साथी था। उस प्रगाढ़ मैत्री के वशीभूत चमरेन्द्र ने कूणिक को 'महाशिला कंटक' नामक एक भीषण प्रक्षेपणास्त्र और 'रथमूसल' नामक एक प्रलयंकर अस्त्र (आधुनिक वैज्ञानिक युग के उत्कृष्ट कोटि के टैंकों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली युद्धोपकरण) बनाने व उनके प्रयोग की विधि बताई।

बिना किसी प्रकार की नवीन उपलब्धि के ही युद्ध के प्रथम दिवस का अवसान होने जा रहा है यह देख कर कूणिक के सेनापति काल ने कृतान्त की तरह क्रुद्ध हो महाराज चेटक की ओर अपना हाथी बढ़ाया और उन्हें युद्ध के लिये आमन्त्रित किया। विशाल भाल पर त्रिवली के साथ उपेक्षा की मुस्कान लिये चेटक ने भी गजवाहक को अपना गजराज कालकुमार की ओर बढ़ाने का आदेश दिया। दोनों योद्धाओं की आयु में आकाश-पाताल का सा अन्तर था। बुढ़ापे और यौवन की अद्भुत स्पर्धा पर क्षण भर के लिये दोनों ओर की सेनाओं की अपलक दृष्टि जम गई।

मातामह का समादर करते हुए काल कुमार ने कहा—"देवार्य! पहले आप अपने दौहित्र पर प्रहार कीजिये।"

घन-गम्भीर स्वर में चेटक ने कहा—"वत्स! पहले तुम्हें ही प्रहार करना पड़ेगा क्योंकि चेटक की यह अटल प्रतिज्ञा सर्वविदित है कि वह प्रहर्ता पर ही प्रहार करता है।"

कालकुमार ने आकर्णान्त कोदण्ड की प्रत्यंचा तान कर चेटक के भाल को लक्ष्य बना अपनी पूरी शक्ति से सर छोड़ा। चेटक ने अद्भुत हस्तलाघव से सब को आश्चर्यचकित करते हुए अपने अर्द्ध चन्द्राकार फल वाले बाण से काल-कुमार के तीर को अन्तराल मार्ग (बीच राह) में ही काट डाला।

तदनन्तर अपने धनुष की प्रत्यंचा पर सर-संधान करते हुए महाराज चेटक ने काल कुमार को सावधान करते हुए कहा—"कुमार! अब इस वृद्ध के शर-प्रहार से अपने प्राणों का त्राण चाहते हो तो रणक्षेत्र से मुँह मोड़ कर चले जाओ अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर बनो।"

काल कुमार अपने शैलेन्द्र-शिला सम विशाल वक्षस्थल को फुलाये रण-क्षेत्र में डटा रहा।

दोनों ओर की सेनाएं श्वास रोके यह सब दृश्य देख रही थी। अनिष्ट की आशंका से कूणिक के सैनिकों के हृदय धड़कने लगे। क्योंकि सब इस तथ्य से परिचित थे कि भगवान् महावीर के परमभक्त श्रावक होने के कारण चेटक ने यद्यपि यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे एक दिन में केवल एक ही बाण चलायेंगे पर उनका वह शरप्रहार भी मृत्यु के समान अमोघ और अचूक होता है।

महाराज चेटक ने कुमार काल के भाल को निशाना बनाकर अपने अमोघ शर का प्रहार किया। रक्षा के सब उपाय निष्फल रहे और काल कुमार उस शर के प्रहार से तत्क्षण काल कवलित हो अपने हाथी के होदे पर सदा के लिये सो गये।

कूणिक के सेनापति के देहावसान के साथ ही दिवस का भी अवसान हो गया, मानो काल कुमार की अकाल मृत्यु से अवसन्न हो अंशुमाली अस्ताचल की ओट में हो गए। उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। कूणिक की सेनाएँ शोक-सागर में डूबी हुई और वैशाली की सेनायें हर्ष सागर में हिलोरें लेती हुई अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं।

काल कुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेष ९ भाई भी प्रतिदिन एक के बाद एक क्रमशः कूणिक द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त किये जाकर वैशाली गणराज्य की सेना से युद्ध करने के लिए रण क्षेत्र में जाते रहे और महाराज चेटक द्वारा ९ ही भाई प्रतिदिन एक एक शर के प्रहार से ९ दिनों में यमधाम पहुँचा दिये गए।

इन दिनों में ही अपने दुर्द्धर्ष योद्धा दस भाइयों और सेना का संहार देख कर कूणिक की जयाशा निराशा में परिणत होने लगी। वह अगाध शोक सागर में निमग्न हो गया। अन्त में उसने दैवीशक्ति का सहारा लेने का निश्चय किया। उसने दो दिन उपोषित रह कर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र का चिन्तन किया। पूर्वजन्म की मैत्री और तप के प्रभाव से दोनों इन्द्र कूणिक के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उससे उन्हें याद करने का कारण पूछा।

कूणिक ने आशान्वित हो कहा—"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर चेटक को मौत के घाट उतार दीजिए। क्योंकि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो वैशाली को पूर्णतः विनष्ट करके वैशाली की भूमि पर गधों से हल चलवाऊँगा, अन्यथा उत्तुंग शैलशिखर से गिर कर प्राणान्त कर लूंगा। इस चेटक ने अपने अमोघ बाणों से मेरे दस भाइयों को मार डाला है।"

देवराज शक्र ने कहा—"प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक और मेरे स्वधर्मी बन्धु चेटक को मैं मार तो नहीं सकता पर उसके अमोघ बाण से तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा।"

यह कह कर कूणिक के साथ अपने पूर्वभव की मित्रता का निर्वाह करते हुए शक्र ने कूणिक को वज्रोपम एक अभेद्य कवच दिया।

चमरेन्द्र पूरण तापस के अपने पूर्वभव में कूणिक के पूर्वभवीय तापस-जीवन का साथी था। उस प्रगाढ़ मैत्री के वशीभूत चमरेन्द्र ने कूणिक को 'महाशिला कंटक' नामक एक भीषण प्रक्षेपणास्त्र और 'रथमूसल' नामक एक प्रलयंकर अस्त्र (आधुनिक वैज्ञानिक युग के उत्कृष्ट कोटि के टैंकों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली युद्धोपकरण) बनाने व उनके प्रयोग की विधि बताई।

बिना किसी प्रकार की नवीन उपलब्धि के ही युद्ध के प्रथम दिवस का अवसान होने जा रहा है यह देख कर कूणिक के सेनापति काल ने कृतान्त की तरह क्रुद्ध हो महाराज चेटक की ओर अपना हाथी बढ़ाया और उन्हें युद्ध के लिये आमन्त्रित किया। विशाल भाल पर त्रिवली के साथ उपेक्षा की मुस्कान लिये चेटक ने भी गजवाहक को अपना गजराज कालकुमार की ओर बढ़ाने का आदेश दिया। दोनों योद्धाओं की आयु में आकाश-पाताल का सा अन्तर था। बुढ़ापे और यौवन की अद्भुत स्पर्धा पर क्षण भर के लिये दोनों ओर की सेनाओं की अपलक दृष्टि जम गई।

मातामह का समादर करते हुए काल कुमार ने कहा—"देवार्य ! पहले आप अपने दौहित्र पर प्रहार कीजिये।"

घन-गम्भीर स्वर में चेटक ने कहा—"वत्स ! पहले तुम्हें ही प्रहार करना पड़ेगा क्योंकि चेटक की यह अटल प्रतिज्ञा सर्वविदित है कि वह प्रहर्ता पर ही प्रहार करता है।"

कालकुमार ने आकर्णान्त कोदण्ड की प्रत्यंचा तान कर चेटक के भाल को लक्ष्य बना अपनी पूरी शक्ति से सर छोड़ा। चेटक ने अद्भुत हस्तलाघव से सब को आश्चर्यचकित करते हुए अपने अर्द्ध चन्द्राकार फल वाले बाण से काल-कुमार के तीर को अन्तराल मार्ग (बीच राह) में ही काट डाला।

तदनन्तर अपने धनुष की प्रत्यंचा पर सर-संधान करते हुए महाराज चेटक ने काल कुमार को सावधान करते हुए कहा—"कुमार ! अब इस वृद्ध के शर-प्रहार से अपने प्राणों का त्राण चाहते हो तो रणक्षेत्र से मुँह मोड़ कर चले जाओ अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर बनो।"

काल कुमार अपने शैलेन्द्र-शिला सम विशाल वक्षस्थल को फुलाये रण-क्षेत्र में डटा रहा।

दोनों ओर की सेनाएं श्वास रोके यह सब दृश्य देख रही थी। अनिष्ट की आशंका से कूणिक के सैनिकों के हृदय धड़कने लगे। क्योंकि सब इस तथ्य से परिचित थे कि भगवान् महावीर के परमभक्त श्रावक होने के कारण चेटक ने यद्यपि यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे एक दिन में केवल एक ही बाण चलायेंगे पर उनका वह शरप्रहार भी मृत्यु के समान अमोघ और अचूक होता है।

महाराज चेटक ने कुमार काल के भाल को निशाना बनाकर अपने अमोघ शर का प्रहार किया। रक्षा के सब उपाय निष्फल रहे और काल कुमार उस शर के प्रहार से तत्क्षण काल कवलित हो अपने हाथी के होदे पर सदा के लिये सो गये।

कूणिक के सेनापति के देहावसान के साथ ही दिवस का भी अवसान हो गया, मानो काल कुमार की अकाल मृत्यु से अवसन्न हो अंशुमाली अस्ताचल की ओट में हो गए। उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। कूणिक की सेनाएँ शोक-सागर में डूबी हुई और वैशाली की सेनायें हर्ष सागर में हिलोरें लेती हुई अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं।

काल कुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेष ९ भाई भी प्रतिदिन एक के बाद एक क्रमशः कूणिक द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त किये जाकर वैशाली गणराज्य की सेना से युद्ध करने के लिए रण क्षेत्र में जाते रहे और महाराज चेटक द्वारा ९ ही भाई प्रतिदिन एक एक शर के प्रहार से ९ दिनों में यमधाम पहुँचा दिये गए।

इन दिनों में ही अपने दुर्द्धर्ष योद्धा दस भाइयों और सेना का संहार देख कर कूणिक की जयाशा निराशा में परिणत होने लगी। वह अगाध शोक सागर में निमग्न हो गया। अन्त में उसने दैवीशक्ति का सहारा लेने का निश्चय किया। उसने दो दिन उपोषित रह कर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र का चिन्तन किया। पूर्वजन्म की मैत्री और तप के प्रभाव से दोनों इन्द्र कूणिक के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उससे उन्हें याद करने का कारण पूछा।

कूणिक ने आशान्वित हो कहा—"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर चेटक को मौत के घाट उतार दीजिए। क्योंकि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो वैशाली को पूर्णतः विनष्ट करके वैशाली की भूमि पर गधों से हल चलवाऊँगा, अन्यथा उत्तुंग शैलशिखर से गिर कर प्राणान्त कर लूंगा। इस चेटक ने अपने अमोघ बाणों से मेरे दस भाइयों को मार डाला है।"

देवराज शक्र ने कहा—"प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक और मेरे स्वधर्मी बन्धु चेटक को मैं मार तो नहीं सकता पर उसके अमोघ बाण से तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा।"

यह कह कर कूणिक के साथ अपने पूर्वभव की मित्रता का निर्वाह करते हुए शक्र ने कूणिक को वज्रोपम एक अभेद्य कवच दिया।

चमरेन्द्र पूरण तापस के अपने पूर्वभव में कूणिक के पूर्वभवीय तापस-जीवन का साथी था। उस प्रगाढ़ मैत्री के वशीभूत चमरेन्द्र ने कूणिक को 'महाशिला कंटक' नामक एक भीषण प्रक्षेपणास्त्र और 'रथमूसल' नामक एक प्रलयंकर अस्त्र (आधुनिक वैज्ञानिक युग के उत्कृष्ट कोटि के टैंकों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली युद्धोपकरण) बनाने व उनके प्रयोग की विधि बताई।

महाशिला-कंटक युद्ध

चमरेन्द्र के निर्देशानुसार कूरिणक महाशिलाकंटक नामक महान् संहारक अस्त्र (प्रक्षेपणास्त्र) को लेकर उद्वेलित सागर की तरह भीषण, विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ रणांगण में उतरा। काशी कोशल के ६ मल्ली और ६ लिच्छवी, इन १८ गणराज्यों की और अपनी दुर्दान्त सेना के साथ महाराज चेटक भी रणक्षेत्र में कूरिणक की सेना से लोहा लेने आ डटे। दोनों सेनाओं में बड़ा लोमहर्षक युद्ध हुआ। कूरिणक की सहायता के लिए शक्र और चमरेन्द्र भी उनके साथ युद्धस्थल में उपस्थित थे। देखते ही देखते युद्धभूमि दोनों पक्षों के योद्धाओं के रुण्ड मुण्डों से आच्छादित हो गयी। चेटक और १८ गणराज्यों की सेनाओं ने बड़ी वीरता के साथ डट कर कूरिणक की सेना के साथ युद्ध किया।

चेटक ने अपने हाथी को आगे बढ़ाया, अपने धनुष पर शरसन्धान कर प्रत्यंचा को अपने कान तक खींचा और कूरिणक पर अपना अमोघ तीर चला दिया। पर इस बार वह तीर शक्र द्वारा प्रदत्त कूरिणक के वज्र कवच से टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अपने अमोघ बाण को मोघ हुआ देख कर भी सत्यसन्ध चेटक ने उस दिन दूसरा बाण नहीं चलाया।

कूरिणक ने चमरेन्द्र द्वारा विकुर्वित 'महाशिला कंटक' अस्त्र का प्रयोग किया। इस यंत्र के माध्यम से जो तृण, काष्ठ, पत्र, लोष्ठ अथवा बालुका-कण वैशाली की सेना पर फैंके जाते उनके प्रहार विस्तीर्ण शिलाओं के प्रहारों से भी अति भयंकर होते। कुछ ही समय में वैशाली के लाखों योद्धा धराशायी हो गये। कूरिणक की सेना में इन शिलोपम प्रहारों से भगदड़ मच गई। अठारहों मल्ली और लिच्छवी गणराजाओं की सेनाएं इस प्रलय से बचने के लिये रणक्षेत्र में पीठ दिखा कर भाग गई।

इस एक दिन के महाशिलाकंटक संग्राम में ८४ लाख योद्धा मारे गये। 'महाशिलाकंटक' नामक नरसंहारक युद्धोपकरण का प्रयोग किये जाने के कारण इस दिन का युद्ध 'महाशिलाकंटक संग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

रथमूसल संग्राम

दूसरे दिन कूरिणक 'रथमूसल' नामक प्रलयंकर स्वचालित यंत्र लेकर अपनी सेनाओं के साथ रणक्षेत्र में पहुँचा।

महाराज चेटक और उनके सहायक १८ गणराज्यों की सेनाओं ने बड़ी देर तक कूरिणक की सेनाओं के साथ प्राणपण से युद्ध किया। चेटक ने आगे बढ़ कर कूरिणक पर एक बाण का प्रहार किया, पर चमरेन्द्र के आयस पट्ट से टकरा

कर वह टूक-टूक हो गया। दृढ़-प्रतिज्ञ चेटक ने उस दिन फिर कोई दूसरा बाण नहीं चलाया।

जिस समय युद्ध उग्र रूप धारण कर रहा था उस समय कूणिक ने वैशाली की सेनाओं पर 'रथमूसल' अस्त्र का प्रयोग किया। प्रलय के दूत के समान दैत्याकार लोहसार का बना स्वचालित रथमूसल यन्त्र बिना किसी वाहन, वाहक और आरोही के, अपनी प्रलयकालीन घनघोर मेघ घटाओं के समान घर्राहट से धरती को कँपाता हुआ विद्युत्वेग से वैशाली की सेनाओं पर झपटा। उसमें लगे यमदण्ड के समान मूसल स्वतः ही अनवरत प्रहार करने लगे। उसकी गति इतनी तीव्र थी कि वह एक क्षण में चारों ओर सब जगह शत्रुओं का संहार करता हुआ दिखाई दे रहा था।

तपस्वी १२ व्रतधारी श्रावक योद्धा नाग का पौत्र वरुण षष्टभक्त का पारण किये बिना ही अष्टम भक्त तप कर चेटक आदि के अनुरोध पर रथमूसल अस्त्र को विनष्ट करने की इच्छा लिये संग्राम में आगे बढ़ा। कूणिक के सेनापति ने उसे युद्ध के लिये ललकारा। वरुण ने कहा कि वह श्रावक होने के कारण किसी पर पहले प्रहार नहीं करता। इस पर कूणिक की सेना के सेनापति ने वरुण के मर्मस्थल पर तीर का तीक्ष्ण प्रहार किया। मर्माहत होते हुए भी वरुण ने एक ही शरप्रहार से उस सेनापति को मौत के घाट उतार दिया। अपनी मृत्यु सन्निकट जान कर वह युद्धभूमि से दूर चला गया और आलोचना-अनशनादिपूर्वक प्राण त्याग कर प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

उधर तीव्रगति से चारों ओर घूमते हुए रथमूसल यंत्र ने वैशाली की सेना को पीस डाला। युद्ध के मैदान में चारों ओर रुधिर और मांस का कीचड़ ही कीचड़ दृष्टिगोचर हो रहा था।

रथमूसल अस्त्र द्वारा किये गये प्रलयोपम भीषण नरसंहार व रुधिर, मांस और मज्जा के कर्दम के वीभत्स एवं हृदयद्रावक दृश्य को देखकर मल्लियों और लिच्छवियों के १८ गणराज्यों की सेनाओं के अवशिष्ट सैनिक भयभीत हो प्राण बचाकर अपने २ नगरों की ओर भाग गये।

इस एक दिन के रथमूसल संग्राम में ९६ लाख सैनिकों का संहार हुआ। इस दिन के युद्ध में 'रथमूसल' अस्त्र का उपयोग किया गया, इसलिये इस दिन का युद्ध 'रथमूसल संग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

सब सैनिकों के मैदान छोड़कर भाग खड़े होने पर और कोई उपाय न देख महाराज चेटक ने भी बचे खुचे अपने योद्धाओं के साथ वैशाली में प्रवेश किया और नगर के सब द्वार बन्द कर दिये।

कूणिक ने अपनी सेनाओं के साथ वैशाली के चारों ओर घेरा डाल दिया। जैन आगम और आगमेतर साहित्य से ऐसा आभास होता है कि कूणिक ने काफी लम्बे समय तक वैशाली को घेरे रखा। रात्रि के समय में हल्ल और विहल्ल कुमार अपने अलौकिक सेचनक हाथी पर आरूढ़ हो नगर के बाहर निकल कर कूणिक की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रों की वर्षा करते और कूणिक के सैनिकों का संहार करते। उस दिव्य हस्तिरत्न पर आरूढ़ हल्ल विहल्ल का कूणिक के सैनिक बाल तक बाँका नहीं कर सके।

वैशाली के अभेद्य प्राकार को तोड़ने हेतु कूणिक ने अनेक प्रकार के उपाय और प्रयास किये, पर उसे किंचित् मात्र भी सफलता नहीं मिली। उधर प्रत्येक रात्रि को सेचनक हाथी पर सवार हो हल्ल विहल्ल द्वारा कूणिक की सेना के संहार करने का क्रम चलता रहा जिसके कारण कूणिक की सेना की बड़ी भारी क्षति हुई। कूणिक दिन प्रतिदिन हताश और चिन्तित रहने लगा।

अन्ततोगत्वा किसी अदृष्ट शक्ति से कूणिक को वैशाली के भंग करने का उपाय विदित हुआ कि चम्पा की मागधिका नाम की वारांगना यदि कूलवालक नामक तपस्वी श्रमण को अपने प्रेमपाश में फँसा कर ले आये तो वह कूलवालक श्रमण वैशाली का भंग करवा सकता है। कूणिक ने अनेक प्रलोभन देकर इस कार्य के लिए मागधिका को तैयार किया। चतुर गणिका मागधिका ने परम श्रद्धालु श्राविका का छद्म-वेश बना कर कूलवालक श्रमण को अपने प्रेमपाश में बाँध लिया और श्रमण धर्म से भ्रष्ट कर उसे मगधेश्वर कूणिक के पास प्रस्तुत किया। कूणिक अपनी चिर-अभिलषित आशालता को फलवती होते देख बड़ा प्रसन्न हुआ और कूलवालक के वैशाली में प्रविष्ट होने की प्रतीक्षा करने लगा।

इसी बीच हल्ल विहल्ल द्वारा प्रतिरात्रि की जा रही अपनी सैन्यशक्ति की क्षति के सम्बन्ध में कूणिक ने अपने मन्त्रियों के साथ मंत्रणा की। मंत्रणा के निष्कर्ष स्वरूप सेचनक के आगमन की राह में एक खाई खोदकर खैर के जाज्वल्यमान अंगारों से उसे भर दिया और उसे लचीली धातु के पत्रों से आच्छादित कर दिया।

रात्रि के समय शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध हो हल्ल और विहल्ल सेचनक हाथी पर आरूढ़ हो वैशाली से बाहर आने लगे तो सेचनक अपने विभंग-ज्ञान से उस खाई को अंगारों से भरी जान कर वहीं रुक गया। इस पर हल्ल विहल्ल ने कुपित हो सेचनक पर वाग्बाणों की बौछार करते हुए कहा—"कायर! तू युद्ध से कतरा कर अड़ गया है। तेरे लिये हमने अपने नगर एवं परिजन को छोड़ा, देवोपम पूज्य नानाजी को घोर संकट में ढकेला, पर आज तू युद्ध से डर कर

स्वामिभक्ति से मुंह मोड़ रहा है, तुझ से तो एक कुत्ता ही अच्छा जो मरते दम तक भी स्वामिभक्ति से विमुख नहीं होता।"

अपने स्वामी के असह्य वाग्बाणों से सेचनक तिलमिला उठा। मूक पशु वोलता तो क्या उसने अपनी पीठ पर से दोनों कुमारों को उतारा और तत्काल प्रच्छन्न आग में कूद पड़ा। हल्ल और विहल्ल के देखते ही देखते वह धधकती हुई आग में जलकर राख हो गया। हल्ल और विहल्ल को यह देख कर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्हें अपने जीवन से घृणा हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि यदि भगवान् महावीर के चरणों की शरण में नहीं पहुँच सके तो वे दोनों अपने जीवन का अन्त कर लेंगे।

जिनशासन-रक्षिका देवी ने उन्हें अन्तर्मन से दीक्षित समझ कर तत्काल प्रभु की चरण-शरण में पहुँचा दिया। हल्ल और विहल्ल कुमार ने प्रभु महावीर के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। उधर कूलवालक ने नैमित्तिक के रूप में बड़ी सरलता से वैशाली में प्रवेश पा लिया।

संभव है, उसने वैशाली भंग के लिये नगरी में घूम कर श्रद्धालु नागरिक-जनों में भेद डालने और कूणिक को आक्रमण के लिए सुविधा प्रदान करने की भूमिका का निर्माण किया हो। बौद्ध साहित्य में वस्सकार द्वारा वैशाली के सुसंगठित नागरिकों में फूट डालने के उल्लेख की भी पुष्टि होती है।

पर आवश्यक निर्युक्ति और चूर्णिकार ने वैशाली भंग में कूलवालक द्वारा स्तूप के पतन को कारण माना है, जो इस प्रकार है :—

"कूलवालक ने वैशाली में घूम कर पता लगा लिया कि भगवान् मुनि-सुव्रत के एक भव्य स्तूप के कारण वैशाली का प्राकार अभेद्य बना हुआ है।

दुश्मन के घेरे से ऊबे हुए नागरिकों ने कूलवालक को नैमित्तिक समझकर वड़ी उत्सुकता से पूछा—"विद्वन्! शत्रु का यह घेरा कव तक हटेगा?"

कूलवालक ने उपयुक्त अवसर देख कर कहा—"यह स्तूप बड़े अशुभ मुहूर्त में वना है। इसी के कारण नगर के चारों ओर घेरा पड़ा हुआ है। यदि इसे तोड़ दिया जाय तो शत्रु का घेरा हट जायगा।

कुछ लोगों ने स्तूप को तोड़ना प्रारम्भ किया। कूलवालक ने कूणिक को संकेत से सूचित किया। कूणिक ने अपने सैनिकों को घेरा-समाप्ति का आदेश दिया। स्तूप के ईषत् भंग का तत्काल चमत्कार देखकर नागरिक वड़ी संख्या में

स्तूप का नामोनिशां तक मिटा देने के लिये टूट पड़े। कुछ ही क्षणों में स्तूप का चिह्न तक नहीं रहा।

कूलवालक से इष्टसिद्धि का संकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया। उसे इस बार वैशाली का प्राकार भंग करने में सफलता प्राप्त हो गई।

कूणिक ने अपनी सेना के साथ वैशाली में प्रवेश किया और बड़ी निर्दयतापूर्वक वैशाली के वैभवशाली भवनों की ईंट से ईंट बजा दी।

वैशाली भंग का समाचार सुनकर महाराज चेटक ने अनशनपूर्वक प्राणत्याग किया और वे देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।

उधर कूणिक ने वैशाली नगर की उजाड़ी गई भूमि पर गधों से हल फिरवाये और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सेना के साथ चम्पा की ओर लौट गया।

परम प्रामाणिक माने जाने वाले 'भगवती-सूत्र' और 'निरयावलिका' में दिये गये इस युद्ध के विवरणों से यह सिद्ध होता है कि वैशाली के उस युद्ध में आज के वैज्ञानिक युग के प्रक्षेपणास्त्रों और टैंकों से भी अति भीषण संहारकारक 'महाशिलाकंटक' और 'रथमूसल' अस्त्रों का उपयोग किया गया। इनके सम्बन्ध में भगवती सूत्र के दो मूल पाठकों के विचारार्थ यहाँ दिये जा रहे हैं। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा :—

"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई महासिलाकंटए संगामे ?"

भगवान् महावीर ने गौतम द्वारा प्रश्न करने पर फरमाया—"गोयमा ! महासिलाकंटए णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा, हत्थी वा, जोहे वा, सारही वा तणेणवा, पत्तेण वा, कट्ठेण वा, सक्कराए वा अभिहम्मइ सव्वे से जाणइ महासिलाए अहं अभिहए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चई महासिलाकंटए संगामे।"— [भगवती, श० ७, उ० ६]

इस एक दिन के महाशिलाकंटक युद्ध में मृतकों की संख्या के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया—"गोयमा ! चउरासीइं जणसयसाहस्सियाओ बहियाओ।"

इसी प्रकार गौतम गणधर ने रथमूसल संग्राम के सम्बन्ध में प्रश्न किये— "से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ रहमुसले संगामे ?"

उत्तर में भगवान् महावीर ने फरमाया—"गोयमा ! रहमुसलेणं संगामे वट्टमाणे एगे रहे अणासए असारहिए, अणारोहए, समुसले, महयामहया

जणक्खयं, जणवहं, जणप्पमद्दं, जणसंवट्टकप्पं रुहिरकद्दमं करेमाणे सव्वओ समंता परिधावित्था, से तेणट्ठेणं जाव रहमुसले संगामे।"

गौतम द्वारा 'रसमूसल संग्राम' में मृतकों की संख्या के सम्बन्ध में किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु महावीर ने कहा—"गोयमा ! छण्णउई जणसयसा-हस्सीओ वहियाओ।"

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरणों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रलय के समान शक्ति रखने वाले वे दोनों अस्त्र कितने भयंकर होंगे।

उन दो महान् शक्तिशाली युद्धास्त्रों को पाकर कूणिक अपने आपको विश्व-विजयी एवं अजेय समझने लगा, तथा संभव है, इसी कारण उसके हृदय में अधिक महत्त्वाकांक्षाएं जगीं और उसके सिर पर चक्रवर्ती बनने की धुन सवार हुई।

उन दिनों भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में विराजमान थे। कूणिक भगवान् महावीर की सेवा में पहुंचा। सविधि वन्दन के पश्चात् उसने भगवान् से पूछा—"भगवन् ! क्या मैं भरत-क्षेत्र के छै खण्डों को जीतकर चक्रवर्ती बन सकता हूं ?"

भगवान् महावीर ने कहा—"नहीं कूणिक ! तुम चक्रवर्ती नहीं बन सकते। प्रत्येक उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल में बारह-बारह चक्रवर्ती होते हैं। तदनुसार-प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं, अतः तुम चक्रवर्ती नहीं हो सकते।

कूणिक ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन् ! चक्रवर्ती की पहचान क्या है ?"

भगवान् महावीर ने कहा—"कूणिक ! चक्रवर्ती के यहाँ चक्रादि चौदह रत्न होते हैं।"

कूणिक ने भगवान् महावीर से चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त की और प्रभु को वन्दन कर वह अपने राजप्रासाद में लौट आया।

कूणिक भली भाँति जानता था कि भगवान् महावीर त्रिकालदर्शी हैं, किन्तु वह वैशाली के युद्ध में महाशिलाकंटक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र का अत्यद्भुत चमत्कार देख चुका था, अतः उसके हृदय में यह अहम् घर कर गया कि उन दो कल्पान्तकारी यन्त्रों के रहते संसार की कोई भी शक्ति उसे चक्रवर्ती बनने से नहीं रोक सकती। उसने उस समय के श्रेष्ठतम शिल्पियों से चक्रवर्ती के चक्रादि कृत्रिम रत्न बनवाये और अष्टम भक्त कर षट्खण्ड-विजय के लिये उन अद्भुत शक्तिशाली यन्त्रों एवं प्रबल सेना के साथ निकल पड़ा।

महाशिलाकण्टक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र के कारण उस समय दिग्दिगन्त में कूणिक की धाक जम चुकी थी, अतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष और अड़ोस-पड़ोस की कोई राज्यशक्ति कूणिक के समक्ष प्रतिरोध करने का साहस नहीं कर सकी। कूणिक अनेक देशों को अपने अधीन करता हुआ तिमिस्र गुफा के द्वार तक पहुंच गया। अष्टम भक्त कर कूणिक ने तिमिस्र गुफा के द्वार पर दण्ड-प्रहार किया।

तिमिस्र गुफा के द्वाररक्षक देव ने अदृश्य रहते हुए पूछा—"द्वार पर कौन है ?"

कूणिक ने उत्तर दिया—"चक्रवर्ती अशोकचन्द्र ?"

देव ने कहा—"चक्रवर्ती तो बारह ही होते हैं और वे हो चुके हैं।

कूणिक ने कहा—"मैं तेरहवाँ चक्रवर्ती हूं।"

इस पर द्वाररक्षक देव ने क्रुद्ध होकर हुंकार की और कूणिक तत्क्षण वहीं भस्मसात् हो गया। मर कर वह छठे नरक में उत्पन्न हुआ।

भगवान् महावीर का परमभक्त होते हुए भी कूणिक स्वार्थ और तीव्र लोभ के उदय से मार्गच्युत हो गया और तीव्र आसक्ति के कारण वह दुर्गति का अधिकारी बना। कूणिक की सेना कूणिक के भस्मसात् होने के दृश्य को देखकर भयभीत हो चम्पा की ओर लौट गई।

वस्तुतः कूणिक जीवन भर भगवान् महावीर का ही परमभक्त रहा। कूणिक के महावीर-भक्त होने में ऐतिहासिकों के विचार इस प्रकार हैं :—

डॉ० स्मिथ कहते हैं—"बौद्ध और जैन दोनों ही अजातशत्रु को अपना-अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है, जैनों का दावा अधिक आधारयुक्त है।"

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार—"महावीर और बुद्ध की वर्तमानता में तो अजातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था।" उन्होंने यह भी लिखा है—"जैसा प्रायः देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदाइभद्द दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं, क्योंकि दोनों जैन धर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थों में उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है।

इन सब प्रमाणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि कूणिक-अजातशत्रु जीवन भर भगवान् महावीर का परमभक्त रहा।

---

१ कूणिक का वास्तविक नाम अशोकचन्द्र था। अंगुली के व्रण के कारण सब उसे कूणिक कहते थे। [आव० चूर्णि]

महाराजा उदायन

भगवान् महावीर के उपासक, परमभक्त अनेकानेक शक्तिशाली छत्रपतियों की गणना में श्रेणिक, कूणिक और चेटक की तरह महाराजा उदायन भी अग्रगण्य नरेश माने गये हैं।

महाराजा उदायन सिन्धु-सौवीर राज्य के शक्तिशाली एवं लोकप्रिय नरेश थे। आपके राज्य में सोलह बड़े-बड़े जनपद एवं ३६३ सुन्दर नगर और इतनी ही बड़ी-बड़ी खदानें थीं। दस छत्र-मुकुटधारी महीपाल और अनेक छोटे-मोटे अवनीपति एवं सार्थवाह आदि महाराज उदायन की सेवा में निरन्तर निरत रहते थे। सिन्धु-सौवीर राज्य की राजधानी वीतिभय नगर था, जो उस समय के नगरों में बड़ा विशाल, सुन्दर और सब प्रकार की समृद्धि से सम्पन्न था। महाराज उदायन की महारानी का नाम प्रभावती और पुत्र का नाम अभीच कुमार था। केशी कुमार नामक इनका भानजा भी उनके पास ही रहता था। उदायन का उस पर बड़ा स्नेह था।[1]

महाराजा उदायन एक महान् शक्तिशाली राज्य के एकछत्र अधिपति होते हुए भी बड़े धर्मानुरागी और भगवद्भक्त थे। वे भगवान् महावीर के बारह व्रतधारी श्रावक थे। उनके न्याय-नीतिपूर्ण शासन में प्रजा पूर्णरूपेण सुखी थी। महाराज उदायन की भगवान् महावीर के वचनों पर बड़ी श्रद्धा थी।

एक समय महाराजा उदायन अपनी पौषधशाला में पौषध किये हुए जब रात्रि के समय धर्मचिंतन कर रहे थे उस समय उनके मन में भगवान् महावीर के प्रति उत्कृष्ट भक्ति के उद्रेक से इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई—"धन्य है वह नगर, जहां श्रमण भगवान् महावीर विराजमान हैं। अहोभाग्य है उन नरेशों और भव्य नागरिकों का जो भगवान् के दर्शनों से अपना जीवन सफल करते और उनके पतितपावन चरणारविन्दों में सविधि वन्दन करते हैं, उनकी मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा करके कृतकृत्य हो रहे हैं तथा भगवान् की भवभयहारिणी सकल कल्मष विनाशिनी अमृतमयी अमोघ वाणी सुनकर भवसागर से पार हो रहे हैं। मेरे लिए वह सुनहरा दिन कब उदित होगा जब मैं अपने इन नेत्रों से जगद्गुरु श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन करूंगा, उन्हें सविधि वन्दन करूंगा, पर्युपासना-सेवा करूंगा और उनकी पीयूषवर्षिणी वाणी सुनकर अपने कर्णरन्ध्रों को पवित्र करूंगा।

महाराज उदायन की इस प्रकार की उत्कृष्ट अभिलाषा त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु से कैसे छिपी रह सकती थी? प्रभु दूसरे ही दिन चम्पा नगरी के पूर्ण-

---

१ भगवती शतक, श० १२, उ० २।

कारण अभीचिकुमार के हृदय पर बड़ा गहरा आघात पहुँचा फिर भी कुलीन होने के कारण उसने पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। वह किसी प्रकार के संघर्ष में नहीं उलझा और अपनी चल सम्पत्ति ले सकुटुम्ब मगध-सम्राट् कूणिक के पास चम्पा नगरी में जा बसा। सम्राट् कूणिक ने उसे अपने यहां ससम्मान रखा। अभीचिकुमार के मन में पिता द्वारा अपने अधिकार से वंचित रखे जाने की कसक जीवन भर कांटे की तरह चुभती रही। वह भगवान् का श्रद्धालु श्रमणोपासक रहा, पर उसने कभी अपने पिता महाश्रमण उदायन को नमस्कार तक नहीं किया और इस बैर को अन्तर्मन में रखे हुए ही श्रावकधर्म का पालन करते हुए एक मास की संलेषना से आयुष्य पूर्ण कर पिता के प्रति अपनी दुर्भावना की आलोचना बिना किये असुरकुमार देव हो गया। असुरकुमार की आयु पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में मानवभव प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

महाश्रमण उदायन ने दीक्षित होने के पश्चात् एकादश अंगों का अध्ययन किया और कठोर तपस्या से वे अपने कर्म-बन्धनों को काटने में तत्परता से संलग्न हो गये। विविध प्रकार की घोर तपस्याओं से उनका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया। अन्त-प्रान्तादि प्रतिकूल आहार से राजर्षि उदायन के शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हो गई। वे वैद्यों के अनुरोध से औषधि-रूप में दधि का सेवन करने लगे।

एकदा भगवान् की आज्ञा से राजर्षि उदायन एकाकी विचरते हुए वीतभय नगर पहुंचे। मंत्री को मालूम हुआ तो उसने दुर्भाव से महाराज केशी के मन को बदलने के लिये कहा कि परीषहों से पराजित हो राजर्षि उदायन पुनः राज्य लेने के लिये यहाँ आ गये हैं। केशी ने कहा—"कोई बात नहीं, यह राज्य उन्हीं का दिया हुआ है, यदि वे चाहेंगे तो मैं समस्त राज्य उन्हें लौटा दूंगा।" दुष्ट मन्त्री ने अनेक प्रकार से समझाते हुए केशीकुमार से कहा—"राजन्! यह राजधर्म नहीं है, हाथ में आई राज्यलक्ष्मी का जो निरादर करता है वह कहीं का नहीं रहता। अतः येन केन-प्रकारेण विष प्रयोगादि से उदायन को मौत के घाट उतारने में ही अपना कल्याण है।"

मंत्री की घृणित राय से केशी भी आखिर सहमत हो गया और उदायन को विषमिश्रित भोजन देने का षड्यंत्र रचा गया। एक ग्वालिन के द्वारा राजर्षि उदायन को विषमिश्रित दधि तीन बार वहराया गया, पर राजर्षि के भक्त एक देव द्वारा तीनों ही बार उस दही का अपहरण कर लिया गया और मुनि उसे नहीं खा सके। किन्तु एक बार देव की असावधानी से मुनि को विषमिश्रित दही गूजरी द्वारा वहरा ही दिया गया। दही के अभाव में मुनि के शरीर में असमाधि रहने लगी थी, अतः उन्होंने दही ले लिया। दही खाने के थोड़ी ही देर बाद विष का प्रभाव होते देख राजर्षि उदायन सँभल गये और उन्होंने समभाव से संथारा-

आमरण अनशन धारण कर शुक्ल ध्यान से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो केवलज्ञान प्राप्त किया और अर्ध मास की संलेखना से ध्रुव, अक्षय, अव्यावाध शाश्वत निर्वाण प्राप्त किया।

यही राजर्षि उदायन भगवान् महावीर द्वारा अन्तिम मोक्षगामी राजा बताये गये हैं। धन्य है उनकी परम निष्ठा, अविचल श्रद्धा व समता को!

भगवान् महावीर के कुछ अविस्मरणीय संस्मरण

पोत्तनपुर नगर की वात है, एक बार भगवान् महावीर वहाँ के मनोरम नामक उद्यानस्थ समवशरण में विराजमान थे। पोत्तनपुर के महाराज प्रसन्नचन्द्र प्रभु को वन्दन करने आये और उनका वीतरागपूर्ण उपदेश सुनकर सांसारिक भोगों से विरक्त हो दीक्षित हुए तथा स्थविरों के पास विनयपूर्वक ज्ञानाराधन करते हुए सूत्रार्थ के पाठी हो गये।

कुछ काल के बाद पोत्तनपुर से विहार कर भगवान् राजगृह पधारे। मुनि प्रसन्नचन्द्र, जो विहार में भगवान् के साथ थे, राजगृह में भगवान् से कुछ दूर जाकर एकान्त मार्ग पर ध्यानावस्थित हो गये। संयोगवश भगवान् को वन्दन करने के लिये राजा श्रेणिक अपने परिवार व सैन्य सहित उसी मार्ग से गुजरे। उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को मार्ग पर एक पैर से ध्यान में खड़े देखा। भक्ति से उन्हें प्रणाम कर वे महावीर प्रभु के पास आये और सविनय वंदन कर बोले–"भगवन्! नगरी के बाहर जो राजर्षि उग्र तप के साथ ध्यान कर रहे हैं, वे यदि इस समय काल धर्म को प्राप्त करें तो कौनसी गति में जायें?"

प्रभु ने कहा–"राजन्! वे सप्तम नरक में जायें।"

प्रभु की वाणी सुनकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे—क्या ऐसा उग्र तपस्वी भी नरक में जाये, यह संभव हो सकता है? उन्होंने क्षणभर के बाद पुनः जिज्ञासा करते हुए पूछा–"भगवन्! वे यदि अभी कालधर्म को प्राप्त करें, तो कहां जायेंगे?"

भगवान् महावीर ने कहा—"सर्वार्थसिद्ध विमान में।"

इस उत्तर को सुनकर श्रेणिक और भी अधिक विस्मित हुए और पूछने लगे—"भगवन्! दोनों समय की बात में इतना अन्तर क्यों? पहले आपने सप्तम नरक कहा और अब सर्वार्थसिद्ध विमान फरमा रहे हैं? इस अन्तर का कारण क्या है?"

भगवान् महावीर बोले–"राजन्! प्रथम बार जब तुमने प्रश्न किया था, उस समय ध्यानस्थ मुनि अपने प्रतिपक्षी सामन्तों से मानसिक युद्ध कर रहे थे और बाद के प्रश्नकाल में वे ही अपनी भूल के लिये आलोचना कर उच्च विचारों

की श्रेणी पर आरूढ़ हो गये थे। इसलिये दोनों प्रश्नों के उत्तर में इतना अन्तर दिखाई दे रहा है।"

श्रेणिक ने उनकी भूल का कारण जानना चाहा तो प्रभु ने कहा—"राजन्! वन्दन को आते समय तुम्हारे दो सेनापतियों ने राजर्षि को ध्यानमग्न देखा। उनमें से एक "सुमुख" ने राजर्षि के तप की प्रशंसा की और कहा—"ऐसे घोर तपस्वी को स्वर्ग या मोक्ष दुर्लभ नहीं है।" पर दूसरे साथी "दुर्मुख" को उसकी यह बात नहीं जँची। वह बोला—"अरे ! तू नहीं जानता, इन्होंने बड़ा पाप किया है। अपने नादान बालक पर राज्य का भार देकर स्वयं साधु रूप से ये ध्यान लगाये खड़े हैं। उधर विरोधी राज्य द्वारा, इनके अबोध शिशु पर, जिस पर कि मंत्री का नियन्त्रण है, आक्रमण हो रहा है। संभव है, बालकुमार को मंत्री राज्यच्युत कर स्वयं राज्याधिकार प्राप्त कर ले या शत्रु—राजा ही उसे बन्दी बना ले।

दुर्मुख की बात ध्यानान्तरिका के समय तपस्वी के कानों में पड़ी और वे ध्यान की स्थिति में अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। वे मन ही मन पुत्र की ममता से प्रभावित होकर विरोधी राजा एवं अपने धूर्त मंत्री के साथ घोर युद्ध करने लगे। परिणामों की उस भयंकरता के समय तुमने प्रश्न किया, अतः उन्हें सातवीं नरक का अधिकारी बताया गया, किन्तु कुछ ही काल के बाद राजर्षि ने अपने मुकुट से शत्रु पर आघात करना चाहा और जब सिर पर हाथ रखा तो उन्हें सिर मुंडित प्रतीत हुआ। उसी समय ध्यान आया—"मैं तो मुनि हूं। मुझे राज-ताज के हानि-लाभ से क्या मतलब ?" इस प्रकार आत्मालोचन करते हुए जब वे अध्यव-सायों की उच्च श्रेणी पर आरूढ़ हो रहे थे तब सर्वार्थसिद्ध विमान की गति बतलाई गई।"

इधर जब भगवान् श्रेणिक को अपने कथन के रहस्य को समझा रहे थे उसी समय आकाश में दुन्दुभि-नाद सुनाई दिया। श्रेणिक ने पूछा—"भगवन् ! यह दुन्दुभि-नाद कैसा ?"

प्रभु ने कहा—"वही प्रसन्नचन्द्र मुनि, जो सर्वार्थसिद्ध विमान के योग्य अध्यवसाय पर थे, शुक्ल-ध्यान की विमल श्रेणी पर आरूढ़ हो मोह कर्म के साथ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का भी क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन के अधिकारी बन गये हैं। उसी की महिमा में देवों द्वारा दुन्दुभि बजायी जा रही है।" श्रेणिक प्रभु की सर्वज्ञता पर मन ही मन प्रमुदित हुए।

दूसरी घटना राजगृही नगरी की है। एक बार भगवान् महावीर वहाँ के उद्यान में विराजमान थे। उस समय एक मनुष्य भगवान् के पास आया और चरणों पर गिर कर बोला—नाथ ! आपका उपदेश भवसागर से पार लगाने में जहाज के समान है। जो आपकी वाणी श्रद्धापूर्वक सुनते और तदनुकूल आचरण करते हैं, वे धन्य हैं।"

"मुझे एक बार आपकी वाणी सुनने का लाभ मिला था और उस एक बार के ही उपदेश ने मेरे जीवन को संकट से बचा लिया है। आज तो हृदय खोलकर मैं आपकी अमृतमयी वाणी के श्रवण का लाभ उठाऊंगा।"

इस तरह मन में दृढ़ निश्चय कर उसने प्रभु का उपदेश सुना। उपदेश-श्रवण के प्रभाव से उसके मन में वैराग्यभाव उदित हो गया। उसको अपने पूर्वकृत्यों पर अत्यन्त पश्चात्ताप तथा ग्लानि हुई। उसने हाथ जोड़कर प्रभु से निवेदन किया—"भगवन्! क्या एक चोर और अत्याचारी भी मुनि-धर्म पाने का अधिकारी हो सकता है? मेरा पूर्व-जीवन कुकृत्यों से काला बना हुआ है। क्या उसकी सफाई या निर्मलता के लिए मैं आपकी पुनीत सेवा में स्थान पा सकता हूं?"

उसके इस निश्छल वचन को सुनकर भगवान् ने कहा—"रोहिणेय! अन्तः-करण के पश्चात्ताप से पाप की कालिमा धुल जाती है। अतः अब तू श्रमणपद पाने का अधिकारी बन गया है। तेरे मन के वे सारे कलुष, जो अब तक के तुम्हारे कुकृत्यों से संचित हुए थे, आत्मालोचना की भट्टी में जलकर राख हो गये हैं।"

प्रभु की वाणी से प्रख्यात चोर रोहिणेय देखते ही देखते साधु बन गया और अपने सत्कृत्यों और तपश्चर्या से बहुत आगे बढ़ गया। ठीक ही है, पारस का संयोग लोहे को भी सोना बना देता है। उसी प्रकार वीतराग प्रभु की वाणी पापी को भी धर्मात्मा बना देती है। निर्मल अन्तःकरण या सात्त्विक प्रकृति वाला व्यक्ति यदि प्रव्रज्या ग्रहण करे, व्रत-विधान का पालन करे, तो यह कोई बड़ी बात नहीं है। किन्तु जब एक जन्मजात कुख्यात चोर प्रभु के प्रताप और उपदेश के प्रभाव से पूज्य पुरुष बन जाय तो निश्चित रूप से यह एक बड़ी और असा-धारण बात है।

राजगृही के प्रांगण से अभयकुमार

राजगृही के महाराज श्रेणिक और उनके परिवार की भगवान् महावीर के प्रति भक्ति उल्लेखनीय रही है। उसमें राज-मंत्री अभयकुमार का बड़ा योगदान रहा। भंभसार—श्रेणिक की नन्दा रानी से "अभय" का जन्म हुआ।[1] नन्दा "वेन्नातट" के "धनावह" सेठ की पुत्री थी।

अभयकुमार श्रेणिक—भंभसार का परममान्य मंत्री भी था[2] उसने कई बार राजनैतिक संकटों से श्रेणिक की रक्षा की। एक बार उज्जयिनी के राजा

---

१ सेणियस्स रन्नो पुत्ते नंदा ए देवीए अत्तए अभए नाम कुमारी होत्था।
[निरयावलिका, सू० २३]

२ भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, पृ० ३८।

चंडप्रद्योत ने चौदह राजाओं के साथ राजगृह पर आक्रमण किया। अभय ने ही उस समय राज्य का रक्षण किया था। उसने जहाँ शत्रु का शिविर लगना था, वहाँ पहले ही स्वर्ण मुद्राएं गड़वा दीं। जब चण्डप्रद्योत ने आकर राजगृह को घेरा तो अभय ने उसे सूचना करवाई—"मैं आपका हितैषी होकर एक सूचना कर रहा हूं कि आपके साथी राजा श्रेणिक से मिल गये हैं। अतः वे आपको पकड़ कर श्रेणिक को संभलाने वाले हैं। श्रेणिक ने उनको बहुत धनराशि दी है। विश्वास न हो तो आप अपने शिविर की भूमि खुदवा कर देख लें।"

चण्डप्रद्योत ने भूमि खुदवाई तो उसे उस स्थान पर गड़ी हुई स्वर्ण-मुद्राएं मिलीं। भय खाकर वह ज्यों का त्यों ही उज्जयिनी लौट गया।[1]

राजगृही में एक बार एक द्रुमक लकड़हारा सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुआ। जब वह दीक्षा के लिए नगरी में गया तो लोग उसका उपहास करते हुए बोले—"ये आये हैं बड़े त्यागी पुरुष, कितना बड़ा वैभव छोड़ा है इन्होंने?" लोगों के इस उपहास वचन से नवदीक्षित मुनि व्यथित हुए। उन्होंने सुधर्मा स्वामी से आकर कहा। द्रुमक मुनि की खेद-निवृत्ति के लिए सुधर्मा स्वामी ने भी अगले ही दिन वहाँ से विहार करने का सोच लिया।

अभयकुमार को जब इस बात का पता चला तो उसने आर्य सुधर्मा को ठहरने के लिए निवेदन किया तथा नगर में आकर एक-एक कोटि स्वर्ण-मुद्राओं की तीन राशियां लगवाईं और नगर के लोगों को आमंत्रित किया। उसने नगर में घोषणा करवाई कि जो जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और पानी का परित्याग करे, वह इन तीन कोटि स्वर्ण-मुद्राओं को ले सकता है।

स्त्री, अग्नि और पानी छोड़ने के भय से कोई स्वर्ण लेने को नहीं आया, तब अभयकुमार ने कहा—"देखो वह द्रुमक मुनि कितने बड़े त्यागी हैं। उन्होने जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और सचित्त जल का परित्याग कर दिया है।" अभय की इस बुद्धिमत्ता से द्रुमक मुनि के प्रति लोगों की व्यंग्य-चर्चा समाप्त हो गई।[2] अभयकुमार की धर्मसेवा के ऐसे अनेकों उदाहरण जैन साहित्य में भरे पड़े हैं।

भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो अभयकुमार भी वन्दन के लिए उद्यान में आया। देशना के अन्त में अभय ने भगवान् से सविनय पूछा—"भगवन्! आपके शासन में अन्तिम मोक्षगामी राजा कौन होगा?"

---

१ (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष, पृ० १० – ११, श्लो० १८४।
(ख) आवश्यक चूर्णि उत्तरार्ध।

२ धर्मरत्न प्रकरण—"अभयकुमार कथा।"

उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—"वीतभय का राजा उदयन, जो मेरे पास दीक्षित मुनि है, वही अन्तिम मोक्षगामी राजा है।"

अभयकुमार ने सोचा—"मैं यदि राजा बन कर दीक्षा ग्रहण करूंगा तो मेरे लिए मोक्ष का रास्ता ही बन्द हो जायगा। अतः क्यों न मैं कुमारावस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर लूं।"

अभयकुमार वैराग्य-भावना से श्रेणिक के पास आया और अपनी दीक्षा की बात कही। श्रेणिक ने कहा—"वत्स ! दीक्षा ग्रहण का दिन तो मेरा है, तुम्हें तो अभी राज्य-ग्रहण करना चाहिए। अभयकुमार द्वारा विशेष आग्रह किये जाने पर श्रेणिक ने कहा—"जिस दिन मैं तुमको रुष्ट हो कर कहूँ—'जा मुझे आकर मुँह नहीं दिखाना,' उसी दिन तुम प्रव्रजित हो जाना।"

कालान्तर में फिर भगवान् महावीर राजगृह पधारे। उस समय भीषण शीतकाल था। एक दिन राजा श्रेणिक रानी चेलना के साथ घूमने गये। सायंकाल उपवन से लौटते हुए उन्होंने नदी के किनारे एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। रात्रि के समय रानी जगी तो उसे मुनि की याद हो आई। सहसा उसके मुँह से निकला—"आह ! वे क्या करते होंगे ?" रानी के वचन सुन कर राजा के मन में उसके प्रति अविश्वास हो गया। प्रातःकाल भगवद्-वन्दन को जाते हुए उन्होंने अभयकुमार को आदेश दिया—"चेलना का महल जला दो, यहाँ दुराचार बढ़ता है।"

अभयकुमार ने महल से रानियों को निकाल कर उसमें आग लगवा दी।

उधर श्रेणिक ने भगवान् के पास रानियों के आचार-विषयक जिज्ञासा रखी तो महावीर ने कहा—"राजन् ! तेरी चेलना आदि सारी रानियाँ निष्पाप हैं, शीलवती हैं।" भगवान् के मुख से रानियों के प्रति कहे गये वचन सुन कर राजा अपने आदेश पर पछताने लगा। वह इस आशंका से कि कहीं कोई हानि न हो जाय, सहसा महल की ओर लौट चला।

मार्ग में ही अभयकुमार मिल गया। राजा ने पूछा—"महल का क्या किया ?"

अभय ने कहा—"आपके आदेशानुसार उसे जला दिया।"

"अरे मेरे आदेश के बावजूद भी तुम्हें अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये था," खिन्न-हृदय से राजा बोला।

यह सुन कर अभय बोला—"राजाज्ञा-भंग का दण्ड प्राण-नाश होता है, मैं इसे अच्छी तरह जानता हूँ।"

"फिर भी तुम्हें कुछ रुक कर, समय टाल कर आदेश का पालन करना चाहिये था," व्यथित मन से राजा ने कहा।

इस पर अभय ने जवाब दिया—"इस तरह बिना सोचे समझे आदेश ही नहीं देना चाहिये। मैंने तो अपने से बड़ों की आज्ञा के पालन को ही अपना धर्म समझा है और आज तक उसी के अनुकूल आचरण भी किया है।"

अभय के इस उत्तर-प्रत्युत्तर एवं अपने द्वारा दिये गये दुष्टादेश से राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। दूसरा होता तो राजा तत्क्षण उसके सिर को धड़ से अलग कर देता किन्तु पुत्र के ममत्व से वह ऐसा नहीं कर सका। फिर भी उसके मुख से सहसा निकल पड़ा—"जारे अभय! यहाँ से चला जा। भूल कर भी कभी मुझे अपना मुँह मत दिखाना।"

अभय तो ऐसा चाहता ही था। अंधा जैसे आँख पाकर गद्गद् हो जाता है, अभय भी उसी तरह परम प्रसन्न हो उठा। वह पितृ-वचन को शिरोधार्य कर तत्काल वहाँ से चल पड़ा और भगवान् के चरणों में जाकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

राजा श्रेणिक ने जब महल एवं उसके भीतर रहने वालों को सुरक्षित पाया तो उसको फिर एक बार अपने सहसा दिये गये आदेश पर दुःख हुआ। उसे यह समझने में किंचित् भी देर नहीं लगी कि आज के इस आदेश से मैंने अभय जैसे चतुर पुत्र एवं राज्य-कार्य में योग्य व नीतिज्ञ मंत्री को खो दिया है। वह आशा के बल पर शीघ्रता से लौट कर पुनः महावीर के पास आया। वहाँ उसने देखा कि अभयकुमार तो दीक्षित हो गया है। अब पछताने के सिवा और क्या होता? अभयकुमार मुनि विशुद्ध मुनिधर्म का पालन कर विजय नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र बने।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से निर्वाणकाल

जैन परम्परा के प्रायः प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी प्रकार के ग्रन्थों में इस प्रकार के पुष्ट और प्रबल प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिनके आधार पर पूर्ण प्रामाणिकता के साथ यह माना जाता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७वें वर्ष में हुआ।

आधुनिक ऐतिहासिक शोधकर्त्ता विद्वानों ने भी इस विषय में विभिन्न दृष्टियों से गहन गवेषणाएँ करने का प्रयास किया है। उन विद्वानों में सर्वप्रथम डॉ० हर्मन जैकोबी ने जैन सूत्रों की भूमिका में इस विषय पर चर्चा की है।

१ अनुत्तरोपपातिक........

भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण प्रसंग पर डॉ० जैकोबी ने दो स्थानों पर चर्चा की है पर वे दोनों चर्चाएँ परस्पर विरोधी हैं।

पहली चर्चा में डॉ० जैकोबी ने भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई. पू. ५२६ माना है। इसके प्रमाण में उन्होंने लिखा है—"जैनों की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि जैन सूत्रों की वाचना वल्लभी में देवर्द्धि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में हुई। इस घटना का समय वीर निर्वाण से ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् का है अर्थात् ई. सन् ४५४ या ४६७ का है, जैसा कि कल्पसूत्र की गाथा १४८ में उल्लिखित है।"[1]

यहाँ पर डॉ० जैकोबी ने वीर-निर्वाणकाल ई० पू० ५२६ माना है, क्योंकि ५२६ में ४५४ जोड़ने पर ९८० और ४६७ जोड़ने पर ९९३ वर्ष होते हैं।

इसके पश्चात् डॉ० जैकोबी ने दूसरे खण्ड की भूमिका में भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में विचार करते हुए भगवान् महावीर के निर्वाणकाल पर पुनः दूसरी बार चर्चा की है। उस चर्चा के निष्कर्ष के रूप में उन्होंने अपनी पहली मान्यता के विपरीत अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ में हुआ था तथा महावीर का निर्वाण ई० पू० ४७७ में हुआ था।[2]

डॉ० जैकोबी ने अपने इस परिवर्तित निर्णय के औचित्य के सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण अथवा आधार प्रस्तुत नहीं किया। उनके द्वारा बुद्ध को बड़ा और महावीर को छोटा मानने में प्रमुख तर्क यह रखा गया है कि कूणिक का चेटक के साथ जो युद्ध हुआ उसका जितना विवरण बौद्ध शास्त्रों में मिलता है, उससे अधिक विस्तृत विवरण जैन आगमों में मिलता है। जहाँ बौद्ध शास्त्रों में अजातशत्रु के अमात्य वस्सकार द्वारा बुद्ध के समक्ष वज्जियों पर विजय प्राप्ति के लिए केवल योजना प्रस्तुत करने का उल्लेख है, वहाँ जैन आगमों में कूणिक और चेटक के बीच हुए 'महाशिलाकंटक संग्राम', 'रथमूसल संग्राम' और वैशाली के प्राकार-भंग तक स्पष्ट विवरण मिलता है। इस तर्क के आधार पर डॉ० जैकोबी ने कहा है—"इससे यह प्रमाणित होता है कि महावीर बुद्ध के बाद कितने ही वर्षों तक जीवित रहे थे।"

वास्तव में बौद्ध शास्त्रों में सम्यक् पर्यवेक्षण से डॉ० जेकोबी का यह तर्क बिल्कुल निर्बल और नितान्त पंगु प्रतीत होगा, क्योंकि वस्सकार की कूटनीतिक चाल के माध्यम से वज्जियों पर कूणिक की विजय का जैनागमों में दिये गये विवरण से भिन्न प्रकार का विवरण बौद्ध शास्त्रों में उपलब्ध होता है।

---

१ एस. बी. ई. वोल्यूम २२, इन्ट्रोडक्टरी, पृ. ३७।

२ 'श्रमण' वर्ष १३, अंक ६।

बौद्ध ग्रन्थ दीर्घनिकाय अट्ठकहा में वस्सकार द्वारा छलछद्म से वज्जियों में फूट डाल कर कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण करने, वज्जियों की पराजय व कूणिक की विजय का संक्षेप में पूरा विवरण उल्लिखित है। बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि एकता के सूत्र में बँधे हुए वज्जियों में फूट, द्वेष और भेद उत्पन्न करने के लक्ष्य रख कर वस्सकार बड़े नाटकीय ढंग से वैशाली गया। वह वज्जी गणतन्त्र में अमात्य का पद प्राप्त करने में सफल हुआ। वस्सकार ३ वर्ष तक वैशाली में रहा और अपनी कूटनीतिक चालों से वज्जियों में ईर्ष्या-विद्वेष फैलाकर वज्जियों की अजेय शक्ति को खोखला और निर्बल बना दिया।

अन्ततोगत्वा, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, वस्सकार के संकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया और वज्जियों को परास्त कर दिया। केवल 'रथमूसल' और 'महाशिलाकंटक' संग्राम का परिचय बौद्ध साहित्य में नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि राजा कूणिक भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसने अपने राजपुरुषों द्वारा भगवान् महावीर की दैनिक चर्या के सम्बन्ध में प्रतिदिन की सूचना प्राप्त करने की व्यवस्था कर रखी थी। भगवान् महावीर के बाद सुधर्मा स्वामी की परिषद् में भी वह सभक्ति उपस्थित हुआ।[1] अतः जैनागमों में उसका अधिक विवरण होना और बौद्ध साहित्य में संक्षिप्त निर्देश होना स्वाभाविक है।

डॉ० जैकोबी ने महावीर के पूर्व निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध शास्त्रों में मिलने वाले तीन प्रकरणों को अयथार्थ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्राप्त सामग्री के अनुसार वह ठीक नहीं है। बौद्ध साहित्य में इन तीन प्रकरणों के अतिरिक्त कहीं भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जो महावीर-निर्वाण से पूर्व बुद्ध-निर्वाण को प्रमाणित करता हो, अपितु ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं जो बुद्ध का छोटा होना और महावीर का ज्येष्ठ होना प्रमाणित करते हैं। अतः डॉ० जैकोबी का वह दूसरा निर्णय प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। डॉ० जैकोबी ने अपने दूसरे मन्तव्य में महावीर का निर्वाण ४७७ ई. पू. और बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ माना है। पर उन्होंने उस सारे लेख में यह बताने का यत्न नहीं किया कि यही तिथियाँ मानी जायँ, ऐसी अनिवार्यता क्यों पैदा हुई ? उन्होंने बताया है कि जैनों की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष बाद हुआ था, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार यह राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष पश्चात् हुआ। इतिहास के विद्वानों ने इसे श्री हेमचन्द्राचार्य की भूल माना

१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, श्लो० १५-५४

है। इस विषय में सर्वाधिक पुष्ट धारणाएँ हैं कि भगवान् महावीर जिस दिन निर्वाण को प्राप्त होते हैं उसी दिन उज्जैन में पालक राजा गद्दी पर बैठता है। उसका राज्य ६० वर्ष तक चला, उसके बाद १५५ (एक सौ पचपन) वर्ष तक नन्दों का राज्य और तत्पश्चात् मौर्य राज्य का प्रारम्भ[1] होता है, अर्थात् महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठता है। यह प्रकरण 'तित्थोगाली पइन्नय' का है जो परिशिष्ट पर्व से बहुत प्राचीन माना जाता है। बाबू श्री पूर्णचन्द्र नाहर तथा श्री कृष्णचन्द्र घोष के अनुसार हेमचन्द्राचार्य की गणना में असावधानी से पालक राज्य के ६० वर्ष छूट गये हैं।[2]

सम्भव है, जिस श्लोक (३३९) के आधार पर डॉ० जैकोबी ने महावीर निर्वाण के समय को निश्चित किया है उसमें भी वैसी ही असावधानी रही हो। स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने अपने समकालीन राजा कुमारपाल का काल बताते समय महावीर निर्वाण का जो समय माना है, वह ई० पू० ५२७ का ही है, न कि ई० पू० ४७७ का। हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं कि जब भगवान् महावीर के निर्वाण से १६६९ वर्ष बीतेंगे तब चौलुक्य कुल में चन्द्रमा के समान राजा कुमारपाल होगा।[3]

अब यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि राजा कुमारपाल ई० सन् ११४३ में हुआ। हेमचन्द्राचार्य के कथन से यह काल महावीर के निर्वाण से १६६९ वर्ष का है। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर निर्वाणकाल १६६९–११४२ ई० पू० ५२७ ही माना है।

डॉ० जैकोबी की धारणा के बाद ३२ वर्ष के इस सुदीर्घ काल में इतिहास ने बहुत कुछ नई उपलब्धियाँ की हैं, इसलिए भी डॉ० जैकोबी के निर्णय को अन्तिम रूप से मान लेना यथार्थ नहीं है।

---

१ जं रयणि सिद्धिगओ अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवन्तिए, अभिसित्तो पालओ राया॥
पालग रण्णो सट्ठी, पण पण सयं वियाणि णंदाणम्।
मुरियाण सट्ठिसयं, तीसा पुण पूसमित्ताणम्॥ [तित्थोगाली पइन्नय ६२०-२१]

२ Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of King Palaka after Mahaveera,
[Epitome of Jainism Appendix A, P. IV]

३ अस्मिन्निर्वाणतो वर्षशतान्यभय षोडश।
नव षष्टिश्च यास्यन्ति, यदा तत्र पुरे तदा॥
कुमारपाल भूपालो, चौलुक्यकुलचन्द्रमाः।
भविष्यति महाबाहुः, प्रचण्डाखण्डशासनः॥
[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व १०, सर्ग १२, श्लो० ४५-४६]

डॉ० के० पी० जायसवाल ने भी महावीर निर्वाण को बुद्ध से पूर्व माना है। इनका कहना है कि बौद्धागमों में वर्णित महावीर के निर्वाण प्रसंग ऐतिहासिक तथ्यों के निर्धारण में किसी प्रकार उपेक्षा के योग्य नहीं हैं। सामगाम सुत्त में बुद्ध महावीर–निर्वाण के समाचार सुनते हैं और प्रचलित धारणाओं के अनुसार इसके २ वर्ष बाद वे स्वयं निर्वाण प्राप्त करते हैं।[1] (बौद्धों की दक्षिणी परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण ई० पू० ५४६ में होता है और बुद्ध निर्वाण ई० पू० ५४४ में।)

डॉ० जायसवाल ने महावीर निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध उल्लेखों की अपेक्षा न करने की जो बात कही है वह ठीक है, पर सामगाम सुत्त के आधार पर बुद्ध से २ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण मानना और महावीर के ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य की मान्यता में १८ वर्ष जोड़कर महावीर और विक्रम के मध्यकाल की अवधि निश्चित करना पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। उन्होंने सरस्वतीगच्छ की पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण और विक्रम-जन्म के बीच का अन्तर ४७० वर्ष माना है और फिर १८वें वर्ष में विक्रम के राज्यासीन होने पर संवत् का प्रचलन हुआ, इस दृष्टि से वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत्सर मानने की बात को भूल कहा है। किन्तु इतिहासकारों का कथन है कि यह मान्यता किसी भी प्रामाणिक परम्परा पर आधारित नहीं है। आचार्य मेरुतुंग[2] ने वीर निर्वाण और विक्रमादित्य के बीच ४७० वर्ष का अन्तर माना है। वह अन्तर विक्रम के जन्मकाल से नहीं अपितु शक राज्य की समाप्ति और विक्रम की विजय से सम्बन्धित है।[3]

डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (हिन्दू सभ्यता) में डॉ० जायसवाल की तरह भगवान् महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व निर्वाण-प्राप्ति का युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। पुरातत्व गवेषक मुनि जिन विजयजी ने भी डॉ० जायसवाल के मतानुसार भगवान् महावीर की ज्येष्ठता स्वीकार की है।[4]

---

१ जर्नल आफ विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, १-१०३।

२ विक्कम रज्जारंभा परओ सिरि वीर निव्वुइ भणिया।
सुन्न मुणि वेय जुत्तो विक्कम कालाउ जिण कालो ॥ विचार श्रेणी पृ. ३-४

३ The suggestion can hardly be said to rest on any reliable tradition. Merutunga places the death of the last Jian or Teerthankara 470 years before the end of Saka Rule and the victory and not birth of the traditional Vikrama [An Advanced History of India by R. C. Majumdar., H. C. Roy Chaudhari & K. K. Dutta, Page 85.]

४ वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना–भूमिका पृ० १

श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का निश्चित मत है कि तत्कालीन सातों धर्माचार्यों में बुद्ध सबसे छोटे थे। प्रारम्भ में उनका संघ भी सबसे छोटा था।[1] कौशाम्बी जी ने कालचक्र की बात को यह कह कर गौण कर दिया है कि बुद्ध की जन्म तिथि में कुछ कम या अधिक अन्तर पड़ जाता है तो भी उससे उनके जीवन-चरित्र में किसी प्रकार का गौणत्व नहीं आ सकता।[2]

इसी प्रकार डॉ० हर्नले ने अपने "हेस्टिगाका एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स" ग्रन्थ में भी इसकी चर्चा की है। उनके मतानुसार बुद्ध निर्वाण महावीर से ५ वर्ष बाद होता है। तदनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से ३ वर्ष पूर्व होता है।

मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार भगवान् महावीर से बुद्ध १४ वर्ष ५ मास, १५ दिन पूर्व निर्वाण प्राप्त कर चुके थे, यानी भगवान् महावीर से बुद्ध आयु में लगभग २२ वर्ष बड़े थे। बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४२ (मई) और महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२८ (नवम्बर)[3] होता है। भगवान् महावीर का निर्वाण उन्होंने ई० पू० ५२७ माना है, जो परम्परा-सम्मत भी है और प्रमाण-सम्मत भी।

श्री विजयेन्द्र सूरि द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर' में भी विविध प्रमाणों के साथ भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई० पू० ५२७ ही प्रमाणित किया गया है।

भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का विचार जिन आधारों पर किया गया है, उन सब में साक्षात् व स्पष्ट प्रमाण बौद्ध पिटकों का है। जिन प्रकरणों में निर्वाण की चर्चा है वे क्रमशः मज्झिमनिकाय-सामगामसुत्त, दीर्घनिकाय-पासादिक सुत्त और दीर्घनिकाय—संगीति पर्याय सुत्त हैं। तीनों प्रकरणों की आत्मा एक है, पर उनके ऊपर का ढाँचा निराला है। इनमें बुद्ध ने आनन्द और चुन्द से भगवान् महावीर के निर्वाण की बात कही है। कुछ लेखकों ने माना है कि इन प्रकरणों में विरोधाभास है। डॉ० जेकोबी ने उक्त प्रकरणों को इसलिए भी अप्रमाणित माना है कि इनमें से कोई समुल्लेख महापरिनिव्वाण सुत्त में नहीं है जिससे कि बुद्ध के अन्तिम जीवन प्रसंगों का ब्योरा मिलता है।[4] जहाँ तक बुद्ध से भगवान् महावीर के पूर्व निर्वाण का प्रश्न है, हमें इन प्रकरणों की

१ भगवान् बुद्ध, पृ० ३३–१५५

२ भगवान् बुद्ध—भूमिका, पृ० १२

३ ईस्वी पूर्व ५२८ के नवम्बर महीने में और ई. पू. ५२७ में केवल २ महीने का ही अन्तर है। अतः महावीर निर्वाण का काल सामान्यतः ई. पू. ५२७ का ही लिखा जाता है।

४ श्रमण वर्ष १३, अंक ६।

वास्तविकता में इसलिये भी संदेह नहीं करना चाहिए कि जैन आगमों में महावीर निर्वाण के सम्बन्ध में इससे कोई विरोधी उल्लेख नहीं मिल रहा है। यदि जैन आगमों में भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण की पूर्वापरता के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख होता तो हमें भी इन प्रकरणों की वास्तविकता के सम्बन्ध में सन्देह हो सकता था। फिर बौद्ध शास्त्रों में भी इन तीन प्रकरणों के अतिरिक्त कोई ऐसा प्रकरण होता जो महावीर-निर्वाण से पूर्व बुद्ध-निर्वाण की बात कहता तो भी हमें गम्भीरता से सोचना होता। किन्तु ऐसा कोई बाधक कारण दोनों ओर के साहित्य में नहीं है। ऐसी स्थिति में उन्हें प्रमाण-भूत मानना असंगत प्रतीत नहीं होता। इसमें जो कालावधि का भेद है उसे हम आगे स्पष्ट कर रहे हैं कि भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध का निर्वाण हुआ।

मुनि नगराजजी के अनुसार महावीर की ज्येष्ठता को प्रमाणित करने के लिए और भी अनेक प्रसंग बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिनमें बुद्ध स्वयं अपने को तात्कालिक सभी धर्मनायकों में छोटा स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथ पिंडिक के जेत्तवन में विहार कर रहे थे। राजा प्रसेनजित (कोशल) भगवान् के पास गया और कुशल पूछकर जिज्ञासा व्यक्त की—"गौतम ! क्या आप भी यह अधिकारपूर्वक कहते हैं कि आपने अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त कर लिया है ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"महाराज ! यदि कोई किसी को सचमुच सम्यक् संबुद्ध कहे तो वह मुझे ही कह सकता है, मैंने ही अनुत्तर सम्यक् संबोधि का साक्षात्कार किया है।"

प्रसेनजित् ने कहा—गौतम ! दूसरे श्रमण ब्राह्मण, जो संघ के अधिपति, गणाधिपति, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर और बहुजन सम्मत, पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगण्ठ नायपुत्त, सजय वेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुद्ध कात्यायन, अजितकेश कम्बली आदि से भी ऐसा पूछे जाने पर वे अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का अधिकारपूर्वक कथन नहीं करते। आप तो अल्प-वयस्क व सद्यः-प्रव्रजित हैं, फिर यह कैसे कह सकते हैं ?"

बुद्ध ने कहा—"क्षत्रिय, सर्प, अग्नि व भिक्षु को अल्प-वयस्क समझकर कभी उनका पराभव या अपमान नहीं करना चाहिये।" (संयुत्तनिकाय, दहर सुत्त पृ० ११ के आधार से)

उस समय के सब धर्मनायकों में बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक प्रबल प्रमाण है।

(२) एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन में विहार कर रहे थे। उस समय एक देव ने आकर सभिय नामक एक परिव्राजक को कुछ प्रश्न सिखाये और कहा कि जो इन प्रश्नों का उत्तर दे, उन्हीं का तू शिष्य होना। सभिय; श्रमण, ब्राह्मण संघनायक, गणनायक, साधुसम्मत पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित-केश कम्बली, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त और निगण्ठ नायपुत्त के पास क्रमशः गया और उनसे प्रश्न पूछे। सभी तीर्थंकर उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके और सभिय के प्रति कोप, द्वेष एवं अप्रसन्नता ही व्यक्त करने लगे। सभिय परिव्राजक इस पर बहुत असंतुष्ट हुआ, उसका मन विविध ऊहापोहों से भर गया। उसने निर्णय किया—"इससे तो अच्छा हो कि गृहस्थ होकर सांसारिक आनन्द लूटूं?"

सभिय के मन में आया कि श्रमण गौतम भी संघी, गणी, बहुजन-सम्मत हैं, क्यों न मैं उनसे भी प्रश्न पूछूं। उसका मन तत्काल ही आशंका से भर गया। उसने सोचा "पूरण काश्यप और निगण्ठ नायपुत्त जैसे धीर, वृद्ध, वयस्क उत्तरावस्था को प्राप्त, वयातीत, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित[१] संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुजन-सम्मानित, श्रमण ब्राह्मण भी मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके, उल्टे अप्रसन्नता व्यक्त कर मुझ से ही इनका उत्तर पूछते हैं; तो श्रमण गौतम मेरे प्रश्नों का क्या उत्तर दे सकेंगे? वे तो आयु में कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन हैं। फिर भी श्रमण युवक होते हुए भी महर्द्धिक और तेजस्वी होते हैं, अतः श्रमण गौतम से भी इन प्रश्नों को पूछूं।"[२] (सुत्तनिपात महावग्ग सभिय सुत्त के आधार से)

यहाँ बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्मनायकों को जिण्णा, बुद्धा, महल्लका, अद्धगता, वयोअनुपत्ता, थेरा, रत्तंभू, चिरपब्बजिता विशेषण दिये हैं।

(३) फिर एक समय भगवान् (बुद्ध) राजगृह में जीवक कौमार भृत्य के आम्रवन में १२५० भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे थे, उस समय पूर्णमासी के उपोसथ के दिन चातुर्मास को कौमुदी से पूर्ण पूर्णिमा की रात को राजा मागध अजातशत्रु वैदेही पुत्र आदि राजामात्यों से घिरा हुआ प्रासाद के ऊपर बैठा हुआ था। राजा ने जिज्ञासा की—"किसका सत्संग करें, जो हमारे चित्त को प्रसन्न करे?"

राजमंत्री ने कहा—"पूरण काश्यप से धर्मचर्चा करें। वे चिरकाल के साधु व वयोवृद्ध हैं।"

---

१ सुत्त निपात, महावग्ग।

२ पण्हे पुट्ठो व्याकरिस्सति ! समणो हि गौतमो दहरो चेव, जातिया नवो च पब्बज्जायाति [सुत्त निपात, सभिय सुत्त, पृ० १०६]

दूसरे मंत्री ने कहा—"मक्खलि गोशाल संघस्वामी हैं।"

अन्य ने कहा—"अजित केश कम्बली संघस्वामी हैं।"

फिर दूसरे मंत्री ने प्रक्रुद्ध कात्यायन का और इससे भिन्न मंत्री ने संजय वेलट्ठिपुत्त का परिचय दिया। एक मंत्री ने कहा—"निगण्ठ नायपुत्त संघ के स्वामी हैं। उनका सत्संग करें।"

सब की बात सुनकर मगध-राज चुप रहे। उस समय जीवक कौमार भृत्य से अजातशत्रु ने कहा कि तुम चुप क्यों हो? उसने कहा—"देव! भगवान् अर्हत् मेरे आम के बगीचे में १२५० भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे हैं। उनका सत्संग करें। आपके चित्त को प्रसन्नता होगी।"

यहाँ पर भी पूरण काश्यप आदि को चिरकाल से साधु और वयोवृद्ध कहा गया है।

इन तीनों प्रकरणों में महावीर का ज्येष्ठत्व प्रमाणित किया गया है। वह भी केवल वयोमान की दृष्टि से ही नहीं, अपितु ज्ञान, प्रभाव और प्रव्रज्या की दृष्टि से भी ज्येष्ठत्व बतलाया गया है। इनमें स्पष्टतः बुद्ध को छोटा स्वीकार किया गया है।

इन सब आधारों को देखते हुए महावीर के ज्येष्ठत्व और पूर्व निर्वाण में कोई संदेह नहीं रह जाता।

इस तरह जहाँ तक भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का प्रश्न है वह पारम्परिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों व आधारों से ई० पू० ५२७ सुनिश्चित ठहरता है।

इसी विषय में एक अन्य प्रमाण यह भी है कि इतिहास के क्षेत्र में सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ई० पू० ३२२ माना गया है।[1] इतिहासकार इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण वातावरण में इसे एक प्रकाशस्तंभ मानते हैं। यह समय सर्वमान्य और प्रामाणिक है। इसी को केन्द्रबिन्दु मानकर इतिहास शताब्दियों पूर्व और पश्चात् की घटनाओं का समय-निर्धारण करता है।

जैन परम्परा में मेरुतुंग की—"विचार श्रेणी", तित्थोगाली पइन्नय तथा तीर्थोद्धार प्रकीर्ण आदि प्राचीन ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर-

---

[1] Dr. Radha Kumud Mukherji, Chandragupta Maurya & his times, pp. 44-6
(ख) श्री नेम पाण्डे, भारत का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग—प्राचीन भारत, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४२।

निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् माना है। वह राज्यारोहण अवन्ती का माना गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलीपुत्र राज्यारोहण के दस वर्ष पश्चात् अपना राज्य स्थापित किया था।[1]

इस प्रकार जैन काल गणना और सामान्य ऐतिहासिक धारणा से महावीर निर्वाण का समय ई० पू० ३१२+२१५=५२७ होता है।

ऐसे अनेक इतिहास के विशेषज्ञों ने भी महावीर-निर्वाण का असंदिग्ध समय ई० पू० ५२७ माना है। महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (श्री जैन सत्य-प्रकाश, वर्ष २, अंक ४,५ पृ० २१७-८१ व "भारतीय प्राचीन लिपिमाला', पृ० १६३), पं० बलदेव उपाध्याय (धर्म और दर्शन, पृ० ८९), डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (तीर्थंकर भगवान् महावीर, भाग २, भूमिका पृ० १९), डॉ० हीरालाल जैन (तत्त्व समुच्चय, पृ० ६), महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ (भारत का प्राचीन राजवंश खण्ड २, पृ० ४३६) आदि विद्वान् उपर्युक्त निर्वाणकाल के निर्णय से सहमत प्रतीत होते हैं।

इन सबके अतिरिक्त ई० पू० ५२७ में भगवान् महावीर के निर्वाण को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करने वाला सबसे प्रबल और सर्वमान्य प्रमाण यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी प्राचीन आचार्यों ने एकमत से महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास पश्चात् शक संवत् के प्रारम्भ होने का उल्लेख किया है। यथा :

छहिं वासाणसएहिं, पंचहिं वासेहिं पंच मासेहिं।
मम निव्वाणगयस्सउ उपज्जिसइ सगो राया॥
[महावीर चरियं, (आचार्य नेमिचन्द्र) रचनाकाल वि० स० ११४१]

पण छस्सयवस्सं पणमासजुदं।
गमिय वीरनिव्वुइयो सगराओ॥ ८४८
[त्रिलोकसार, (नेमिचन्द्र) रचनाकाल ११वीं शताब्दी]

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥
[तिलोय पण्णत्ती, भा० १, महाधिकार ४, गा० १४९९]

---

१ (क) The date 313 B.C. for Chandragupta accession, if it is based on correct tradition, may refer to his acquisition of Avanti in Malva, as the chronological Datum is found in verse where the Maurya King finds mention in the list of succession of Palak, a king of Avanti. [H. C. Ray Chaudhary–Political History of Ancient India, P. 295.]

(ख) The Jain date 313 B.C. if based on correct tradition may refer to acquisition of Avanti, (Malva). [An Advanced History of India, P. 99]

आचार्य यति वृषभ ने उपर्युक्त गाथा से पूर्व की गाथा संख्या १४९६, १४९७ और १४९८ में वीर निर्वाण के पश्चात् क्रमशः ४६१ वर्ष, ९७८५ वर्ष तथा ५ मास और १४७९३ वर्ष व्यतीत होने पर भी शक राजा के उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। अनेक विद्वान् यति वृषभ द्वारा उल्लिखित मतवैभिन्य को देखकर असमंजस में पड़ जाते हैं, पर वास्तव में विचार में पड़ने जैसी कोई बात नहीं है। ४६१ में जिस शक राजा के होने का उल्लेख है वह वीर निर्वाण सं० ४६५ में हो चुका है जैसा कि इसी पुस्तक के पृ० ४६८ पर उल्लेख है। इससे आगे की २ गाथाएं किन्हीं भावी शक राजाओं का संकेत करती हैं, जो क्रमशः वीर निर्वाण संवत् ९७८५ और १४७९३ में होने वाले हैं।

उपरिलिखित सब प्रमाणों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण शक संवत्सर के प्रारम्भ से ६०५ वर्ष और ५ मास पूर्व हुआ। इसमें शंका के लिये कोई अवकाश ही नहीं रहता, क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से प्रारम्भ होकर सभी प्राचीन जैन आचार्यों की काल-गणना शक संवत्सर से आकर मिल जाती है। वीरनिर्वाण-कालगणना और शक संवत् का शक संवत् के आरंभ काल से ही प्रगाढ़ संबन्ध रहा है और इन दोनों काल-गणनाओं का आज तक वही सुनिश्चित अन्तर चला आ रहा है।

इन सब पुष्ट प्रमाणों के आधार पर वीरनिर्वाण-काल ई० पूर्व ५२७ ही असंदिग्ध एवं सुनिश्चित रूप से प्रमाणित होता है। वीर-निर्वाण संवत् की यही मान्यता इतिहाससिद्ध और सर्वमान्य है।

भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण

भगवान् महावीर और बुद्ध समसामयिक थे, अतः इनके निर्वाणकाल का निर्णय करते समय प्रायः सभी विद्वानों ने दोनों महापुरुषों के निर्वाणकाल को एक दूसरे का निर्वाणकाल निश्चित करने में सहायक मान कर साथ-साथ चर्चा की है। इस प्रकार के प्रयास के कारण यह समस्या सुलझाने के स्थान पर और अधिक जटिल बनी है।

वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् महावीर का निर्वाणकाल जितना सुनिश्चित, प्रामाणिक और असंदिग्ध है उतना ही बुद्ध का निर्वाणकाल आज तक भी अनिश्चित, अप्रामाणिक एवं संदिग्ध बना हुआ है। बुद्ध के निर्वाणकाल के संबन्ध में इतिहास के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओं की आज भिन्न-भिन्न बीस प्रकार की मान्यताएं ऐतिहासिक जगत् में प्रचलित हैं। भारत के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में 'बुद्ध निर्वाण संवत्' की चर्चा करते हुए लिखा है :—

"बुद्ध का निर्वाण किस वर्ष में हुआ, इसका यथार्थ निर्णय अब तक नहीं हुआ। सीलोन[१] (सिंहल द्वीप, लंका), ब्रह्मा और स्याम में बुद्ध का निर्वाण ई० संवत् से ५४४ वर्ष पूर्व होना माना जाता है और ऐसा ही आसाम के राजगुरु मानते हैं।[२] चीन वाले ई० सं० पूर्व ६३८ में उसका होना मानते हैं।[३] चीनी यात्री फाहियान ने, जो ई० सन् ४०० में यहां आया था, लिखा है कि इस समय तक निर्वाण के १४९७ वर्ष व्यतीत हुए हैं।[४] इससे बुद्ध के निर्वाण का समय ई० सन् पूर्व (१४९७–४००)=१०९७ के आस-पास मानना पड़ता है। चीनी यात्री हुएनत्सांग के निर्वाण से १००वें वर्ष में राजा अशोक (ई० सन् पूर्व २६९ से २२७ तक) का राज्य दूर-दूर फैलना बतलाया है।[५] जिससे निर्वाणकाल ई० स० पूर्व चौथी शताब्दी के बीच आता है। डॉ० बूलर ने ई० स० पूर्व ४८३-२ और ४७२-१ के बीच[६], प्रोफेसर कर्न[७] ने ई० स० पूर्व ३८८ में, फर्गुसन[८] ने ४८१ में, जनरल कनिंगहाम[९] ने ४७८ में, मैक्समूलर[१०] ने ४७७ में, पंडित भगवानलाल इन्दरजी[११] ने ६३८ में (गया के लेख के आधार पर), मिस डफ[१२] ने ४७७ में, डॉ० वार्नेट[१३] ने ४८३ में डॉ० फ्लीट[१४] ने ४८३ में और वी० ए० स्मिथ[१५] ने ई० स० पू० ४८७ या ४८६ में निर्वाण होने का अनुमान किया है।"

मुनि कल्याण विजयजी ने अपनी पुस्तक "वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना" में अपनी ओर से प्रबल तर्क रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महात्मा बुद्ध भगवान् महावीर से वय में २२ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध

१ कार्प्स इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स (जनरल कनिंगहाम संपादित), जि० १ की भूमिका, पृ० ३
२ प्रि. एँ. जि. २ यूसफुल टेबल्स, पृ० १६५।
३ वही
४ बी. बु, रे बे. व; जि. १ की भूमिका, पृ० ७५
५ बी. बु. रे. बे. व; जि. १, पृ० १५०
६ इं एँ; जि. ६, पृ० १५४
७ साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया जि. १, पृ० ४९२
८ कार्प्स इंन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स जि. १ की भूमिका, पृ० ६
९ वही
१० मॅं. हि. ए. सं. लि; पृ० २९८
११ इं. एँ. जि. १०, पृ० ३४६
१२ ड. क्रॉ. इं., पृ० ६
१३ वा. एँ. इं., पृ० ३७
१४ ज. रॉ. ए. सो. ई. स. १९०६, पृ० ६६७
१५ स्मि. अ, हि. इं., पृ० ४७, तीसरा संस्करण

के निर्वाण से १४ वर्ष, ५ मास और १५ दिन पश्चात् भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। इससे बुद्ध निर्वाण ई० स० पूर्व ५१२ में होना पाया जाता है।

ख्यातनामा चीनी यात्री हुएनत्सांग ई० सन् ६३० में भारत आया था। उसने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में लिखा है—

"श्री बुद्ध देव ८० वर्ष तक जीवित रहे। उनके निर्वाण की तिथि के विषय में बहुत से मतभेद हैं। कोई वैशाख की पूर्णिमा को उनकी निर्वाण-तिथि मानता है, सर्वास्तिवादी कार्तिक पूर्णिमा को निर्वाण-तिथि मानते हैं, कोई कहते हैं कि निर्वाण को १२०० वर्ष हो गए। किन्हीं का कथन है कि १५०० वर्ष बीत गए, कोई कहते हैं कि अभी निर्वाणकाल को ६०० वर्ष से कुछ अधिक हुए हैं।[1]

मुनि नगराज जी ने भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से चर्चा करते हुए अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भगवान् महावीर बुद्ध से १७ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध का निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५ वर्ष पश्चात् हुआ। उन्होंने अपने इस अभिमत की पुष्टि में अशोक के एक शिलालेख, वर्मी इत्जाना संवत् की कालगणना में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधिलाभ एवं निर्वाण के उल्लेख और अवन्ती नरेश प्रद्योत एवं बुद्ध की समवयस्कता सम्बन्धी तिब्बती परम्परा, ये तीन मुख्य प्रमाण दिये हैं। पर इन प्रमाणों के आधार पर भी बुद्ध के निर्वाण का कोई एक सुनिश्चित काल नहीं निकलता।

इस प्रकार बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में अनेक मनीषी इतिहासवेत्ताओं ने जो उपर्युक्त वीस तरह की भिन्न-भिन्न मान्यताएं रखी हैं उनमें से अधिकांशतः तर्क और अनुमान के बल पर ही आधारित हैं। किसी ठोस, अकाट्य, निष्पक्ष और सर्वमान्य प्रमाण के अभाव में कोई भी मान्यता बलवती नहीं मानी जा सकती।

हम यहाँ उन सब विद्वानों की मान्यताओं के विश्लेषण की चर्चा में न जाकर केवल उन तथ्यों और निष्पक्ष ठोस प्रमाणों को रखना ही उचित समझते हैं जिनसे कि बुद्ध के सही-सही निर्वाण समय का पता लगाया जा सकता है।

हमें आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की घटना के सम्बन्ध में निर्णय करना है। इसके लिये हमें भारत की प्राचीन धर्म-परम्पराओं के धार्मिक एवं ऐतिहासिक साहित्य का अन्तर्वेधी और तुलनात्मक दृष्टि से पर्यवेक्षण करना होगा।

---

१ भगवान् बुद्ध, पृ० ८६, भूमिका पृ० १२

यह तो सर्वविदित है कि उस समय सनातन, जैन और बौद्ध ये तीन प्रमुख धर्म-परम्पराएं मुख्य रूप से थीं जो आज भी प्रचलित हैं।

बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में जैनागमों में कोई विवरण उपधब्ध नहीं होता। बौद्ध शास्त्रों और साहित्य में बुद्ध के निर्वाण के सम्बन्ध में जो विवरण उपलब्ध होते हैं वे वास्तव में इतने अधिक और परस्पर विरोधी हैं कि उनमें से किसी एक को भी तब तक सही नहीं माना जा सकता जब तक कि उसको पुष्ट करने वाला प्रमाण बौद्धेतर अथवा बौद्ध साहित्य में उपलब्ध नहीं हो जाता।

ऐसी दशा में हमारे लिये सनातन धर्म के पौराणिक साहित्य में बुद्ध विषयक ऐतिहासिक सामग्री को खोजना आवश्यक हो जाता है। सनातन परम्परा के परम माननीय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ६ के श्लोक संख्या २४ में बुद्ध के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होता है जिसकी ओर संभवतः आज तक किसी इतिहासज्ञ की सूक्ष्म-दृष्टि नहीं गई। वह श्लोक इस प्रकार है—

ततः कलौ संप्रवृत्ते, सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः, कीकटेषु भविष्यति॥

अर्थात् उसके बाद कलियुग आजाने पर मगध देश (बिहार) में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अंजनी (आंजनी) के पुत्ररूप में आपका बुद्धावतार होगा।

इस श्लोक में प्रयुक्त 'नाम्नांजनसुतः' यह पाठ किसी लिपिकार द्वारा अशुद्ध लिखा गया है ऐसा गीता प्रेस से प्रकाशित श्रीमद्भागवत, प्रथम खंड के पृष्ठ ३६ पर दिये गये टिप्पण से प्रमाणित होता है। इस श्लोक पर टिप्पण संख्या १ में लिखा है— "प्रा० पा०—जिनसुतः"

जिन शब्द का अर्थ है—राग-द्वेष से रहित। राग-द्वेष से रहित पुरुष के पुत्रोत्पत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वास्तव में यह शब्द था 'आंजनिसुतः' जिसकी न पर लगी इ की मात्रा ज पर किसी प्राचीन लिपिकार द्वारा लगा दी गई। तदनन्तर किसी विद्वान् लिपिकार ने किसी जिन के पुत्र होने की संभावना को आकाश-कुसुम की तरह असंभव मानकर 'अजनसुतः' लिख दिया।

ऐतिहासिक घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से यह प्रमाणित होता है कि वास्तव में इस श्लोक का मूल पाठ 'बुद्धो नाम्नांजनिसुतः था।' श्रीमद्भागवत और अन्य पुराणों में प्राचीन इतिहास को सुरक्षित रखने के लिये प्राचीन प्रतापी राजाओं का किसी घटनाक्रम के प्रसंग में नामोल्लेख किया गया है।

वस्तुतः उपर्युक्त श्लोक में महाभारतकार ने बुद्ध के प्रसंग में उस समय के प्रतापी राजा 'अंजन' के नाम का उल्लेख किया है। बौद्ध, जैन, सनातन और भारत की उस समय की अन्य सभी धर्मपरम्पराओं के साहित्यों में बुद्ध सम्बन्धी विवरणों में बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन लिखा गया है, अतः श्रीमद्भागवत के उपरिलिखित श्लोक के आधार पर बुद्ध को अंजन का पुत्र मानना तो श्रीमद्भागवतकार की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा, क्योंकि वास्तव में भागवतकार ने बुद्ध को राजा अंजन की सुता आंजनी का पुत्र बताया है।

ऐसी स्थिति में उपर्युक्त पाठ में अनुस्वार के लोप और 'इ' की मात्रा के विपर्यय वाले पाठ को शुद्ध कर "बुद्धो नाम्नांऽऽजनिसुतः" के रूप में पढ़ा जाय तो वह शुद्ध और युक्तिसंगत होगा। किसी लिपिकार द्वारा प्रमादवश अथवा वास्तविक तथ्य के ज्ञान के अभाव में अशुद्ध रूप से लिपिबद्ध किये गये उपर्यंकित अशुद्ध पाठों को शुद्ध कर देने पर एक नितान्त नया ऐतिहासिक तथ्य संसार के समक्ष प्रकट होगा कि महात्मा बुद्ध महाराज अंजन के दौहित्र थे। अंजन-सुता के सुत बुद्ध का श्रीमद्भागवतकार ने अंजनिसुत के रूप में जो परिचय दिया है वह व्याकरण के अनुसार भी बिलकुल ठीक है। जिस प्रकार रामायणकार ने जनक की पुत्री जानकी, मैथिल की पुत्री मैथिली के रूप में सीता का परिचय दिया है ठीक उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकार ने भी अंजन की पुत्री का आंजनी के रूप में उल्लेख किया है।

यह सब केवल कल्पना की उड़ान नहीं है अपितु बर्मी बौद्ध परम्परा इस तथ्य का पूर्ण समर्थन करती है। बर्मी बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध के नाना (मातामह) महाराज अंजन शाक्य क्षत्रिय थे। उनका राज्य देवदह प्रदेश में था। महाराजा अंजन ने अपने नाम पर ई० सन् पूर्व ६४८ में १७ फरवरी को आदित्यवार के दिन ईत्ज़ाना संवत् चलाया।[१] बर्मी भाषा में 'ईत्ज़ाना' शब्द का अर्थ है अंजन।

बर्मी बौद्ध परम्परा में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधि-प्राप्ति और निर्वाण का तिथिक्रम ईत्ज़ाना संवत् की कालगणना में इस प्रकार दिया है :—

१. बुद्ध का जन्म ईत्ज़ाना[२] संवत् के ६८वें वर्ष की वैशाखी पूर्णिमा को शुक्रवार के दिन विशाखा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा के योग के समय में हुआ।

२. बुद्ध ने दीक्षा ईत्ज़ाना[३] संवत् ९६ की आषाढ़ी पूर्णिमा, सोमवार के दिन चन्द्रमा का उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में ली।

---

१ Prabuddha Karnataka, a Kannada Quarterly published by the Mysore University. Vol. XXVII (1945-46) No. 1 PP. 92-93. The Date of Nirvana of Lord Mahavira in Mahavira Commemoration Volume, PP. 93-94.

२ Ibid Vol. 11 PP. 71-72.

३ Life of Gautama, by Bigandet Vol. I PP. 62-63

३. बुद्ध को बोधि-प्राप्ति ईत्ज़ाना[1] संवत् १०३ की वैशाखी पूर्णिमा को बुधवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में हुई।

४. बुद्ध का निर्वाण ईत्ज़ाना संवत् १४८ की वैशाखी पूर्णिमा को मंगलवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में हुआ।

एम. गोविन्द पाई[2] ने बुद्ध के जीवन संबंधी ऊपर वर्णित किये गये ईत्ज़ाना संवत् के कालक्रम को ई० सन् पूर्व के अधोवर्णित कालक्रम के रूप में आबद्ध किया है :—

बुद्ध का जन्म : ई० पू० ५८१, मार्च ३०, शुक्रवार
बुद्ध द्वारा गृहत्याग : ई० पू० ५५३, जून १८, सोमवार।
बुद्ध को बोधिलाभ : ई० पू० ५४६, अप्रेल ३, बुधवार।
बुद्ध का निर्वाण : ई० पू० ५०१, अप्रल १५, मंगलवार।[3]

इस प्रकार श्रीमद्भागवत और बर्मी बौद्ध परम्परा के उल्लेखों से बुद्ध के मातामह (नाना) राजा अंजन एक ऐतिहासिक राजा सिद्ध होते हैं तथा बर्मी परम्परा के अनुसार ईत्ज़ाना संवत् के आधार पर उल्लिखित बुद्ध के जीवन की चार मुख्य घटनाओं के कालक्रम से बुद्ध की सर्वमान्य पूर्णायु ८० वर्ष की सिद्ध होने के साथ २ यह भी प्रमाणित होता है कि बुद्ध ने २८ वर्ष की अवस्था होते ही ई० पूर्व ५५३ में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के ८ वर्ष पश्चात् ई० पूर्व ५४६ में जब वे ३५ वर्ष के हुए तब उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई और ४५ वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रचार करने के पश्चात् ई० पूर्व ५०१ में ८० वर्ष की आयु पूर्ण करने पर उनका निर्वाण हुआ।

बुद्ध के जन्म, बुद्धत्वलाभ और निर्वाणकाल को निर्णायक रूप से प्रमाणित करने वाला दूसरा प्रमाण वायुपुराण का है, जो कि आवश्यक चूर्णि और तिब्बती बौद्ध परम्परा द्वारा कतिपय अंशों में समर्थित है। सनातन, जैन और बौद्ध परम्पराओं के युगपत् पर्यवेक्षण से बुद्ध के जन्म, बोधिलाभ और निर्वाण सम्बन्धी अब तक के विवादास्पद जटिल और पहेली बने हुए प्रश्न का सदा सर्वदा के लिये हल निकल आता है।

---

[1] Ibid Vol. I P. 97 Vol. II PP. 72-73

[2] Ibid Vol. II P. 69

[3] Prabuddha Karnataka, a Karnatak Quarterly published by the Mysore University, Volume XXVII (1945-46) No. I PP 92-93 the Date of Nirvana of Lord Mahaveera in Mahaveera Commemoration Volume PP 93-94.

इस जटिल समस्या को सुलझाने में सहायक होने वाले वायुपुराण के वे श्लोक इस प्रकार हैं :—

....

बृहद्रथेष्वतीतेषु वीतहोत्रेषु वर्तिषु ॥१६८॥
मुनिकः स्वामिनं हत्वा, पुत्रं समभिषेक्ष्यति ।
मिषतां क्षत्रियाणां हि प्रद्योतो मुनिको बलात् ॥१६९॥
स वै प्रणतसामन्तो, भविष्ये नयवर्जितः ।
त्रयोविंशत्समा राजा भविता स नरोत्तम ॥१७०॥

अर्थात् बार्हद्रथों (जरासंध के वंशजों) का राज्य समाप्त हो जाने पर वीतहोत्रों के शासनकाल में मुनिक सब क्षत्रियों के देखते-देखते अपने स्वामी की हत्या कर अपने पुत्र को अवन्ती के राज्यसिंहासन पर बैठायेगा । हे राजन् ! वह प्रद्योत सामन्तों को अपने वश में कर तेईस वर्ष तक न्याय-विहीन ढंग से राज्य करेगा ।

अन्तिम श्लोक में जो यह उल्लेख है कि प्रद्योत २३ वर्ष तक राज्य करेगा, यह तथ्य वस्तुतः बुद्ध के साथ भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य अथवा बोधि, निर्वाण तथा पूर्ण आयु आदि कालमान को निर्णायक एवं प्रामाणिक रूप से निश्चित करने वाला तथ्य है ।

तिब्बती बौद्ध परम्परा की यह मान्यता है कि जिस दिन बुद्ध का जन्म हुआ उसी दिन चण्डप्रद्योत का भी जन्म हुआ और जिस दिन चण्डप्रद्योत का अवन्ती के राजसिंहासन पर अभिषेक हुआ उसी दिन बुद्ध को बोधिलाभ हुआ ।

बुद्ध की पूर्ण आयु ८० वर्ष थी, उन्होंने २८ वर्ष की उम्र में गृहत्याग किया और ३५ वर्ष की आयु में उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई—इन ऐतिहासिक तथ्यों को सभी इतिहासकार एकमत से स्वीकार करते हैं ।

जिस दिन बुद्ध को बोधिलाभ हुआ उस दिन बुद्ध ३५ वर्ष के थे, इस सर्वसम्मत अभिमत के अनुसार बुद्ध और प्रद्योत के समवयस्क होने के कारण यह स्वतः प्रमाणित है कि प्रद्योत ३५ वर्ष की आयु में अवन्ती का राजा बना । वायुपुराण के इस उल्लेख से कि प्रद्योत ने २३ वर्ष तक राज्य किया, यह स्पष्ट है कि प्रद्योत ५८ वर्ष की आयु तक शासनारूढ़ रहा । उसके पश्चात् प्रद्योत का पुत्र पालक अवन्ती का राजा बना ।

जैन परम्परा के सभी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर का जिस दिन निर्वाण हुआ उसी दिन प्रद्योत के पुत्र पालक का उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् अवन्ती में राज्याभिषेक हुआ ।

इस प्रकार सनातन, जैन और बौद्ध इन तीनों मान्यताओं द्वारा परिपुष्ट

प्रमाणों के समन्वय से यह सिद्ध होता है कि जिस दिन भगवान् महावीर ने ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया उस दिन प्रद्योत का ५८ वर्ष की उम्र में देहावसान हुआ और उस दिन बुद्ध ५८ वर्ष के हो चुके थे। बुद्ध की पूरी आयु ८० वर्ष मानी गई है। इससे बुद्ध का जन्मकाल भगवान् महावीर के जन्म से १४ वर्ष पश्चात्, बुद्ध का दीक्षाकाल महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति के आसपास, वोधिप्राप्ति भगवान् महावीर की केवली-चर्या के आठवें वर्ष में और बुद्ध का निर्वाणकाल भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् का सिद्ध होता है।

चण्डप्रद्योत भगवान् महावीर से उम्र में छोटे थे इस तथ्य की पुष्टि श्री मज्जिनदासगणि महत्तर रचित आवश्यक चूर्णी से भी होती है। चूर्णिकार ने लिखा है कि जिस समय भगवान् २८ वर्ष के हुए उस समय उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। तदनन्तर महावीर ने अपने अपरिग्रह के अनुसार प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की, पर नन्दीवर्द्धन आदि के अनुरोध पर संयम के साथ विरक्त की तरह दो वर्ष गृहवास में रहने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करना स्वीकार किया। महावीर द्वारा इस प्रकार की स्वीकृति के पश्चात् श्रेणिक और प्रद्योत आदि कुमार वहाँ से विदा हो अपने-अपने नगर की ओर लौट गये। इस सम्बन्ध में चूर्णिकार के मूल शब्द इस प्रकार हैं :—

"........ताहे सेणियपज्जोयादयो कुमारा पडिगता, ण एस चविकत्ति।"

चूर्णिकार के इस वाक्य पर वायुपुराण और महावीर-निर्वाणकाल के संदर्भ में विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रद्योत की आयु महाराज सिद्धार्थ और त्रिशला देवी के स्वर्ग गमन के समय १४ वर्ष की थी। तदनुसार ५२७ ई० पूर्व भगवान् महावीर का प्रामाणिक निर्वाणकाल मानने पर महावीर का जन्म ई० पूर्व ५९९ में और बुद्ध का जन्म ई० पूर्व ५८५ होना सिद्ध होता है।

इन सब तथ्यों को एक दूसरे के साथ जोड़ कर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पूर्व ५२७ में हुआ और बुद्ध का निर्वाण भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व ५०५ में हुआ।

अशोक के शिलालेखों में अंकित २५६ के अंक जो विद्वानों द्वारा बुद्ध निर्वाण वर्ष के सूचक माने जाते हैं, उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्ध का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५०५ में हुआ। इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

अशोक द्वारा लिखवाये गये लघु शिलालेख जो कि रूपनाथ, सहसराम और वैराट से मिले हैं,[1] उनमें शिलालेखों के खुदवाने के काल तिथि के स्थान पर केवल २५६ का अंक खुदा हुआ है। इसके सम्वन्ध में अनेक विद्वानों का अभिमत

---

१ जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख।

है कि ये अंक बुद्ध के निर्वाणकाल के सूचक हो सकते हैं। उसका अनुमान है कि जिस दिन ये शिलालेख लिखवाये गये उस दिन बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति के २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इतिहास-प्रसिद्ध राजा अशोक का राज्याभिषेक ई० पूर्व २६९ में हुआ, इससे सभी इतिहासज्ञ सहमत हैं। अपने राज्याभिषेक के ८ वर्ष पश्चात् अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। कलिंग के युद्ध में हुए भीषण नरसंहार को देख कर अशोक को युद्ध से बड़ी घृणा हो गई और वह बौद्ध धर्मानुयायी बन गया। अशोक ने उपर्युक्त १ सं० के शिलालेख में यह स्वीकार किया है कि बौद्ध बनने के २½ वर्ष पश्चात् तक वह कोई अधिक उद्योग नहीं कर सका। उसके एक वर्ष पश्चात् वह संघ में आया।

संघ उपेत होने के पश्चात् अशोक ने अपनी और अपने राज्य की पूरी शक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार में लगादी। उसने भारत और भारत के बाहर के राज्यों से बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए सन्धियाँ कीं। बौद्ध संघ की काफी अंशों में अभ्युन्नति करने और अपनी महान् धार्मिक उपलब्धियों के पश्चात् उसने स्थान-स्थान पर अपनी धार्मिक आज्ञाओं को शिलाओं पर टंकित करवाया। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कार्यों में कम से कम नौ-दस वर्ष तो अवश्य लगे ही होंगे। तो इस तरह उपर्युक्त शिलालेख अपने राज्याभिषेक से बीसवें वर्ष में अर्थात् ई० सन् से २४९ वर्ष पूर्व तैयार करवाये होंगे, जिस दिन कि बुद्ध का निर्वाण हुए २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इस प्रकार के अनुमान और कल्पना के बल पर बुद्ध का निर्वाण ई० सन् ५०५ में होना पाया जाता है।

यह अनुमान प्रमाण वायुपुराण में उल्लिखित प्रद्योत के राज्यकाल के आधार पर प्रमाणित बुद्ध के निर्वाणकाल का समर्थन करता है। इस प्रकार तीन बड़ी धार्मिक परम्पराओं में उल्लिखित विभिन्न तथ्यों के आधार पर प्रमाणित एवं अशोक के शिलालेखों से समर्थित होने के कारण बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ ही प्रामाणिक ठहरता है।

उक्त तीनों परम्पराओं के प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थों में प्रद्योत को युद्धप्रिय और उग्र स्वभाव वाला बताया है, यह उल्लेखनीय समानता है। प्रद्योत के जन्म के साथ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ और उसके देहावसान के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, यह कितना अद्भुत संयोग है, जिसने प्रद्योत को एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक राजा के रूप में भारत के इतिहास में अमर बना दिया है।

इन सब अकाट्य ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर असंदिग्ध एवं प्रामाणिक रूप से यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५२७ में और बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ में हुआ।

निर्वाणस्थली

डॉ० जैकोबी ने बौद्ध शास्त्रों में वर्णित महावीर-निर्वाणस्थली पावा को शाक्यभूमि में होना स्वीकार किया है, जहाँ कि अन्तिम दिनों में बुद्ध ने भी प्रवास किया था। पर जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर की निर्वाण स्थली पटना जिले के अन्तर्गत राजगृह के समीपस्थ पावा है, जिसे आज भव्य मन्दिरों ने एक जैन तीर्थ बना दिया है। किन्तु इतिहासकार इससे सहमत प्रतीत नहीं होते, क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाण-अवसर पर मल्लों और लिच्छवियों के अठारह गण-राजा उपस्थित थे, जिनका उत्तरी बिहार की पावा में ही होना संभव जँचता है, कारण कि उधर ही उन लोगों का राज्य था, दक्षिण बिहार की पावा तो उनका शत्रु-प्रदेश था।

पं० राहुल सांकृत्यायन ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।[1] उनका कहना है कि भगवान् महावीर का निर्वाण वस्तुतः गंगा के उत्तरी अंचल में आई हुई पावा में ही हुआ था जो कि वर्तमान गोरखपुर जिले के अन्तर्गत पपुहर नामक ग्राम है। श्री नाथूराम प्रेमी ने भी ऐसी ही संभावना व्यक्त की है।[2]

---

१ दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ४४४, टिप्पण ३।

२ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १८६।